इकाई 1

# सामाजिक सिद्धांत एवं इसका संदर्भ

**इकाई की रूपरेखा**


1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजवाद की विशिष्टता

1.3 व्यक्ति विशेष बनाम सामूहिकतावाद

1.4 काम्टे एवं ज्ञानोदय

1.5 दुर्खाइम एवं ज्ञानोदय

1.6 मार्क्सवादी विचारधारा

1.7 वेबरवादी विचारधारा

1.8 ब्रिटिश समाजशास्त्री

1.9 स्पेंसर का विकासवाद

1.10 सारांश

1.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- सामाजिक सिद्धांत के संदर्भ का वर्णन कर सकेंगे;
- काम्ते, मार्क्स, वेबर, एवं दुर्खाइम की भूमिका की चर्चा कर सकेंगे;
- कुछ प्रारंभिक ब्रिटिश सामाजिक सिद्धांतवादियों का वर्णन कर सकेंगे; और
- सामाजिक सिद्धांत के उदय में संदर्भ की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

MADHYAM IAS

## 1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय सिद्धांत किसी विशिष्ट सामाजिक संदर्भ में जड़े होते हैं और उस संदर्भ से गहराई से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक समाजशास्त्रीय विचारक या सिद्धांतवादी को ऐसी सामाजिक स्थिति पर प्रतिक्रिया व्यक्त करनी पड़ती है जिसमें वह रहता है और उससे सम्बद्ध संस्कृति को समझने का प्रयत्न करना पड़ता है अतः हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय सिद्धांत समाजशास्त्री की उस संदर्भ पर प्रतिक्रिया है जिसमें वह रहता या काम करता है। अब आप इस इकाई का अध्ययन करेंगे तो धीरे-धीरे आपको यह बात स्पष्ट होती जाएगी। हालांकि यहां बताना जरूरी है कि एक अंदरुनी संदर्भ है और एक बाहरी संदर्भ। इन दोनों अंतःसंबद्ध क्षेत्रों के बीच का ताना-बाना समाजशास्त्रीय सिद्धांत बनाता है। अंदरुनी सिद्धांतवादी की पृष्ठभूमि एवं उसकी निजी सोच है और ये ऐसे गूढ़ प्रभाव एवं विचार हैं जो विचारक को सामाजिक सिद्धांतवादी बनने के लिए प्रेरित करते हैं। बाहरी संदर्भ समग्र परिवेश अर्थात सामाजिक एवं भौतिक परिवेश है जिसमें समाज का अस्तित्व बना हुआ है। हालांकि यह बात नहीं है कि समान संदर्भ प्रतिस्पर्धात्मक सिद्धांतों को उत्पन्न नहीं करते या कर सकते। अतः सामाजिक सिद्धांत एवं इसका विकास किसी विशिष्ट सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवेश में पनपता है। अब हम समग्र सामाजिक संदर्भ का ब्यौरा देते हैं जिसमें समाजशास्त्रीय सिद्धांत विकसित हुआ। जैसा कि सभी जानते हैं समाजशास्त्र सर्वप्रथम पश्चिम में विकसित हुआ। भारत में इसकी शुरुआत 20वीं शताब्दी में हुई।

इस तरह काम्टे की "सामाजिक भौतिकी" का समाजशास्त्र या जिसे उन्होंने समाजशास्त्र कहा उसे क्रांति के बाद फ्रांस में व्याप्त सामाजिक अराजकता के प्रतिकार के रूप में विकसित किया। वह विज्ञान विशेष रूप से भौतिकी के कड़े उपागम के अनुसार समाजशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे। काम्टे का सिद्धांत विकासवादी सिद्धांत था जिसमें ऐसे कानून का समावेश था जिसके तीन प्रबल चरण या अवस्थाएं हैं जो सार्वभौमिक होने के कारण सभी समाजों में लागू है। इस प्रकार इस सिद्धांत में हमारे पास सर्वप्रथमः

1) धर्म वैज्ञानिक चरण (लगभग 1300 के आसपास) है। जिसमें अलौकिक शक्तियाँ एवं धार्मिक प्रतिमाएँ ऐसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक हैं जो समाज पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं और यहाँ तक कि माना जाता है कि विश्व ईश्वर का बनाया हुआ उत्पाद है।

2) अलौकिक चरण (1300-1800 के लगभग) वह था जिसमें मनुष्य एवं समाज के बारे में हर बात को स्पष्ट करने के लिए प्रकृति को जिम्मेवार ठहराया गया।

3) प्रत्यक्षवाद चरण (1800- इसके बाद आया जिसमें हर बात मूल रूप से विज्ञान और उसके द्वारा खोजे गए कानून द्वारा प्रभावित थी। जहाँ तक स्पष्टीकरण का संबंध था इस चरण के दौरान ईश्वर या प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं थी। इस बारे में काम्टे का नजरिया है कि यह एक बौद्धिक उलझन है जिससे सामाजिक अराजकता उत्पन्न होती है। काम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवाद संबंधी चरण तभी हावी होता है जब धर्म वैज्ञानिक एवं अलौकिक चरणों के नामोनिशान यदि मिटे न हो तो कम से कम धुंधले पड़ गये हों। तभी सभी कुछ व्यवस्थित होगा और विकासवादी योजना सही सिद्ध होगी।

चूँकि कॉम्टे का नजरिया विकासवादी था, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रचंड किस्म की क्रांतियों में उसकी आस्था नहीं थी (लेंजर, 1975)।

**अभ्यास 1.1**

समाज की प्रगति के लिए काम्टे की विकासवादी योजना की चर्चा एवं वर्णन कीजिए।

हम उसके कार्य के कुछ अन्य पहलुओं का उल्लेख कर सकते हैं और इसमें सामाजिक संरचना और सामाजिक बदलाव पर उसके प्रेक्षण सम्मिलित हैं। काम्टे ने समाज के सभी घटकों की अंतःसंबद्धता पर जोर दिया। उसका यह भी मानना था कि समाज में हर बिंदु पर सभी की सर्वसम्मति अत्यावश्यक है। इसके अलावा उत्पादन प्रक्रिया में पूंजीवादियों एवं कामगारों के बीच के शोषणपरक नजरिए में उसकी आस्था नहीं थी। काम्टे का इसके अलावा मानना था कि सिद्धांत बनाने एवं शोध करना उस समय की जरूरत थी। अंततः समाजशास्त्री के रूप में काम्टे का मानना था कि सामाजिक प्रक्रमों को उत्कृष्ट तरीके से समझने की वजह से अंततः समाजशास्त्र एक प्रबल शक्ति के रूप में उभरेगा।

## 1.5 दुर्खाइम एवं ज्ञानोदय

अब हम समाजशास्त्री के रूप में दुर्खाइम (1856-1917) की ओर रुख करते हैं जिसने अपने पूर्वाधिकारी काम्टे की भूमिका एवं जिम्मेवारियों को अपने ऊपर लिया। काम्टे की तुलना में दुर्खाइम का मानना था कि ज्ञानोदय संपूर्ण रूप से नकारात्मक नहीं था बल्कि वास्तव में इसमें वैज्ञानिक विधि पर जोर देने जैसे कुछ स्थितिगत पहलुओं का समावेश था। दुर्खाइम अराजकता एवं सामाजिक अव्यवस्था के विरुद्ध थे और उनका अधिकांश कार्य सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन से संबंधित है जो उनके अनुसार उस समय की जरूरत था।

दुर्खाइम के लेखन विविध किस्म के थे और समाजशास्त्र में उन्होंने बहुत सी उत्कृष्ट रचनाओं का सृजन किया। इस तरह 'द रूल्स ऑफ सोसयोलॉजिकल मैथेड' (1895) में उसने इस बात पर जोर दिया कि समाजशास्त्र 'सामाजिक तथ्यों' का अध्ययन है। ये सामाजिक तथ्य ऐसे हैं जो समाज

की ओर रुख करेंगे जो सामाजिक सिद्धांत के विकास में उत्पन्न हुई है। आरंभ में हम सर्वप्रथम फ्रांस में ज्ञानोदय के दौरान विचारों के प्रभाव पर ध्यान केंद्रित करेंगे। ज्ञानोदय के दौरान बहुत से नये विचारों की पेशकश की गई और मौजूदा विचारों को बदला गया। 17वीं शताब्दी का दर्शनशास्त्र और विज्ञान ऐसे प्रेरक कारक थे जिन्होंने फ्रांस के विचारकों/बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। ऐसे विचारकों में दकार्त एवं लॉक के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद के विचारकों ने इन विचारकों की प्रमुख पद्धतियों का खंडन नहीं किया बल्कि ऐसी बुनियादी सच्चाई को ढूंढ़ने की चेष्टा की जिससे इनके विचारों को सामाजिक प्रासंगिकता मिल सके। ऐसा करना बहुत जरूरी था खासकर यदि खुद समाजशास्त्र को प्रासंगिकता की प्राप्ति करनी हो और समाज के विश्लेषण में अपनी मौजूदगी बनाए रखनी हो और सामाजिक मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करना हो और ऐसे बदलाव लाने हो जिससे समाज के सभी भागों को सामाजिक फायदे मिले। हालांकि ज्ञानोदय के उदारवाद के अपने ही कुछ आलोचक थे जिसे प्रति-ज्ञानोदय कहते हैं और यह ज्ञानोदय एवं प्रति-ज्ञानोदय के बीच का खेल था जिसने प्रारंभिक समाजशास्त्र के सभी विचारों एवं सिद्धांतों को संभव बनाया।

इस तरह प्रति-ज्ञानोदय विचारधारा के डि बोनाल्ड जैसे विचारक मध्य युग की ओर लौटना चाहते थे जहाँ उन्हें महसूस होता था कि ज्ञानोदय युग की तुलना में जीवन अधिक सौहार्दपूर्ण था। ऐसे रचनाकार प्रगतिशील विचारधारा के विरुद्ध थे और उनका मानना था कि ज्ञानोदय एवं औद्योगिक क्रांति दोनों ऐसी शक्तियाँ थीं जिन्होंने शांति, सद्भावना, कानून एवं व्यवस्था का विध्वंस कर दिया (रिटवर 1966, पृ1 -36)। अन्य शब्दों में डि बोनाल्ड ऐसी हर बात के विरुद्ध थे जिसने फ्रांस में पितृसत्ता एवं राजतंत्र को हिलाने की कोशिश की।

## 1.3 व्यक्ति विशेष बनाम सामूहिकतावाद

इस तरह जहाँ ज्ञानोदय के विचारकों ने व्यक्ति विशेष पर जोर दिया वहीं इन विचारकों का प्रतिरोध करने वालों ने सामूहिकतावाद पर जोर देने की चेष्टा की। इन विचारकों का मानना था कि व्यक्ति विशेष के दायरे से आगे भी बहुत कुछ है और यह समाज खुद था। समाज को पीछे से वर्तमान और यहाँ से भविष्य में ले जाने वाले लंबे प्रवाह के रूप में देखा गया है। इसके अलावा हम संगठनों समेत भूमिकाओं एवं संबंधों को महत्वपूर्ण पहलुओं के रूप में देखते हैं। इसके अलावा "संपूर्णता" ऐसा मुख्य पहलू जो इस बात पर जोर देता था कि समाज के भाग आपस में अंतःसंबद्ध हैं। इसके अलावा, रूढ़िगत प्रतिक्रिया ने सामाजिक बदलाव को घृणा की नजर से देखा जो उसने महसूस किया कि विध्वंसकारी थी और सामाजिक अव्यवस्था को जन्म देती थी। उदारवादी वो थे जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के प्रति सकारात्मक विचार रखे। इसलिए, जहाँ परिवर्तन नवीन जगत की ओर अग्रसर था वहीं रूढ़िगत प्रतिक्रया ने सोपानकीय संरचनाओं को बढ़ावा दिया और प्रस्थति एवं पारिश्रमिक की व्यवस्था के लिए इसे अनिवार्य महसूस किया। ये कुछ ऐसी अनिवार्य विशेषताएं थीं जो उस समय मौजूद थीं और जिनका सामना उदारवादियों को करना था। आइए, अब ज्ञानोदय के कुछ समाजशास्त्रियों की ओर संक्षेप में रुख करें।

## 1.4 काम्टे एवं ज्ञानोदय

काम्टे (1798-1857) की समाजशास्त्र में अग्रणी भूमिका है और उन्होंने जो समाजशास्त्र शब्द प्रतिपादित किया उसमें फ्रांसीसी क्रांति और ज्ञानोदय पर प्रतिक्रिया एवं उसका आंशिक विश्लेषण है। इस तरह काम्टे की "प्रत्यक्षवाद की विचारधारा" ऐसे बिंदु पर लक्षित थी जो उनके विचार में ज्ञानोदय के कुप्रभावों का प्रतिकार थी। उनका निजी उपागम डि बोनाल्ड जैसे विविध प्रति-क्रांतिकारी विचारकों से प्रभावित था। हालांकि काम्टे इन प्रति-क्रांतिकारियों से भिन्न थे और उन्होंने मध्य युग की ओर वापिस रुख करने की बात का खंडन किया क्योंकि विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली थी कि ऐसा होना संभव नहीं था। दूसरी तरफ उसने उस समय के किसी भी अन्य विचारक की तुलना में उत्कृष्ट सैद्धांतिक पद्धति को विकसित किया।

साथ विश्व की "छवि" प्रदान करता है। इस तरह द्वंद्वात्मक प्रक्रमों के विशेष महत्व पर जोर देता है और जिसमें द्वन्द्व के सिद्धांत भी शामिल है। इसी तरह विश्व का विचार या छवि भी गतिशील है जबकि मार्क्स ने सिर्फ विचारों पर लागू संकल्पना के रूप में इसे छोड़ने की बजाय ऐसे द्वंद्वात्मक प्रक्रमों के प्रयोग-मूल्य को स्वीकारा जिसे वह अर्थशास्त्र के अध्ययन में लागू करना चाहता था। इसके अलावा, हेगल के "आदर्शवाद" ने भौतिक जगत की बजाय मस्तिष्क एवं विचारों पर जोर दिया । जिसका अर्थ है कि यह मस्तिष्क है जो महत्वपूर्ण है और सिर्फ मस्तिष्क एवं चित का ही अस्तित्व है। यह निश्चित रूप से एक उग्र स्थिति है और फरबैक ने इसे यह कह कर सुधारने की कोशिश की कि हेगल ने "चेतना" एवं संस्कृति पर जरूरत से अधिक बल दिया। हेगल की समीक्षा करते समय फरबैक ने इस ओर इशारा किया कि यह समाज है जिसने ईश्वर को साकार किया और उसे अपने से उच्च एक पवित्र दर्जा दिया। ऐसा करने में उसने स्वयं को ईश्वर से पृथक/दूर कर लिया किन्तु फिर भी ईश्वर को विविध दिव्य लक्षणों से युक्त किया।

हालांकि मार्क्स हेगल एवं फरबैक के नजरियों के प्रति जागरूक थे, वह इन सिद्धांतों के आलोचक थे। मार्क्स के लिए हर चीज को मस्तिष्क एवं इसके प्रक्रमों की बजाय भौतिक आधार तक घटाया जा सकता है। मार्क्स के लिए पूंजीवाद ऐसी समस्या थी जिससे अलगाववाद, ध्रुवीकरण एवं क्रांति जैसी संकल्पनाओं की उत्पत्ति हुई। और मार्क्स के लिए श्रमजीवियों द्वारा की जाने वाली क्रांति इस "बुराई" का समाधान थी। मार्क्स के उपागम ने उसे रिकार्डो एवं स्मिथ के कार्यों की ओर अग्रसर किया जो राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का प्रयोग करते है और यही वे अध्ययन थे जिन्होंने मार्क्स के उपागम को अंतिम रूप दिया और जिसने इस ओर इशारा किया कि पूंजीवादी श्रमिकों का हक मार कर या उनका शोषण करके लाभ कमाते थे। इस तरह 'अधिशेष मूल्य' शोषण का मूल आधार था और पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ था। दरअसल, पूंजीवादी व्यवस्था की तीव्र वृद्धि दर ने आर्थिक व्यवस्था में पुनः निवेश के लिए पर्याप्त दीर्घाकार मुनाफों को गलत ढंग से स्थानांतरित किया (मार्क्स, 1862)।

**बॉक्स 1.3 मार्क्सवादी विचारधारा**

मार्क्स की आर्थिक रचनाओं में एक समाजशास्त्रीय सिद्धांत भी शामिल है लेकिन मार्क्स के मूल सिद्धांत राजनीति में भी सटीक बैठते हैं और शायद यही कारण है कि इसके विचारों पर सवालिया निशान लग गया जबकि उसने खुद हेगल एवं फरबैक पर प्रश्न चिह्न लगाया । मार्क्स के कार्यों पर विशेष रूप से रूढ़िगत अध्ययन वाले विचारकों ने काफी प्रतिरोध किया। यह मार्क्स की विवादात्मक शैली थी जिसने समस्याएं उत्पन्न कीं न कि अति विचारधारा की उपस्थिति ने।

मार्क्स के समाजशास्त्र ने बहुत सी आलोचनाओं को जन्म दिया और बहुत से विचारकों ने इस किस्म के सक्रियतावादी अभिविन्यास की ओर ध्यान केंद्रित किया जो कि उसके उपागम का हिस्सा था। ऐसे कुछ अन्य कारण भी थे जिन्होंने मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को निस्तेज किया लेकिन उसका सैद्धांतिक पहलू अन्य समाजशास्त्रियों एवं विचारकों के लिए कठिनाई का मुख्य क्षेत्र था। ऐसे आमूल उपागम को रूढ़िवादी समाजशास्त्रियों द्वारा सराहना नहीं मिली जो कि न केवल ज्ञानोदय या औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न विघटन बल्कि सामाजिक ढाँचे में अराजकता से घृणा करते थे। बजाय इसके मार्क्स अपने अध्ययनों के माध्यम से द्वेष एवं आक्रामकता को बढ़ावा दे रहा था जिस पर मार्क्स का मानना था कि इससे वर्ग-ध्रुवीकरण पैदा होगा और शोषित श्रमजीवी प्रचंडता से पूंजीवादी वर्ग को उनकी फैक्टरियों, उद्योगों, बैंकों आदि से विहीन कर देगा। जिसके बाद सामाजिक सद्भावना का समय शुरू होगा जिसमें उत्पादन के साधनों पर समाज/समुदाय का स्वामित्व होगा। जिससे धनी वर्ग द्वारा 'निर्धन वर्ग' के शोषण का अंत होगा।

ऐसा संक्षिप्त नक्शा ऐसे मूल उपागम को दर्शाता है जिसमें मार्क्स शोषित श्रमजीवियों द्वारा शोषणकारी पूंजीवादियों को समाप्त करने की ओर प्रवृत्त था। मार्क्स का जोर इसलिए पूंजीवाद की शोषक/उत्पीड़क प्रकृति पर था। उसके सैद्धान्तिक विश्लेषण का लक्ष्य पूंजीवाद के इस पहलू को उखाड़ फेंकना था मार्क्स के विचार के अनुसार इसका अर्थ पूंजीवाद का हिंसात्मक एवं खूनी

में व्यक्तियों के लिये बाह्य और अवपीड़क है। ऐसे अध्ययन का अन्य समाजशास्त्रियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसने स्यूसाइड (1897) के अपने अध्ययन में इस उपागम की उपयोगिता को दर्शाया है जिसमें उसने दिखाया है कि किस प्रकार सामाजिक शक्तियों का समाज के भीतर रहने वाले व्यक्तियां एवं उनके कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। हालांकि उसका जोर व्यक्ति विशेष पर नहीं था बल्कि इसके पीछे छिपे सामाजिक कारणों पर था। वह भिन्न सामाजिक श्रेणियों एवं समूहों (जैसे समूह, क्षेत्र देश) में आत्महत्या की दर में पाए जाने वाले अन्तर का अध्ययन करने के लिए काफी उत्सुक था। दुर्खाइम के अनुसार यह सामाजिक तथ्यों के भीतर की असमानता थी जिसने विविध समूहों में आत्महत्या की विविध दरों को स्पष्ट किया। दुर्खाइम के अनुसार सामाजिक तथ्य दो किस्म के थे (क) भौतिक और (ख) अभौतिक। भौतिक तथ्य (नौकरशाही, कानून), गैर भौतिक तथ्यों (सामाजिक संस्थान एवं संस्कृति) से भिन्न होते हैं और दुर्खाइम ने अपने अधिकांश कार्यों में गैर भौतिक तथ्यों पर ध्यान केंद्रित किया।

**बॉक्स 1.2 श्रम विभाजन (द डिविजन ऑफ लेबर)**

'द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' (1893) में दुर्खाइम ने ऐसे विविध कारकों को स्पष्ट करने की कोशिश की जिनकी भूमिका समाज को एक-दूसरे से बाँधने की थी। उसने महसूस किया कि प्रारंभिक या उदीयमान समाजों में एक-दूसरे से जुड़ने का नैतिक आधार था और इसे उसने सामूहिक चेतना कहकर पुकारा। हालांकि अधिक प्रगतिशील समाज में सामूहिक चेतना अपेक्षाकृत दुर्बल थी और यह ऐसे जटिल श्रम विभाजन के माध्यम से जोड़ी गई थी जिसने समाज के सदस्यों को एक-दूसरे से जोड़ा। हालांकि इसकी भी अपनी कुछ समस्याएं थीं और कुल मिलाकर यह ऐसा पैमाना था जिसका अंतरिम प्रभाव था। जिस पर भी श्रम विभाजन में निहित समस्याओं के लिए दुर्खाइम का समाधान ऐसे सामाजिक सुधारों का सुझाव देना था, जो असंतुलन को ठीक कर सकते और व्यवस्था को निरंतर कायम रखते।

एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ द रिलिजियस लाइफ (1912-1965) में दुर्खाइम ने आदिम समाज का अध्ययन किया ताकि वह आदिम रूप में धर्म की पहचान कर सके। ऐसा करने में शोध आधुनिक जगत में धर्म पर भी कुछ रोशनी डालेगा। दुर्खाइम के लिए समाज खुद धर्म का आधार है। इस अंतर्दृष्टि से जहाँ तक समाज का संबंध है दुर्खाइम के लिए यह यथापूर्व स्थिति थी। क्योंकि समाज ईश्वर की तरह पवित्र है और इसे उल्टा नहीं जा सकता केवल सुधारा जा सकता है।

दुर्खाइम के कार्य ने सुनिश्चित किया कि समाजशास्त्र ने 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस में अपनी जगह बना ली थी। दुर्खाइम ने 1898 में एक बौद्धिक जर्नल ''ल ऑनी सोशलिक'' शुरू किया जो कि अन्य विचारधाराओं एवं शैक्षिक क्षेत्र में दुर्खाइम द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र को उन्नत करने में काफी सफल हुआ। इस प्रकार फ्रांसीसी क्रांति का संदर्भ और औद्योगिकीकरण का उदय दुर्खाइम के समाज विश्लेषण को रूपरेखा देने में एक शैक्षिक प्रतिक्रिया था। दुर्खाइम के बाद उनके ऐसे उनके विद्यार्थी एवं समर्थक थे जिन्होंने इस कार्य को आगे जारी रखा। इस तरह दुर्खाइम एवं उसके समर्थकों ने समाजशास्त्र को विकसित किया और फ्रांस में एक विशिष्ट विषय के शुरू में इसे विस्तृत रूप में मान्यता प्राप्त होनी शुरू हो गई।

## 1.6 मार्क्सवादी विचारधारा

आइए, उसी समय के दौरान अब जर्मनी में समाजशास्त्र की ओर रुख करें। जर्मनी में मार्क्स एवं वेबर एवं अन्य समाजशास्त्रियों के बीच के मतभेदों की शुरुआत थी। इस तरह कार्ल मार्क्स (1818-1883) खुद हेगल (1770-1831) से गहन रूप से प्रभावित था लेकिन बाद में उसने हेगल के विचारों का विरोध किया। जहाँ कुछ समर्थक हेगल के विचारों के साथ बने रहे, वहीं अन्य समर्थकों ने उसकी व्यवस्था की आलोचना करना शुरू कर दिया।

हेगल के दर्शनशास्त्र ने 'द्वंद्वात्मक' एवं 'आदर्शवाद' पर जोर दिया जिसमें से आदर्शवाद दूसरी संकल्पना था। इस तरह द्वंद्वात्मक सिद्धांत स्वयं विश्व का नजरिया प्रदान करता है और साथ ही

तख्तापलट करना था। ऐसी क्रांति स्वतः पूंजीवादी सामाजिक गठन के अलगाववाद एवं अन्य नकारात्मक पहलुओं को दूर करती है।

## 1.7 वेबरवादी विचारधारा

अब हम एक अन्य प्रमुख जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1866-1920) की ओर रुख करते हैं। अक्सर गौर किया गया है कि मैक्स वेबर ने अपने विचारों एवं सिद्धांतों को निर्देश के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा को ध्यान में रखकर विकसित किया। वेबर के अनुसार मार्क्स ने एक-कारण (uni-casual) सिद्धांत को विकसित किया था जिसमें प्रत्येक सामाजिक पहलू अर्थव्यवस्था और आर्थिक कारकों द्वारा अग्रेषित किया गया था। इस आलोचना को यह कर कर हम स्पष्ट कर सकते हैं कि मार्क्स का "आर्थिक निर्धारणवाद" का सिद्धांत वेबर से मेल नहीं खाता था जो इसकी तुलना में यह कहता था कि ऐसे विविध कारक या कारण हैं जो समाज में साथ-साथ काम करते हैं और इसे क्रियाशील बनाते हैं। संक्षेप में वेबर का विचार था कि सामाजिक प्रक्रम के किसी भी पहलू के ऐसे बहुत से कारण हैं जो इसे क्रियाशील बनाते हैं और जहाँ तक सामाजिक प्रक्रमों का संबंध है, किसी भी एकल कारक (जैसे कि अर्थव्यवस्था) को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती।

आर्थिक निर्धारणवाद में आस्था रखने वाले भौतिकवादियों के लिए यह भौतिकता आधारित सामग्री थी जिसने विचारधारा को निर्धारित किया। हालांकि हम पाते हैं कि मैक्स वेबर के मामले में अनुक्रम दूसरे किस्म का है अर्थात ये विचार हैं जो निर्धारित करते हैं कि अर्थव्यवस्था के साथ क्या किया जाना चाहिए। वेबर विशेष रूप से आर्थिक विकास पर धार्मिक विचारों के प्रभाव से सम्बद्ध थे इस तरह प्रोटेस्टेटवाद पर अपने अध्ययन में उसने दर्शाया कि किस प्रकार विचार खुद आर्थिक विकास जनित करने की क्षमता रखते हैं। वेबर ने प्रोटेस्टेटवाद के अलावा हिंदू धर्म जैसे अन्य धर्मों का अध्ययन किया जिस पर उसने महसूस किया कि इसके आर्थिक विकास की निम्न दर का कारण समाज को बड़ी मात्रा में जातियों में विभाजित करना है। इसका अर्थ था कि एक बार फिर भूपत्तियों या जमींदारों ने उत्पाद के गलत बंटवारे के आधार पर निम्न जातियों को शोषित करना शुरू कर दिया था। हालांकि इस बात का ज्यादा असर नहीं पड़ा क्योंकि 1950 में किए अध्ययनों के आधार पर समाजशास्त्रियों ने निष्कर्ष निकाला कि हिंदू धर्म आर्थिक अड़चनों को पैदा नहीं करता और जाति नयी आर्थिक चुनौती के अनुकूल अपने को सकारात्मक ढंग से ढाल लेती है। वेबर इस बात को जानना चाहता था कि किस प्रकार युक्तीकरण की प्रक्रिया से आर्थिक विकास और बृहद् नौकरशाही तंत्रों एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति हुई (वेबर, 1904)। वेबर इस बात पर सजग थे कि किस प्रकार सामाजिक नायक अपने लक्ष्य के संदर्भ में निर्णय लेते हैं। हालांकि उसने इस ओर इशारा किया कि ये निर्णय खुद समाज में मौजूद नियमों एवं विनियमों से प्रभावित थे।

**बॉक्स 1.4 औपचारिक तर्कसंगतता**

वेबर जिस बारे में चिंतित थे उसे औपचारिक तर्कसंगतता कहते हैं और यह नौकरशाही के विकास से प्रभावित थी। वेबर ने इस ओर इशारा किया कि राजनीतिक संरचनाओं में तीन किस्म के प्राधिकार होते हैं। ये हैं - i) पारंपरिक, ii) करिश्माई, और iii) प्राधिकार की तर्कसंगत कानूनी पद्धति। जहाँ पारंपरिक पद्धतियाँ एवं करिश्माई प्राधिकार इतिहास में देखे गए हैं, वहीं तर्कसंगत कानूनी व्यवस्था आधुनिक नजरिए से नौकरशाही के विकास से जुड़ी हुई थी। पारंपरिक प्राधिकार आस्था प्रतिमान की पवित्रता से उत्पन्न होते हैं। जैसे कि राजतंत्र में राजाओं को अपनी बारी से सत्ता हासिल होती है। इस तरह राजकुमार उत्तराधिकार की बारी से राजा बनना परंपरागत प्राधिकार का उदाहरण है। दूसरी तरफ करिशमाई प्राधिकार कुछ ऐसे अनूठेपन पर आधारित होता है जिससे नेतृत्व बनता है। करिश्माई नेतृत्व वाले समर्थकों का मानना है कि अस्तित्व कायम रखने के लिए शक्ति का होना पर्याप्त होता है। अतः इस किस्म के दो प्राधिकार इतिहास में निहित हैं। हम पाते हैं कि तर्कसंगत कानूनी प्राधिकार नेतृत्व की बुनियादी आधुनिक रूपात्मकता है। अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाएं तर्कसंगत कानूनी प्रक्रिया से नेताओं की प्राप्ति करती हैं जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि का चयन।

अंततः मार्क्स की तुलना में विशेष रूप से राजनीतिक एवं आर्थिक अनुप्रयोगों के संदर्भ में वेबर के सिद्धांत अधिक स्वीकार्य पाए गए। कुछ बातों में ये उदारवादी थे और कुछ बातों में रूढ़िगत और मार्क्स की तुलना में वेबर ने पूंजीवाद की 'समस्याओं' का समाधान प्राप्त करने के लिए अतिवाद एवं प्रचंड क्रांतियों को नहीं अपनाया। दरअसल वेबर ऐसे 'समाधानों' के विरुद्ध था। इस तरह पश्चिमी समाजशास्त्रियों ने मार्क्स की विवादास्पद रचनाओं के बाद वेबर को आश्वस्त करने वाले समाजशास्त्री के रूप में पाया। वेबर की रचनाएं औपचारिक और शैक्षिक थी और इसने उसकी संमग्र छवि को समझने के नजरिए से आसान एवं साकल्यवादी बनाया। यह हैरत की बात थी कि वेबर अपने समय का सर्वाधिक प्रचलित जर्मन समाजशास्त्री था। उसी दौरान ब्रिटेन में समाजशास्त्री जिस सामाजिक संदर्भ से जुड़े हुए थे, उसी पर प्रतिक्रिया करने के लिए प्रति व्यस्त थे। ब्रिटिश समाजशास्त्री व्यक्ति विशेष का अध्ययन करने की ओर और समाजकीय अस्तित्व एवं विकास में उसकी भूमिका का अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त थे। इस प्रकार समाजशास्त्र राजनीतिक अर्थव्यवस्था, सामाजिक सुधार एवं सामाजिक विकास सिद्धांत के कारकों के इर्द-गिर्द निर्मित किया गया।

जहाँ तक राजनीतिक अर्थव्यवस्था का संदर्भ है, यह पूंजीवाद का सिद्धांत था जिस पर एडम स्मिथ ने चर्चा की थी और जिसने एक 'अदृश्य हाथ' की बात की थी जिसने बाजारी शक्तियों को नियंत्रित किया था। बाजार व्यक्ति से ऊपर की बात थी और इसने व्यक्ति के व्यवहार को विनियमित किया था। इस तरह बाजारी शक्तियों को समाज में संशक्ति एवं सामाजिक व्यवस्था के स्रोत के रूप में देखा गया। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसरण के बाद समाजशास्त्री कुल मिलाकर समाज पर बाजारी शक्तियों की आलोचना करने में शामिल नहीं था। बजाय इसके उसका काम था, समाजों अर्थात आदिम एवं समकालीन समाजों का अध्ययन करना और समाजकीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सरकारी प्रयोग हेतु रिपोर्ट तैयार करना।

## 1.8 ब्रिटिश समाजशास्त्री

इस बिंदु पर ब्रिटिश समाजशास्त्रियों ने क्षेत्र आधारित आंकड़ों को संग्रहित किया और इसके बाद इन निष्कर्षों को सामूहिक छवि के साथ जोड़ दिया । इस दौरान सांख्यिकीय प्रस्तुति पर अधिक जोर था जिसमें सिद्धान्त न के बराबर थे। हालांकि, बहुत से समाजशास्त्रियों द्वारा सिद्धांत बनाने की आवश्यकता स्पष्ट रूप से महसूस की गई। सांख्यिकीय उन्मुख समाजशास्त्री सरकार के काफी सन्निकट भी थे और इसी लिये ये समग्र राजनीतिक एवं आर्थिक पद्धति में कोई भी दोष नहीं देख सके।

**अभ्यास 1.2**

प्रारंभिक ब्रिटिश समाजशास्त्रियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कौन थे? उनके सिद्धांतों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

अब ब्रिटिश समाजशास्त्र में एक अन्य बुनियादी विशेषता थी और यह थी व्यक्तियों को सुधारने के प्रति चिंता व्यक्त करना और तत्पश्चात उन्हें समाज के विस्तृत लक्ष्यों की पूर्ति के लिए तैयार रखना। यद्यपि इन समाजशास्त्रियों ने अपने समय की सामाजिक व्यवस्था में दोषों को देखा फिर भी ये कभी भी व्यक्ति विशेष के व्यवहार एवं मनोवृत्ति पर दोष मढ़कर समस्याओं को सुलझाने के इच्छुक थे। इस उपागम का अनुसरण करते हुए इन समाजशास्त्रियों ने ऐसे समाज के प्रति काफी आदर दिखाया जिसके वे सदस्य थे। यह स्पष्ट रूप से रूढ़िगत फैसला था फिर भी मार्क्सवादी समाजशास्त्र के दानव को दूर रखना जरूरी महसूस किया गया।

इस स्थिति में बहुत से विरोधाभास थे जिनसे ब्रिटिश समाजशास्त्री स्वयं जूझ रहे थे। इस तरह यहाँ तक कि निर्धनता जैसी समस्याओं को किसी सुव्यवस्थित आधार पर नहीं देखा जा रहा था। बजाय इसके ये लोग व्यक्ति को खुद को या ऐसे समूह को उनकी निर्धनता के लिए दोषी ठहराया गया। यह एक ऐसा वर्तुल तर्क है जो व्यक्ति विशेष को सामाजिक बुराइयों या समस्याओं के केंद्र बिंदु

में रखता है। व्यक्ति विशेष की बहुत किस्म की समस्याओ का विश्लेषण किया गया जिसमें "अज्ञानता", "अपराध" या मद्यपान जैसे कारकों का समावेश है। ये सभी व्यक्ति विशेष के पहलू हैं। खासकर मद्यपान जिसे बार-बार व्यक्ति विशेष की दशा के रूप में देखा गया और इसका समाज से कोई संबंध नहीं पाया गया। यहाँ जिसे देखा गया वह पुनः अतिशयता की स्थिति थी, हालांकि यह समय की बात है कि सामाजिक संरचना विशेष रूप से सामाजिक विकास के सिद्धांतों में अधिक प्रबल हो गई। हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने इसे अग्रेषित किया। स्पेंसर सापेक्ष उदारवादी था और उसका मानना था कि राज्य को बाजार में दखल नहीं देना चाहिए। अर्थात स्पेंसर की अहस्तक्षेप नीति में आस्था थी। इससे पता चलता है कि स्पेंसर सामाजिक सुधार का पक्षधर नहीं था बल्कि बाहरी हस्तक्षेपों के बिना सामाजिक गतिकी को बनाए रखना चाहता था।

## 1.9 स्पेंसर का विकासवाद

स्पेंसर "सामाजिक डार्विनिस्ट" था और उसकी राय थी कि समाज स्वयं प्रगति करता है और इस विकास में किसी का दखल नहीं होना चाहिए। स्पेंसर ने सामाजिक संस्थानों की तुलना पौधों एवं पशुओं से की। इस तरह उसने महसूस किया कि सामाजिक संस्थान बिना किसी ठोस प्रचंडता के खुद ही अपने पर्यावरण के अनुकूल स्वयं को ढाल लेते हैं। स्पेंसर ने डार्विन के "सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट" के आधार वाक्य को ग्रहण किया जहाँ जो सामाजिक एवं प्राकृतिक पर्यावरण के अनुकूल स्वयं को ढाल सकते थे वे जीवित रहेंगे जबकि जो ऐसा नहीं कर सकते उनका अंत हो जाएगा (बट्टल, 1990)।

स्पेंसर ने समाज को ऐसी शरीर रचना के रूप में देखा जहाँ विविध भाग या "अंग" अंतःसंबद्ध थे और उसकी समूची कार्यप्रणाली में प्रत्येक की अपनी एक भूमिका थी। इस तरह कांम्टे की तुलना में जिसके अनुसार विकासवाद का संबंध विचारों से था, स्पेंसर की अपनी वास्तविक भौतिक दुनिया थी जिस वह स्पष्ट करना चाहता था, उसका विश्लेषण करना चाहता था और उसकी व्याख्या करना चाहता था।

स्पेंसर का विकासवादी केंद्रबिंदु कम से कम द्विपरतीय में था। पहले उदाहरण में स्पेंसर सामाजिक विकास में "आकार" कारक की बात करता है। इस प्रकार जैसे जैसे समाज का आकार बढ़ता है, उसी तरह विविध बुनियादी एवं संस्थागत आवश्यकताएं एवं अपेक्षाएं भी बढ़ती जाती हैं। विभेदीकरण एवं विशिष्टीकरण हर क्षेत्र में प्रकट होने लगता है और सच यह है कि छोटे शहरों का आकार एवं जटिलता महानगर से अलग होती है। स्पेंसर के अनुसार विविध समूहो के आपस में जुड़ने से समाज का आकार बढ़ता है और इससे समाज बृहद् रूप लेता है। इस तरह स्पेंसर का साधारण समुदाय से जटिल समुदाय की ओर अग्रसर होना आकार में बढ़ोत्तरी होना है।

स्पेंसर द्वारा पेश दूसरी विकासवादी रूपरेखा युयुत्सु समाज से औद्योगिक समाज की ओर बढ़ना है। युयुत्सु समाज ऐसे आरंभिक किस्म के संगठन हैं जिनका कार्य समाज की रक्षा करना है या अन्य समाज के प्रति आक्रामकता का रुख करना है। उनमें मौजूद ऐसी प्रचंड मनोवृत्ति समाज के आकार को बढ़ाने के लिए जिम्मेवार थी जो कि सामाजिक उद्गम के लिए काफी महत्वपूर्ण थी। फिर भी जब औद्योगिक समाज स्थापित किए जाते हैं और युद्ध बंद हो जाता है और विकास की राह में अड़चन पैदा करता है। औद्योगिक समाज अपनी मानव अंतःक्रिया एवं उच्च विशिष्टीकरण के लिए उल्लेखनीय हैं। राज्य साधारण रूप में निगरानी रखने वाली एजेंसी है और इसकी बुनियादी भूमिका कानून एवं व्यवस्था को कायम रखना है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्पेंसर के शब्दों में औद्योगिक समाज युयुत्सु समाजों से काफी आगे हैं और ऐसे समाज अपने खुद की पूर्णता के लिए आगे बढ़ते हैं। यदि समाज घनिष्ठता के बंधन में बंधा हुआ है और वहाँ का सौहार्दपूर्ण वातावरण है तभी यह कायम रहेगा। लेकिन स्पेंसर के अनुसार यदि ऐसा नहीं है और आंतरिक दरारें मौजूद हैं तो समाज का अस्तित्व खत्म हो जाएगा।

MADHYAMIAS

## 1.10 सारांश

समाजशास्त्रियों के आरंभिक विचार इन बातों के महत्वपूर्ण सूचक थे कि किस प्रकार संदर्भ समाजशास्त्री के मस्तिष्क के प्रभाव को सृजित करता है । हमने जिन समाजशास्त्रियों की चर्चा की है वे सभी अपने सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवेश से प्रभावित थे। हालांकि, जैसा हमने देखा है उनमें से प्रत्येक अपने निजी तरीके से सामाजिक विश्व को स्पष्ट करने की ओर प्रवृत्त था। हालांकि अब तक आपको स्पष्ट हो गया होगा कि सिद्धांत का संदर्भ अनिवर्यतया निश्चित समय एवं स्थल पर समाज और संस्कृति है। तब यह कहा जा सकता है कि सामाजिक सिद्धांत खुद सामाजिक पर्यावरण का प्रतिबिंब है और जिस समय इसे विकसित किया गया उस समय ने सिद्धात पर अपनी छाप डाली। इसलिए प्रत्येक युग, प्रत्येक "काल" ऐसी नव एवं अधिक विविध सैद्धांतिक व्याख्याओं पर अपनी प्रतिक्रिया देता है जो उस समय सर्वाधिक उपयुक्त मानी गई थी। इस तरह तब एक "अंदरुनी" एवं "बाहरी" संदर्भ होता है जिससे सामाजिक सिद्धांत की उत्पत्ति होती है। जैसा कि हमने इकाई के आंरभ में बताया था"अंदरुनी संदर्भ" का संबंध व्यक्ति विशेष से खुद है और इसका संबंध "बाहरी" समाज में विकास कार्यो को निजी तरीके से विश्लेषित करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि "बाहरी" या"निजी" संदर्भ में कोई क्रमबद्धता है। बजाय इसके व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क एवं समाजकीय विकासात्मक कार्यों एवं सामाजिक चेतना के बीच एक अंतःसंबंध मौजूद है । जब केवल इस अंतःसंबद्ध को स्पष्ट रूप से किसी विचारक द्वारा स्पष्ट एवं इसका विश्लेषण किया जाता है तब सामाजिक "अंदरुनी" एवं "बाहरी" प्रक्रिया समग्र रूप से समाज के सिद्धांत का निर्माण करती है। तब यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक सामाजिक सिद्धांतवादी एवं सिद्धांत जो उन्होंने विकसित किए, वे सामाजिक विकास पर एक स्पष्ट प्रतिक्रिया थी जैसे कि औद्योगिक क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति आदि। अंततः प्रत्येक स्थिति में आगे एक भावी पुष्टि है और प्रतिपुष्टि है जो आंशिक रूप से प्रारंभिक सामाजिक विश्लेषण एवं इसके निहितार्थों के उदय की बात को स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है।

## 1.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MUKHERJEE IAS

सेडमैन, स्टीवन, 1983, लिब्रलिज्म एंड द ऑरिजिन्स ऑफ यूरोपियन सोशल थ्योरी. बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

ब्रयांट, क्रिस्टोफर जीए, 1985. पॉजिटिविज्म इन सोशल थ्योरी एंड रिसर्च। न्यूयार्क : सेंट मार्टिन्स।

लॉवेल, डेविड डब्ल्यू,1992."सोशलिज्म,युटोपियनिज्म एंड द "युटोपियन सोशलिस्ट्स", हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन आइडियाज. 14 : 185-201.

**संदर्भ**

जॉर्ज रिट्ज 1996, सोशियोलॉजिकल थ्योरी। न्यूयार्क : मैक ग्रा हिल।

लेंजर, गरटर्ड (एडी) 1975, अंगस्ट कॉम्टे एंड पॉजिटिविज्म : द एशेंसियल राइटिंग्स। मास स्मिथ।

कार्ल मार्क्स 1862, थ्योरीज ऑफ सरपलस वैल्यू, पार्ट 1. मास्को : प्रोग्रेस पब्लिशर्स।

मार्क्स वेबर 1904, द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म। न्यूयार्क : सारिबनर्स।

बटल, फ्रेडरिक एच. (एडी), "सिम्पोजियम एवोल्यूशन एंड सोशल चेंज ", सोशियोलॉजिकल फोरुम 5 : 153-212

इकाई 2

# संकल्पना एवं सिद्धांत

**इकाई की रूपरेखा**


2.1 प्रस्तावना

2.2 शब्द एवं भाषा

2.3 संकल्पनाओं की प्रकृति

2.4 समाजशास्त्र में संकल्पनाएँ : कुछ उदाहरण

2.5 संकल्पनाओं से प्रमेय तक : प्राकृतिक विज्ञान

2.6 सामाजिक विज्ञान के प्रति : दुर्खाइम, वेबर एवं बाद के विचारक

2.7 सारांश

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- संकल्पना एवं सिद्धांत को आपस में जोड़ने के योग्य बन सकेंगे; और
- संकल्पना एवं समाजशास्त्रीय प्रमेयों के बारे में सीख सकेंगे।

## 2.1 प्रस्तावना

- हमारे रोज़ाना के दिनों के अनुभव हमें विचारकों के समूह द्वारा शब्दों को उसी नजरिये से समझने के लिए शुरुआती बिंदु प्रदान करते हैं; जैसे जैसे ज्ञान अधिक तकनीकी बनता जाता है, शब्दों को उनके गुणधर्मों के लिए परिभाषित किया जाता है और ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं जिससे वैज्ञानिक शब्दावली विकसित होती है।
- शब्दों का तकनीकी अर्थ आम रूप में समझा जाता है और हम उन्हें संकल्पनाएं कहते हैं।
- तब संकल्पनाओं को एक का दूसरे से संबंध जोड़ने के लिए प्रयोग किया जाता है जैसे मेडिकल टेस्टों के विविध पैमाने जो अंततः एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं- सामान्य या रोगात्मक अवस्था।
- ऐसी संकल्पनाओं का प्रयोग भौतिकी, रसायन विज्ञान एवं जीव विज्ञान के क्षेत्र में होता है क्योंकि ये वस्तुओं/बलों को मापने समीकरणों के निर्माण एवं प्रयोग करने में सहायता करते हैं।
- प्रयोग की दृष्टि से सामाजिक विज्ञान का सीमित क्षेत्र विस्तार है लेकिन तुलनात्मक विधि द्वारा परोक्ष प्रयोग किए जाते हैं।
- मानवीय क्रियाओं पर अपने प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए समाजों एवं समूहों में निहित भिन्नताओं का विशेष महत्व है।
- कई बार व्याख्याओं की सार्वभौमिकता का महत्व होता है जबकि कई बार अनूठापन एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण बन जाती हैं।
- नवीन अध्ययनों के लिए प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान संबंधी इतिहास अधिक फायदेमंद होता है।
- अंतःक्रिया में शामिल संकल्पना से सिद्धांत का सूत्र बनता है लेकिन इसमें निरंतर संशोधन की जरूरत पड़ती है।

MADHYAM IAS

- दुर्खाइम और वेबर; पार्सन्स और मर्टन से उदाहरण लिए गए हैं।
- विद्यार्थियों को निजी अनुभव एवं संबद्ध इकाइयों से उदाहरण लेने की सलाह दी जाती है।

## 2.2 शब्द एवं भाषा

मनुष्य होने के नाते हम अपने कार्यों के विश्लेषण एवं मूल्यांकन एवं अपने विचारो, अनुभूतियों एवं सजगता को स्पष्ट करने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। हम शब्दों एवं शब्दों के समूह जिसे वाक्य कहते हैं, के माध्यम से अंतःक्रिया करते हैं। ऐसे अन्य मनुष्य भी हैं जो यही सब करते हैं। वे जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, हमें उसकी समझ होती है। धीरे-धीरे हम ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ समुदाय में सभी एक ही रूप में लेते या समझते हैं। भाषा सामाजिक उत्पाद है। शब्दों को एक अर्थ दिया जाता है और यह अर्थ सभी को सामान्य रूप से स्वीकृत होता है। इस तरह सामाजिक अंतःक्रिया सुविधाजनक हो जाती है। उत्तर-पूर्वी भारत में नागा की अलग-अलग घाटियों में रहने वाले नौ विभिन्न वंशों के बारे में कथा सुनाई जाती है। वे (स्थानीय बोली) में एक वस्तु की प्राप्ति के लिए साथ मिलजुल कर बैठ जाते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि कौन सी चीज की जरूरत है। तब उनमें से प्रत्येक ने छोटा पैकेट खोला। उस पैकेट में नमक था, लेकिन नमक को नौ विभिन्न शब्दों मे स्पष्ट किया गया। इस तरह हम एक शब्द के अर्थ का मूल्य समझ सकते हैं। दो और उदाहरण इस संदर्भ में सटीक होंगे। कुर्सी शब्द का अर्थ फर्नीचर के ऐसे टुकड़े से है जिसका प्रयोग बैठने के लिए किया जाता है। एक समय था जब संसद में सदस्य बैंचों पर बैठा करते थे । सरकारी क्षेत्र एवं वित्त को नियंत्रित करने वाले व्यक्तियों को "टेजरी बैंचों" को अधिकृत करने वालों के रूप में देखा जाता था। प्रतिपक्ष "प्रतिपक्ष बैंचों" पर विराजमान होते थे और जिस व्यक्ति को संबोधित किया जाता था उसे "चेयर" कहते थे। यहाँ लक्ष्य बिंदु स्थितियों से संबद्ध है और इन सीटों पर बैठने वालों से इन सीटों का अर्थ समझा जाता है। कोर्ट में "बेंच" से आशय है न्यायाधीश। वकीलों को "डाएस" की बजाय "बार" से अलग पहचान दी जाती है। इस तरह वकीलों का संबंध "बार" से होता है। यहाँ पुनः बार एवं बेंच अपनी संबद्ध स्थितियों से पहचाने जाते हैं जो कि एक दूसरे से भिन्न होती हैं। क्रिकेट में सफेद कोट अम्पायर को दर्शाता है। सेना एवं पुलिस में विविध रैंकों के लिए विविध ड्रेस कोड निर्धारित किए जाते हैं।

MADHYAM IAS

जब समान अर्थ दर्शाने के लिए बहुत बार एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है तो अन्य लोगों के लिए इसका प्रयोग करना संभव हो जाता है और इसी के आधार पर वे एक-दूसरे से बातचीत कर सकते हैं। यहाँ तक कि "हाँ" या "ना" दर्शाने के लिए चिह्नों का प्रयोग किया सकता है। आंध्र प्रदेश में बायें से दायें गर्दन हिलाता है तो इसका अर्थ हाँ है जबकि उत्तरी भारत में इसका अर्थ "ना " है जबकि हाँ के लिए गति ऊपर से नीचे की ओर होना चाहिए। पश्चिम में अंगूठा दिखाने का अर्थ है "जाने के लिए तैयार" जबकि परंपरागत भारत में इसका अर्थ दूसरे को अनदेखा करना है। हिंदी में "ठेंगा दिखा दिया" का अर्थ है कि "मैं आपकी परवाह नहीं करता"। ये कुछ गिने-चुने उदाहरण दर्शाते हैं कि एक दूसरे की बात भलीभांति समझने के लिए शब्दों/चिह्नों के साझे अर्थ की जरूरत है। मनुष्यों को इसलिए पशुओं से अलग समझा जाता है क्योंकि इनमें एक दूसरे से विचारों का आदान-प्रदान करने की भाषा के प्रयोग की क्षमता होती है।

**बॉक्स 2.1 : सहमति-जन्य अर्थ**

यह बढ़िया रूप से होता है जब शब्दों का ऐसा समान अर्थ होता है जो कि कम से कम किसी परिभाषित समूह में सभी द्वारा समझा जाता है। यह बात समझने की है कि व्याख्या के लिए शब्द का चयन करना एक मानवीय गतिविधि है। वस्तुओं/बातों को शब्दों के सम्मत अर्थ के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। कुछ रचनाकार इसे व्यक्तियों में अंतर-व्यक्तिपरकता संबंधी करारनामे के रूप में उल्लेखित करते हैं। वे वस्तुओं के संदर्भ में किसी भी किस्म की विषयनिष्ठा को नकारते हैं। इस नजरिए से वास्तविकता सामाजिक रचना है। इस नजरिए को वियाना (Vienna) के दर्शनशास्त्रियों द्वारा अग्रेषित किया गया है और उनके प्रभाव के माध्यम से इसे आगे बढ़ाया गया है।

इनमें से कार्ल पौपर एवं वालरस्टेन के नाम अग्रणी हैं । ऐसे महत्वपूर्ण शैक्षिक केंद्र के विचारकों का फैलाव अंग्रेजी बोलने वाले देशों तक हुआ। इन विचारकों ने दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में अपना स्थान बनाया। ध्यान देने योग्य बात है कि भाषा के रूप में जर्मन ने आस्ट्रिया एवं जर्मनी की बौद्धिक परम्पराओं को जोड़ा।

## 2.3 संकल्पनाओं की प्रकृति

जब वैज्ञानिक किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह तकनीकी अर्थ ले लेता है। वह एक संकल्पना बन जाता है। मनुष्य को ध्यान में रखते हुए जीवविज्ञानी "होमोसेपियन्स" या "वाइज मैन" का प्रयोग आधुनिक मनुष्य का उल्लेख करने के लिए करते हैं। यदि कोई व्यक्ति बीमार हो जाता है तो सामान्य भाषा में लोग कहते हैं कि उसे बुखार हो गया है। जैसे-जैसे खोज अत्याधुनिक बनती जाती है "मलेरिया", इंफ्ल्युएंजा जैसे शब्द बुखार की प्रकृति को दर्शाते हैं। ये शब्द यह भी दर्शाते हैं कि कौन से भाग या कीटों ने शरीर को प्रभावित किया है। तब हम रोग की प्रकृति और कारणों को भी समझते हैं। इसका अगला कदम गोलियों या टीकों के प्रयोग के माध्यम से उचित देखभाल करना है। जब बुखार या रोग को इसके घटकों की दृष्टि से स्पष्ट किया जाता है और उसके सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं का पता होता है तो हमें पता चलना शुरू हो जाता है कि किस प्रकार ये बातें जुड़कर आपस में एक दूसरे से जुड़ जाती हैं। प्रत्येक पैमाना चिकित्सक को रोग की प्रकृति को समझने एवं इसके विश्लेषण को परखने में सहायता करता है। इस प्रकार शरीर का तापमान, रक्तचाप, शर्करा या मूत्र में रुधिर शर्करा की मात्रा को मापा जा सकता है। इन सभी शब्दों एवं इनके पैमानों का सुनिश्चित अर्थ है। इस प्रकार ऐसे टेस्ट चिकित्सक के अलावा अन्य व्यक्तियों द्वारा भी किए जाते हैं। पैमानों को स्पष्ट करने वाले शब्द संकल्पनाएं बन जाते हैं और सभी तकनीशियन इन्हें सामान्य रूप से समझ सकते हैं। ऐसी सामान्य समझ बोडिज या एंटी-बोडिज के सामान्य या रोग विज्ञान संबंधी बंटन का पता लगाने में सहायता करती है और उनके विशेष संयोजन से चिकित्सक को रोग का निर्धारण करने एवं इसका हल खोजने में सहायता मिलती हैं।

विज्ञान के रूप में रसायन का आना तब संभव हुआ जब पदार्थ के न्यूनतम कण के रूप में अणु की खोज की गई और जो रासायनिक प्रतिक्रिया में भाग ले सकता था। हाइड्रोजन का आण्विक भार। और ऑक्सीजन का 2 लिया गया; उसके द्वारा 92 अवयवों के लिए भार को परिकलित किया गया। इन्हें एक सारणी में व्यवस्थित किया गया जिसे आण्विक सारणी कहते हैं। इसके अलावा, अस्थिर अवयवों पर शोधकर्ताओं ने अपनी संख्या को 110 तक बढ़ाया। अवयव तुरंत प्रतिक्रिया में मिल सकते थे जब पाया कि रासायनिक प्रतिक्रिया में भार का हनन नहीं हुआ था। यह सैद्धांतिक कथन था। आण्विक भार एक संकल्पना थी। संकल्पनाओं में निहित अंदरुनी संबंध जिन्हें सिद्ध किया जा सकता था; वे हैं बड़ी संख्या में किये गये परीक्षण जो सैद्धांतिक प्रस्थापनाऐं। इसके अलावा ऐसे सैद्धांतिक निष्कर्षों के आपसी संबंध सिद्धांत का भाग बन गए । सिद्धांत की मुख्य विशेषता है यह संकल्पनाओं एवं उनके अंतः संबंधों की दृष्टि से निष्कर्षों की श्रृंखला गठित करता है। ऐसी सैद्धांतिक प्रस्थापनाऐं जब दूसरों के साथ जुड़ जाती हैं तो ये मिलकर विषय में सिद्धांत का गठन करते हैं।

तब सिद्धांत गठन की प्रक्रिया के लिए निम्नलिखित चरणों की जरूरत पड़ती है:

i) सर्वाधिक छोटी इकाई की पहचान एवं उसकी विशेषताएँ।

ii) ऐसी इकाइयों के अंतःसंबद्ध जो निर्धारित तरीकों में यौगिकों एवं उनके मिश्रणों को गठित करते हैं।

iii) ऐसे कथन जो अंतःक्रियाओं की प्रकृति एवं उनके परिणामों को दर्शाने के लिए संकल्पनाओं एवं उनके अंतःसंबंधों का प्रयोग करते हैं।

iv) बारंबार प्रयोग करना ताकि वांछित परिणामों तक पहुंचा जा सके और यदि परिणाम कोई फर्क को दर्शाते हैं तो अंतर को स्पष्ट करना और परिशोधित कथन की प्राप्ति करना।

**बॉक्स 2.2 : संकल्पनात्मक भावात्मकता**

संकल्पना की कुछ और अधिक व्याख्या क्रम में है। हम संकल्पना को देखते नहीं हैं। हम संकल्पना पर पहुंचते हैं। यह अमूर्त है। जब हम किसी व्यक्ति को देखते हैं और उसका नाम जान लेते हौ तो इसे व्यक्तिवाचक कहते हैं। सोमनाथ या अब्दुल कलाम व्यक्तिवाचक संज्ञाएं हैं लेकिन जब हम लोक सभा के स्पीकर या भारत के राष्ट्रपति के संदर्भ में इन नामों को कहते है तो हम इन व्यक्तियों की विशेषताओं का जिक्र कर रहे हैं। अतः स्पीकर या राष्ट्रपति भावात्मक हैं। पुष्पा अध्यापिका का और शशी विद्याथी का नाम हो सकता है। यहाँ पुनः अध्यापिका एवं विद्यार्थी भावात्मक संज्ञाएं हैं। हम व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को जातिवाचक संख्याओं में परिवर्तित करके भाववाचक शब्दो पर पहुंचते हैं। सचिन और कैफ क्रिकेट के खिलाड़ी हैं और गुलाम अली संगीतकार है। क्या आप निम्नलिखित स्थानों को इनकी विशेषताओं में निम्नलिखित स्थानों को परिवर्तित कर सकते हैं। दिल्ली, मुम्बई, भोपाल। निम्नलिखित से चयन कीजिएः पत्तन शहर, राष्ट्रीय राजधानी, राज्य राजधानी। विशेषताओं का मिलान कीजिए। दूसरी सूची भाववाचक शब्दों की है।

## 2.4 समाजशास्त्र में संकल्पनाएं : कुछ उदाहरण

आइए, अब कुछ संकल्पनाओं पर नजर डालें जिनका प्रयोग समाजशस्त्री बारंबार करते हैं।

हम एक अर्थ को दर्शाने के लिए एक शब्द का प्रयोग करते हैं। हम विभिन्न वस्तुओं को दर्शाने के लिए विविध शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार हम समान बातों को दर्शाने के लिए समान अर्थ को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। विविध असमान बातो को स्पष्ट करने के लिए विविध शब्दों का प्रयोग। मनुष्यों को विविध श्रेणियों में रखा जा सकता है, जैसे पुरुष, स्त्री, भाई और बहिन समान पीढ़ी से संबंधित हैं। पिता और पुत्र समान विभिन्न पीढ़ियों से; इसी तरह माँ और ..... (आप प्रयास करें)..... और अपने खुद के उदाहरण को जोड़ें ..... सास और (1) ..... (2)..... । इस प्रकार हम दो व्यक्तियों के बीच के संबंध को व्यक्त करते हैं। ऐसे संबंध दो व्यक्तियों की ऐसी कई इकाइयों में पाए जाते हैं। दो व्यक्तियों के बीच संबंध को द्विकीय (अर्थात दो) कहते हैं। दो व्यक्तियों की इकाई युग्म कहलाती है। ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञानी रेडक्लिफ ब्राउन का सुझाव था कि पहला सामाजिक संबंध प्रकृति में युग्मकीय है।

जब हम संबंध बात करते है तो हम प्रश्न पूछते हैं कि क्या संबंध एक ही घटना तक सीमित है या क्या यह समय के साथ दोहराया जाता है। इसके बाद हम दूसरा प्रश्न उठाते हैं - क्या संबंध सिर्फ दो व्यक्तियों तक सीमित है या समान स्थितियों में बहुत से लोग इसमें शामिल होते हैं। दो व्यक्तियों में अध्यापक-विद्यार्थी संबंध पाया जाता है लेकिन अध्यापक भी बहुत से हैं और विद्यार्थी भी बहुत से हैं। यह एक सामान्य स्वीकृति है कि विद्यार्थी एक निश्चित रूप में अध्यापकों से संबंधित होंगे आइये यहां कुछ संकल्पनाओं को लाते हैं। अध्यापक से संबंध जोड़ने से विद्यार्थी भूमिका निभाता है। इसे परिभाषित कराया जाता है जब समय के साथ यह पैट्रर्न बन जाता है । इस तरह यह पैट्रर्न चलता रहता है। भूमिका निभाने वाले व्यक्ति को नैडल ने व्यक्ति के रूप में परिभाषित किया है। आइए, अब कुछ आगे बढ़ें। विद्यार्थी की भूमिका बहुत से विद्यार्थियों द्वारा निभाई जाती है। अतः नैडल का कहना है कि बहुत से लोगों द्वारा एक ही भूमिका निभाई जाती है और इस एक व्यक्ति में बहुत से व्यक्ति शामिल हैं। अब हमारा व्यक्ति विशेष हर रोज एक से अधिक अंतःसंबंधों में प्रवेश करता है। परिवार वह किसी और का भाई या बहिन हो सकता है। वह किसी का पुत्र हो सकता है या माँ का पुत्र हो सकता है और तीन पीढ़ी के परिवार में दादा-दादी, का पोता हो सकता है ..... आदि। इस स्थिति को खुले शब्दों में कहा जा सकता है एक व्यक्ति का अर्थ बहुत से व्यक्तियों से है।

## 2.5 संकल्पनाओं से प्रमेय तक : प्राकृतिक विज्ञान

गणित और बीजगणित के बीच के अंतर को ध्यान में रखना उपयोगी होगा। पहले मामले में हम हर ऐसा प्रश्न हल करने का प्रयास करते हैं जो हमारे समक्ष आता है। दो सवालों, तीन सवालों आदि को जोड़ें या अभ्यास 1,2,3 घटा करने से संबंधित हैं या इसका संबंध गुणनफल और विभाजन से है। प्रत्येक अभ्यास को निजी तौर पर हल किया जाता है। बीजगणित में हमारे पास सूत्र या सवाल सुलझाने का तरीका होता है। यदि (a+b) को (a+b) से गुणा किया जाता है तो हम देखते हैं कि पहले समुच्चय में a से शुरू करने पर हमें निम्नलिखित परिणाम की प्राप्ति होती है: $a \times a + a \times b = a^2 + ab$, इसके बाद हम पहले समुच्चय के b से शुरू करते हैं और प्रत्येक अक्षर से गुणा करते हैं तब हम $b \times a + b \times b$ या $ba + b^2$ की प्राप्ति करते है। अब हम दोनों परिणामों को जोड़ते है। हमें $a^2 + 2ab + b^2$ की प्राप्ति होती है। इसलिए हमारे पास $(a+b)^2 = a^2 + 2ab + b^2$ और इसी तरह $(a+b)^2$ का सूत्र है जिससे हम आगे परिणामों की प्राप्ति कर सकते हैं। लेकिन आइए पहले सवाल $(a+b)^2 = a^2 + 2ba + b^2$ के साथ ही बने रहें। यह सूत्र a et b के सभी मानों के लिए वैध होगा; इस तरह यह $a = 2$, $b = 3$ और हो सकता है और हमारे परिणाम होंगे: $2^2 + 2.2.3 + 3^2 = 4 + 12 + 9 = 25$, इस तरह हम वांछित परिणामों की प्राप्ति के लिए a या b के मानों कों बढाते जा सकते हैं। यहाँ हमें प्रत्येक अभ्यास को परिकलित करने की जरूरत नहीं है लेकिन a या b के विविध मान चाहे वे 4 और 5 हों या 7 और 9 या ऐसे ही अन्य मान, इनके हल की प्राप्ति के लिए इस सूत्र का प्रयोग करें। बीजगणितीय अभ्यास बहुत से मामलों पर लागू होता है। यह किसी सिद्धांत की खोज करने जैसा है या प्रत्येक परिकलन को निजी तौर पर करने की यह सामान्य विधि है। एक ही किस्म के विविध मामलों को हल करने की खोज फौंमुला निकसित करने की ओर एक कदम है। यह विधि प्रमेय कहलाती है।

आइए, अब हम प्रमेयों के सम्मुचय की ओर बढ़ें। स्कूल में ज्यामिती सीखने वाले दिनों को याद कीजिए। हम बिंदु, रेखा, कोण, त्रिकोण के बारे में जानकारी हासिल करते हैं। त्रिकोण के तीन कोण होते हैं और इनका योग $180^0$ है। यदि एक कोण $90^0$ का हो तो बाकी के भी $90^0$ या इसके समानुपात जैसे $60^0$ और $30^0$ या $45^0$ और $45^0$ के होंगे। $45^0$ और $45^0$ के मामले में दो भुजाओं की लंबाई बराबर होगी । यदि सभी तीन कोणों में से प्रत्येक $60^0$ का होगा तो त्रिकोण की प्रत्येक भुजा लंबाई में भी बराबर होगी। यहाँ कोण की डिग्री और भुजा के आकार या लंबाई के बीच संबंध स्थापित होता है। इस तरह हम त्रिकोणों एवं चतुर्भुजों के बारे में अध्ययन कर सकते हैं और संबद्ध 28 प्रमेयों तक पहुंच सकते हैं। इस तरह प्रमेयों का अंतःसंबंध सिद्धांत को बनाता है।

**अभ्यास 2.1**

अनुभाग 2.1 पढ़िए और अपनी व्याख्या एवं वृत्तांत को व्यक्त कीजिए।

उदाहरण में बिंदु, रेखा या सीधी रेखा और कोण जैसे प्रदत्त शब्द संकल्पनाएं हैं। इनका आपसी संबंध प्रमेय है। इनके बीच का अंतः संबंध सिद्धांत है।

प्राकृतिक विज्ञान में जैसे भौतिकी और रसायन में हम बहुत से शब्दों (संकल्पनाओं) से अवगत होते हैं। संकल्पनाओं में निहित इनके अंतः संबंध (मात्राओं में व्यक्त) और इसके बाद उनका आपसी तालमेल सिद्धांत या "नियमों" को उत्पन्न करता है। हम सेब का एक उदाहरण लेते हैं। यह पेड़ से नीचे गिरा। यह एक प्राकृतिक घटना है। लेकिन जब न्यूटन ने प्रश्न पूछा कि सेब जमीन पर क्यों गिरा। उसने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। यहाँ उसने सिर्फ सेब के गिरने की बात नहीं की बल्कि पाया कि सभी वस्तुएं जमीन की ओर गिरती हैं। लेकिन यदि पृथ्वी गोल है तो पृथ्वी के दूसरी तरफ के लोग क्यों नहीं गिरते। यह शंका हमारे ग्रामीणों द्वारा अभिव्यक्त की गई। विश्व के दूसरी तरफ बसे अमेरिकी क्यों नहीं गिरते। न्यूटन के पास इन बातों का उत्तर था। सभी वस्तुएं पृथ्वी के केंद्र बिंदु की तरफ गिरती हैं। इससे हमें वस्तु के गिरने की वजह का स्पष्टीकरण मिल

गया। इस तरह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत अस्तित्व में आया। इसका स्पष्टीकरण न्यूटन के साथ आया कि इस तरह पृथ्वी के सृजन के समय से सेब या अन्य वस्तुएं इस तरह नीचे गिरती आ रही थीं। यहाँ हम सिद्धांत गठन की प्रक्रिया को इस प्रकार सार का रूप दे सकते हैं।

- सिद्धांत किसी बात के आवर्तन की व्याख्या है और यह दिक्काल में सार्वभौमिक रूप से वैध व्याख्या है।
- जिन दशाओं के अंतर्गत सैद्धांतिक कथन सत्य साबित होंगे उन्हें स्पष्ट करने की जरूरत है।
- सिद्धांत को संशोधित किया जा सकता है यदि आगामी अनुभव ऐसी नयी स्थिति उत्पन्न करें जिसे नवीन माना जा सके। सिद्धांत परिशोधित दावा है, उदाहरण है, अणु के सिद्धांत । जहाँ अणु के विखंडन के बाद पदार्थ के अविभाजनीय भाग को परिशोधित करना पड़ा। 92 से परे तत्वों की खोज का मामला पहले ही व्यक्त कर दिया गया है। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को एक नये नजरिये से देखा गया जब गैर-पदार्थ या प्रकाश जैसे बल को आइनस्टाइन ने गुरुत्वाकर्षण से जोड़ा।
- विज्ञान इस नजरिए से अव्यैक्तिक है कि नियम एवं सिद्धांत अपनी सत्यता के लिए व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर नहीं करते, चाहे वह राजा हो या प्रधानमंत्री, पादरी हो या बुद्धिजीवी स्वयं।
- जब संकल्पनाओं और सिद्धांत के बारे में मौजूदा ज्ञान के आधार पर समस्या का समाधान होता है या छानबीन की जाती है तो इसे निगमनात्मक उपागम कहते हैं। हम सिद्धांत से तथ्यों की ओर बढ़ते हैं।
- जब हम तथ्यों से व्याख्या की ओर बढ़ते हैं तो प्रक्रिया को आगमनात्मक प्रक्रिया कहते हैं।
- आगमनात्मक एवं निगमनात्मक प्रक्रियाओं के बीच का अंतःसंबंध विज्ञान की विधि का गठन करता है। यहाँ प्राप्त निष्कर्ष अनंतिम हैं और परीक्षण एवं परिशोधन के अधीन हैं। प्रक्रिया के रूप में विज्ञान में संशोधनीय प्रस्ताव सम्मिलित होते हैं।
- कुछ रचनाकारों का मत है कि विज्ञान दुगुनी वृद्धि करता है जैसे हर 10 वर्षों के बाद और 50 वर्षों के बाद कुछ चुनिंदा निष्कर्षों या सैद्धांतिक कथनों को संशोधन की जरूरत पड़ती है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 2.6 सामाजिक विज्ञान के प्रति : दुर्खाइम, वेबर एवं बाद के विचारक

इस मुद्दे पर काफी चर्चा रही है कि क्या सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की विधि का अनुसरण कर सकती है, इसके लिए अलग से चर्चा करने की आवश्यकता पड़ती है। काम्टे, दुर्खाइम एवं रेडक्लिफ ब्राउन का उत्तर था "हाँ" । डिल्थे, एक इतिहासकार का इस संदर्भ में अलग नजरिया था। वेबर ने बीच का रास्ता अपनाने की कोशिश की। विविध अवसरों पर व्याख्या के विविध सिद्धांतों का प्रयोग किया गया है और इन्हें "ग्रैंड थ्योरीज" कह कर पुकारा गया है जिन्हें विविध मामलों पर लागू किया जा सकता था। कम से कम ऐसा दावा किया जाता है। मार्क्सवाद और पार्सनवाद पद्धतियाँ इस श्रेणी से संबद्ध हैं। तत्पश्चात आनुभविक स्तर पर विवरण होते हैं। इसका अर्थ है बिना व्याख्या के संग्रहित तथ्य एवं सारणी में इनकी प्रस्तुति। ये सिद्धांत नहीं हैं लेकिन उचित विश्लेषण के माध्यम से सिद्धांतों को बनाया जा सकता है। दुर्खाइम की आत्मघात दरों का अध्ययन और उनकी परिवर्तनशीलता की व्याख्या, मौजूदा आंकड़ों से सिद्धांत गठन का श्रेष्ठ उदाहरण है। दुर्खाइम की विधि को समझने के लिए यह सहायक होगी:

- सर्वप्रथम दुर्खाइम ने शब्द को स्पष्ट किया और तीन (या चार) किस्म के आत्मघातों एवं उनकी प्रकृति की पहचान की।
- हर किस्म के लिए, विविध सामाजिक श्रेणियों में उनके वितरण की दृष्टि से उपलब्ध मौजूदा आंकड़ों को सरकारी रिकॉर्डों में वर्गीकृत किया गया। इस वर्गीकरण के लिए रचनाकार की समझदारी और उत्कृष्टता की आवश्यकता थी।

लिए लगातार उनकी खोज की जा रही है। यह तंत्र क्लासिक रचनाकारों एवं आधुनिक स्थितियों के सिद्धांतों एवं विज्ञान योजक संकल्पनाओं की प्रक्रिया का गठन करता है।

### ख) पार्सन्स और मर्टन

बीसवीं शताब्दी के रचनाकारों में तालकॉट पार्सन्स मानव कार्यों को संकल्पनाबद्ध करने एवं अर्थव्यवस्था, राज्य व्यवस्था, संस्थानों एवं पैटर्न अनुरक्षण को आपस में जोड़ने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। इस अभ्यास के लिए आर्थिक मानवविज्ञान, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र से उनका योगदान प्राप्त करने एवं सामान्य कार्य सिद्धांत में उनके एकीकरण की जरूरत थी। पार्सन्स ने परिपक्वता ग्रहण करने पर अर्थव्यवस्था, राज्य व्यवस्था, परिवार एवं व्यवसाय विशेष रूप से उप-व्यवस्था के रूप में औषधि की जाँच की और अमेरिकी समाज की विशिष्ट बातों पर गौर किया। अपने समय के मशहूर रचनाकारों की चर्चा करते समय एवं कुछ के मरणोपरांत योगदानों को समझते हुए इस प्रक्रिया में निहित शैक्षिक प्रयास की निरंतरता के बारे में प्रश्न उठाया गया। उस समय की समीक्षा से पता चलता है कि "युवा" रचनाकार "परिपक्व" रचनाकार से भिन्न था क्योंकि "युवा" अपेक्षाकृत अधिक सामान्य था जबकि "परिपक्व" अधिक विशिष्ट। 1848 में मार्क्स पर गौर करते हुए इसे कमोबेश विभाजक रेखा के रूप में देखा जाता है। *दर्शनशास्त्रीय* पांडुलिपि एवं *कम्युनिस्ट मेनिफेस्ट* का संबंध उस समय से है जबकि कैपिटल्स का आगे के समय से। पार्सन्स पर समान अभ्यास का सुझाव है टूवर्ड्स ए जर्नल थ्योरी ऑफ एक्शन (1936) का प्रकाशन और निश्चित सीमा तक सामाजिक पद्धति पहले चरण को दर्शाते हैं।

### ग) समाज के सिद्धांत

इसके बाद विशिष्टताऐं प्रचलन में आ गई और अमेरिकी समाज की आनुभविक स्थिति में इसे स्पष्ट रूप से देखा गया। हमने एक अलग इकाई में भारतीय पांडित्य पर पार्सन्स के प्रभाव की ओर ध्यान केंद्रित किया था। कुछ आलोचकों के अनुसार पार्सन्स अपनी स्थिति एवं प्रभावों को संश्लेषित करने के लिए बहुत सी संकल्पनाओं का प्रयोग करने का दोषी है। इनके प्रयोग से समर्थकों की बजाय उसके आलोचकों की संख्या ज्यादा हो गई। फिर भी उसके विद्यार्थियों एवं सह-कार्यकर्ताओं के समूह में से हम समाज के विविध पहलुओं के अधिकाधिक अध्ययनों की प्राप्ति करते हैं।

मर्टन ऐसे सर्वाधिक गंभीर विद्यार्थियों में से एक था जिसने उस समय आनुभविक अध्ययनों के ताजे युग्म बनाने का प्रयास किया और कुछ पहलुओं को लेकर महासिद्धांत (Grand theory) बनाने का प्रयास किया। हैरी एम जानसन ने अपनी पुस्तक "सोशयोलोजि" में अपने निष्कर्षों को अग्रेषित किया जिसे कि योगेश अटल ने हिंदी में अनुवादित किया। योगेश अटल ने मर्टन के साथ एक पूरा सत्र व्यतीत किया था। अन्य रचनाकार परिवार, धर्म, अर्थव्यवस्था, अर्थशास्त्र एवं राज्य व्यवस्था का अध्ययन करते हैं। मर्टन "थ्योरी ऑफ द मिडिल रेंज" के प्रतिदान की वजह से विशेष महत्व रखते हैं जो महासिद्धांत और विशुद्ध व्याख्या के बीच का माध्यम है। उनका सोचना था कि इस स्तर पर सिद्धांत की स्वतः शोध प्रणाली थी अर्थात अगली शोध (क्षेत्र अध्ययन सहित) के लिए मार्गदर्शक के रूप में काम करना। इसी आधार पर उसने आधुनिक समाजों के शोध के साधनों के रूप में प्रयोग हेतु प्रतिष्ठित व्याख्या को क्रमबद्ध किया और एक निश्चित सीमा तक पुरानी संकल्पनाओं को नयी प्रांसंगिकता एवँ स्पष्टता देते हुए संशोधित किया। उसने तीन श्रेणियों का ठीक-ठीक पता लगाते हुए "प्रकार्य" (function) के लिए ऐसा किया। ये श्रेणियाँ हैं - फंक्शन, डिस्फंक्शनल एवं नॉन-फंक्शनल और उसने तीनों के परिणामों के संतुलन पर भी गौर किया। उसने प्रेक्षण के लिए एक विशेष शिष्टाचार को विकसित किया जो कि प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य में समझे जाने की क्षमता के लिए सूचना एकत्र करने की अनुमति देगा। संकल्पनात्मक स्तर पर समाजशास्त्र के ज्ञान और प्रकृति महानगर एवं स्थानीय प्रेस के स्तर के बीच के विश्लेषण को उसने नये नजरिए से देखा। उसने असंगति के समाजिक पहलुओं और समाज के स्वीकृत उद्देश्यों एवं इनके प्रयोग के बीच के द्वंद्वों को स्पष्ट किया और इसके बाद छानबीन के विविध चरणों पर मध्य मार्गीय सिद्धांत के उदाहरणों के रूप में "रोल सेट" और "रैफरेंस समूह" के सिद्धांतों को विकसित किया। मर्टन का अन्य योगदान ऐसे प्रश्नों को हल करने में निहित है जिन्हें वित्तीयन एजेंसियों ने निर्धारित किया है

- सामाजिक तथ्यों एवं उनकी तुलना से संबद्ध आंकड़ों के आधार पर हर किस्म की आत्मघात दर एक दूसरे से अलग थी।
- प्रत्येक किस्म के लिए स्पष्टीकरण दिया गया।
- समाज में समेकित (एकजुटता) की कोटि की परिवर्तनशीलता की दृष्टि से थ्योरी ऑफ स्यूसाइड सूत्रबद्ध की गई।

आइए, पुनः याद करें कि मैक्स वेबर ने किस प्रकार अपने सिद्धांतों को सूत्रबद्ध कियाः

- मुख्य शब्दः "प्रोटेस्टेंट एथिक एवं कैपिटलिज्म" को साहित्य को पढ़ने के बाद परिभाषित किया गया। उनके आदर्श प्रकारों को परिभाषित किया गया।
- ऐसे मामलो की पहचान की गई जहाँ दोनों मौजूद थे और मौजूद नहीं थे।
- ऐतिहासिक ढाँचे के मद्देनजर तुलना संबंधी कार्य किया गया और प्रत्येक धार्मिक समूह में प्रचलित शिक्षा की किस्म पर आधारित मौजूदा आंकड़ों की तुलना की गई।
- प्रोटेस्टेंट-वर्चस्व क्षेत्रों में पूंजीवाद के उदय संबंधी निष्कर्ष की पुष्टि की गई।
- ऐसे अंतःसंबंध की जाँच क्यों की जाती है।
- किस प्रकार सभ्यता के सामान्य इतिहास से संबद्ध इस मामले की व्याख्या करने का प्रयास किया गया।

समय के साथ-साथ ऐसे परिवर्तनकारी अध्ययन संबद्ध विषयों एवं इसके साथ-साथ मुख्य विषय के रूप में निरंतर अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। ऐसा होता है कि सिद्धांत के कुछ निश्चित भाग आगामी अध्ययनों में अपनी तरफ अपेक्षाकृत अधिक ध्यान आकृष्ट करते हैं। आत्महत्या पर दुर्खाइम के अध्ययन ने विशेष रूप से मनोचिकित्सों एवं सामाजिक मनोचिकित्सकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है और वे अन्य बातों के अलावा संभावित स्पष्टीकरण के रूप में सुरक्षा की भावना के खत्म होने की बात की पुनः जाँच करने लगे। एक किस्म की आत्महत्या को रैमोमिक के रूप में वर्गीकृत किया गया था। रचनाकारों के कुछ विशेष समूह ने इस संकल्पना को आधुनिक समाज के विश्लेषण के लिए प्रमुख माना। जिससे उन्होंने उस किस्म की संकल्पना को एकात्मता से अलग करना शुरू किया और इनमें बहुत से मनोवैज्ञानिक चरों को पेश किया। जबकि मर्टन ने नियंत्रण के रूप में सामाजिक घटकों को बनाए रखा। इस तरह नवीन सामाजिक विज्ञानी संकल्पना की वैकल्पिक प्रासंगिकता की प्राप्ति करते हैं और कुछ विशेष संशोधनों के साथ एक अलग नजरिए से समस्या की ओर देखने का प्रयास करते हैं।

### क) मैक्स वेबर

दूसरा उदाहरण मैक्स वेबर से संबंधित है। प्रोटेस्टेंट नैतिकता से संबंधित इसका विचार कैथोलिक, हिंदू, शिंटो एवं कन्फ्यूशियन आस्था पर काम करने वाले रचनाकारों से अलग है। मार्क्सवादी विचारकों ने वेबर द्वारा प्रतिपादित "सांस्कृतिक" कारकों की बजाय "संरचनात्मक" कारकों के निर्णायक होने पर कई सवाल उठाए। फिर भी उद्यमशीलता पर आधारित अधिकांश एशियाई संवाद ने सांस्कृतिक ढांचे में वेबर संबंधी वाद-विवादों को जीवित रखा। मारियो रट्टन ने "स्टडी आफ आन्त्रेप्रनौरशिप इन इंडिया" नामक अपने लेख में दो मुख्य उपागमों (2003 : 1319-41) के बीच की अंतःस्थिति को साफ सुथरे ढंग से छोटे रूप से स्पष्ट किया है। वेबर बनाम मार्क्स पर पर्याप्त चर्चा की गई और इन दोनों में कुछ ऐसी बातें हैं जो एक दूसरे की अनुपूरक हैं। बेवर की अन्य विभिन्नताएं नृजातीय प्रणाली और घटना क्रिया विज्ञान की प्रत्ययात्मकता में पाई जाती हैं जहाँ कार्यकर्त्ता को अन्यों की अपेक्षा प्रमुखता दी जाती है। मार्क्सवाद में उप-आल्टर्न के आनुभविक अध्ययनों एवं प्रभुत्व के राजनीतिक स्वरूपों पर जोर लगातार बढ़ता गया। क्लासिक रचनाकार जिन्होंने सामाजिक तथ्यों, धाराओं एवं अपने समय के चिंतन पर ध्यान देना शुरू किया, निरंतर नये समाजों या हमारे समकालीन समय की समस्याओं को संबोधित करने में उनकी प्रासंगिकता के

और यह ऐसी संकल्पनाओं को विकसित करने के अवसरों में भी निहित है जो कि सामाजिक सिद्धांत एवं सामाजिक संरचना के विस्तृत ढाँचे में व्याख्यात्मक शक्ति की प्राप्ति करे। सामाजिक समस्याओं को ध्यान मे रखते हुए उसने सामाजिक समस्याओं एवं समाजशास्त्रीय समस्याओ के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। इस बात को एस.एस. गौर ने भारतीय प्रतिवेश को ध्यान में रखकर तैयार की गई अपनी प्रस्तुतियों में ग्रहण किया।

एम.एस.श्रीनिवास द्वारा "संस्कृतिकरण" एवं प्रबल जाति के माध्यम से भारतीय समाज की विशिष्ट विशेषताओं का अध्ययन किया गया। एडरियन सी.मेयर ने एक विशिष्ट स्थिति में "अर्ध गठित" समूहों के क्रिया कलापों की प्रकृति माध्यम से प्रदेश के देवास शहर में नगर निगम चुनावों का अध्ययन करने में इसे उपयोगी पाया। भारत में समाजशास्त्र में ऐसी सीमाओं को दर्शाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसके अंतर्गत कुछ संकल्पनाएं पश्चिम मे प्रचलित हो गई और जो भारत में कार्यरत सामाजिक प्रक्रमों की प्रकृति पर पकड़ कायम करने में हमारी सहायता कर सकता है। "लिटिल कम्युनिटी " एवं "खेतिहर समाज" ऐसे कुछ उदाहरण हैं और ऐसे अन्य उदाहरणों को इस संदर्भ में जोड़ा जा सकता है।

## 2.7 सारांश

शब्द एवं संकल्पनाएं मस्तिष्क की उपज हैं और जब इनके अर्थ को बांटा जाता है जो रोजाना के जीवन एवं शैक्षिक संदर्भ में विचारों का आदान-प्रदान होता है। विज्ञान के विकास एवं व्याकरण और तर्क शक्ति ने अर्थों को अधिकाधिक स्पष्ट किया। प्राकृतिक विज्ञान संकल्पनाओं को अनुभवों से जोड़ती है और विविध संकल्पनाओं में इनके अंतः संबंध एवं इनका तालमेल निष्कर्षों को प्रभावित करते हैं। विज्ञान निरंतर वृद्धि करता है और सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी की तुलना में दुगुनी तेजी से आगे बढ़ता है। सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी के लिए विचारों के इतिहास का अधिक महत्व है क्योंकि प्राचीन संकल्पनाओं एवं सिद्धांतों को मौजूदा समस्याओं पर अंतर्दृष्टि डालने के लिए खोजा जाता है। इस तरह पहले से बेहतर परिणाम मिलते रहते हैं। यह बात विशेष रूप से दुर्खाइम एवं वेबर द्वारा प्रयुक्त विधियों एवं उपागमों के संदर्भ में उल्लेखनीय है और पार्सन्स की ग्रैंड थ्योरी की तुलना में मर्टन द्वारा शुरू की गई मिडल रेंज थ्योरियों की प्रकृति को समझने में भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इकाई में जिस ढंग से संरचना एवं प्रकार्य जैसे शब्द विकसित किए गए हैं, उन पर संक्षेप में चर्चा की गई है। विद्यार्थियों को विशिष्ट इकाई में शामिल संबद्ध सामग्री का अध्ययन करने की सलाह भी दी जाती है। मर्टन ने प्रेक्षण के लिए "प्रोटोकोल" और सैद्धांतिक या संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए प्रतिमान विकसित किए। हमारी अगली इकाई प्रतिमानों एवं सिद्धांतों से संबंधित है।

## 2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लेफभर, हेनरी 1968, द सोशियोलॉजी ऑफ मार। न्यूयार्क : विंटेज

लेचमैन, एल.एम. 1971. द लीगेसी ऑफ मैक्स वेबर। बर्कले, कैलिफोर्निया : ग्लेंडेजरी प्रेस।

**संदर्भ**

दुर्खाइम, एमाइल, सुसाइड, ट्रांसेलेटेड बाई जे.ए. स्पॉल्डिंग एंड जी. सिम्पसन, ग्लेंकोली। द फ्री प्रेस 1951, (ऑरिजिनल इन फ्रेंच : 1987)।

मर्टन. आर.के. 1968, सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर, न्यू दिल्ली, अमेरिंड पब्लिशिंग कंपनी।

पार्सन्स, टॉलकट, 1965, थ्योरीज ऑफ सोसाइटी फाउंडेशन ऑफ मॉडर्न सोशियोलॉजी थ्योरी, कम्पलीट इन 1 वाल्यूम, न्यूयार्क, द फ्री प्रेस।

वीना दास एडी. 2003, द ऑक्सफोर्ड इंडियन कम्पेनियन टु सोसियोलॉजी एंड सोशल एंड सोशल एंथ्रोपॉलॉजी, (एसपी एटीटी "द स्टडी ऑफ एंटरप्रियुनरशिप इन इंडिया बाई मैरियो रुटन)।

वेबर, मैक्स 1930, प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म, ट्रॉंसलेटेड बाई टॉलकट पार्सन्स, लंदन, एलेन एंड अनविन (ऑरिजिनल इन जर्मन : 1920-21)।

इकाई 3

# सिद्धांत और रूपावली

## इकाई की रूपरेखा


3.1 प्रस्तावना

3.2 समाजशास्त्रीय सिद्धांत

3.3 क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांत

3.4 त्रि-चरणों के नियम

3.5 मार्क्सवादी विचारधारा

3.6 वेबरवादी विचारधारा

3.7 पार्सन्स का कार्य सिद्धांत

3.8 समाजशास्त्रीय सिद्धांन्तों की हाल ही के समय की उन्नति

3.9 रूपावली की संकल्पना

3.10 सारांश

3.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- सिद्धांत के अर्थ की चर्चा करने के योग्य बन सकेंगे;
- साभाजिक सिद्धांत के संदर्भ में मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के योगदानों की तुलना करने के योग्य बन सकेंगे; और
- क्लासिकी और समकालीन सिद्धांतों का वर्णन करने के योग्य बन सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 3.1 प्रस्तावना

साधारण शब्दों में सिद्धांत से आशय है कला या विज्ञान के सामान्य सिद्धांतों की व्याख्या जो कि अभ्यास से बनती है। यह सही है कि अभ्यास के आधार पर हम विशिष्ट नियमों की उत्पत्ति करते हैं और इससे हम अभ्यास के दौरान जो कुछ पाते हैं उसके मद्देनजर इन नियमों को अलग करने के योग्य होते हैं। इस तरह हम सिद्धांत एवं अभ्यास के बीच के अंतर को स्पष्ट करने के से ही शुरुआत करते हैं। सिद्धांत सामान्य तौर पर अभ्यास की व्याख्या करने में सहायक होते हैं। सिद्धांत का संबंध अमूर्तता के उच्च स्तर से है जबकि अभ्यास आनुभविक स्थिति को दर्शाता है। यदि हम सिद्धांत एवं अभ्यास के बीच के संबंध पर नजर डालते हैं तो यहाँ दो संभावनाएं उत्पन्न होती हैं। जैसे (i) सिद्धांत एवं अभ्यास को एक दूसरे से अलग रूप में देखा जा सकता है, और (ii) सिद्धांत एवं अभ्यास को एक दूसरे के अनुपूरक के रूप में देखा जा सकता है। पहले नजरिए के अनुसार सिद्धांत एवं अभ्यास के बीच अंतर स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस तरह हम कुछ विशेष कथनों से अवगत होते हैं जैसे सिद्धांत में यह एक अच्छा विचार है लेकिन व्यावहारिकता में यह कारगर सिद्ध नहीं होगा। इस नजरिए के अनुसार सिद्धांत एवं अभ्यास दो बिल्कुल अलग बातें हैं। दूसरे नजरिए के अनुसार प्रतीत होता है कि सिद्धांत एवं अभ्यास दो अलग बातें नहीं हैं लेकिन एक दूसरे को समझने में ये सहायता कर सकते हैं। हमारे नजरिए से यद्यपि सिद्धांत एवं अभ्यास के बीच के अंतर को समझना बेहद जरूरी है लेकिन इनके आपसी रिश्ते की ओर देखने की भी जरूरत है।

दरअसल सिद्धांत एवं अभ्यास समग्र रूप गठित करते है जिनकी जाँच अपने तरीके से की जा सकती है । हालांकि इस सब का संबंध सिद्धांत की सामान्य समझ पर गौर करने से है जो अक्सर अभ्यास विपरीत दिखते है। लेकिन तर्क एवं दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सिद्धांत का अर्थ कुछ अलग तरीके से लिया गया है। तदनुसार सिद्धांत अंतर संबद्ध प्रतिज्ञप्तियों का समुच्चय है। प्रतिज्ञप्ति का अर्थ ऐसे कथन से है जिसे सही या गलत सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ कथन की प्रकृति पर जोर दिया जाना चाहिए जो सही या गलत सिद्ध होने की गुणवत्ता को अपने नजरिए में संजोए रखती है। हमारे रोजाना के जीवन में हमारे सामने ऐसे अनुभव आते हैं जिनके मद्देजनर कथनों को न तो सही और न ही गलत ठहराया जा सकता है। ऐसे कथनों को सिद्धांत के साथ-साथ प्रतिज्ञप्ति के अर्थ से अलग रखने की जरूरत है। सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिज्ञप्तियों को सजगता से सूत्रबद्ध करने की जरूरत है। अतः प्रतिज्ञप्ति को ऐसे ढंग से सूत्रबद्ध किया जाना चाहिए ताकि यह गलत साबित होने की बात को सह सके। ऐसा उपागम न सिर्फ समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को सूत्रबद्ध करने में बल्कि इसकी अपेक्षित वैज्ञानिक स्थिति को प्रतिबिंबित करने में काफी सहायक सिद्ध होता है। वैज्ञानिक शोध की बुनियादी गुणवता है कि यह अन्यथाकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आगे की ओर बढ़ती है। इसका अर्थ है कि नये आंकड़ों को ध्यान में रखते हुए मौजूदा सिद्धांतों की बारंबार जाँच/परख की जाती है। जब तक इन मौजूदा सिद्धांतों को आंकड़ों की व्याख्या करने के योग्य पाया जाता है तब तक इन्हें किसी किस्म की चुनौती का सामना नहीं करना पड़ता। लेकिन यदि ये सिद्धांत नये आंकड़ों को स्पष्ट नहीं कर पाते तो इन सिद्धांतों पर एक सवालिया निशान लग जाता है और कभी कभार इन सिद्धांतों को नकारा भी जा सकता है। ये सिद्धांत नये सिद्धांतों को अपनी जगह देने का रास्ता भी खोल देते हैं। मौजूदा सिद्धांतों के खंडन को अन्यथाकरण* कहते हैं और इस प्रक्रिया के माध्यम से वैज्ञानिक शोध कार्य आगे बढ़ता है। यहाँ हम सिद्धांत की संरचना से संबंधित हमारे मूल प्रश्न पर पुनः विचार करना चाहेंगे। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया था, कोई भी सिद्धांत निश्चित संख्या मं अंतःसंबद्ध प्रतिज्ञप्तियों से बना होता है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ सामान्य रूप से ऐसी दशाओं को दर्शाती हैं जिन्हें गलत साबित किया जा सकता है और प्रतिज्ञप्तियों की ऐसी खास दशा उन्हें वैज्ञानिक शोध के पथ पर ले आती है। अतः किसी भी प्रतिज्ञप्ति के निर्माण से पहले हम यह अवश्य सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि यह गलत साबित होने की योग्यता की शर्तों को पूरा करती है जिससे यह सिद्धांत में शामिल की जा सकती है। इसके बाद हम समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रकृति, अर्थ एवं किस्मों को समझने का प्रयास करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 3.2 समाजशास्त्रीय सिद्धांत

मोटे तौर पर समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रकृति, अर्थ एवं किस्मों पर आधारित चर्चा को पाँच भागों में बांटा जा सकता है। पहले भाग में हम इसके क्लासिकी युग या समय के दौरान समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की प्रकृति एवं अर्थ को समझने का प्रयास करेंगे। इस काल के दौरान समाजशास्त्र के पथ प्रदर्शकों द्वारा इस विषय के प्रत्यायक स्थापित करने के लिए पर्याप्त कार्य किया गया। अपने क्लासिकी युग में अग्रणी विचारकों के अथक प्रयास से ही समाजशास्त्र एक अलग विषय के रूप में उभर सका। इसके बाद अगले भाग में हम समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत की किस्मों की प्रकृति के बारे मं चर्चा करेंगे। दरअसल यह काल ऐसे समय पर ध्यान केंद्रित करता है जब समाजशास्त्र नामक विषय वणानुक्रम एवं संकल्पनात्मक रूप से से अपने क्लासिकी समय से बाहर निकल सकता था। इस समय के दौरान समाजशास्त्र में कुछ नवीनताऐं उभरी और क्लासिकी समय के कुछ दोषों पर भी ध्यान केंद्रित किया गया। तीसरे भाग में समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में हाल ही में होने वाली नवीन खोजों पर चर्चा की गई है। यहाँ हम समाजशास्त्र को न सिर्फ उभरते हुए एक नये विषय के रूप में बल्कि इसे एक ठोस परिपक्व विषय के रूप में देखते हैं। इस अवधि के दौरान समाजशास्त्र की अपनी एक अलग ऐसे महत्वपूर्ण परिपक्व और स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापना हुई जिसकी एक अलग पहचान थी। चौथे भाग में हम समाजशास्त्र में सिद्धांतों एवं परिप्रेक्ष्यों के बारे में जानेंगे जो कुछ नये प्रयासों एवं दृढ़ता के साथ इस विषय को एक अलग पहचान देते हैं। यहाँ हम देखेंगे कि किस प्रकार समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की प्रकृति एवं किस्मो पर उठने वाली

शंकाओं का निवारण किया गया। इसके बाद पाँचवें भाग में हम जाँच करेंगे कि किस प्रकार समाजशास्त्रीय सिद्धांत के समक्ष कुछ निश्चित चुनौतियाँ आईं और उसने किस प्रकार इन समस्याओं एवं चुनौतियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। लेकिन यहाँ हम यह बिंदु जोड़ सकते हैं कि यद्यपि वर्तमान की भांति समाजशास्त्रीय सिद्धांत जिस तरह अपने निजी अंदाज में अड़चनों एवं समस्याओं को दूर करता आया है, यह कोई आसान काम नहीं था।

## 3.3 क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांत

क्लासिकी समाजशास्त्र की अवधि उस युग से संबद्ध है जब समाजशास्त्र प्रमुख दावे के साथ एक नये विषय के रूप में उभरा कि समाज का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। इससे पहले दर्शनशास्त्री, बुद्धिजीवी एवं इनके साथ-साथ एक साधारण आदमी ने अपने निजी तरीकों से समाज पर विचार किया और इसकी कल्पना की लेकिन समाज का विज्ञान उभर नहीं सका। समाजशास्त्र के उद्भव से पहले दर्शनशास्त्रियों का चिंतन, साहित्यिक अव्यावहारिकता एवं आलोचना और समाज के बारे में जन की निजी संकल्पनाएं उस युग की विशेषताएं रही थीं। यद्यपि चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध बुद्धिजीवी एवं उनके साथ-साथ आम लोगों ने समाज की प्रकृति पर अपनी छाप छोड़ी थी लेकिन उनके ऐसे प्रयास मुख्यतः निजी प्रयास थे। दूसरी तरफ समाज का अस्तित्व लंबी अवधि तक बना रहा जिसने अपने खुद के आंतरिक प्रतिदशजों एवं गतिकी को दर्शाया। समाज किस प्रकार स्वयं को एक पहचान मानता है? इसका वैज्ञानिक अध्ययन कैसे किया जा सकता है? क्या ऐसा किया जा सकता है? यदि हाँ तो कैसे? ऐसे सभी प्रश्न पिछले युग में समाजशास्त्रीय सिद्धांत के विकास में प्रबल रूप धारण किए हुए थे। यह युग है जिसे आज क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। निम्नलखित चर्चा इसी बात से जुड़ी हुई है।

समाजशास्त्र शब्द एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री एवं दर्शनशास्त्री आगस्ते काम्टे (1798-1857) ने प्रतिपादित किया। उन्हें समाजशास्त्र का जनक भी कहते हैं। उन्होंने इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसके एक भाग की यहाँ चर्चा भी होगी। लेकिन उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य समाजशास्त्र को वैज्ञानिक एवं इसके साथ-साथ एक अलग विषय के रूप में स्थापित करने में इसके प्रयासों से जुड़ा हुआ है। उससे पहले समाजशास्त्र की बजाय हमारे पास दर्शनशास्त्र, साहित्य एवं कला जैसे विषय थे जिनके माध्यम से सामाजिक चिंतन किया जा सकता था। अतः अन्य शब्दों में समाज की किस प्रकार दार्शनिक, साहित्यिक या कला के माध्यम से कल्पना की जा सकती थी और समाज पर नजर डालने का सिर्फ यही एक उपलब्ध तरीका था। समाज के वैज्ञानिक-विश्लेषण की आधुनिक विधि जो कि आगस्ते काम्टे द्वारा सुझाई गयी वह पहले उपलब्ध नहीं थी। इसलिए अगस्त काम्टे के योगदानों को अपनी निजी शैली में नये एवं अलग विषय के रूप में समाजशास्त्र को स्थापित करने के लिए एक नवीन मार्ग तलाशने वाले निर्माता के रूप में देखा जाना चाहिए। संक्षेप में अगस्त काम्टे ने अपने दार्शिकाना ढंग से समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के संभव होने की चर्चा की और जब वे प्रयत्न सफल हुये तो समाजशास्त्र विषय के रूप जाना गया। हमें यह अध्ययन सत्य ध्यान में रखना होगा की यह आसान कार्य कभी भी नहीं था। समाज शास्त्र को एक नये स्वतंत्र वैज्ञानिक शिक्षण के रूप में स्थापित करने के बाद अगस्त काम्टे ने इसमें अपने योगदान दिये। आगस्त काम्टे के योगदान की संक्षेप में चर्चा इस प्रकार हैः

## 3.4 त्रि-चरणों के नियम

समाजशास्त्र को अलग एवं स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित करने के बाद, आगस्त काम्टे ने समाजशास्त्र को दो भागों में बांट दिया, जिन्हें सामाजिक साख्यिकी एवं सामाजिक गतिकी के रूप में जाना जाता है। सामाजिक सांख्यिकी समाज में संतुलन के प्रश्नों से संबंधित है जबकि सामाजिक गतिकी का संबंध समाज मे परिवर्तन की समस्याओं से जुड़ा हुआ है। काम्टे ने नक्षत्रवज्ञान, गणित, भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान एवं समाजशास्त्र जैसे विज्ञान के सोपानक्रम का हवाला भी दिया है। उसका मानना था कि समाजशास्त्र को गणित (विशेष रूप से सांख्यिकी), जीवविज्ञान या राजनीतिक अर्थव्यवस्था की तरह परिसीमित नहीं किया जा सकता। उसने त्रि-

चरणों के नियम की भी बात की है: धर्मविज्ञान, अलौकिक एवं वैज्ञानिक। उसके अनुसार प्रत्येक समाज तीन चरणों से गुजरता है। धर्मविज्ञान में प्रकृति में होने वाली प्रत्येक घटना को ईश्वर से जोड़ा जाता है जिसके हाथों में हर चीज की बागडोर होती है। दूसरा चरण है, अलौकिक अवस्था, जिसका अर्थ है बदलावकारी अवस्था, जहाँ किसी भी घटना को न अलौकिक न शक्ति की कार्रवाई माना जाता है और न ही यह वैज्ञानिक व्याख्या पर आधारित होती है। इस किस्म की बदलावकारी अवस्था लगभग चौदहवीं शताब्दी में नजर आई। तीसरे चरण को वैज्ञानिक चरण कहते हैं जहाँ समाज के संदर्भ में ईश्वरीय शक्ति या अलौकिकता को कभी भी पर्याप्त नहीं माना गया। समाज के वैज्ञानिक चरण में व्याख्या की बारीकी से जाँच की जाती है और किसी भी व्याख्या को अंतिम नहीं माना जाता । प्रत्येक व्याख्या को उस समय की वैध व्याख्या तब तक माना जाता है जब तक कि उससे बेहतर व्याख्या न मिल जाए। आगस्त काम्टे का मानना था कि समाज के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधियों को लागू किया जा सकता था। ऐसे दावे जो कहते हैं कि जो बात देखने में साधारण लगती है लेकिन इसमें असल में एक महत्वपूर्ण दर्शनशारस्त्र शामिल होता है उन्हें मुख्य रूप से प्रत्यक्षवाद कहते हैं। यह प्रत्यक्षवाद का दर्शनशास्त्र था जिसने न सिर्फ फ्रांस बल्कि समग्र यूरोप के शैक्षिक मंच पर राज किया। दरअसल आगस्त काम्टे का नाम इस प्रकार दर्शनशास्त्र से जुड़ता आया है कि इसे कभी-कभार अगस्त काम्टे का एकमात्र योगदान माना गया है जो फ्रांस की भौगोलिक सीमाओं और समाजशास्त्र की शैक्षिक सीमाओं से परे था। कुछ अन्य विषयों के विचारकों ने प्रत्यक्षवाद की धारणा पर विस्तृत टिप्पणी दी है। आगस्त काम्टे ने सुझाव दिया कि समाज के अध्ययन के लिए उसकी वैज्ञानिक विधि तुलना, प्रेक्षण एवं प्रयोग पर आधारित होगी। उसने इन संकल्पनाओं एवं संबद्ध अवधारणाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। लेकिन संक्षेप में कहा जा सकता है कि वह नये वैज्ञानिक एवं स्वतंत्र विषय के रूप में समाजशास्त्र को स्थापित करने में सक्षम था। यह ऑगस्त काम्टे था जिसने अनिवार्य शुरुआत की और उसके बाद यह ईमाइल दुर्खाइम था जिसने समाजशास्त्र के भाग्य को नयी दिशा दी। समाजशास्त्रीय सिद्धांत पर उनके योगदान की चर्चा आगे है।

**बॉक्स 3.1 : दुर्खाइमवादी उपागम**

इमाइल दुर्खाइम (1858-1917) फ्रांस के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री ने अपने पूर्वज समाजशास्त्री आगस्त काम्टे द्वारा स्थापित प्रत्यक्षवाद की परंपरा को कायम रखा। एक तरीके से हम यह कह सकते हैं कि ईमाइल दुर्खाइम ने अपना कार्य वहाँ से शुरू किया जहाँ से आगस्त काम्टे ने छोड़ा था। दुर्खाइम अभी भी ऐसे प्रश्नों से जूझ रहे थे कि क्या समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञान के नियमों को लागू करना संभव था या नहीं और इस प्रश्न पर उसका उत्तर निस्संदेह हाँ था। ईमाइल दुर्खाइम ने इस दिशा में प्रयास जारी रखा और व्यावहारिक रूप से दर्शाया कि असल में ऐसा कैसे किया जा सकता था। उसने अपनी पुस्तक, द रूल ऑफ सोसियोलॉजिकल मैथड में अपने समाजशासत्रीय उपागम को खोल कर स्पष्ट किया।

यद्यपि उसकी पुस्तक कुछ ऐसे पेचीदा सवालों से संबंधित है कि उसके अनुसार भविष्य में समाजशास्त्रीय उपागम क्या होगा। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। दुर्खाइम की सामाजिक विश्लेषण की विधि ऐसी बातों पर जोर देती है जिसे वे "सामाजिक तथ्य" कहते हैं। सामाजिक तथ्यों पर उसकी चर्चा न केवल उसकी कार्य प्रणालियों एवं सैद्धांतिक सूत्रीकरण को ही स्पष्ट करती है बल्कि एक नये, महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र को स्थापित करने में सहायता करते हैं। दरअसल हम कह सकते हैं कि विषय में इतिहास में पहला गंभीर समाजशास्त्रीय सूत्रीकरण दुर्खाइम के "सामाजिक तथ्य" के विचार के विस्तृत ब्यौरे से शुरू होता है। उसके समाज में श्रम विभाजन, आत्मघात का अध्ययन, धार्मिक जीवन के प्रारंभिक स्वरूपों की धारणा और शिक्षा और समाजशास्त्र पर विचार, जैसे अन्य सूत्रीकरण सामाजिक तथ्यों के इर्द-गिर्द निर्मित सूत्रीकरण से संबद्ध हैं। हम संक्षेप में सामाजिक तथ्यों के सूत्रीकरण से संबंधित धारणा एवं कार्यपद्धति से संबद्ध कुछ मुद्दों को समझने का प्रयास करेंगे। दुर्खाइम के अनुसार, सामाजिक

तथ्य लोगों में सामान्य रूप से अनुभूति, चिंतन एवं काम करने के तरीके हैं। जो मनुष्य के लिये बाहरी होते है और उस पर दबाव डालते हैं। ऐसी संसक्त धारणा को समझना एवं खोलना मुश्किल नजर आता है। लेकिन हम इससे संबद्ध कुछ जटिल मुद्दों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। ये सामाजिक तथ्य ऐसे तथ्यों से अलग हैं जो व्यक्ति विशेष या मनोवैज्ञानिक स्तर से हमें जोड़ते हैं। इसके अलावा दुर्खाइम ने यह भी स्पष्ट किया कि व्यक्ति विशेष या सामाजिक तथ्य "बाहरी" कारक है और लोगों के रास्ते में अवरोध उत्पन्न करते हैं। उसके अनुसार हम ऐसे सामाजिक तथ्यों की पहचान तब कर सकते हैं जब हम इनके विरुद्ध जाने का प्रयास करते हैं। दुर्खाइम द्वारा अपने विविध शोध कार्यों में पहचाने जाने वाले कुछ सामाजिक तथ्य हैं, जैसे - अपराध की दर, आत्महत्या की दर, समाज एवं धर्म में श्रम का विभाजन। सामाजिक विश्लेषण के उद्देश्य के लिए इन सामाजिक तथ्यों का प्रयोग कैसे करें। इस संदर्भ में, दुर्खाइम ने दो संकेत दिए हैं - पहला, सामाजिक तथ्यों को "वस्तुओं" के रूप में लेना चाहिए और दूसरा, सामाजिक तथ्य को उस से पहले के अन्य सामाजिक तथ्य के साथ जोड़कर देखना चाहिए। इस तरीके से दुर्खाइम ने दो मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति करने का प्रयास कियाः (i) यह सुनिश्चित करना कि समाजशास्त्र वस्तुतः वैज्ञानिक विषय बने और (ii) इस बात का ध्यान रखना कि समाजशास्त्र एक ही ठोस विषय के रूप में बना रहे और यह अन्य विषयों से संबद्ध विविध भागों में विभाजित नहीं हो। दुर्खाइम ने समाज के "सामान्य" एवं "रोगविज्ञान" संबंधी पहलुओं का हवाला भी दिया है। दुर्खाइम की विविध सैद्धांतिक एवं कार्यपद्धति संबंधी मुद्दों से संबंधित नजरिए को उसकी पुस्तक "द रूल्स ऑफ सोशलोजिकल मैथेड" में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है। ईमाइल दुर्खाइम के सैद्धांतिक योगदानों को समझने के बाद हम एक अन्य पथप्रदर्शक कार्ल मार्क्स के विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

## मार्क्सवादी विचारधारा

कार्ल मार्क्स (1818-1883) जर्मनी के दर्शनशास्त्री, सामाजिक विज्ञानी एवं इसके साथ-साथ एक समाजशास्त्री थे। कार्ल मार्क्स के शैक्षिक योगदान को विश्व भर में मान्यता दी जाती है। यद्यपि मार्क्स ने विविध शैक्षिक समस्याओं को हल करने का प्रयास किया फिर भी उसने समाजशास्त्री बनने का दावा कभी भी नहीं किया। आज जो मार्क्सवादी समाजशास्त्र है, वह उसके ऐसे विविध सूत्रों पर आधारित है जो प्रकृति में बुनियादी तौर पर समाजशास्त्रीय थे। अन्य शब्दों में हमें उसकी रचनाओं से समाजशास्त्रीय विषयवस्तु की प्राप्ति करनी है। इसके अतिरिक्त कार्य के बाद के चरणों में समाजशास्त्रियों द्वारा पूरा किया गया। मार्क्स के सैद्धांतिक सूत्र ने जो कि उसके लिए बुनियादी बिंदु थे और समाजशास्त्रियों के लिए उपयोगी थे, उनका यहाँ हवाला दिया गया। मार्क्स के ऐसे कुछ बुनियादी सूत्रों में शामिल हैं - ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग एवं वर्ग संघर्ष, अधिशेष मूल्य का सिद्धांत एवं अलगाववाद (विसंबंधन)। मार्क्स के सूत्रों ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए पूर्व चर्चित क्रियाओं से हट कर एक नई दिशा दिखाई। विश्व के वामपंथी राजनीतिक दलों द्वारा मार्क्स के सिद्धांत को एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में भी प्रयोग में लाया गया और हाल ही तक विश्व का एक अच्छा खासा भाग विश्व के कम्युनिस्ट दलों के शासन के अधीन रहा है। 1989 में और इसके आसपास दूसरे विश्व से संबद्ध विविध देशों की विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं ने उस समय मौजूद दो महाशक्तिशाली देशों के बीच चलने वाले शीत युद्ध की समाप्ति पर उनका पतन हो गया। इन सभी देशों ने अपने राजनीतिक दिशा निर्देशों के रूप में मार्क्स के सैद्धांतिक सूत्रों का प्रयोग किया था।

मार्क्स के सैद्धांतिक सूत्र पूर्व चर्चित लेखकों से एक मुख्य बिंदु पर पृथकता प्रर्तिबिंबित करते है। मार्क्स की विधि में "तर्कशास्त्र" (dialecties) के सिद्धांत शामिल थे जिनकी पहले के किसी भी समाजशास्त्री ने चर्चा नहीं की थी। सिद्धांत के रूप में तर्कशास्त्र की धारणा का प्रयोग समग्र रूप से मार्क्स की नयी खोज नहीं थी। पहले इसका प्रयोग उसके सहकर्मी जी.डब्ल्यू.एफ. हेगल ने किया था। मार्क्स के सैद्धांतिक सूत्र में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, वह द्वंद्वात्मक विधि की सहायता से समाज की भौतिकवादी व्याख्या थी। जैसा कि हेगल के मामले में उसने तर्कशास्त्र के माध्यम से आदर्शवाद के जरिए समाज की प्रगति को देखा। मार्क्स के मामले में भौतिकवादी तर्कशास्त्र के माध्यम से समाज की प्रगति संभव थी। मार्क्स की रचनाओं में अन्य महत्वपूर्ण पृथकता ऐतिहासिक विधि पर उनका जोर देना था। जब तर्कशास्त्र के सिद्धांत का प्रयोग इतिहास के अध्ययन के लिए किया गया तो इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया। समाज की भौतिकवादी

व्याख्या मुख्यतया सामाजिक स्थिति को शामिल करती है जो जन के विचारों की रूपरेखा बनाने में सहायता करती है। कुछ स्थानों पर ऐतिहासक भौतिकवाद की धारणा का प्रयोग हमेशा संबद्ध द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से विनियम किया गया है। मार्क्स के इतिहास एवं तर्कशास्त्र पर जोर देने को वर्ग एवं वर्ग संघर्षों पर आधारित सूत्रों से भी जोड़ा गया। कार्ल मार्क्स ने अपने शैक्षिक सहयोगी एवं आजीवन मित्र फ्रेडिरक एंजल्स के साथ मिलकर इस बात को स्पष्ट किया किया अभी तक के इतिहास का ज्ञात काल वर्ग संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। जैसे, मार्क्स और एंजल्स के अनुसार दास समाज में मालिक और दास वर्ग, जैसे सामंतवादी समाज में सामंत एवं सर्फ होते थे जबकि पूंजीवादी समाज में पूंजीवादी और कामगार होते थे। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं नियंत्रण की प्राप्ति के लिए ये ऐसे प्रमुख वर्ग थे जो एक-दूसरे से संघर्ष करते थे।

**बॉक्स 3.2 : श्रमजीवी वर्ग**

मार्क्स और एंजल्स श्रमजीवी वर्ग की जीत का पूर्वानुमान लगा सकते थे जो कि पूंजीवादी वर्ग के खिलाफ संघर्ष कर रही थी। ऐसे बहुत से अन्य मुद्दे हैं जिन पर मार्क्स और एंजल्स द्वारा विशेष रूप से पूंजीवादी समाज के संदर्भ में चर्चा की जाती है जैसे शोषण, अधिशेष-मूल्य का सिद्धांत, विसंबंधन और श्रमजीवी वर्ग की क्रांतिकारी क्षमता। श्रमजीवी वर्ग की जीत के साथ मार्क्स एवं एंजल्स समाजवादी समाज के आविर्भाव को पहले से देख सकते थे, जो वर्ग हीन समाज होता। आखिर में कम्यूनिस्ट समाज उत्पन्न हो रहा था। मार्क्स की रचनाओं में हम चिंतन की स्पष्टता, समाज के बारे में नई व्याख्या, प्रगतिशील विचारधारा और सामान्य तौर पर जन मुक्ति की माँग जैसे मुद्दों की स्पष्टता को देख सकते हैं। यद्यपि मार्क्स ने काफी खुलकर लिखा है और उसके विचार संसक्त एवं सटीक रहे हैं। उसके विचार एवं इसका अनुप्रयोग उस सीमा तक महत्वपूर्ण रहा है कि किसी भी मौजूदा सच्चाई की समाजशास्त्रीय व्याख्या को तब तक पूर्ण नहीं समझा गया जब तक उसने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से परिघटना की जाँच न की हो।

कार्ल मार्क्स के सैद्धांतिक सूत्रों को समझने के बाद हम एक अन्य विचारक मैक्स वेबर के योगदानों को समझने का प्रयास करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 3.6 वेबरवादी विचारधारा

मैक्स वेबर (1864-1920) जर्मनी के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री थे जिनका संबंध समाजशास्त्र में क्लासिकी अवधि के युग से था। वेबर विविध विषयों पर अपने उत्कृष्ट लेखन के लिए समाजशास्त्र में काफी प्रसिद्ध हैं। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को एक नयी दिशा दी जिसके अंतर्गत उसने चिंतन एवं शोध के विविध एवं नये तरीके पेश किए। उसके चिंतन एवं विश्लेषण के तरीके आगस्त काम्टे या ईमाइल दुर्खाइम से भिन्न थे। हमारी राय में मैक्स वेबर ने अपने विचारों की प्रस्तुति की जो कि बुनियादी तौर पर जर्मन चिंतन से संबंधित थे लेकिन फिर भी यूरोपियाई और पश्चिमी सुगंध भी बिखेर रहे थे। मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया से लेकर नौकरशाही तक विविध विषयों पर रचनाएं लिखी हैं। इसके अलावा उसने सामाजिक विज्ञान की कार्य पद्धति जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भी योगदान दिया है। यद्यपि मैक्स वेबर ने अपने निजी शब्दों एवं तरीकों में समाजशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयास किया है लेकिन उसके द्वारा निर्मित वर्सिटीहेन (verstehen) जैसे कुछ निश्चित सूत्रों के लिए अभी भी स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। समाजशास्त्री अभी भी इस विचार से संघर्ष कर रहे हैं कि किस प्रकार सही मायने में मैक्स वेबर द्वारा विकसित चिंतन के पथ पर आगे बढ़ें।

**अभ्यास 3.1**

मार्क्स और वेबर की विचारधाराओं को रेखांकित कीजिए। इन समाजशास्त्रियों में कौन सी समानताएं हैं?

मैक्स वेबर द्वारा विकसित कुछ सूत्रों के साथ किस प्रकार प्रयोग करें जैसे सोशल एक्शन, वर्सिटिहेन या फिनौमिलौजी नामक संकल्पनाएं। यह अभी भी ऐसा क्षेत्र बना हुआ है जहाँ अभी भी काफी कुछ समझना और उसके बाद करना बाकी है हालांकि, नौकरशाही जैसी संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द उदाहरण के तौर पर कुछ सफलता मिली है। अपनी सैद्धांतिक विषयवस्तु की दृष्टि से निस्संदेह मैक्स वेबर की संकल्पनाओं का उच्च मूल्य है लेकिन व्यावहारिकता की दृष्टि से यह अभी भी जटिल क्षेत्र बना हुआ है। उदाहरण के लिए, मैक्स वेबर ने सामाजिक कार्रवाई की व्याख्यात्मक समझ के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित किया। मैक्स वेबर निरंतर समाज पर बोलते रहे कि इसकी दो विशेषताएं हैं - (i) ऐसी क्रिया करते समय नायक को अन्य नाय की उपस्थिति को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए और पूर्णतया या आंशिक रूप से इससे मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए और (ii) नायक को इसमें व्यक्तिनिष्ठ अर्थ अवश्य जोड़ना चाहिए। मैक्स वेबर ने सामाजिक विज्ञान में वस्तुनिष्ठता बनाम विषयनिष्ठता संबंधी मुद्दों के बारे में भी लिखा है। वर्सिटीहेन और आदर्श प्ररूपों की महत्ता के बारे में इसके सैद्धांतिक मूल्य की दृष्टि से उसके विचार उत्कृष्ट एवं शानदार हैं। लेकिन व्यावहारिक एवं आनुभविक स्तर पर इन्हें क्रियाशील कैसे बनाया जाए, यह अभी भी जटिल क्षेत्र बना हुआ है। एक तरफ समाजशास्त्र विषय सैद्धांतिक स्तर पर रचनाओं से समृद्ध है लेकिन प्रायोगिक स्तर पर बहुत अधिक सफलता नहीं मिली है जैसा कि मैक्स वेबर ने पहले किए विषयों को बिना स्पष्ट किए विविध विषयों पर अपने समय में काम किया। हालांकि प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र पर मैक्स वेबर के सूत्र और पूंजीवाद के उदय को विस्तृत रूप से स्वीकृत एवं इसका अभिनंदन किया जाता है। मैक्स वेबर अपने अध्ययन में यह दर्शाने के योग्य था कि प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र और पूंजीवाद के विकास में एक सकारात्मक संबंध था। किसी प्रवाहपूर्ण सामान्यीकरण पर गौर करने से पहले हमें सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि मैक्स वेबर ने एक विशेष मामले के रूप में इसकी प्रस्तुति सिर्फ यूरोप के संदर्भ में ही की थी। उनके उदास विचारों के बाद भी मैक्स वेबर के काम को विविध कारणों की वजह से कुछ सीमा तक अप्रकट रहे। लेकिन इस सब के बावजूद इस बात में कोई शंका नहीं है कि मैक्स वेबर के सूत्रों ने समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को विकसित करने के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर काम किया है। अतः आगस्ते काम्टे, ईमाइल दुर्खाइम, कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर जैसे कुछ क्लासिक रचनाकारों के सैद्धांतिक योगदानों की जाँच के बाद, यहाँ हम समाजशास्त्र के विकास के क्लासिक युग में इन विचारकों के योगदान की अंतिम अवस्था में आते हैं। इसके बाद हमें समकालीन युग में समाजशास्त्रियों के योगदान पर नजर डालने का प्रयास करेंगे।

MADHYAM IAS

आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के समकालीन युग को इसकी क्लासिकी युग से महत्वपूर्ण प्रस्थान के रूप में देखा जा सकता है। क्लासिकी अवधि के दौरान प्रमुख प्रश्न एक स्वतंत्र विषय के रूप में समाजशास्त्र को स्थापित करना रहा है लेकिन समकालीन अवधि के दौरान मुख्य ध्यान सिर्फ क्लासिकी छवि से बाहर आना ही नहीं है बल्कि विषय पर आगे काम करना भी है। इस समकालीन अवधि के दौरान विचारकों ने पिछले विचारकों के कार्यों के दोषों से कुछ सीखने का प्रयास किया जिन्होंने दुर्खाइम, वेबर और मार्क्स के बाद कुछ शोध कार्यों को किया। इस अवधि के दौरान तत्कालीन भूतकाल की गलतियों से सीखना, क्लासिकी समाजशास्त्रियों के कार्यों से प्रेरणा लेना और विषय का पुनर्निर्माण, चिंतन के मुख्य मुद्दे रहे हैं। इस संदर्भ में ऐसे दो महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों के नामों का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है जिनका इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। क्लासिकी अवधि के बाद भी इनके कार्य महत्वपूर्ण दृष्टि से स्वीकृत किए गए हैं और उन्हें मान्यता भी दी गई है। ये विचारक हैं - तालकोट पार्सन्स और रॉबर्ट के. मर्टन। यद्यपि अमेरिका के इन विद्वानों के कार्यों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दी गई है लेकिन यहाँ हम सिर्फ इनके कुछ महत्वपूर्ण योगदानों की ही चर्चा करेंगे।

## 3.7 पार्सन्स का कार्य सिद्धांत

टॉलकोट पार्सन्स (1902-1979) अमेरिका के महत्वपूर्ण समाजशास्त्री थे जिनका सामाजिक कार्य के सिद्धांत में महत्वपूर्ण योगदान है। इसने रैफरेंस के एक्शन फ्रेम और सामाजिक पद्धति और बाद में विकासवाद के बारे में चर्चा की। उनका योगदान जिसे वे एगिल (AGIL) कहते हैं, सपावली

एवं प्रतिरूप - चर योजना काफी प्रसिद्ध है। हम संक्षेप में इसके बारे में चर्चा करेंगे। तालकोट पार्सन्स को क्लासिकी समाजशास्त्र के एवं कुछ अन्य सामाजिक विज्ञानियों के कार्यों की समीक्षा करने का अवसर मिला। उसका मानना था कि वह एक समेकित सैद्धांतिक नजरिया प्रस्तुत कर सकते हैं जहाँ सभी पिछले सामाजिक विज्ञानियों के सूत्रों पर ध्यान केंद्रित होगा। उसकी सैद्धांतिक रचनाओं में बाद में सिग्मंड फ्रेड जैसे मनोवैज्ञानिक, अल्फ्रेड मार्शल जैसे अर्थशास्त्री और विल्फ्रेडो पेरेटों, ईमाइल दुर्खाइम और मैक्स वेबर जैसे समाजशास्त्रियों के नजरियों को समेकित किया गया। उसका यह भी मानना था कि विविध सामाजिक वैज्ञानिकों के योगदान एक ही दिशा में आगे बढ़ते हैं जिसे सामाजिक कार्य या एकल धारणा कहते हैं। पार्सन्स यह भी समझना चाहते थे कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार व्यक्तित्व संबंधी पद्धति में समा जाते हैं। उनके बाद के कार्य द सोशल सिस्टम (1951) में पार्सन्स ने कहा कि क्रिया (action) के तीन अनिवार्य घटक हैं -"व्यक्तित्व व्यवस्था", "सामाजिक व्यवस्था" और "सांस्कृतिक व्यवस्था"। यद्यपि इनमें से प्रत्येक एक्शन क्रिया (action) का एक भाग है लेकिन इनमें से ऐसा कोई नहीं है जो दूसरे से छोटा माना जा सकता हो। एक अन्य रचना -वर्किंग पेपरस इन द थ्योरि आफ एक्शन (1953), तालकोट पार्सन्स ने रॉबर्ट बेल और एडवर्ड शिल्स जैसे अपने सहकर्मियों के साथ अपने द्वारा निर्मित "एगिल रूपावली" को स्पष्ट किया। तदुनसार ए का अर्थ है - अनुकूलन, जी - लक्ष्य-प्राप्ति, आई - समेकन और एल - अव्यक्तता। इस तरह पार्सन्स द्वारा विकसित एगिल - रूपावली ने उसे पहले से अधिक आदर दिलाया है क्योंकि इससे वह काफी उच्च स्तर पर सामाजिक सिद्धांतों के सूत्रीकरण की ओर बढ़े। उसकी अन्य महत्वपूर्ण सैद्धांतिक रचना है जिसे वे प्रतिमान चर योजना (Pattern Variable Scheme) "पैटर्न चर योजना" कहते हैं। इसका सुझाव है कि नायक के रूप में व्यक्ति या समुदाय के पास दो विपरीत श्रेणियों के लिए महत्वपूर्ण विकल्प होते है। उदाहरण के लिये सामान्यतया एक व्यक्ति या समुदाय आरोपण या उपलब्धि को प्रोत्साहित करता है दूसरी ओर सर्वमुक्तिवाद या विशिष्टमुक्तिवाद को बढ़ावा देता है। तालकोट पार्सन्स ने ऐसे वैकल्पिक चयनों के पाँच समुच्चयों का हवाला दिया है। इन पांच चयनों के कुलक में कुछ (क्रम) परिवर्तन और संयोजन को भी उभारा जा सकता है। जैसे, पिछले निर्देशित चयनों से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि क्या निर्मित चयन सार्वभौमिक उपलब्धि है या अभिविन्यास के वैकल्पिक विशिष्ट आरोपण। इन मुद्दों पर विस्तृत चर्चा उसकी पुस्तक द सोशल सिस्टम (1951) में देखी जा सकती है। जैसा कि पहले भी वर्णित है, तालकोट पार्सन्स ने चिकित्सा व्यवसाय और विकासवाद के सिद्धान्तों पर भी लिखा है। सामान्य रूप में पार्सन्स के सिद्धांतों को प्रकार्यवाद के सिद्धांतों के विकास में उसके योगदान के रूप में देखा जाता है। किन्तु उसके द्वारा विकसित सिद्धान्तों के विषय में पश्चिमी तथा अन्य समाजों के विद्वानों ने विचार व्यक्त किये हैं कि उसके सूत्र समझने में कठिन हैं और उन्हें सरल रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता है। एक अन्य आलोचना इसकी रचना से संबद्ध है। विविध विद्वानों ने कहा है कि तालकोट पार्सन्स की रचनाएं पढ़ने में काफी सैद्धांतिक हैं। कई बार ये "महा सिद्धांत" सी दिखती है और सामान्य रूप से रोजाना के जीवन से या आनुभविक वास्तविकता से इनका कोई खास सरोकार नहीं है। ऐसी आलोचनाओं से सहमत होते हुए कि यह सही है कि पार्सन्स की सैद्धांतिक रचनाएं समझने में मुश्किल हो, आनुभविक सामग्री से सन्दर्भ न रखे लेकिन फिर भी इन्हें महत्वपूर्ण माना जाता है। कुछ पूवाग्रही रचनाकारों के नजरिए से समाजशास्त्र में ऐसी सैद्धांतिक रचनाओं की जरूरत पड़ती है और समाजशास्त्र के शिक्षार्थियों को ऐसी कठिन सामग्री को खोलने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। तालकोट पार्सन्स ने स्वयं स्पष्ट किया कि उसकी रचनाओं का संबंध सिर्फ सैद्धांतिक योजनाओं को प्रदान करने के कार्य से ही जुड़ा रहा। उसके अनुसार तब यह अन्य कुछ विद्वानों/समाजशास्त्रियों का कार्य बनता था ताकि वे इसके सिद्धांतों को सत्यापित कर सकें और इनकी जाँच कर सकें। लेकिन विषय के रूप में आगे बढ़ने के लिए समाजशास्त्र के लिए सैद्धांतिक सूत्रीकरण और वास्तविक सूचनाओं के बीच संतुलन कायम करना जरूरी था। एक अन्य समाजशास्त्री रॉबर्ट के मार्टन ने सही मायने में इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास किया है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के संदर्भ में उसके योगदान इस प्रकार हैं।

MUKHERJEE RAM IAS

**बॉक्स 3.3: मर्टन के योगदान**

रॉबर्ट के. मार्टन (1910), अमेरिका के अन्य प्रमुख सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री ने सिद्धांत और तथ्य के बीच यथोचित संतुलन कायम करने का प्रयास किया। वह इस बात से किसी तरह प्रभावित था कि सिद्धांत या तथ्य में से कोई भी कारक अकेले वांछित दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। बुनियादी तौर पर उसने इस तरह शोध कार्य पद्धति को विकसित करने का तर्क दिया कि इससे न केवल सिद्धांत और तथ्य के बीच सार्थक संतुलन स्थापित हो, बल्कि इससे दोनों की गुणवत्ता में भी सुधार हो। उदाहरण के तौर पर एक तरफ मार्टन ने कभी भी अपने से पिछले समाजशास्त्रियों के सूत्रों को नहीं स्वीकारा और इसके साथ-साथ उसने बहुत से अवसरों पर रैडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोस्की समेत विविध विद्वानों की रचनाओं में सुधार करने का प्रयास किया राबर्ट के मार्टन जिन्होंने 'प्रकार्यात्मक सिद्धांत' को दुबारा निर्मित करने और दुबारा इसे सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया। उसने पिछले विचारकों द्वारा अनजाने में की गई बहुत सी गलतियों की पहचान की और बाद में उसने प्रकार्यात्मक सिद्धांत को पुनःनिर्मित करने का प्रयास भी किया।

रॉबर्ट के. मर्टन का ठोस रूप में मानना था कि समग्र प्रकार्यात्मक सिद्धांत को इसलिए अलग-थलग नहीं किया जा सकता था क्योंकि इसमें योगदान देने वालों द्वारा कुछ गलतियां प्रारंभिक चरण पर की गई थी। रार्बट के मार्टन ने उन गलतियों से सीखा उनकी पहचान की और उन्हें दूर करने का प्रयास किया और समाजशास्त्र में शोध अन्वेषण के लिए प्रकार्यात्मक उपागम को उपयोगी उपागम के रूप में बनाने का प्रयास किया। सामाजिक शोध के संदर्भ में, उसने इसे सिद्धांत और तथ्यों के बीच अन्योन्यक्रिया के रूप में इसे स्पष्ट किया। सामाजिक शोध पर मर्टन के विचारों को उसकी पुस्तक सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर (1968) में देखा जा सकता है। इसी पुस्तक में प्रकार्यात्मक सिद्धांत पर उसके विचारों को भी देखा जा सकता है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत का पुनर्निमाण करते समय मर्टन ने तीन अभिधारणाओं का हवाला दिया है। ये हैं - (i) समाज की प्रकार्यात्मक एकता की अभिधारणा, (ii) सार्वभौमिक प्रकार्यवाद की अभिधारणा, और (iii) अपरिहार्यता की अभिधारणा। बाद में उसने सुझाव दिया कि ऐसी अभिधारणाएं जो एक समय में कुछ प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के लिए मार्गदर्शक थी, अब उनकी मौजूदगी इतनी जरूरी नहीं थी। इसके अलावा मार्टन ने इसे स्पष्ट किया है जिसे वह "मिडिल रेंज थ्योरीज" एवं समकालीन काल में इसकी अनिवार्यताओं को स्पष्ट किया है। मर्टन ने विस्तृत रूप से इस सिद्धांत को भी स्पष्ट किया है जिसे वे "रैफरेंस ग्रुप थ्योरी" कहते हैं। इस तरीके से हम देख सकते हैं कि रार्बट के मर्टन ने अपने निजी ढंग से वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र के विकास के लिए परिवेश सृजित किया और अपेक्षित आधार बनाने का प्रयास किया। उपर्युक्त चर्चा से अब यह स्पष्ट है कि तालकोट पार्सन्स एवं रॉबर्ट के मार्टन ने समाजशास्त्र विषय को आगे बढ़ाने में काफी प्रयास किए और इस प्रयास में वे काफी सफल भी रहे।

## 3.8 समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की हाल ही के समय की उन्नति

समाजशास्त्र में हाल ही में होने वाली उन्नति महत्वपूर्ण एवं अर्थपूर्ण है। आगस्त काम्टे के कार्यों के अलावा, ईमाइल दुर्खाइम, ए.आर. रैडक्लिफ-ब्राउन, ब्रेनिसला मेलिनोस्की, तालकोट पार्सन्स और रॉबर्ट के मर्टन जो मुख्यतः प्रत्यक्षवाद से प्रभावित थे एक बड़ी सीमा तक प्रत्यक्षवाद के दर्शनशास्त्र से जुड़े रहे। इसी समय के दौरान एक अन्य विचारधारा भी उभरी। समाजशास्त्र के विकास ने प्रत्यक्षवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अलावा, एक अन्य विचारधारा को भी देखा जिसकी शुरुआत जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने की थी।

**अभ्यास 3.2**

समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में नवीन उन्नति को रेखांकित कीजिए । अपना उत्तर अपनी नोटबुक में लिखिए।

यह मैक्स वेबर था, जिसने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया की व्याख्यात्मक समझ के रूप में परिभाषित किया। मैक्स वेबर ने इस मुद्दे पर वाद-विवाद शुरू किया कि क्यों व्यक्तिनिष्ठता के अवयवों, व्यक्तिगत समझ और वर्सिटीहेन को समाजशास्त्र में शामिल किया जाना चाहिए। मैक्स वेबर कभी भी प्रत्यक्षवाद के इर्द-गिर्द बने सूत्रों से प्रभावित नहीं था और समाजशास्त्रीय सिद्धांत में सूत्रों को नई दिशा देना चाहता था। दरअसल समग्र वाद-विवाद व्यक्तिनिष्ठता बनाम विषयनिष्ठता के मुद्दों के इर्द-गिर्द टिका हुआ था और इसकी शुरुआत एवं इसे प्रेरणा मैक्स वेबर ने दी थी। वास्तव में एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का सशक्तीकरण मैक्स वेबर के द्वारा उनके प्रयासों से हुआ। यहाँ शोध के नये क्षेत्र, घटनाविज्ञान और नृजाति प्रणाली विज्ञान का ही हवाला दिया जाएगा। ये दो विषय समाजशास्त्रीय शोध में होने वाली नवीन तरक्की से संबंधित मुख्य क्षेत्रों को दर्शाते हैं। दो अन्य विषय जिनका यहाँ उल्लेख अनिवार्य है, ये भी हाल ही के समय की उपज हैं, इन्हें उत्तरआधुनिकवाद एवं वैश्वीकरण कहते हैं। हम आशा करते हैं कि समाजशास्त्र सीखने के विविध चरणों पर ऐसी सभी संकल्पनाओं पर चर्चा की जाएगी। यद्यपि शुरुआत में समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को विषय को सुदृढ़ बनाने के लिए विकसित किया गया और इसका उद्देश्य इसे मूल विषय के रूप मे विकसित करना था। लेकिन विषय के विकास के साथ-साथ ऐसे परिप्रेक्ष्य में साफ रूप से नजर आने लगे। यहाँ सिर्फ उन परिप्रेक्ष्यों पर ही ध्यान केंद्रित किया जाएगा जिनका समाजशास्त्र के विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव था। कई बार सिद्धांत एवं परिप्रेक्ष्यों जैसे शब्दों का प्रयोग विनिमयात्मक रूप में किया जाता है। समाजशास्त्र में विकसित कुछ जाने-माने परिप्रेक्ष्यों को प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, द्वंद्व परिप्रेक्ष्य, विनिमय परिप्रेक्ष्य और सांकेतिक अंतःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य के रूप में जाना जाता है। यद्यपि एक या अन्य तरीके से बहुत से विद्वान विविध परिप्रेक्ष्यों से संबद्ध रहे हैं लेकिन यहाँ सिर्फ उन विचारकों का ही उल्लेख किया जाएगा जिनके नामों से हम भलीभांति अवगत हैं। ईमाइल दुर्खाइम और रॉबर्ट के मर्टन के नाम प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य से संबद्ध हैं। कार्ल मार्क्स ने द्वंद्व परिप्रेक्ष्य को दर्शाया। बी. मैलिनोस्की ने विनिमय परिप्रेक्ष्य से संबद्ध भौतिकवाद की चर्चा की जबकि हरबर्ट ब्लूमर ने सांकेतिक अंतःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य के बारे में चर्चा की। यहाँ सुझाव है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के बारे में चर्चा करते समय विचारकों की भूमिका एवं उनसे संबद्ध विविध परिप्रेक्ष्यों को ध्यान मे रखना प्रासंगिक होगा।

## 3.9 रूपावली की संकल्पना

MAADHYAM IAS

यह कुन (Kuhn) था जिसने सर्वप्रथम सुझाव दिया कि विषय विशेष रूप से विज्ञान के भीतर विकास एक क्रमिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह यकायक घटित हो जाती है। अतः कुन की पुस्तकें वैज्ञानिक क्रांति की संरचना पर आधारित थीं। कुन ऐसे यकायक परिवर्तनों को "प्रतिमान परिवर्तन" (paradigm shift) कहते हैं।

इसके अनुसार विज्ञान और विस्तार के आधार पर सामाजिक विज्ञान तीन चरणों से होकर गुजरता है जो कि देखे जा सकते हैं। ये हैं -

i) पूर्ववैज्ञानिक चरण

ii) सामान्य विज्ञान

iii) प्रतिमान स्थानांतरण

प्रारंभिक चरण में व्याख्या सिद्धांत अधूरे हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। किसी एक बिंदु पर कोई एक सिद्धांत सामान्य विज्ञान चरण में अपनी एक जगह बना लेता है। इस चरण में एकल सिद्धांत या सिद्धांतों का समुच्चय प्रबल नजर आता है, जिसे कुन ने रूपावली कहा।

जब रूपावली में बदलाव होता है तो वह स्थिति होती है जहाँ पिछले सिद्धांत निरर्थक नजर आने लगते हैं। कुन के लिए यह प्राकृतिक प्रक्रिया है और निश्चित समयावधि के बाद यह स्वयं को दोहराती है क्योंकि नये एवं स्थापित सिद्धांत ज्ञान विस्तार के साथ अधूरे बन जाते हैं। इस बिंदु पर समाधान, सिद्धांतों को संशोधन करने में निहित होता है या अन्य प्रबल सैद्धांतिक व्याख्याओं के लिए

इन्हें अलग-थलग किया जाता है जो विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और समग्र रूप से विश्व छवि के लिए अधिक पूर्ण और बेहतर व्याख्या पेश करते हैं।

कोपरनिक्स का जिक्र करते हुए हम रूपावली में बदलाव का उदाहरण दे सकते हैं जिसने इस ओर इशारा किया कि यह धरती है जो सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है न कि सूर्य धरती के गिर्द चक्कर लगाता है। यह पृथ्वी है जो सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने की बजा पृथ्वी के चारों ओर घूमती है, जैसी कि प्टोलमी (ptolemy) की स्थिति थी। कोपरनिक्स ने यह सिद्ध करने के लिए अपने विचारों को वैज्ञानिक आंकड़ों से सुदृढ़ किया। सिद्धांतों, संकल्पनाओं एवं परिप्रेक्ष्यों की दृष्टि से तेजी से एक बदलाव आया और प्रतिमान परिवर्तन हो गया। सिद्धांतों एवं परिप्रेक्ष्यों के नये समुच्चय में एक नयी सैद्धांतिक व्याख्या उभरती एवं स्थापित होती है। रूपावली स्थानांतरण का अन्य उदाहरण नजर आया जब न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की जगह आइनस्टाइन के सापेक्षिकता के सिद्धांत ने ले ली।

हमें यह बात अवश्य देखनी चाहिए कि कुन के अनुसार प्रतिमान बदलाव से आशय है, यदि विज्ञान या सामाजिक विज्ञान के पूर्व स्थापित सिद्धांतों को यदि पूरी तरह न भी बदला जाए तो भी ये आक्रामक होते हैं। संक्षेप में, पिछले सिद्धांत अतुलनीय हैं। बदलाव पूर्ण है। जिस तरीके से भाषा का प्रयोग किया जाता है, उस तरीके से नयी संकल्पनाओं, शब्दों एवं अर्थों का विकास प्रतिमान स्थानांतरण का भाग है। इसी प्रकार मानदण्ड और मूल्य भी।

इसे यदि अलग तरीके से रखें तो प्रतिमान स्थानांतरण का अर्थ विश्व, इसकी संकल्पना, परिप्रेक्ष्य एवं विश्व समुदाय की समग्र मनोवृत्तियों का नया नजरिया लेना है। वैश्वीकरण के युग में जो उत्तर आधुनिक प्रतिमान स्थानांतरण का साक्षी है और जिसमें स्थानीय संदर्भ अध्ययन का मुख्य केंद्र बिंदु है और जहाँ सामान्य या बृहद् सिद्धांतों के विचार को विवेकपूर्ण या व्यावहारिक नहीं समझा जाता।

इस तरह रूपावली की संकल्पना में दो पहलू हैं। पहला है जो समग्र है और जो उप-समुच्चयों पर इसके विविध भागों को शामिल करता है। इसमें विज्ञान या सामाजिक विज्ञान की तरह की कार्यविधि शामिल है। यह वैश्विक प्रतिमान है। दूसरे स्तर पर हम ऐसे सिद्धांत एवं व्यवहारों को पाते हैं जो समाज/विश्व के मौजूदा रूपावली को सहारा देते हैं।

हमें यहाँ अवश्य स्पष्ट करना होगा कि यद्यपि समाजशास्त्र को विशिष्ट, स्वतंत्र और वैज्ञानिक विषय बनाने के लिए कुछ प्रयास तो अवश्य किए गए हैं लेकिन संबद्ध विचारकों के निर्मित समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को विविध आधारों पर चुनौती भी दी गई है। यह पुनः समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति को उजागर करती है और जहाँ प्रत्येक सिद्धांत की जाँच की जा सकती है और जो गलत पाये जाने पर नामंजूर भी किया जा सकता है। अतः समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में अन्य विज्ञान विषयों की तरह कोई भी शाश्वत सार्वभौमिक सच्चाई नहीं होती जो कि सभी दशाओं एवं हर समय सच बनी रहती है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को धार्मिक या इतर-भौतिक दावों जैसे विषयों के रूप में नहीं देखा जा सकता। न ही समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की ऐसे दर्शनशास्त्री दिशा-निर्देशों से तुलना की जा सकती है जिनका अनुसरण किया जाना है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत ऐसी समस्याओं से बाहर निकल आए हैं और आज उनके सम्मुख आने वाली चुनौतियां अन्य किस्म की हैं और इनमें से अधिकांश वैज्ञानिक किस्म की हैं और ऐसी वैज्ञानिक प्रकृति की प्राप्ति के लिए समाजशास्त्र ने आगस्त काम्टे की रचनाओं के समय से लंबा रास्ता तय किया है जिसने इसे प्रत्यक्षवादी विज्ञान के रूप में स्थापित किया। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को पहली चुनौती ऐसे ढ़ेर आंकड़ों से मिली है जिन्हें विशेष रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व भर में सृजित किया गया है। उदाहरण के तौर पर जनांनिकी के क्षेत्र में जनित आंकड़ों से सैद्धांतिक स्तर बहुत से नवीन कार्य हुए हैं। इसी तरह मानव विकास सूचकांक से संबंधित आंकड़ों ने परा-राष्ट्रीय तुलनाओं को करने में सहायता की है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को दूसरी चुनौती परिवर्तन की ऐसी प्रक्रियाओं से मिली है जो समाज के विविध स्तरों पर आकार धारण कर रही हैं। यदि इन्हें साधारण शब्दों में रखें तो कहा जा सकता है कि सामाजिक बदलाव की प्रक्रियाएं समाज में विकसित होती रहती हैं। इस सत्य से परे एक समाजशास्त्री उसका अध्ययन करें या न करे किन्तु वास्तविकता यह है कि समकालीन विश्व में

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाऐं न केवल प्रकृति में जटिल हैं बल्कि तीव्रतर गति से आकार धारण कर रही हैं। इसके परिणामस्वरूप बहुत बार समाजशास्त्री इन सभी का अध्ययन करने की स्थिति में नहीं होते ऐसी कई घटनाऐं हैं जिन्हें गंभीर समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता है जैसे एड्स के परिणामस्वरूप और उससे जुड़े आतंक के कारण इन क्षेत्रों में अभी काफी कुछ करना बाकी है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को तीसरी चुनौती तब मिली जब कुल मिलाकर कुछ निश्चित समयावधि में समाज में बदलाव आए। ऐसे महत्वपूर्ण समय में शामिल घटनाएं हैं - द्वितीय विश्व युद्ध का अंत, विश्व में विविध स्थानों पर औपनिवेशिक शासन का अंत और विविध स्वतंत्र राष्ट्र-राज्यों का उद्भव। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को बहुत बार ऐसी घटनाओं से समझौता करना पड़ता है जब विश्व में ऐसे महत्वपूर्ण बदलाव अपनी एक रूपरेखा निर्मित करते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धांत को चौथी चुनौती ऐसी गलत धारणाओं से मिली है जो विषय के रूप में समाजशास्त्र से जुड़ी हुई हैं और जो कि मुख्यतया समाज की मौजूदा समस्याओं को हल करने से जुड़ी हुई हैं। दरअसल, समाजशास्त्र समाज की समस्याओं को हल करने के योग्य है लेकिन अभी तक इसने स्वयं को सिर्फ इनके वैज्ञानिक अध्ययन तक ही सीमित रखा है। लेकिन ऐसी कुछ समस्याओं एवं आने वाली चुनौतियों की प्रतिक्रया के रूप में समाजशास्त्रियों ने इनमें से कुछ को संबोधित करने का प्रयास किया है। समाजशास्त्रियों के प्रयासों के परिणामस्वरूप हमने तर्कसंगतता, उत्तर-आधुनिकतावाद, वैश्वीकरण, नागरिक समाज जैसी संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द केंद्रित कुछ विशिष्ट सैद्धांतिक सूत्रों के उद्भव को देखा है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत के स्तर पर विषय से जुड़े बुद्धिजीवियों एवं शिक्षाविदों ने लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे विषयों पर अर्थपूर्ण ढंग से भी प्रतिक्रिया की है। कुछ सीमा तक समाजशास्त्रियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज के पुनःनिर्माण के क्षेत्र में अपनी उपस्थित को महसूस कराया है।

## 3.10 सारांश

हमने देखा कि सिद्धांत में क्या शामिल है और रूपावली का क्या अर्थ है। हमने क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का विश्लेषण किया और देखा कि किस प्रकार काम्टे ने विधि के त्रि-चरणों को प्रतिपादित किया। इसके अलावा हमने मार्क्सवादी विचारधारा, वेबरवादी विचारधारा, पार्सन्स का कार्य सिद्धांत और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में हाल ही में होने वाली तरक्की का अध्ययन किया। अंततः हम प्रतिमान संकल्पना की ओर बढ़े और स्पष्ट किया कि थॉमस कुन ने सिद्धांतों के वर्चस्व को किस प्रकार स्पष्ट किया है। इसके अलावा हमने उस विषय उस पर पर्याप्त नजर डाली । जिन्हें हमने स्वयं संबोधित किया।

MAADHYAM IAS

## 3.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एगर बेन (एडी.) 1978, वेस्टर्न मार्क्सिज्म - एन इंट्रोडक्शन, सांता मोनिका, कालिफ : गुडईयर

एल्फ्रड, रॉबर्ट आर. एंड फ्रेडलेंड, रोजर 1985, पावर्स ऑफ थ्योरी : कैपिटलिज्म, द स्टेट एंड डेमोक्रेसी। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ब्लुमेर, हर्बर्ट 1959, "वट इज रॉंग विद सोशल थ्योरी?" इन एच. ब्लुमेर, सिम्बोलिक इंटरएक्शन। एंगलवूड क्लिफ्स, एन.जे : प्रेंटिस हॉल।

कुन, थॉमस, 1962, द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशंस। शिकागो यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

रिट्ज जॉर्ज 1996, सोसियोलॉजिकल थ्योरी यूएस. मैक ग्रा-हिल।

इकाई 4

# वास्तविकता की सामाजिक संरचना

**इकाई की रूपरेखा**


4.1 प्रस्तावना

4.2 वास्तविकता का निर्माण

4.3 सामाजिक वास्तविकता की परिघटना

4.4 रोजाना की सामाजिक वास्तविकता

4.5 भाषा और सामाजिक वास्तविकता

4.6 समाज की विषयगत वास्तविकता

4.7 वैधता एवं सामाजिक वास्तविकता

4.8 समाजीकरण एवं वैधीकरण

4.9 सामाजिक वास्तविकता एवं सांकेतिक जगत

4.10 वास्तविकता एवं भाषा का रखरखाव

4.11 सारांश

4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- 'वास्तविकता' एवं 'सामाजिक निर्माण' को परिभाषित कर सकेंगे;
- वास्तविकता के निर्माण का वर्णन कर सकेंगे;
- भाषा, वैधता, समाजीकरण एवं वास्तविकता के बीच के संबंध को दर्शा सकेंगे; और
- सामाजिक वास्तविकता और सांकेतिक जगत को व्यक्त कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि सही मायने में 'वास्तविकता' के 'सामाजिक निर्माण' से क्या आशय है। इन शब्दों से हमारा क्या अर्थ है? जब तक हम इन अंतःसंबद्ध संकल्पनाओं में से प्रत्येक को समझ नहीं लेते तब तक सामाजिक वास्तविकता के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू की प्रस्तुति करना एक कठिन कार्य होगा। सामाजिक वास्तविकता स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि बुनियादी तौर पर हम जिस सन्दर्भ की चर्चा कर रहे हैं वह वास्तविकता के दृश्य पहलूओं के घटकों को देखने के विविध तरीकों को विकसित करने की समाज की सामर्थ्य है। अतः इस तरह हम देखेंगे कि बहुत से समाज हैं और बहुत सी संस्कृतियाँ । लेकिन इनमें से एक बात जो सामान्य है, वह है कि सामाजिक वास्तविकता युवा पीढ़ी के माध्यम से स्वयं को हमेशा कायम रखने का प्रयास करती है लेकिन आमतौर पर हमेशा इसमें सफलता नहीं मिलती और प्रत्येक पीढ़ी की सामाजिक वास्तविकता के पिछली पीढ़ी से अलग होने के बहुत से बिंदु होते हैं।

जो कहा जा रहा है वह है कि किसी भी समाज के सदस्य कुछ विशिष्ट आस्थाओं एवं सिद्धांतों के आधार पर अपना अस्तित्व कायम करते हैं लेकिन ये सिद्धांत आदि हमेशा वहां नहीं थे और नजरिए एवं परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से प्रत्येक पीढ़ी में बहुत से महत्वपूर्ण बदलाव आते रहे हैं। वास्तविकता के

सामाजिक निर्माण की चर्चा करते समय यह समझना जरूरी है कि अधिकांश समाजों में सच्चाई का एक ही तरह का अर्थ नहीं है बल्कि इसका अर्थ एवं अस्तित्व विविध परतों से बना होता है अर्थात सच्चाई के सामाजिक निर्माण बहुत किस्म के हैं जो एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में भिन्न होते हैं। अतः हमें यह बात अवश्य उठानी चाहिए कि अधिकांश समाजों में वास्तविकता के सामाजिक निर्माण की विधि समान ही रहती है। इसके अलावा यह भी स्पष्ट है कि ऐसी बहुत सी "बहु वर्णनात्मक वास्तविकताएं" हैं अर्थात विशेष रूप से बहु समाजों में संस्कृति और वास्तविकता के बहुत से रूपांतर उपलब्ध हैं जहाँ ये वास्तविकताऐं विविध तरीकों से ये एक-दूसरे से जुड़े जाती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और आपस में टकराती भी हैं। अतः यह स्पष्ट है कि "वास्तविकता" को विशिष्ट तरीके से निर्मित किया जाता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वास्तविकता में सभी विवरण एक से हैं। इनकी अभिव्यक्ति में अक्सर काफी अंतर होता है। समाज जो सच्चाई उत्पन्न करता है, हम देखेंगे कि वह प्रवेश के बहुत से भिन्न बिंदु प्रदान करता है और सामाजिक रूप से उलझी हुई सच्चाई को उत्पन्न करने के लिए जिम्मेवार है। अतः हम कहना चाहते हैं कि हमारे रोजाना के जीवन में गौर करने के लिए हमारे पास वास्तव में ऐसी बहुत सी पद्धतियाँ हैं जो कि किसी भी सामाजिक निर्माण की वास्तव में मूल जड़ है और यहाँ तक कि अव्यवस्था और विघटन के समय भी कायम रहती है।

एक बार हमने यदि उपर्युक्त बातों को अच्छे से पढ़ और समझ लिया तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम ऐसे सुरक्षित एवं समेकित तरीको की चर्चा कर रहे हैं जिसमें समाज अपनी मनोवृत्ति एवं आस्थाओं को बनाए रखता है। यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक पीढ़ी साथ में अपनी संकल्पनात्मक अपेक्षाओं को लाती है और जीने का एक न्यूनतम स्वीकार्य स्तर लाती है ताकि वह अर्थपूर्ण अस्तित्व कायम रख सके। अतः इस ओर गौर करना जरूरी है कि समग्र रूप में समाज नीचे से ऊपर तक की समूची सामाजिक प्रक्रिया में संतुलन बनाता है।

## 4.2 वास्तविकता का निर्माण

अब यह पूछना स्वाभाविक होगा कि किस प्रकार बहुविध और वर्णनात्मक सच्चाइयों के निर्माण की प्राप्ति की जाती है, ऐसे तरीके एवं तंत्र कौन से हैं जिनके तहत हम सदस्यों के रूप में मिलजुल कर विश्व प्रक्रिया की संकल्पना सृजित करते हैं। हैरत की बात है कि सामाजिक सच्चाइयां तभी बन जाती है जब समाज के नये सदस्य इन्हें अपनाना शुरू कर देते हैं। जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आर्थिक, राजनीतिक, मनोवज्ञानिक क्षेत्रों का समावेश है और इसी तरह नई पीढ़ी को एक विशिष्ट तरीके से व्यवहार करने का प्रशिक्षण देकर इनमें से प्रत्येक को एक दूसरे के साथ जोड़ा जाता है वह तरीके जिन्हें नई पीड़ी अपने लिये उपयुक्त और सही समझती है।

किसी भी समाज की सामाजिक बनावट एक नाजुक रचना है जिसकी कि आनुष्ठानिक और सतत अंतःक्रियाओं के माध्यम से लगातार समीक्षा करनी पड़ती हैं। अतः वास्तिवकता स्वयं इस तरह "क्षणभंगुर" है कि कोई भी विघटनकारी या द्वंद्वात्मक स्थिति से व्यवस्था और अंगभंग नियम ठप्प पड़ जाते हैं। ऐसी सामाजिक तालेबंदी के बाद दूसरे राष्ट्र से युद्ध के समय या यहाँ तक कि जीर्ण अव्यवस्था के दौरान जो अंतःक्रिया उत्पन्न होती है उसे ठीक होने में काफी समय लगता है और इससे सामाजिक बनावट को ठीक करने के लिए बहुत से वर्ष लग जाते हैं या कुछ सदस्यों पर इसका स्थायी प्रभाव पड़ जाता है। अतः पाठ को शुरू करते समय हमें इस ओर देखना होगा कि संस्कृति के बहुत से आयाम हैं और सच्चाई का निर्माण यद्यपि बहुत से समाजों में समान होता है, फिर भी असल में वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और एक राष्ट से दूसरे राष्ट्र में भिन्न होता है। इस बात की शंका है कि युवा और प्रभावनीय व्यक्ति के मस्तिष्क में मान लीजिए धार्मिक या आर्थिक स्थिति द्वारा बद्ध कुछ निश्चित सामर्थ्य विकसित करना ही होगा। अतः विविध जातियों एवं वर्गों द्वारा विविध जीवन शैलियाँ सृजित की जाती हैं जो कि रोजाना के जीवन में पूर्ण विचारधारा और अंतःक्रिया के रूप में नजर आती है। ये वस्तुओं पर महज उत्सुकता से देखने के ही तरीके नहीं हैं बल्कि यह एक ऐसी नाजुक स्थिति है जहाँ निर्मित सच्चाई को निरंतर प्रचंड करने की जरूरत है ताकि वह सामाजिक व्यवस्था या व्यवस्थाओं पर अपने विचार प्रकट कर सके।

जब हम चर्चा करते हैं कि सच्चाई का निर्माण किस प्रकार किया जाता है तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायित्व की प्राप्ति के लिए समाज स्वयं समाजीकरण और शिक्षा का सहारा लेता है और कुछ सीमा तक व्यक्ति को नियंत्रित करता रहता है और यहाँ तक कि उसकी वास्तविकता को आगे कायम रखने के लिए उसमे उत्तरदायित्व की भावना भी पैदा करता है।

इस इकाई में हम यह बताने जा रहे हैं कि सामाजिक प्रक्रिया किस प्रकार सच्चाई का निर्माण करती है और इसी तरह संस्कृति एवं विचारधारा का विशिष्ट पैटर्न जो उन्हें सिखाया गया था जिसमें उस निश्चित दायरे में वे उपयुक्त निर्णय लेना सीखा उसे स्थापित करने के लिए आगे बढ़ती हैं। अतः ऐसे नाजुक एवं सटीक अभियान में यह साफ हो जाता है कि सभी सदस्य सामाजिक ढाँचे में अपनी एक जगह नहीं बना पाएंगे और ये पथभ्रष्ट व्यक्ति हैं और समाज ऐसे पथभ्रष्टों को समाज की "मुख्यधारा" में वापस लाने के लिए विविध अन्य तरीकों के माध्यम से प्रयास करता है।

हमने विविध तरीकों से इस ओर इशारा किया है कि हमारी वास्तविकता और अनुभव ये सभी सभी बातें कुछ समुदायों, बड़े समूहों, राष्ट्र राज्यों में मनुष्यों द्वारा निर्मित की जाती हैं और कभी-कभार राष्ट्र-राज्यों की तुलना में इनका इस ओर अधिक ध्यान होता है। ज्ञान के समाजशास्त्र का कार्य यह दर्शाना है कि कितनी सटीकता से सामाजिक सच्चाई की ये रचनाएं मनुष्यों, समूहों और मनुष्यों के समुदायों द्वारा विकसित की जाती हैं। अतः ज्ञान और सामाजिक संदर्भ के बीच के अंतःसंबंध जिसमें ये विकसित हुआ है, यह समझने में एक महत्वपूर्ण बिंदु है कि समाज किस प्रकार युगों से स्वयं को सृजित एवं पुनः सृजित करने के योग्य रहा है।

कुछ सामाजिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह माना जाता है कि समाजकीय संदर्भ विचारों के अस्तित्व का आधार था न कि अपने आप में सटीक विचार और इसलिए व्यक्ति को स्वैच्छिक कार्यों एवं कार्य की स्वतंत्रता की कुछ महत्वपूर्ण कोटि प्रदान की। दूसरी तरफ कुछ ऐसे सामाजिक वैज्ञानिक हैं जिनका मानना है कि मानव चिंतन कभी भी विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाया और परिवेश में व्याप्त बौद्धिक वातावरण से वह कभी अछूता नहीं रहा। अतः यह स्पष्ट है कि जैसे सामाजिक विज्ञानियों ने इस ओर इशारा किया है कि ज्ञान की प्राप्ति सहवर्धी है और यह अपेक्षाकृत धीमी गति से एकत्र होती है और केवल जब प्राप्त ज्ञान के पर्याप्त पहलुओं की जाँच की जाती है तब किसी भी सच्चाई का दृष्टिकोण लक्षित और स्पष्ट होता है। ज्ञान समय के साथ एकत्र होता है और इसके लिए नये सदस्यों को सारा कुछ एक साथ देना संभव नहीं होता और मौजूदा सदस्यों को मीडिया, संस्थान, परिवार और कार्य परिवेश के माध्यम से निरंतर नवीन जानकारी दी जाती है ताकि उन्हें ऐसी घटनाओं का अच्छे से पता हो जो समाज में घटित हो रही हैं।

## 4.3 सामाजिक वास्तविकता की परिघटना

बर्जर और लुकमान का मानना है कि सामाजिक सच्चाई की परिघटना का अध्ययन करने से आशय है, प्रस्थान स्थल के रूप में हम हर रोज सामान्य समझ आधारित सच्चाई का प्रयोग करते हैं। यह वही है जो अंततः ज्ञान में शामिल होता है अर्थात सामाजिक जीवन एवं प्रक्रिया में निहित अंतःक्रिया एवं सहभागिता। अतः "सामान्य बोध विचार", व्यक्तियों एवं समूहों एवं समाज की परिघटना और समाजशास्त्र को समझने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवेश बिंदु है। अतः यह स्पष्ट है कि समाज के पास अपना अस्तित्व कायम करने और सत्तामीमांसा के लिए कम से कम दो पहलू होते हैं जिनमें से एक व्यक्तिगत और एक विषयगत है। ये तथ्य मिलकर समझ को बढ़ाते हैं अर्थात जहाँ व्यक्ति के लिए समूह जीवन है वहाँ दरअसल विषयगत सच्चाई, नियम एवं विनियम होते हैं जिनका पालन करना तब तक अत्यावश्यक होता है जब तक कि व्यक्ति, या समूह अलग-थलग नहीं रहना चाहते हों। अतः सर्वप्रथम सामाजिक जीवन की सभी सच्चाई स्वजातिक होती है जो किसी एकल व्यक्ति से ऊपर और उससे परे मौजूद रहती है। अतः बर्जर भी हमारे ही तरह यह पता लगाने में इच्छुक है कि किस प्रकार मनुष्य सभी नानारूप आयामों एवं पहलुओं में सामाजिक जीवन को उत्पन्न करते हैं और इसे कायम रखते हैं। अतः सामाजिक सच्चाई को समझने का प्रयास करके हम असल में पूछ रहे हैं कि इसका निर्माण कैसे किया गया क्योंकि यही हमें अपनी पूछताछ रेखा के साथ आगे बढ़ने के संकेत देगा।

## 4.4 रोजाना की सामाजिक वास्तविकता

बर्जर और लुकमान का कहना है कि हमारा रोजाना का जीवन एवं इसका आधार ऐसा है कि गोचर विश्लेषण की विधि द्वारा इसे उत्कृष्ट रूप से समझा जा सकता है जो कि स्वाभाविक रूप से व्याख्यात्मक विधि है। अतः हम गौर करते हैं कि चेतन में विविध आयामों में मौजूद रहने और विविध किस्म की वास्तविकता से संबंधित बुनियादी गुणधर्म होते हैं। अतः मनुष्य बड़ी या छोटी सीमा तक इस बात के प्रति सजग होते हैं कि रोजाना के जीवन में सामाजिक विश्व "बहु वास्तविकताओं " से बना होता है। ये बहु वास्तविकताएं स्वतः सुव्यवस्थित होती हैं और कमोबेश पूर्णतया विकसित होती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करने के योग्य भी होती हैं। अतः परिघटना ऐसी है कि मनुष्यों द्वारा विशिष्ट प्रतिरूप को देखा जा सकता है और इन सामाजिक तथ्यों को उन पर थोपा जाता है। अन्य शब्दों में, समाज में प्रवेश करने वाले नये लोग शीघ्र या देर से यह पाते हैं कि उस समाज की एक विशिष्ट सामाजिक पद्धति है जिसे नये व्यक्ति पर लागू किया गया है। अतः हम पाते हैं कि सामान्य बोध ज्ञान ही है जिसे मनुष्य अन्य मनुष्यों से अंतःक्रिया के माध्यम से आपस में बाँटते हैं। यह रोजाना की संरचना में काफी स्पष्ट हो जाता है जिसका मनुष्य उनके रोजाना के समय में अनुसरण करते हैं। सामान्य बोध ज्ञान और इसके सामाजिक संदर्भ में छानबीन करना अपेक्षाकृत सरल है किंतू लुकमान ने इस ओर इशारा किया कि ऐसे क्षेत्रों की व्याख्या और "अनुवाद" में कठिनाई उपस्थित है जो कि सामान्य बोध ज्ञान के रूप में वर्गीकृत किए जाने योग्य नहीं हैं बल्कि दरअसल रोजाना की वास्तविकता नहीं है।

**बॉक्स 4.1: सूचकांक संबंधी रचनाएं**

समूचा सामाजिक जगत .... सूचकांकों का समुच्चय है जिन्हें सच मान लिया जाता है। इन पर कोई प्रश्न नहीं किया जाता और जब किया जाता है तब इसके अंत के लिए विषयगतता की खोज करने की बजाय तीव्र एवं सरल वर्गीकरणों को स्वीकार कर लिया जाता है। क्योंकि इसका कोई अन्त नही : विषय के आधार पर वास्तविकता की खोज करना एक गहरा खड्डा है (रंडल कुलिंस 1988, थ्योरेटिकल सोसियोलॉजी. ऑनलेंडो : हरकोर्ट ब्रेस, पी-277)।

वास्तविकता के सामाजिक निर्माण को समझने के लिए हमें रोजना के जीवन की समय-संरचना के प्रति सजग होना होगा क्योंकि यह संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि डालती है। जैसाकि बर्जर और लुकमान इस ओर इशारा करते हैं कि अल्पकालिकता अपना प्रतिबिंब छोड़ती है और यह चेतन्ना का बुनियादी गुणधर्म है। पुनः हम पाते हैं कि रोजाना के जीवन की कालिक संरचना अत्यंत जटिल मुद्दा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि चेतना बहुत से विविध स्तरों पर मौजूद रहती है और अंतःक्रिया करती है और वास्तविकता के इन सभी विविध स्तरों को विशिष्ट पैटर्नों में अंतः संबद्ध और एक व्यवस्थित रूप में देखना होगा। अतः समाज में मौजूद कालिक संरचना स्पष्ट रूप से विशिष्ट समाज के सदस्यों के लिए ऐसी स्थिति को परिभाषित करती हैं जिससे वे जुड़े होते हैं।

आइए किसी विशिष्ट समाज में मनुष्यों के मध्य दैनिक अंतःक्रिया के प्रश्न पर विचार करें। ऐसी अंतःक्रियाओं में ऐसी प्रत्यक्ष या रूबरू स्थितियां होती है जो रोजाना के जीवन में वास्तविकता की अधिकांश संरचना को परिभाषित करती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब रूबरू अंतःक्रिया होती है अर्थात अपने और दूसरे के बीच तब दोनों में व्यक्तिनिष्ठ अंदरुनी समझ होती है । आत्म चिंतन भी दूसरों के साथ व्यवहार का नतीजा है क्योंकि हम जो हैं, यह उसके प्रति हमें स्वयं के विषय में सजग बनाता है और समाज में हमें हमारे अस्तित्व के प्रति भी सजग करता है क्योंकि यह हमें मनोवृत्ति प्रदान करता है और बाद में हमारे व्यवहार को उत्पन्न करता है जो कि मानवीय सामाजिक वास्तविकता या "वास्तविकताओं" का आधार है।

यहाँ यह बताया जा सकता है कि रोजाना की वास्तविकता के अपने बहुत से घटक हैं और ये स्वयं विशिष्ट स्थितियों और मनोवृत्तियों को जनित करते हैं। अतः प्रेषण द्वारा यह स्पष्ट है कि जहाँ सामाजिक सच्चाई में बुनियादी समानताएं हैं वहीं कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनके अपने ही कानून हैं और जो एक प्रदत्त वास्तविकता से जुड़े सदस्यों पर इन्हें थोपते हैं। यह वास्तविकता पुनः यद्यपि

सामाजिक स्थिति में मौजूद है, दरअसल, सामाजिक वास्तविकता के नियमों से प्रभावित एवं प्रति बद्ध है।

## 4.5 भाषा और सामाजिक वास्तविकता

ऐसा अन्य क्षेत्र जहाँ सामाजिक वास्तविकता मौजूद है, वह है भाषा का क्षेत्र। सभी भाषाओं की अपनी एक विशिष्ट व्याकरण और वाक्य विन्यास होता है और यह सभी समाजों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकेत पद्धति होती है। यह ज्ञान की ऐसी निधि सृजित करने में सहायक होती है जो कि निरंतर फैलती और संकुचित होती रही है क्योंकि विविध शब्द एवं विचार ज्ञान और विचारों की समग्र निधि में प्रवेश करते हैं और ज्ञान और समझ के कुछ ऐसे पहलू हैं जो विचारों एवं ज्ञान की समग्र पद्धति से घटित होते हैं। अतः उदाहरण के लिए अंग्रेजी भाषा ने बहुत से शब्दाकोषों को संकलित किया है जो संशोधित, संपादित और अद्यनित हैं और इन सामाजिक, प्रक्रियाओं में बहुत से नये शब्द एवं संकल्पनाएं भाषा में प्रवेश करते हैं। ऐसे शब्द एवं विचार भी हैं जो निरर्थक बन जाते हैं और जिन्हें शब्दकोश एवं भाषा से हटा दिया जाता है।

अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक वास्तिवकता के रूप में भाषा ज्ञान को एकत्र करती है और मानव पद्धति के अन्य सदस्यों को प्रेषित करती है जो आगे सामाजिक रूप से सुव्यवस्थित परिवेश को सृजित करती है।

यहाँ कहा जा सकता है कि भाषा स्वयं सामाजिक वास्तविकता एवं शोध का काफी उच्च जटिल पहलू है जिससे पता चलता है कि किस प्रकार मनुष्य सामाजिक व्यवस्था या वास्तविकता की ओर झुकता है और इसके अनुकूल ढल जाता है। अतः यह कहा जाता है कि भाषा सांकेतिक है और इसलिए सामाजिक वास्तविकता को समझने में सक्षम है। इसलिए यह सामाजिक तथ्य है जो मनुष्यों को नियंत्रित करता है और फिर भी व्यक्ति के दायरे से बाहर रहता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि भाषा की सात्विक वास्तविकता ऐसी है कि यह सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी और इसके संप्रेषण का मुख्य भाग है।

**अभ्यास 4.1**

क्या समाज, सामाजिक रूप से निर्मित है या यह ईश्वर द्वारा धार्मिक आधार पर निर्मित संरचना है? चिंतन कीजिए और टिप्पणी कीजिए।

MADHYAM IAS to achieve your dream

अतः हम कह सकते हैं कि भाषा - ज्ञान, तर्क, नश्वरता, राजनीति और सामाजिक मनोवृत्ति का विशाल खजाना है। इसके अलावा हम कह सकते हैं कि यदि भाषा को बदल दिया जाए तो भाषावादी ढाँचे पर टिकी वह विशिष्ट विचारधारा भी इससे गूढ रूप से प्रभावित होगी। अतः सामाजिक सत्यता को भाषा के अध्ययन से और समाजकीय संदर्भ के भीतर विविध स्थितियों पर इसके अनुप्रयोग से समझा जा सकता है। इससे संबद्ध विचार है कि न केवल सिर्फ भाषा, समाज की समग्र संरचना में हम एक प्रवेश प्रवेशद्वार प्रदान कर सकती है बल्कि मानव प्रगति के लिए यह बुनियादी आधार है और जहाँ तक समाजशास्त्र और समाजशास्त्र के ज्ञान का संबंध है, यह सिद्धांतों एवं विचारों के इतिहास पर सामाजिक वास्तविकता की महत्वपूर्ण विशेषता में होने वाला बदलाव है।

## 4.6 समाज की विषयगत वास्तविकता

आइए अब समाज की विषयगत वास्तविकता पर विचार करें। विषयगत वास्तविकता से हमारा तात्पर्य है कि समाज व्यक्ति पर नियंत्रण कायम करता है और यह किसी एकल व्यक्ति के नियंत्रण से परे है। आइए अब देखें कि संस्थानों पर विशेष ध्यान देते हुए समाज में यह कैसे घटित होता है। कोई संस्थान किस प्रकार इसके सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित एवं निदेशित करता है और ऐसा कैसे है कि जहाँ व्यक्ति जीते और मरते हैं वहीं संस्थान अनिश्चित समय तक अपना अस्तित्व कायम

रखते हैं। यही कारण है कि सामाजिक वास्तविकता के उदोहरण के लिए हम इस क्षेत्र का चयन कर रहे हैं जो अस्तित्व में है और जिसका अस्तित्व लगातार कायम रहता है।

आइए, संस्थानीकरण एवं क्रियाविधि की घटना पर नजर डालें, एक एसी कार्य प्रणाली जो स्थान बनाती है और कुछ निश्चित लक्ष्य एवं उद्देश्यों को सृजित करती है जिन तक ऐसे विविध नियमों के माध्यम से पहुंचा जा सकता है जो संस्थागत व्यवहार को परिभाषित करते हैं। यह बात उठाई गई है कि प्रत्येक संस्थान भौतिक परिवेश और सामाजिक परिवेश अर्थात दोनों में अपना अस्तित्व कायम करता है। सच यह है कि ये दोनों "प्रदत्त" हैं और अपनी इच्छा से इन्हें बदला नहीं जा सकता। वास्तव में यह उसका समग्र सामाजिक और भौतिक परिवेश है जो मनुष्य को इंसान बनाता है। यह भौतिक और सामाजिक पर्यावरण के साथ अंतःक्रिया ही है जो हर तरह की मानव गतिविधि के अस्तित्व को उत्पन्न करती है। ऐसा इसलिए है कि कोई भी मानव गतिविधि समग्र या "पूर्ण पर्यावरण के प्रभाव के बिना न तो शुरू और न ही पूरी की जा सकती है।

अब इस संदर्भ में प्रश्न उत्पन्न होता है कि संस्थान किस तरह स्वयं को स्थापित करते हैं और अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। संक्षेप में, अब हम मानव संस्थानों की उत्पत्ति के बारे में पूछ रहे हैं। इस ओर इशारा किया जा सकता है कि संस्थान उत्पन्न होते हैं जब आभ्यासिक व्यवहार का अन्योन्य प्रतीकीकरण" (reciprocal typification) होता है जो ठोस प्रतिमानित व्यवहार को बनाता है जो कि समग्र नियंत्रण पैटर्न की सीमाओं से बाहर नहीं होना चाहिए। अतः ऐसे विविध कार्य जो सदस्य करते हैं वे ऐसे संस्थान की ओर ले जाते हैं, जो इसके सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण कायम करता है। जब ऐसा होता है तो हम कह सकते हैं कि संस्थान पहुंच चुके हैं या निश्चित रूप धारण कर चुके हैं। अतः संस्थान जो एक समय शुरू में मनुष्य द्वारा निर्मित थे परंतु अपनी एक सामाजिक विषयगत वास्तविकता को विकसित करते हैं।

**बॉक्स 4.2 : अनुभव और व्याख्या**

हम दावा नहीं कर सकते कि यह अंतरथापत्य पूर्णतः सार्वभौमिक है .... विश्व को सभी लोगों और सभी अवसरों द्वारा सदैव सामान्य नहीं समझा जाता। बौद्ध मध्यस्थों और अन्य रहस्यवादियों ने मस्तिष्क की स्वीकृति को हटाने के लिए सुविचारित ढंग से विधियों को विकसित किया है ताकि वास्तविकता के बारे में सामान्य अवधारणाएं बनाई जा सकें और इसके लिए जो भी प्रस्तावित होता है उस पर व्याख्या किए बिना प्रदीपन का अनुभव करने का दावा किया है (रैंडल कुलिंस 1988, थ्योरेटिकल सोसियोलॉजी. ऑनलेंडो : हरकोर्ट ब्रेस, पी-277)।

बर्जर और लुकमान इस ओर इशारा करते हैं कि मनुष्य और उसके सामाजिक जगत के बीच का संबंध द्वंद्वात्मक है अर्थात प्रत्येक परिघटना दूसरे के साथ अंतःक्रिया करती है और उस पर प्रतिक्रिया करती है। अतः मनुष्य और प्रकृति को अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों का एक दूसरे पर नकारात्मक या सकारात्मक प्रभाव हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक वास्तविकता के तीन अंतःसंबद्ध पहलू होते हैं। ये ऐसे तथ्य हैं कि समाज मनुष्यों द्वारा बनाया जाता है; इसके अलावा यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज एक विषयगत वास्तविकता है और इन कारकों के परिणाम के रूप में मनुष्य स्वयं सामाजिक उत्पाद बन जाता है।

अब समाज को स्वीकृत किए जाने की जरूरत है अर्थात अब इसे वैधता की जरूरत है जो कि नई पीढ़ी के सदस्यों को अंतःक्रिया के पहले से मौजूद प्रतिमानित तरीकों में समाजीकृत करके किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि समाजीकरण समुचित ढंग से और निरंतरता से वर्धमान वर्षों के दौरान की जाती हैं और मरणोपरांत भी यह खत्म नहीं होती अर्थात शाश्वत है अर्थात संस्थान जन्म, जीवन और मृत्यु सभी विचारों को प्रदान करते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार इन प्रक्रमों को अधिक कुशल बनाया जा सकता है। हालांकि समाजीकरण अकेला कभी भी सभी सदस्यों को नियंत्रण की रेखा में रखने के योग्य नहीं होता क्योंकि किसी भी समाज में पथभ्रष्टों का भी कुछ प्रतिशत होता है।

आंतरिक नियंत्रण या मनोवृत्तियों का नियंत्रण है जो संस्थान को ऐसा शक्तिशाली बल का रूप देता है। हालांकि सामाजिक सच्चाई, साझे अनुभव और सामान्य स्वीकृति अंदरुनी और बाहरी अनुभवों को जोड़ती है जो कि अवचेतन में घर कर जाते हैं और नियंत्रण कायम करते हैं और यही है जो समाजीकरण को ठोस, समुचित एवं सतत बनाते हैं। यह परिवार जैसे संस्थानों के माध्यम से होता है कि हम मनुष्य बनना सीखते हैं और ऐसे व्यवहार को दर्शाते हैं जो कि सामाजिक रूप से लाभप्रद होता है। हालांकि इसके बाद भी वैधता, समाजीकरण और समग्र व्यवहार के बीच कोई सीधा संबंध नहीं होता और समाजीकरण में ऐसी "चूक" शामिल है जो कि दंगे या अन्य हिंसात्मक गड़बड़ियों के रूप में सामाजिक बनावट में छेद कर सकती है क्योंकि संस्थानों का सामाजिक नियंत्रण उसका प्रयोग कभी-कभार ठप्प पड़ जाता है और ऐसी स्थिति सामाजिक सामंजस्य के लिए खतरनाक भी हो सकती है।

उपर्युक्त के अलावा हम पाते हैं कि मनुष्यों को एक विशिष्ट रूप से सीखा गया व्यवहार को दर्शाना पड़ता है जो कि समाज के तानेबाने की भलाई के लिए अनिवार्य है। भूमिकाऐं पारस्परिक देयताएं एवं आपसी कड़ियों को निर्धारित करती हैं। जब इन भूमिकाओं को दोहराया जाता है तो अक्सर एक सुस्पष्ट भूमिका संरचना विकसित होती है। ऐसा इसलिए है चाहे भूमिका अभिनय अपेक्षाकृत साधारण हो और ऐसा अधिकतर इस लिये कि भूमिका के विस्तृत निहितार्थ और इससे भी बड़ा सामाजिक नियंत्रण है।

अतः भूमिका सामाजिक सच्चाई को परिभाषित करती है और सामाजिक वास्तविकता भूमिका को। भूमिकाओं का उद्भव संस्थानों की भांति पारस्परिक प्ररूपण में निहित है। भूमिकाएं सामाजिक ढांचे का सृजन करती हैं जो कि समय और स्थान से जुड़ा हुआ है और जिसे आगे भूमिका सीमाओं के अनुकूल चलना है और इस तरह समग्र रूप से सामाजिक जीवन और संस्थानों की यह रीढ़ की हड्डी बन जाती है।

इसका अर्थ है कि ये संस्थान हैं जो व्यक्तियों को एक छवि प्रदान करते हैं और इसके बाद उन पर निर्भर होना शुरू कर देते हैं। अतः भूमिका को सही ढंग से निभाने के लिए सदस्य को भूमिका की संपूर्ण जानकारी होनी चाहिए और इसे संज्ञानात्मक एवं व्यवहारगत पहलू समेत इसकी बहुत-सी जटिलताओं में अनुभव करना आवश्यक है। इसका अर्थ है कि समाज में ज्ञान का ऐसा सामाजिक वितरण है जो सदस्यों के कार्य के रूप में उभरता है और उनकी सामाजिक भूमिकाओं को बनाता है जिससे एक आधारभूत समझ विकसित होती है कि किस प्रकार सदस्य को अंतःक्रिया करते समय किसी अन्य सामाजिक व्यक्ति की बातों पर प्रतिक्रया करनी चाहिए। यह दर्शाया गया है कि ज्ञान के समाजशास्त्र में भूमिकाओं का अध्ययन विशेष महत्व रखता है क्योंकि यही हमें सिखाता है कि किस प्रकार बृहद् संस्थान व्यक्ति विशेष और समूह पर प्रभाव छोड़ते हैं और "वास्तविक" अनुभव उत्पन्न करते हैं जो कि सामाजिक वास्तविकता के निर्माण का भाग है। अतः जब हम इसके साथ आगे बढ़ते हैं तो हम पाते हैं कि सामाजिक वास्तविकता का निर्माण असल में समाज के सभी सदस्यों का स्पष्ट सहयोगपरक प्रयास है और यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसे कोई भी व्यक्ति शुरू कर सकता है।

यदि समाज सापेक्षिक रूप से संसक्त और क्रमबद्ध है तो इसके संस्थान ऐसे होंगे जिनका समाज के सदस्यों द्वारा आदर किया जाता है और जिनका सदस्य साझा प्रयोग करते हैं। दूसरी तरफ समाज में यदि भारी द्वंद्व और अव्यवस्था है तो यह स्पष्ट है कि ऐसे समाज के भीतर के संस्थान विखंडित हो रहे हैं। अन्य शब्दों में, यदि कोई ऐसा समाज है जिसने इसके संस्थागत आधार को उच्च रूप से विस्तारित किया है तो ऐसे समाज में बहु वर्णनात्मक समाज या विविध उपसंस्कृतियाँ होंगी। दरअसल, यह ऐसी उप-सस्कृतियों का अस्तित्व है जो स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि हम एकवचन रूप में "वास्तविकता" के बारे में बात नहीं कर सकते और हमें यह महसूस होना चाहिए कि समग्र समाज या राष्ट्र राज्य में "वास्तविकता" एक जैसी नहीं होती। दरअसल सटीक स्थिति कि सदस्य अपने समुदाय में ही रह रहा हैं, इसके आधार पर समाज की बहुत सी संकल्पनाएं हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि ज्ञान अपने ज्ञानाधार और सामाजिक संदर्भ के बीच की अंतःक्रिया का उत्पाद है। हालांकि यहाँ हमें यह बात उठाने की जरूरत है कि ऐसे संस्थान हैं जो इतने शक्तिशाली बन जाते हैं कि

सही मायने में वे "एक मूर्त रूप" धारण कर लेते हैं और अपनी एक स्वतंत्र शैली बना लेते हैं जिससे कभी-कभार कुछ विशेष स्थितियों में ये व्यवस्था को विचलित करती हैं जहाँ सामाजिक व्यवस्था कुछ समय के लिए ठप्प पड़ जाती है।

## 4.7 वैधता एवं सामाजिक वास्तविकता

आइए, अब वास्तविकता के सामाजिक निर्माण के अन्य पहलू की ओर रुख करें और यह "वैधता " की प्रक्रिया है जो समाज में संस्थान को उसका समग्र तर्काधार एवं आचरण के नियम प्रदान करती है। यह समाज को नियम एवं विनियम प्रदान करती हैं जिन्हें संस्थान की विचारधारा या इसके उद्देश्य के अर्थ के रूप में लिया जाता है। वैधता प्राप्ति के बाद संस्थान समाज को कार्य दशाओं पर दिशा-निर्देश दे सकता है जिन्हें प्रत्येक संस्थान के सदस्यों का मानना होता है जो कि समान मौजूदा नियमों के सामान्य से जटिल रूपों में हो सकता है जो ऐसी बातों को स्पष्ट करता है जो कि संगठन के हित में नहीं होती।

**अभ्यास 4.2**

सामाजिक संस्थान को वैधता की जरूरत क्यों पड़ती है? सोचिए एवं टिप्पणी कीजिए।

सदस्यों को क्या करना हैं, वे क्या कर सकते है और यहां तक जो वे करना चाहते हैं। इन सब से संबंधित तर्काधार वैधता प्रदान करती है। संक्षेप में हम यह नहीं कह सकते कि जब तक संस्थान की विचारधारा द्वारा सारी कार्रवाई वैध न हो तब तक संस्थान सफल नहीं होगा। जो समग्र राष्ट्रीय या सार्वभौमिक समाज का सामान्यतः विस्तार है। हालांकि हमें मस्तिष्क में यह बात रखने की जरूरत है कि सैद्धांतिक वैचारिक धुरी जिन पर अक्सर अधिकांश संस्थान टिके होते हैं अक्सर एक नाजुक पहलू है और संस्थागत संदर्भ के भीतर विविध व्यवहार इसे ठप्प कर सकते हैं और प्रभावजनक रूप से इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस बिंदु पर हमें अवश्य दर्शाना चाहिए कि वैधता का अन्य आयाम सांकेतिक जगत से जुड़ा हुआ है। ये सांकेतिक जगत वास्तविकता के सामाजिक निर्माण को दूसरे स्तर पर ले जाते हैं जो समाज को मजबूत बनने में सहायता प्रदान करते है। सांकेतिक जगत विषयगत और व्यक्तिगत दोनों के कुल अर्थ एक आव्यूह है और यह असल में सांकेतिक जगत की स्पष्ट छवि है जो कि समाज का सदस्य बनने के योग्य बनने के लिए जरूरी है। अतः यह सांकेतिक जगत है जो कि इन सभी बातों को स्पष्ट करने के लिए संज्ञानात्मक साधन है जो कि हमने जैसा कि पहले स्पष्ट किया था, यह नाजुक स्थिति है और इसे निरंतर कायम रखने के लिए और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने के लिये इसे विविध संस्थागत रूपात्मकताओं से सहारा देना होगा। साथ ही साथ इसे स्वयं को पुनः व्यवस्थित और अनुकुलन करना होगा ताकि भिन्न मूल्यों में पली बढ़ी नयी पीढ़ी की चुनौतियों का सामना कर सके। वैसे भी एक संस्था समाज के भीतर कितनी भी वैध हो, इसमें निश्चित तौर पर अनेक बदलाव होते हैं और वैधता संबंधी नयी कड़ियों को नयी या चुनौतीपूर्ण स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए जुडना ही होता है। उसी रूप में वैधता की प्रक्रिया समय के साथ फैलती जाती है जो कि इसके किसी भी सदस्य के समग्र जीवन से बड़ी सिद्ध हो सकती है। अतः यह सांकेतिक जगत है जिसका कि मनुष्य के समग्र "सोपानक्रम" में विशेष महत्व है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सांकेतिक जगत सिर्फ सच्चाई को स्पष्ट करने की ही नहीं बल्कि इसे सृजित करने की भी विधि है और इस तरह हम जो बात कर रहे हैं वह सही मायने में सच्चाई की विषयनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ दोनों तरफों के बीच की उलझन है और जिन दोनों पहलुओं पर मनुष्यों द्वारा विचार किया जाता है जो कि किसी भी समाज में संस्थानों के समूह या किसी संस्थान के सदस्य हैं।

**बॉक्स 4.3: मस्तिष्क एवं समाज**

सांकेतिक जगत है जो समाज को सदस्यों के मस्तिष्क में व्यवस्थित करता है ताकि ज्ञानेंद्रियों से जो भी समझा जाता है, वास्तव में संज्ञानात्मक प्रक्रिया के माध्यम से विषयगत और व्यक्तिगत दोनों पहलुओं से सभी संभावित अनुभव को समझा जाता है। इसलिए समाज को आपस में जोड़ने वाला कारक है और हमने संक्षेप में दर्शाया है कि यह ज्ञान और सामाजिक प्रक्रिया के सभी विविक्त (पृथक) अंशों पर नियंत्रण कायम करता है और समाजकीय सदस्यता के प्रदत्त ढाँचे में इसे आपस में जोड़ने और निराकरण करने के योग्य है। जैसा कि बर्जर और लुकमान कहते हैं कि "इससे समग्र जगत की समझ आती है"। इससे हमारा अर्थ है कि सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्थाएं जो किसी भी संस्कृति में मौजूद होती हैं, उन्हें सदस्यता प्राप्त करने के संज्ञानात्मक पहलुओं के रूप में स्पष्ट करने की जरूरत है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सदस्यों का प्रत्येक समूह जो समान स्थितियों की अनुभूति करता है वह रोजाना के जीवन के जगत में अर्थ ढूंढने का प्रयास करने के लिए बाधित होगा क्योंकि यह समाज में संस्थानों या संस्थान के भीतर अन्य सदस्यों की शंकाओं और अपेक्षाओं और उनके मन के डर का भाग है।

अतः यह बात उठाई जाती है कि सांकेतिक जगत या सांकेतिक व्यवस्था के भीतर "जगह पाना" सही मायने में काफी महत्वपूर्ण है और प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार है जो समाज के किसी भी सदस्य को उपलब्ध होगा। अतः हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि किसी भी समाज के सदस्य किस प्रकार सामाजिक रूप से वास्तविकता निर्माण के कार्य में सक्रियता से मग्न हैं जो कि सभी आकस्मिक स्थितियों से जूझने के योग्य है। हालांकि ऐसा समूचा नियंत्रण अत्यंत कठिन होता है और हर समाज में हम पाते हैं कि ऐसी समस्याएं मौजूद हैं जो समाधान की माँग करती हैं। इसके अलावा दुर्खाइम के समय से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि किसी भी सामाजिक निर्मित व्यवस्था में "छेद" होते है अर्थात सदैव ऐसे कुछ लोग या लोगों के समूह होते है जो अधिकांश सदस्यों की तुलना में वास्तविकता को अलग नजरिए से देखते हैं। यह वही समूह है जो समाज की सामाजिक बनावट में "दरारें" उत्पन्न करता है और यहाँ इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि इसे निर्मित करने में सदस्यों ने कितनी मेहनत की है। संक्षेप में मनुष्यों को न सिर्फ वैध संरचनाओं को ही स्पष्ट करना होगा बल्कि उनकी निरंतरता को भी बनाए रखना होगा। दरअसरल परिवार, राज्य व्यवस्था, वाणिज्य जैसे कुछ समूह या संस्थान होते हैं और जो आपस में अपने बीच समानताएं भी ढूँढ़ते हैं लेकिन ये क्षेत्र और विस्तार के नजरिए से किसी समूह में अलग भी होते है और इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि यह समूह कितना बड़ा या छोटा है।

## 4.8 समाजीकरण एवं वैधीकरण

आइए अब इस ओर रुख करें कि मानव मस्तिष्क किस प्रकार सांकेतिक जगत को बनाए रखने के लिए विविध संकल्पनाओं का प्रयोग करता है जो कि समाजकीय प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है या इसका एक भाग है। अतः यदि किसी संस्थान सदस्यों के अस्तित्व का भाग बनना है तो सांकेतिक जगत के किसी विशष्टि भाग में स्थापित हो कर इसे उपयुक्त रूप से वैध होना होगा। यह वही है जो इसे अर्थ और सामाजिक वास्तविकता को शक्ति देता है। यदि निश्चित समय के बाद सांकेतिक जगत में बदलाव आता है तो नई वैधीकरण संरचनाएं एवं प्रवचन मानव मस्तिष्क द्वारा खोज लिए जाते हैं जिससे विचलित और विक्षुब्ध सामाजिक वास्तविकता को सहारा देकर फिर से पूर्ण बनाया जा सके। यह राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक दवाबों के समय में होता है लेकिन ऐसे समय में भी सांकेतिक जगत बना रहता है चाहे वह क्षीण रूप में ही क्यों न रहे।

अब यदि सांकेतिक जगत समाजीकरण के प्रतिरूप से जूझता है जो कि इसके विरोधाभासी या यहाँ तक कि विवादास्पद है तब अर्थ के अभाव की समस्या उत्पन्न होती है और इसे ऐसी नयी सैद्धांतिक संकल्पनाओं या ढाँचे के निर्माण के साथ आगे बढ़ाना होता है जो परिवर्तित वास्तविकता के साथ निपट सके। जब यह होता है तब सामाजिक बल या संस्थान ऐसे समूहों का दमन करना

शुरू कर देते हैं जिन्हें सांकेतिक जगत के लिए खतरे के रूप में देखा जाता है ताकि पुरानी सांकेतिक व्यवस्था को नयी व्यवस्था में ढाला जा सके और जिससे सामाजिक प्रक्रियाओं में नयी स्थितियों से निपटने के लिए सामाजिक व्यवस्था को पुनः समायोजित किया जा सके।

अतः हम पाते हैं कि सामाजिक वास्तविकता का निर्माण संकल्पनाओं की सटीकता पर भी निर्भर होता है जो यहाँ केंद्रित हैं। यदि ये संकल्पनाएं पारंपरिक हैं तो वे आमतौर पर नई या आधुनिक व्याख्या की अपेक्षा करेंगे। दूसरी तरफ ऐसी संकल्पनाएं और मनोवृत्तियाँ जिन्हें कायम रखा गया है अब नयी विचारधारा में इन्हें अलग ढंग से रखा जाएगा। अतः इस प्रक्रिया में संज्ञानात्मक और वैधीकरण की आवश्यकता होती है।

हम कह सकते हैं कि पौराणिक कथाएं स्वयं सांकेतिक जगत के लिए वैचारिक साधन प्रदान करती हैं और जहाँ तक समाज का संबंध है, यह एक अनुकूलन तंत्र के रूप में काम करती है। इस ओर इशारा किया गया है कि पौराणिक कथाओं को समग्र पर्यावरण में निहित विरोधाभास और असंगतताओं को दूर करने के लिए सृजित किया गया। सांकेतिक जगत को कायम रखने के लिए बर्जर और लुकमान इशारा करते हैं कि निम्नलिखित समेत संकल्पनात्मक उपकरण विविध किस्म के हैं -

1) पौराणिक कथाएं
2) धर्मविज्ञान
3) दर्शनशास्त्र, और
4) विज्ञान

अब जहाँ पौराणिक कथाओं का संबंध सामाजिक वास्तविकता के बृहद् निर्माण से है वहीं हम पाते हैं कि उल्लिखित अन्य तीन अवयव धीरे-धीरे विशेषज्ञों एवं कुलीन वर्ग का क्षेत्र बनते जा रहे हैं। ऐसे ज्ञान का पुंज उससे भिन्न है जिससे धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और विज्ञान के विषय विशेषज्ञ संबंधित हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि एक आम आदमी और विषय विशेषज्ञ के बीच का संबंध एक-दूसरे से अलग हो जाता है क्योंकि विशेषज्ञ सामाजिक कुलीन वर्ग की विशिष्ट गतिविधि है।

इस बिंदु पर हम पूछ सकते हैं कि सांकेतिक जगत के सृजन एवं अनुरक्षण के निहितार्थ एवं अनुप्रयोग क्या हैं? यहाँ दरअसल सांकेतिक जगत अनुरक्षण की दो विशेषताएं हैं। ये हैं -

1) चिकित्सा, और
2) अंतःश्वसन

सांकेतिक जगत अनुरक्षण की चिकित्सा के मामले में क्या होता है कि संकल्पनाओं का प्रयास जो सांकेतिक जगत को गठित करता है, उसका प्रयोग सदस्यों को पुनः सामाजिक बनाने में किया जाता है ताकि समाज में वे अपनी भूमिका निभा सकते हैं। फिर भी यह देखना होगा कि चिकित्सा खुद सभी सदस्यों को नहीं सुधारती और न अभ्यर्थन करती है। ऐसे मामले में सांकेतिक जगत और इसके निहितार्थ को सही ढंग से नहीं समझा गया, यदि इन्हें समझ भी लिया गया है।

अंतःश्वसन की संकल्पना के मामले में हम पाते हैं कि इस अर्थ और अस्तित्व के सभी क्षेत्र जिन्हें सांकेतिक जगत के अंतर्गत शामिल नहीं किया गया है उनका निराकरण करना होगा ताकि वे उसकी वैधता को चुनौती देना न आरंभ कर दे।

अतः इन दोनों उपागमों या अनुप्रयोगों में हम पाते हैं कि इस अभ्यास का लक्ष्य समाज मे एकीकरण एवं समावेशन सुनिश्चित करना है। यदि ऐसा न किया गया तो समाज बहुत से गंभीर गड़बड़ियों से गुजरेगा और सामाजिक व्यवस्था ठप्प पड़ जाएगी। अतः सही प्रतिनिधिक सांकेतिक जगत वह है जो वास्तविकता के हरेक पहलू को संकल्पनात्मक ढंग से अपने में समेटता है और पीछे कुछ नहीं छोड़ता। यह निश्चित है कि ऐसी पद्धति मौजूद नहीं है और व्यावहारिकता मे प्रत्येक सदस्य सांकेतिक जगत की संकल्पनाओं के बुनियादी ढंग से सन्निकट जाता है। ऐसा करने में समाज के सदस्यों के बहुत से विचार एक जैसे होने चाहिए। लेकिन यहाँ सदस्यों के अलग विचारों के लिए एक अलग जगह अभी भी है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 4.9 सामाजिक वास्तविकता और सांकेतिक जगत

अब सांकेतिक जगत के अनुरक्षण एवं सामाजिक संगठन के लिए क्या निहितार्थ है? हमने पहले ही इस ओर इशारा किया है कि वास्तविकता को सामाजिक रूप से परिभाषित किया जाता है और ये मनुष्य या मनुष्यों का समूह हैं जो इसके स्वरूप को परिभाषित करते हैं। अतः हम पाते हैं कि समाज में विषय विशेषज्ञ सामाजिक वास्तविकता को पूर्ण वैधीकरण प्रदान करते हैं। ऐसे विषय विशेषज्ञ आमतौर से वास्तविकता की परिभाषाओं पर आम सदस्यो से अलग नजरिया रखते हैं। अतः हम इस ओर पुनः इशारा करते हैं कि विषय विशेषज्ञ और आम आदमी के बीच के विचारों एवं मत पर आपसी मतभेद हो सकते हैं। अतः यहाँ एक होड़ बन जाती है कि किसकी परिभाषाएं एवं संकल्पनाएं फायदेमंद होगी और सामाजिक अंतःक्रिया में व्यावाहरिक होगी।

जैसा कि हम देख सकते है कि सामाजिक प्रक्रिया को समझने एवं इस पर विचार करने के विविध तरीके हैं। कौन-सा तरीका बेहतर सिद्ध होगा यह ऐसी विचारधारा पर निर्भर करता है जिसका कि आह्वान किया जाता है और किन संकल्पनाओं का प्रयोग सांकेतिक जगत के किसी ऐसे पहलू का वर्णन करने के लिए किया जाता है जो कि चिंता का क्षेत्र बन गया है जैसे संसाधनों के वितरण पर समाजकीय द्वंद्व। समूह अक्सर ऐसी विचारधारा को अहमियत देते हैं जो उन्हें फायदा देती हैं और ऐसे सिद्धांतों को बनाती हैं जो उन्हें उनके लक्ष्य, सामाजिक आर्थिक या राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति करने में सहायता करेगी।

**बॉक्स 4.4 : बहुलवाद एवं वास्तविकता**

हम देख सकते हैं कि अधिकांश आधुनिक समाज बहुलवादी हैं जिनमें बहुत सी जातियों एवं धर्मों का समावेश है। ऐसे बहुलवादी समाज में द्वद्व के लिए एक अलग जगह की संभावना कम होती है। सीधे संघर्ष बहुत कम होते हैं बहुलवाद स्वयं तीव्र बदलाव के समय उत्पन्न होता है और परंपराओं के ठोस आधार का क्षय कर देता है और उन्हें अंतःक्रिया की नई संरचनाएं एवं प्रतिरूप प्रदान करता है और समाज में नई सामाजिक संरचनाओं को वैध घोषित करने के लिए नये सिद्धांतों की खोज की जाती है।

MADHYAM IAS

ऐसा वैधीकरण जरूरी है जैसा कि हमने दर्शाया है क्योंकि इनके बिना कोई भी नई विचारधारा गठित नहीं की जा सकती और यदि की भी जाती है तो इसके अनुरक्षण एवं प्रतिपादन में यह सफल नहीं हो सकती। दूसरी तरफ हम पाते हैं कि मौजूदा सामाजिक वास्तविकता में सम्मिलित होने के लिये संस्थाऐं स्वयं में बदलाव लाती हैं और इस प्रकार संस्थाओं के और सामाजिक वास्तविकताओं के बीच द्वंद्वात्मकता होती है। स्वतः वास्तविकता की परिभाषा स्वयं यह दर्शाती है कि वास्तविकता और इन परिभाषाओं का अक्सर अपना एक निश्चित पहलू होता है और ये सामाजिक प्रक्रियाओं में वास्तविकता के स्वरूप को खुद बदलना शुरू कर देते हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन को ऐसे नये सिद्धांतों के बीच की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के रूप में ही समझा जा सकता है जो नये संस्थानों को वैध बनाती है।

ये संस्थान भी प्रभावित होते हैं और ये खुद के बीच और ऐसे प्रयुक्त सिद्धांतों एवं विचारधाराओं के बीच गूढ़ सह संबंध बनाने के लिए, स्वतः बदल जाते हैं जो इन्हें वैध बनाते हैं। यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि वास्तविकता का सामाजिक निर्माण एक मानवीय उत्पाद है और सिर्फ मनुष्यों के प्रयासों से ही कार्यान्वित किया गया है और मनुष्य इसे पूर्ण अनुभवों के समुच्चय के रूप में अनुभव करते हैं। ज्ञान का समाजशास्त्र इस बात पर कायम है कि सांकेतिक जगत का अस्तित्व समाज के सदस्यों के जीवन में झलकता है। इसके उप-सिद्धांत के रूप में हम यह जोड़ सकते हैं कि सांकेतिक जगत के अस्तित्व का व्यक्तियों में अपना एक निजी आधार होता है और उनके जीवन से परे इसका कोई अस्तित्व नहीं है। संक्षेप में यद्यपि हम कह रहे हैं कि मनुष्य वास्तविकता को जन्म देता है और फिर उसी में जीवन व्यतीत करता है और खत्म हो जाता है। वह अकेले ही इसे बदलने के योग्य नहीं होता और इसके लिए उसे समूह या समुदाय की जरूरत पड़ती है।

आइए, अब विषयगत वास्तविकता के संदर्भ में समाज के विवरण की ओर रुख करें। सर्वप्रथम हम ऐसे तरीकों के रूप में प्राथमिक एवं द्वितीयक समाजीकरण पर ध्यान केंद्रित करेंगे जिनके अंतर्गत मनुष्य अपनी निजी वास्तविकता को सृजित करते हैं। अतः समाज व्यक्तिगत एवं विषयगत वास्तविकता अर्थात दोनों के रूप में बना रहता है। इसे पूरी तरह समझने के लिए हमें इस बात की सराहना करनी होगी कि समाज एक सशक्त प्रक्रिया है जिसमें निम्नलिखित के मूल तत्व शामिल हैं:

1) बाहरीकरण

2) वास्तवीकरण, और

3) अंदरुनीकरण

जब मानव सामाजिक वास्तविकता का वाह्यकरण करता है तो इसका उस पर भी असर होता है और वह उसे अपने अंदर समेट लेता है। इसका अर्थ है कि मौजूदा सामाजिक स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया है और ऐसी सीमा तक कि कुछ कार्य एवं अंतःक्रियाएं बहुत अधिक मशीनी बन जाते हैं और उनके अस्तित्व पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता। अतः यहाँ सामाजिक संदर्भ के कुछ बुनियादी एवं अनिवार्य बिंदुओं को सिखाने में कालानुक्रम शामिल है जिसका अर्थ है कि किसी भी समाज का पूर्ण सदस्य बनने के लिए समय लगता है। समाज का पूर्ण सदस्य बनने का अर्थ है कि सदस्य ने सदस्यता हासिल कर ली है और वह निर्णय लेने और समय के साथ एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति करने के भी योग्य है। अतः जैसा कि बर्जर एवं लुकमान का मानना है कि व्यक्ति "लौकिक अनुक्रम के माध्यम से" सदस्य बनता है और जैसे-जैसे सामाजिक वास्तविकता को खोला जाता है समाज के अधिकाधिक सदस्य निश्चित कार्यों एवं अंतःक्रियाओं के परिणाम का पूर्वानुमान लगाने के योग्य बन जाते हैं अर्थात सामाजिक वास्तविकता के स्पष्ट होने के साथ-साथ अधिकाधिक मनुष्य समाज के जागरूक सदस्य बनने के योग्य हो जाते हैं और समाज द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर अपनी अपेक्षाओं में रहने के योग्य बन जाते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि प्राथमिक समाजीकरण में वैयक्तिक एवं सामन्यीकृत भूमिकाओं को समझना शामिल है। संक्षेप में ऐसा समाजीकरण मनुष्य के अंदरुनी चक्र से विस्तृत चक्रों की ओर बढ़ता रहता है जब तक कि यह समाज के इर्द-गिर्द घूमना शुरू न कर दे। अब अधिकांश मामलों में ऐसा नहीं होता और कुछ मामलों में प्राथमिक समाजीकरण समाज के भीतर वांछित एकरूपता लाने में असफल हो तो जाता है। समाजों में इस किस्म का विचलन हालांकि खतरे की घंटी नहीं है लेकिन गंभीर चिंता का मुद्दा है। अतः सामान्यीकरण को सीखने के बाद हम पाते हैं कि सामाजिक वास्तविकता के वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ पहलू संतुलित हैं और सफल प्राथमिक समाजीकरण को पूरा कर लिया गया है।

द्वितीयक समाजीकरण दरअसल श्रम विभाजन का अनिवार्य पहलू है और यह बताता है कि किस प्रकार समाज में ज्ञान वितरित किया गया है। इस बिंदु पर हम पाते हैं कि संस्थागत उप जगतों को आंतरिक रूप दिया गया है और भूमिका विशिष्ट ज्ञान को पैदा किया गया है और इसमें किसी भी भूमिका की अपेक्षित बातों को ध्यान में रखकर सामाजिक गतिविधि एवं उत्पादन पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। द्वितीयक समाजीकरण आंकड़ों एवं ज्ञान की नई परतों को जोड़ता है जो कि कुछ मामलों में यहाँ तक कि प्राथमिक समाजीकरण के कुछ पहलुओं से आगे बढ़ जाती है। हालांकि समग्र संगतता को स्थापित करने के लिए हम पाते हैं कि एकल छत्र के नीचे ज्ञान के विविध पुंजों को साथ जोड़ने के लिए द्वितीयक समाजीकरण संकल्पनात्मक स्पष्टता को धारण करता है। हम यहाँ कह सकते हैं कि सदस्यों या समूह के प्राथमिक समाजीकरण में अर्थात मनुष्यों पर काम करते समय यह अपेक्षाकृत छोटा होता है। संख्यात्मक रूप में बात करे तो द्वितीयक समाजीकरण के मामले में ऐसे लोग जो किसी भी मानसिकता एवं व्यवहार पर प्रभाव जमाते हैं वे बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। व्यक्ति ने पोखर से महासागर में प्रवेश किया है और द्वितीयक समाजीकरण में व्यक्ति सामान्य रूप से समाज के बीचोंबीच होता है। द्वितीयक समाजीकरण में अपरिहार्य रूप से औपचारिकता एवं निजी गहराई का अभाव होता है जो कि वहाँ जटिल श्रम विभाजन के कारण होता है और जिसकी माँग है कि संस्थागत वास्तविकता से ज्यादा उलझना

नहीं चाहिए क्योंकि विवाह जैसी भी प्रथाएं हैं जो कि अति प्राचीन काल से मानव समाज में विराजमान हैं और ऐसे ही हमारे साथ आगे भी चलती रहेगी।

जैसाकि हम देख सकते हैं कि प्राथमिक और द्वितीयक समाजीकरण नाजुक प्रक्रियाएं हैं और इन्हें सजगता से सीखना एवं सिखाना चाहिए। अतः समाजीकरण ऐसी प्रक्रिया है जो प्रत्येक मानव समाज के भाग के रूप में उत्पन्न होती है लेकिन विषयगत एवं वस्तुगत संरचनाओं का रखरखाव हमेशा कायम नहीं रहता। हरेक समुदाय में विचलन का एक निश्चित स्तर होता है। इस विसामान्यता को हटाने के लिए समाज को कुछ नियंत्रण प्रक्रियाओं को विकसित करना पड़ता है ताकि इसके विच्छेदन एवं संभावित विघटन को सुरक्षित किया जा सके। अतः जन संचार या जन संपर्क कार्यक्रम जैसी वास्तविकता अनुरक्षण प्रक्रियाएं सामाजिक वास्तविकता को बनाए रखने और मानव सोच को समेकित एवं संशक्त बनाने के लिए समग्र प्रयास का भाग बन जाती है।

इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आमतौर पर यह प्राथमिक समाजीकरण है जिसका अस्तित्व लंबे समय तक रहता है और जो कि ऐसे द्वितीयक समाजीकरण की प्रक्रियाओं की तुलना में अधिक ठोस होते हैं जिसके अर्थ की चमक अक्सर संवीक्षा के लिए सटीक नहीं होती। आचरण के सुस्थापित नियमों को चुनौती दी जा सकती है और नये नियम अपना अस्तिथ्व खुद बना लेते हैं। अतः द्वितीयक समाजीकरण प्रकृति से अधिक "कृत्रिम" होता है और प्राथमिक समाजीकरण की तुलना में मनुष्य में कम गहराई से आधार बनाता है। अब हम इस पर एक आम बातचीत के रूप में चर्चा करेंगे कि वास्तविकता की विषयनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ दोनों अवस्थाओं की निरंतरता बनाए रखने के लिए क्या जिम्मेवार है।

अब हम वास्तविकता अनुरक्षण में भाषा की भूमिका के विवरण की ओर रुख करेंगे।

## 4.10 वास्तविकता एवं भाषा का रखरखाव

यहाँ पर यह देखा जा सकता है कि भाषा जिसे समाज द्वारा प्रयोग में लाया जाता है, समाज द्वारा निर्मित वास्तविकता के स्थायित्व और रखरखाव के लिए उसका आधार और प्रक्रिया मजबूत होती है। भाषा में समाज ऐसी संस्था को प्राप्त करता है जो वार्तालाप करता है और औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही रूपों में अपने निरंतर प्रयोग द्वारा सामाजिक वास्तविकता का रखरखाव करता है। वास्तव में कुछ ऐसी प्रसिद्ध सिद्धांत हैं जो इंगित करते हैं कि भाषा स्वयं में वास्तविकता का आधार होती है और इसकी रचना में महत्वपूर्ण योगदान देती है। यह दर्शाने की जरूरत है कि भाषा ही सामाजिक वास्तविकता है और तब सामाजिक वास्तविकता की यथार्थता और संकल्पनागतता सतत सामाजिक वास्तविकता का एक पहलू है।

**बॉक्स 4.5 : सामाजिक वास्तविकता का प्रतिमान**

समय-समय पर भाषा में संशोधन की आवश्यकता पड़ती है और इससे यह पता चलता है कि सामाजिक वास्तविकता कुछ हद तक सुनिर्माणनीय होती है और विचाराधीन समग्र समाज में, विशेष रूप से प्रमुख विचारधारा में, इसमें परिवर्तन होता है। इससे स्वयं यह ज्ञात होता है कि समय अंतराल में सामाजिक वास्तविकता की नये रूपवालियो का उदय होता है और वे समाज के सदस्यों के सामने अपनी चुनौतियाँ प्रस्तुत करते हैं। लेकिन सामाजिक वास्तविकता के इस प्रकार के नये प्रतिमान सदस्यों की अंतःचेतना में स्थायी रूप धारण करने में कुछ समय लेते हैं। समाज में एक ही समय में दो या इससे अधिक प्रतिमान कार्यरत होते हैं। इस प्रकार जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है कि वास्तव में समाज के एकल अति प्रमुख नमूने की तुलना में बहु-सामाजिक वास्तविकताएं होती हैं। तब यह निश्चित है कि वास्तविकता के निर्माण के रूप में इस प्रकार के जटिल एवं उत्कृष्ट प्रयास एक सतत प्रक्रिया है और इन्हें कुछ हद तक समाज के ऐसे विरोधी समूहों अथवा समुदाय द्वारा इनका दमन किया जा सकता है जो सदस्यों को भिन्न अर्थ और भिन्न विकल्प उपलब्ध कराते हैं, जो जीवन के विकल्प और कार्य के विकल्प के रूप में संबंधों को द्वंद्वात्मक बनाते हैं।

इस प्रकार यदि भाषा वास्तविकता की संरचना और प्रयोग वास्तविकता का निर्माण करने में सहायता प्रदान करती है तो यह भी स्पष्ट है कि जीवन के अनुभव और जीवन की स्थितियाँ भी भाषा की संरचना को प्रभावी ढंग से संशोधित करने और उसकी समग्र विषयवस्तु को प्रभावित करने में प्रतिपुष्टि प्रदान करती हैं। यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि भाषा संगत सहमतिजन्य सामाजिक संरचनाओं के निर्माण के लिए अपरिहार्य है और यह कि भाषा ही वह वस्तु है जो लोगों को आपस में जोड़ती है। यहाँ पर हमें संक्षेप में यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि जब हम भाषा पर विचार करते हैं तब हम प्रतीकों, भाव-भंगिमाओं, संकेतों, चिह्नों और यहाँ तक कि नैतिक वर्णनों की व्यापक प्रणाली में प्रवेश करते हैं और लाक्षणिक (semotic) एवं गतिकी (kinesthetics) के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, जो सभी सामाजिक प्रक्रिया के पहलू हैं और ये मानवीय संप्रेषण के केंद्र हैं। इस प्रकार वास्तविकता के निर्माण में भाषा की भूमिका किसी भी प्रकार से अनदेखा या न्यूनतम नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्रभावी संप्रेषण, सूचना, विचारों एवं ज्ञान के आदान-प्रदान के बिना समाज में कोई भी संस्कृति नहीं होती। अपने व्यापक अर्थों में भाषा समाज के हाथो में सवोत्कृष्ट औजार होती है और इसकी सहायता से सामाजिक रूप से संरचित विषयगत और वस्तुगत दोनों प्रकार के पहलू साथ मिलते हैं और साथ-साथ आगे बढ़ते हैं। यह वास्तविकता की संरचना के लिए वैकल्पिक मॉडल भी प्रदान करती है। बहुल समाजो में विभिन्न समुदायों और समूहों के पास वास्तविकता के उपयुक्त मॉडलों को बनाने की क्षमता होती है जो समुदाय के संप्रेषण के लिए द्वितरफा पुल बनाने का काम करती है।

## 4.11 सारांश

तब समग्र प्रश्न यह है कि सामाजिक वास्तविकता का आंतरिकीकरण वस्तुनिष्ठ एवं विषयनिष्ठ दोनों प्रकार का होता है और यह मनुष्य और उसकी सामाजिक संरचना के बीच द्वंद्व के रूप में होता है। वास्तव में इस संपूर्ण विचार का लक्ष्य प्रकृति और संस्कृति के मध्य संतुलन कायम करना है, यदि सामाजिक वास्तविकता की दृढ़ता बाधित न हो। इस प्रकार सफल समाजीकरण वह है जिसमें सामंजस्य और समायोजन की मात्रा अधिक हो। बाहरी और आंतरिक वास्तविकता के बीच, जिससे मनुष्य मात्र सामाजिक प्रक्रियाओं और नियमों की कृपा पर निर्भर करने की बजाय सामाजिक प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार की भूमिका निभा सके।

इस बिंदु पर हम एक सतर्कता की स्थिति पर पहुंचते हैं और यह वस्तुस्थिति है कि प्रायः समाजीकरण प्रभावी नहीं होता है। यह तब होता है जब व्यक्तिवाद की परिघटना समाज से अपनी जड़े प्राप्त करती है और मनुष्य का निर्माण करती है जो पूर्णतः सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक वास्तविकता में अपना योगदान नहीं देता है। इस प्रकार के दृष्टांतो में हम देखते हैं कि ऐसे अनेक उपलब्ध सामाजिक प्रक्रियाएँ होती हैं जो समग्र विचारधारा से सामान्य जीवन में विचलन को जन्म देती है। इस प्रकार की भूमिकाएँ परामर्शदाताओं, मनोचिकित्सकों, शामन, साधुओं और अन्य की होती हैं।

इस बिंदु पर हम पूछ सकते हैं कि अनेक मामलों में समाजिकीकरण काम क्यों नहीं करता है? इसका एक कारण यह तथ्य हो सकता है कि संबंधित मानव शिशु को सामाजिक वास्तविकता के विभिन्न परिवेश से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार यदि पति और पत्नी अपने व्यवहार में सामंजस्य स्थापित नहीं करते हैं तो बच्चा अथवा बच्चे वास्तविकता के संबंध में किसी एक विद्यमान परिवेश को ग्रहण करने में असमर्थ रहता/रहते हैं और उनके मन में दो या इससे अधिक प्रणाली घर कर लेती हैं। इस प्रकार के दृष्टांत कभी-कभी इतने गंभीर हो जाते हैं, और विचलन सामाजिक प्रक्रिया से के इतना घातक हो जाता है कि इस प्रकार के सदस्यों को किसी अस्पताल में एकान्त में रहकर एक एकल वास्तविकता के भय से संबंधित अपने द्वंद्वों और भ्रमों का उपचार करना पड़ता है।

यह शोध का एक आकर्षक क्षेत्र और हम पाते हैं कि सदस्यों द्वारा सामाजिक संरचना के आंतरिकीकरण की समस्या आधुनिक और आधुनिकोत्तर विश्व में धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है और कठिन होती जा रही है, जहाँ पर व्यक्ति पर बहुत अधिक दबाव होता है। व्यक्ति या मानवता से

तात्पर्य है अपने परिप्रेक्ष्य को सामाजिक वास्तविकता के किसी परिप्रेक्ष्य के स्थान पर रखना। इससे आमतौर पर वास्तविकता की सामाजिक रूप से स्वीकार्य परिभाषा में दरार उत्पन्न हो जाती है जहाँ पर सभी सदस्यों से एकीकृत और संबद्ध होने और एक दूसरे से सहयोग करने की उम्मीद की जाती है। इसके स्थान पर वर्तमान वैश्विक समाज, जिसे सृजनात्मक एकीकरण के रूप में माना जाता है और इसका अर्थ है, ऐसे कुछ बुनियादी मॉडल अथवा प्रतिमान की उत्पत्ति करना जो वास्तव में समग्र प्रतिमान में अपना योगदान नहीं दे रहे हैं बल्कि कुछ विशिष्ट और महत्वपूर्ण भागों तक ही सीमित हैं। इसका अर्थ है कि हम भिन्न प्रकार से वास्तविकता की सामाजिक संरचना का अध्ययन कर सकते हैं और आधुनिक मनुष्य धीरे-धीरे लेकिन व्यापक रूप से यह महसूस कर रहा है कि सामाजिक वास्तविकता और सामाजिक व्यवस्था की व्यक्तिगत या सामुदायिक व्याख्याओं को अत्यधिक जरूरी स्थितियों के अलावा प्रतिपुष्टि नहीं किया जाता है, जहाँ पर यह समाज से असंगति नहीं रखता है जब तक सामाजिक वास्तविकता की संपूर्ण संरचना नष्ट नहीं होती। लेकिन जैसा कि सभी बहुल-समाज इंगित करते हैं, वास्तविकता के बहुल रूप केवल तब तक ही अपना वर्चस्व कायम करेंगे जब तक सामाजिक संरचना इस दबाव को सहने में सक्षम है। वास्तव में आजकल सामाजिक स्पष्टीकरण के अखंडित मॉडल की तुलना में सामाजिक व्यवहार के सूक्ष्म नमूनों को स्वीकार किया जाता है।

## 4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बर्गर, पीटर, एंड थॉमस लुकमैन 1967, द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ रियलिटी। न्यूयार्क : डबलसे।

गारफिंकिल, हैरॉल्ड 1967, स्टडीज इन एथनोमैथेडोलॉजी। एंगलीवूड क्लिफ्स : प्रेंटिस हॉल।

गॉफमैन, एर्विंग, 1959, द प्रेजेंटेशन ऑफ सेल्फ इन एवरीडे लाइफ। न्यूयार्क : डबलडे।

स्कट्र्स, एल्फ्रेड, 1932/67, द फेनोमैनोलॉजी ऑफ सोशल वर्ल्ड। एवेंस्टन, एच.एल. : नार्थ वेस्टर्न यूनिवर्सिटी प्रेस।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 5

# संरचना की संकल्पना एवं सिद्धांत

**इकाई की रूपरेखा**


5.1 प्रस्तावना

5.2 जैविक सादृश्य एवं संरचना

5.3 सामाजिक संरचना एक वास्तविकता है : ए.आर. रेडक्लिफ-ब्राउन का योगदान

5.4 सामाजिक संरचना समुदायों के मध्य संबंधों का उल्लेख करती है : ई.ई.ईवान्स

5.5 आदर्श के रूप में सामाजिक संरचना : क्लाउड लेवी-स्ट्राउस एवं एडमंड लीच का योगदान

5.6 सारांश

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे;
- रेडक्लिफ ब्राउन तथा ईवान्स प्रिटचर्ड के सैद्धांतिक योगदान की तुलना कर सकेंगे; और
- लेवि-स्ट्राउस की संरचना की अवधारणा का आलोचनात्मक विवेचन कर सकेंगे।

## 5.1 प्रस्तावना

संरचना शब्द (लैटिन स्ट्रक्चरा शब्द स्ट्रुइअर से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ निर्माण है) सर्वप्रथम निर्माण के लिए प्रयुक्त किया गया। बाद, क्लासिकीय युग में इसका प्रयोग जीव विज्ञान के क्षेत्र में किया जाने लगा। सामाजिक एवं सामाजिक मानव विज्ञान (और अब अन्य समाज विज्ञान में) इस बहु-प्रयुक्त अवधारणा को समझने के लिए हम गृह समवृत्तिका (analogy) से शुरू करेंगे।

चाहे किसी भी समुदाय में क्यों न हो, हर एक घर विभिन्न कमरों में बंटा होता है और इसका हर एक कमरा अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। उदाहरण के लिए, एक कमरा भोजन बनाने के लिए, कच्चे सामान को रखने के लिए या फिर भोजन में प्रयोग किए जाने वाले बर्तनों को रखने के लिए इस्तेमाल किया जाता है जिसे रसोई कहते हैं। दूसरा कमरा मूर्तियों तथा धार्मिक चित्रों और पूर्वजों के चित्रों व पवित्र पुस्तकों और अन्य चीजों (यथा दीया, धूप-अगरबत्ती, मोर पंखी आदि) से सुसज्जित है, इस कमरे को पूजा घर कहते हैं, इसी प्रकार दूसरा कमरा विस्तर रखने के लिए, वस्त्रों के लिए, धन तथा जेवरात रखने के लिए, अनाज संग्रह के लिए जैसा कि ग्रामीण समाज में होता है, प्रयोग में आता है। इस कमरे को शयन कक्ष कहते हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं के अनुरूप घर के दूसरे कमरों का भी विभाजन होता है और उनका इसी आधार पर नामकरण भी किया जाता है। शब्द जैसे "अध्ययन कक्ष", "स्टोर", "अतिथि कक्ष", "शौचालय", "स्नानघर", पेंट्री अग्र कक्ष बच्चों का कमरा आदि यह सब इस बात का द्योतक है कि भूमि का एक विशिष्ट भाग जिस प्रयोजन के लिए चिह्नित किया गया है, उसी आधार पर उसका नामकरण भी किया जाता है। जहाँ जगह की कमी होती है, वहाँ इतने सारे कमरे संभव नही। ऐसे में एक ही कमरे को विभिन्न प्रकार से प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे कमरे के एक हिस्से को भोज़न बनाने के लिए तो दूसरे हिस्से को पूजा स्थल के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

MADHYAM IAS

घर के विभिन्न कमरे एक-दूसरे से आपस में जुड़े रहते हैं। इन कमरों को मार्ग, आंतरिक बीथियाँ तथा गलियारे एक-दूसरे को आपस में जोड़ते हैं। इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान में आने-जाने की सुविधा रहती है। कमरों में दरवाजों से प्रवेश होता है तथा इन कमरों का बाहरी जगत से संपर्क भी इन्हीं दरवाजों, इनकी खिड़कियों और इनमें बनी हुई वातायनी से ही होता है और जब ये सभी बंद हो जाते हैं तब कमरा पूर्णतया सीमांकित और बंद एकांश हो जाता है जहाँ बाह्य जगत से संपर्क नगण्य रह जाता है और पुनः जब दरवाजे खुलते हैं, इनका सम्पर्क भवन के अन्य हिस्सों से जीवन्त हो उठता है। घर में प्रत्येक कमरे की अपनी एक सीमा होती है। यह कमरे की विशिष्टता ही है जो उसे घर के दूसरे कमरों से अलग करती है। फिर भी यह एकदम पृथक सत्ता नहीं है। जैसे कि उसे अन्य कमरों से संबंध में एक विशिष्ट रूप में परिभाषित किया गया है (यथा, शयन कक्ष, या अध्ययन कक्ष)। ये कमरे भी विशिष्टतानुसार परिभाषित होते हैं। दूसरे शब्दों में कमरे की संपूर्णता उसके किसी एक भाग में खड़े होकर और उसे उस दृष्टिकोण से देखने पर वही समरूपता दृष्टिगत होती है जैसे यह घर के बाहर से दिखाई देता है।

इस सादृश्य को और आगे जारी रखते हुए एक गांव या एक पड़ोस को भी घरों के समूह के रूप में वर्णित किया जा सकता है। जहाँ प्रत्येक ग्राम या पड़ोस अपनी सम्पूर्णता बनाए रखता है। फिर भी यह विशाल इकाइयों का ही एक भाग है। प्रत्येक गांव या पड़ोस की अपनी एक सीमा निर्धारित होती है, इसकी अपनी अलग पहचान होती है तथा साथ ही दूसरे गांवों व पड़ोसियों से अनेक संबंध होते हैं (ठीक वैसे ही जैसे कि घर के आंतरिक मार्ग, गलियारे और वीथियां होती है)। सम्बद्ध अवधारणाओं जो इस अनुरूपता से निकल बाहर आती हैं, वे हैं -"संपूर्णता", "अंतःसम्बद्धता", "सीमा बद्धता", "यंत्र संरचना", "समुच्यता" और "निरीक्षण की सुविधा का अवसर"।

एक घर (या एक गांव अथवा पड़ोस) की भांति समाज की अवधारणा (या परिकल्पना) उसके अवयवों के विद्यमानता के रूप में हो सकती है। इसके लिए इस अनुरूपता की शुरुआत की आवश्यकता है क्योंकि समाज में उस तरह का ठोस गुण मौजूद नहीं है जो घरों, गांवों या पड़ोस में मिलता है। वास्तव में, सादृश्य का सिद्धांत ज्ञान से अज्ञान को समझने के प्रयास हेतु उपयोगी है। हर कोई जानता है कि घर क्या है, इसे कैसा दिखना चाहिए और इसके स्वरूप में विस्तार कर समाज के प्रयोगात्मक विचार को व्यवस्थित ढंग से प्रयुक्त करने की कोशिश की जाती है। तथापि, यह नहीं भूलना चाहिए कि सादृश्य सजातीयता नहीं है। यह विचार कि समाज एक घर के समान है, इसका यह आशय नहीं है कि समाज एक घर है। इस प्रकार समाज और घर में समानता देखने के बाद दोनों में भिन्नता देखने के प्रयास भी किए जा सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोग हमें समाज की अतुलनीयता की ओर अग्रसर करेंगे समाज की सर्वथा भिन्न विशेषता के रूप में।

समाज के विचार को प्रतिपादित करने के अपने प्रयत्नों में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न सादृश्यता को अपनाया है। हरवर्ट स्पेंसर (1873) ऐसे प्रथम विद्वान थे जिन्होंने सर्वप्रथम भवन संबंधी सादृश्य का प्रयोग किया था। जिसका बाद में हमने अनुपालन किया। किंतु समाज के विचारों को समझने के लिए समाजशास्त्र की रचनात्मक अवस्था में प्रयुक्त समस्त सादृश्यों में सर्वाधिक प्रयुक्त सादृश्य शरीर की संरचना हैं। समाज जैविक संरचना समान है (रेक्स 1961) भवन के अनुरूप के अतिरिक्त, स्पेंसर ने अवयव संबंधी अनुरूपता को भी विकसित किया। उनका विश्वास था कि यह अनुरूपता अधिक प्रामाणिक होगी यदि हम यह बताने में सक्षम हो सकें कि न केवल समाज एक जैविक संरचना के समान है अपितु यह कि "जैविक संरचना भी समाज के सदृश्य" है (देखें बर्नेस, एच.ई., 1948, हैरीस 1968)। अवयव संबंधी सादृश्य का प्रयोग अन्य सादृश्यों की तुलना में अधिक क्यों किया जाता है। यथा, सौर प्रणाली के रूप में और तदोपरांत परमाणु एवं रासायनिक प्रणाली के रूप में। क्योंकि जैविक संरचना किसी दूसरी प्रणाली से कहीं अधिक ठोस होती है और इसको समझना या सम्मिलित करना अथवा इसकी विवेचना करना बहुत आसान है। सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझने के लिए यह सादृश्य एक आधार था। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग स्पेंसर ने किया।

इस इकाई में सर्वप्रथम हम संरचना संबंधी शब्द के अर्थ के बारे में विचार करेंगे। उसके बाद हम सामाजिक संरचना को समझने के लिए रेडक्लिफ ब्राउन, ईवान्स प्रिटचर्ड और लेवी-स्ट्राउस के योगदान का अध्ययन करेंगे।

## 5.2 जैविक सादृश्य एवं संरचना

जीव की प्रधान इकाई कोशिका है, जो अपने सादृश्य अन्य कोशिकाओं के साथ मिलकर शरीर के तंतु का निर्माण करती है। अवयव या अंग विभिन्न तंतुओं का समूह है तथा अवयवों के समूह से जीव की रचना होती है। इस प्रकार, शरीर रचना विखंडित होकर अवयव बन जाती है और इसी प्रकार अवयव टूटकर तंतु में परिवर्तित हो जाता है और इसी प्रकार अवयव विखंडित होकर कोशिका में बदल जाता है। इन्हीं कोशिकाओं में से एक कोशिका का अध्ययन किया जा सकता है। इसी तरह समाज की आधारिक इकाई एक सभ्य व्यक्ति है। एक ऐसा व्यक्ति जिसमें मानवीय आदर्शों और मानवीय मूल्यों का समावेश हो और जिसने सार्थक सामाजिक व्यवहार को अपनाया हो। विभिन्न व्यक्तियों का एकत्रीकरण समूह कहलाता है और इनमें अनेक समूह एक साथ मिलकर समुदाय का गठन करते हैं। अनेक समुदाय मिलकर समाज का निर्माण करते हैं। जैसा शरीर रचना में होता है। ठीक इसी प्रकार समाज जब विघटित होता है, तब समुदाय बनता है और समुदायों के विखंडन से समूह बनता है और बाद में जब समूह भी टूटता है तो शेष बच जाता है व्यक्ति विशेष।

जैविक सादृश्य प्रारंभिक बिंदु के रूप में बहुत उपयोगी है, किंतु इसको ही अंतिम नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि यह अनेक स्तरों पर खंडित होता है। जैसे, एकल कोशिका जीवित रह सकती है, एकल कोशिकाओं से शरीर रचना होती है। किंतु व्यक्ति विशेष अकेले जीवित नहीं रह सकता। मानवीय समाज की सर्वाधिक मौलिक इकाई युग्म है, अर्थात दो व्यक्तियों का समूह है। बहुत पहले अरस्तु ने भी कहा था कि जो अकेला रहता है, वह या तो जानवर है या फिर कोई देवता। जैविक सादृश्य हमें समाज की अवधारणा एवं उसकी संरचना को समझने में हमारी सहायता करते हैं, किंतु समाज की विशिष्टता के प्रति हमें आंख नहीं मूंदनी चाहिए। यह प्राकृतिक एवं जीव विज्ञान जगत की अन्य पद्धतियों में नहीं मिलता।

द ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी (1999) में स्ट्रक्चर शब्द के तीन अर्थ दिए गए हैं - (1) वह रीति जिरामें कोई वस्तु आयोजित की जाती है, निर्मित की जाती है अथवा साथ-साथ रखी जाती है (अर्थात मानव शरीर की बनावट), (2) एक विशेष पद्धति, नमूना, प्रक्रिया, अथवा संस्थान (अर्थात वर्ग संरचना, वेतन संरचना), तथा (3) किसी विशेष रीति द्वारा विभिन्न अवयवों को एक साथ रखकर किसी वस्तु का निर्माण (अर्थात एकल भाग की संरचना)। जब कोई समाजशास्त्री संरचना की बात करता है तो उसका आशय उपरोक्त तीनों बातों से होता है। संरचना से उसका आशय अवयवों के पास में एक दूसरे से जुड़े होने से होता है अर्थात समाज का कोई भी अंग अलग-थलग रहकर अस्तित्वविहीन है। किंतु यदि इन अंगों को एक साथ मिला दिया जाए तो उसके लिए संरचना शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

प्रत्येक वस्तु की संरचना होती है और जब तक संरचना मौजूद नहीं है तब तक तत्व कोई कार्य नहीं कर सकता और जैसे ही इसकी संरचना खंडित हो जाती है या खतरे में पड़ती है, यह काम करना बंद कर देती है। यह गतिविहीन हो जाती है जिसके कारण यह अन्य दूसरे भागों के क्रियाकलापों को प्रभावित कर देती है क्योंकि ये सभी आपस में एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं। ये अवयव आपस में एक-दूसरे से एक विशेष क्रम में क्यों जुड़े हैं क्योंकि इनके मध्य एक तर्कसंगत व विवेकपूर्ण संबंध स्थापित है। उनके लिए जो संरचना को एक महत्वपूर्ण विश्लेषणात्मक अवधारणा मानते हैं, विश्व एक व्यवस्थित सत्ता है, जो ऐसे अवयवों से निर्मित है। जो आपस में एक-दूसरे से आबद्ध हैं और जिसके हर एक अवयव को दूसरे अवयव से सम्बद्धता में अध्ययन करना आवश्यक है। सारांश यह है कि संरचना से आशय उस विधि से है जिसके अंतर्गत किसी तत्व के अवयव एक-दूसरे से इस तरह से जुड़े हुए हैं ताकि वह तत्व समग्र रूप से प्रकट हो और जो विश्लेषण के उद्देश्य से एकल टुकड़ों में विभाजित हो सके।

समाजशास्त्र में इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि संरचना से आशय किसी वस्तु के अवयवों का आपस में एक-दूसरे से जुड़ा हुआ होना है। किंतु इसका अस्तित्व इन अवयवों की पहचान से है, चाहे ये अवयव एकल हों या समूह में अथवा भूमिका में या फिर संस्थान के रूप में अथवा संदेश के रूप में हों। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि इन अवयवों में से किस पर प्राथमिक रूप से ध्यान दिया जाये। दूसरा, यह मतभेद पैदा होता है कि क्या संरचना आनुभाविक तत्व है, ऐसा आनुभाविक तत्व जो दिखाई दे सके और जिसका निरीक्षण संभव हो या यह मात्र कल्पना है जो मानव संव्यवहार की नियमितता एवं सामंजस्यता से घटित होता है। इन दोनों विचारधाराओं के इर्द-गिर्द सामाजिक संरचना के विभिन्न सिद्धांत प्रतिपादित हुए हैं। रॉबर्ट मेरटन (1975) ने सत्य ही कहा है कि सामाजिक संरचना की धारणा "बहुश्रोतोद्भवी" एवं "बहुरूपी" है अर्थात इसके अनेक अर्थ व अनेक मत हैं।

## 5.3 सामाजिक संरचना एक वास्तविकता हैः ए.आर.रेडक्लिफ-ब्राउन का योगदान

जैसा पहले भी कहा गया है, स्पेंसर ने सामाजिक संरचना शब्द का निर्माण किया किंतु वे इसका सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर सके, सिवाय समाजों और जीवों के मध्य सादृश्य के प्रचलन के, जिसने संरचना एवं कृत्य की अवधारणा को विकसित करने में बाद के विद्वानों को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, ईमाइल दुर्खाइम (1938 (1895)) यद्यपि वे स्पेंसर के पक्के आलोचक थे, जैव सादृश्य की ओर आकर्षित रहे। उन्होंने कहा कि समाजविज्ञान में कार्यकलापों की धारणा जीव और समाज के मध्य सादृश्य पर आधारित है। उन्होंने सामाजिक "आकार विज्ञान" शब्द प्रयुक्त किया जिससे उनका अभिप्राय उस शब्द से था जिसे हम सामाजिक संरचना का नाम देते हैं।

दुर्खाइम के समाज विज्ञान ने ब्रिटिश सामाजिक जीववैज्ञानिक ए आर रैडक्लिफ ब्राऊन पर अमिट प्रभाव छोड़ी जो विसरणवादी डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स के शिष्य थे और जिन्होंने अपना प्रथम शोध कार्य 1906 से 1909 तक एंडमान आइसलैण्डर्स के सानिध्य में किया था। इस क्षेत्र अध्ययन का सार सर्वप्रथम 1910 में एक स्नातकोत्तर शोध प्रबंध के रूप में प्रकाशित किया गया। उसके बाद, यह 1922 मे प्रकाशित पुस्तक द एंडमान आइसलैण्डर्स में पुनः प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक कार्यात्मक उपागम के आधार पर लिखी गई प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक के रूप में प्रसिद्ध हुई। अपने योगदान, जिसे वे "संरचना संबंधी कार्यात्मक उपागम" का नाम देते थे, के अतिरिक्त उनका एक और महत्वपूर्ण योगदान सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझना था। जैसा कि पहले कहा गया है रेडक्लिफ ब्राउन के पहले भी ऐसे विद्वान हुए हैं, जिन्होंने सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग किया किंतु यह रेडक्लिफ ब्राउन (1952) ही थे जिन्होंने न केवल इस अवधारणा को परिभाषित किया अपितु इसके ऊपर संवाद की भी पहल की । अपने अध्यापन पर्यन्त उन्होंने सामाजिक संरचना के अध्ययन के महत्व पर बल दिया। रेडक्लिफ-ब्राउन का यह प्रस्तुतीकरण उनके सामाजिक मानवविज्ञान की धारणा से जुड़ा हुआ था, जिसे वे दुर्खाइम के बाद 'तुलनात्मक समाज विज्ञान' कहते थे।

### क) समाज का प्राकृतिक विज्ञान

रेडक्लिफ ब्राउन (1948) के अनुसार सामाजिक मानवविज्ञान 'मानव समाज का सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान' है। अर्थात प्राकृतिक एवं जैविक विज्ञान में प्रयुक्त सिद्धांतों की भांति सामजिक तथ्यों को भी सिद्धांतों द्वारा जांचा जाता है। प्रत्येक विज्ञान की अपनी एक विषयवस्तु होती है, जिसकी जाँच हमारी बुद्धि द्वारा की जाती है। इस प्रकार विषयवस्तु अनुभूतिमूलक है, जो अवलोकन का विषय हो सकती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने प्राकृतिक विज्ञान के सादृश्य को आगे बढ़ाया। समस्त प्राकृतिक विज्ञान ने विश्व संरचना की सुव्यवस्थित ढंग से जाँच परख की क्योंकि यह हमारी बुद्धि द्वारा हम को व्यक्त होती है। विज्ञान की प्रत्येक शाखा संरचना के एक विशेष प्रकार या श्रेणी को प्रतिपादित करती है। उदाहरण के लिए, आणविक भौतिकी परमाणु की संरचना से संबंधित है। इसी प्रकार रसायनशास्त्र अणु के बारे में जानकारी देता है और सादृश्य तथा मनोविज्ञान अवयवों की

संरचना में कार्य करते हैं। फिर, ये पुनः समान गुण वाली समस्त संरचनाओं की विशेषताओं को खोजने के उद्देश्य से कार्य करना प्रारंभ कर देते हैं। प्रत्येक विज्ञान अपने से संबंधित संरचना को समझने का प्रयत्न करती है और इसके बाद इस प्रकार की समस्त संरचनाओं की तुलना उनके सामान्य गुणों को खोजने में की जाती है। समस्त विज्ञान विशिष्ट से सामान्य की ओर जाती है तथा एक संरचना को समझकर फिर संरचना को समझने की दिशा में जाती है।

यदि सामजिक मानवविज्ञान समाज का प्राकृतिक विज्ञान है तो अवश्य ही इसकी विषयवस्तु के प्रेक्षण के प्रति तथा अनुभूतिमूलक पूछताछ के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। सामाजिक संरचना वही सब कुछ है जिसका अध्ययन सामाजिक प्राणिशास्त्र करता है, यह उनकी जाँच का कार्य क्षेत्र है। यह निरीक्षण योग्य है, इसमें एक ठोस वास्तविकता है। रेडक्लिफ ब्राउन (1952) लिखते हैं - "सामाजिक संरचनाएं उतनी ही वास्तविक हैं जितने कि वैयक्तिक अवयव हैं"। यह स्पष्ट है कि रेडक्लिफि ब्राउन की सामाजिक संरचना संबंधी अवधारणा उनकी सामाजिक प्राणिशास्त्र की प्राकृतिक विज्ञान संबंधी अवधारणा से बंधी है।

### ख) सामाजिक संरचना की विषयवस्तु

जैसा कि पहले कहा गया है, जब हम संरचना की बात करते हैं, तो इस बात को लेकर चलते हैं कि अवयव व घटकों का एक प्रकार का योजनाबद्ध क्रम है। संगीत सृजन के एक अंश में संरचना है और इसके अंश स्वर चिह्न हैं। इसी प्रकार एक वाक्य में भी संरचना होती है। इसके अंश शब्द हैं, इसी तरह एक भवन भी है जिसके अंश हैं - ईंट तथा मसाला। सामाजिक संरचना का मूल अंश व्यक्ति है। यहां रेडक्लिफ ब्राउन (1952) ने व्यक्ति विशेष तथा आदमी में अन्तर स्पष्ट किया है। व्यक्ति विशेष से उनका आशाय जैविक अवयव से है जो अनेक अणुओं से बना है तथा ये अणु एक समष्टि के रूप में व्यवस्थित हैं जो जब तक हम जीवित रहते हैं तब तक शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक क्रियाकलापों की बहुलता से कार्य करते हैं। मानव का यह पहलू अर्थात व्यक्ति विशेष पहलू जैविक एवं मनोवैज्ञानिक विज्ञान के अध्ययन का विषय है।

"आदमी" के रूप में मनुष्य "सामाजिक संबंधों का सम्मिश्रण" है। यह समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक प्राणिशास्त्रियों के अध्ययन की इकाई है। आदमी के रूप में वह देश का नागरिक है, परिवार का सदस्य है, एक राजनैतिक दल का समर्थक है, एक धार्मिक सम्प्रदाय का अनुयायी है, किसी फैक्टरी का कर्मचारी है, किसी पड़ोस का निवासी है और इसी प्रकार और कुछ भी है। आदमी की ये समस्त स्थितियाँ उसके सामाजिक संबंधों की द्योतक हैं। क्योंकि एक स्थिति दूसरी स्थिति से संबंधित है। परिवार में अन्य सदस्यों की भांति मनुष्य परिवार का एक सदस्य है और परिवार के सदस्यों का एक दूसरे से आपस में संबंध रखना इसकी संरचना का निर्माण करता है। इस तरह प्रत्येक आदमी सामाजिक संरचना में एक स्थान विशेष ग्रहण करता है। रेडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना में एक आदमी विशेष द्वारा हासिल की गई स्थिति विशेष को "सामाजिक व्यक्तित्व" का नाम दिया है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति विशेष की जीवन पर्यन्त एक ही स्थिति बनी रहती है, कालांतर में इसमें भी परिवर्तन होते हैं, नई स्थितियाँ पैदा होती है और पुरानी मिट जाती है, हम मनुष्यों का उनको सामाजिक संरचना के अर्थ में अध्ययन करते हैं और हम सामाजिक संरचना का आदमियों के रूप में अध्ययन करते हैं। जो समाज संरचना के निर्माण में इकाई है।

समाज आदमियों का आकस्मिक संयोग नहीं है अपितु यह एक सुव्यवस्थित प्रणाली है जहाँ आदमियों के मध्य संबंध किन्हीं सिद्धांतों और मूल्यों द्वारा शासित होते हैं। आदमी जानता है कि उसे इन सिद्धांतों और मूल्यों के अनुसार कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा वह यह भी चाहता है कि दूसरे व्यक्ति भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करें। रेडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना के अंतर्गत निम्नलिखित दो और पहलू सम्मिलित किए हैं।

1) एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक समस्त सामाजिक संबंध, अर्थात अंतःवैयक्तिक संबंध। उदाहरण के लिए किसी भी समाज की नातेदारी संरचना कई द्विक संबंधों से बनती है यथा, पिता व पुत्र, माता व पुत्री, माता का भाई व बहिन का पुत्र आदि।

2) व्यक्ति विशेष का और वर्ग विशेष का उनके सामाजिक दायित्व द्वारा वर्गीकरण होता है। उदाहरण के लिए, पुरुष एवं महिला का संबंध, मुखिया तथा साधारण नागरिक का संबंध, नियोजक और कर्मचारी का संबंध इत्यादि सामाजिक संरचना के ही पहलू हैं, क्योंकि वे मनुष्यों के मध्य सामाजिक संबंधों का निर्धारण करते हैं।

दोनों ही अवस्था में हम वास्तव में मनुष्यों के बीच संबंधों से सरोकार रखते हैं, जो कि उस सामाजिक दशा के सिद्धांत और मूल्य हैं।

इन बातों को साथ-साथ देखते हुए रेडक्लिफ ब्राउन कहते हैं कि सामाजिक संबंध एक ऐसी ठोस वास्तविकता है जो एक निश्चित कालावधि में वास्तविक संबंधों के स्वरूप से बना है तथा जिसके अंतर्गत कुछ व्यक्ति विशेष आपस में जुड़े हुए होते हैं। हम सामाजिक संरचना का सीधे अवलोकन कर सकते हैं। हम "वास्तविकता में विद्यमान संबंधों" को देख सकते हैं, उनका वर्णन कर सकते हैं और उनका वर्गीकरण भी कर सकते हैं और एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ संबंधों को समझ भी सकते हैं। सामाजिक संरचना का अवलोकन किया जा सकता है, उसे अनुभव किया जा सकता है तथा प्राकृतिक एवं जैविक विज्ञान के तरीकों से अध्ययन करके पूरी तरह परीक्षणीय बनाया जा सकता है।

### ग) संरचनात्मक प्रारूप

जब कोई सामाजिक मानवविज्ञानी एक विशेष क्षेत्रीय परिभाषित समाज में अपना क्षेत्र कार्य निष्पादित करता है तब वह वास्तव में जो छानबीन करता है, वही उसकी सामाजिक संरचना है। अर्थात, एक वास्तविक विद्यमान ठोस वास्तविकता जिसका प्रत्यक्ष अवलोकन करना है। किंतु जो कुछ वह देखता है, उसमें उसे समाज का एक सामान्य चित्र ही दिखलाई पड़ता है। इस संदर्भ में, रेडक्लिफ ब्राउन "सामाजिक संरचना" और "ढांचागत किस्म या रूप" के मध्य एक भिन्नता सुनिश्चित करते हैं। यह भिन्नता भी रेडक्लिफ ब्राउन के विज्ञान की अवधारणा और समाज के प्राकृतिक विज्ञान के रूप में सामाजिक मानव विज्ञान की अवधारणा से सम्बंधित है। रेडक्लिफ-ब्राउन कहते हैं कि इतिहास (या जीवनी) से भिन्न होकर विज्ञान का किसी विशेष या खास से कोई मतलब नहीं है। इसका संबंध है तो उस साधारण से है जिसके पूर्वसर्ग संपूर्ण घटना में प्रयुक्त होते हैं। वह कहते हैं कि हमारा संबंध तो "संरचना के प्रकार" से है।

यथा, किसी आस्ट्रेलियाई जनजाति का अध्ययन करने के लिए मानव विज्ञानी को केवल माता के भाई तथा बहिन के पुत्र के मध्य संबंधों से मतलब है। वह इस जनजाति के वास्तविक संदर्भ में इस संबंध के अनेक उदाहरणों को देखता है और वह इसकी "सामान्य या साधारण" किस्म को पृथक करता है जो अधिकतर एक ही तरह के होते हैं। यदि सामाजिक संरचना समय और स्थान के कारकों से आबद्ध है अथवा इसमें एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ में भिन्नता है तो ऐसी दशा में ढांचागत किस्म सामान्य और निश्चित है।

सामाजिक संरचना अनवरत रहती है। इसमे एक प्रकार की अनवरतता विद्यमान रहती है, जिसे रेडक्लिफ ब्राउन के शब्दों में "गत्यात्मक अनवरतता" कहते हैं। यह जीवित शरीर की आणविक संरचना के समान है। जैसे एक जीवित शरीर अपनी कोशिकाओं और ऊर्जा स्तर को बदलकर अपना नवीकरण करता है, ठीक ऐसे ही एक वास्तविक सामाजिक जीवन भी सामाजिक संरचना का नवीकरण करता है। व्यक्तियों के मध्य संबंध समयानुसार बदलते रहते हैं। समाज में नये सदस्यों का आगमन होता है क्योंकि नया जन्म होता है या फिर स्थानांतर। जहाँ सामाजिक संरचना में समयानुसार परिवर्तन होता है, वहीं इसमें एक आंतरिक निरंतरता तथा सापेक्ष सामंजस्य बने रहते हैं जो इसके ढाँचागत स्वरूप को निर्दिष्ट करते है।

**अभ्यास 5.1**

गत्यात्मक निरंतरता से रेडक्लिफ-ब्राउन का आशय क्या है?

इसका यह अर्थ नहीं है कि ढाँचागत प्रकार स्थिर है यह भी बदलता रहता है। कभी धीरे-धीरे तो कभी अचानक, जैसा कि क्रांति में होता है। किंतु फिर भी एक प्रकार की ढांचागत निरंतरता यथावत बनी रहती हैं। समाजशास्त्री और सामाजिक प्राणिशास्त्री के रूप में हमारा कार्य समाज के ढांचागत प्रकार को खोज निकालना है। यह विशेष से सामान्य की ओर प्रस्थान है या फिर रेडक्लिफ-ब्राउन के शब्दों में, "भावमूलक" से "नियमान्वेषी" की ओर जहाँ पहले वाला शब्द विशिष्ट सामाजिक ढांचा से संबंधित है वहाँ परवर्ती शब्द ढांचागत प्रकार का द्योतक है। जहाँ भावमूलक शब्द एक समाज की गहनता का अध्ययन करता है, वहीं नियमान्वेषी शब्द उस समाज के प्रकार का अमूर्तीकरण है। एकल समाज का अध्ययन में जरूरी है, इसकी तुलना इसी प्रकार के दूसरे समाज से की जाए। यह प्रक्रिया व्यवस्थित ढंग से क्रियान्वित होने पर हमें सामान्य नियमों की खोज की तरफ ले जाती है जो संपूर्ण रूप से मानव समाज पर लागू होता है।

रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार सामान्य विधि तक पहुंचने के लिए विभिन्न कदम इस प्रकार हैं -

1) मानवशास्त्रीय प्रक्रिया के निर्धारित मानक का प्रयोग करते हुए सामाजिक संरचना का गहन अध्ययन।

2) इसका ढांचागत प्रकार से पृथक्करण

3) तुलनात्मक प्रणाली का कठोरतापूर्वक प्रयोग करते हुए अन्य सामाजिक संरचना से सामाजिक संरचना के ढांचागत प्रकार की तुलना करना।

4) असमान सामाजिक परिस्थितियों में मानव संव्यवहार को प्रकट करने वाली निश्चित प्रतिज्ञप्तिओं से समाज के कानूनों तक पहुंचना।

रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र की मात्र एक पद्धति है अर्थात तुलनात्मक पद्धति जो हमें विशिष्ट से सामान्य की ओर जाने में मदद करती है। सामाजिक संरचना वह है जिसका हम अध्ययन करते हैं किंतु जिस पर हम पहुंचते हौ वह है एक ढाँचागत प्रकार।

### घ) संस्था और सामाजिक संरचना

रेडक्लिफ-ब्राउन का प्रयास प्रशंसनीय है क्योंकि इसके अर्थ को निश्चित न समझकर सामाजिक ढांचा की अवधारणा को परिभाषित करने का यह प्रथम गंभीर प्रयास था। फिर भी, इससे अनेक प्रश्न एवं शंकाएँ उत्पन्न हो गईं। यदि सामाजिक संरचना वास्तविक और निरीक्षण करने योग्य आंतरिक वैयक्तिक संबंधों का संग्रह है तो फिर समाज क्या है? क्या हम समाज का अध्ययन करें और इसके ढाँचे का पता करें? रेडक्लिफ-ब्राउन ने क्लाउड लेवी-स्ट्राउस को भेजे अपने पत्र में निम्नलिखित उदाहरण दिए: जब मैं समुद्र तट पर एक विशेष समुद्री सीपी को उठाता हूँ तब मैं इसे एक विशिष्ट संरचना के रूप में देखता हूँ (देखें कूपर संस्करण 1977)। प्रश्न जो तत्काल हमारे मस्तिष्क में कौंधता है, वह है: मैं किसका अध्ययन करूं। समुद्री सीपी का या फिर इसकी संरचना का? इसी उदाहरण को और आगे बढ़ाते हुए रेडक्लिफ-ब्राउन कहते हैं - "मैं इसी वर्ग की दूसरी सीपियों की कोशिकाएं प्राप्त कर सकता हूँ जिनकी संरचना भी समान हो, ताकि मैं यह कह सकूं कि एक ही सीपी जाति में एक ही प्रकार का संरचना गुण धर्म है। यहाँ मैं इन कोशिकाओं में प्रत्येक की संरचना का वर्णन करता हूँ और फिर उनकी बनावट की तुलना करता हूँ। या मैं यह मान लूँ कि ये सभी समुद्री सीपी हैं। अतः उनकी संरचना एक समान ही होगी।

पुनः रेडक्लिफ-ब्राउन आगे लिखते हैं - "विभिन्न प्रकार की अनेक प्रजातियों का परीक्षण करने पर मैं एक सामान्य ढांचागत प्रकार या मूल तत्व को पहचान सकता हूँ जो कि एक घोंघ है, जो मूल लघुगणकीय समीकरण के रूप में प्रकट किया जा सकता है। तो क्या मैं समुद्री सीपियों की विभिन्न जातियों की तुलना करूं ताकि मैं उनके सामान्य संरचना संबंधी रूप के बारे में जान सकूं, या फिर मैं समुद्री सीपी की प्रत्येक जाति का ढांचागत रूप की तुलना करूं ताकि मैं उस ढांचागत रूप तक पहुंच सकूं जो इन सब में समान है"। इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चूंकि विशिष्ट और सामान्य की श्रेणी में कोई भ्रम नहीं है, यह भ्रम "समाज" तथा सामाजिक संरचना में, "सामाजिक जीवन" और "सामाजिक संरचना" में है तथा सामजिक संरचना के संरचनात्मक रूप में और

सामाजिक संरचना के "संरचना संबंधी स्वरूप" में विद्यमान है। एक और प्रेक्षणः रेडक्लिफ-ब्राउन शब्द "ढांचागत प्रकार" से जो कुछ समझे हैं वह वही है जिसे अनेक विद्वान "सामाजिक संरचना" शब्द से जानते हैं और जिसे रेडक्लिफ-ब्राउन "सामाजिक संरचना" का नाम देते हैं, वह वही है जिसे अनेक विद्वान समाज के नाम से पुकारते हैं।

## 5.4 सामजिक संरचना समुदायों के मध्य संबंधों का उल्लेख करती हैः ई.ई. ईवान्स

### प्रिटचर्ड का योगदान

सामाजिक संरचना पर रेडक्लिफ-ब्राउन का अभिपत्र जो मूलरूप में 1940 में रॉयल एंथ्रोपोलोजी इंस्टीट्यूट ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैण्ड का अध्यक्षीय भाषण था, ईवान्स प्रिटचर्ड की सामाजिक संरचना के विचार का उल्लेख करता है। रेडक्लिफ-ब्राउन ईवान्स प्रिटचर्ड की सामाजिक संरचना के प्रयोग से असहमत नहीं थे। उन्होंने पाया कि सामाजिक संरचना के संदर्भ में इसे सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त होगा और यह ईवान्स-प्रिटचर्ड के प्रयोग से बेहतर प्रयोग होगा। ईवान्स प्रिटचर्ड ने अपनी पुस्तक "द न्यूर" (1940) के अंतिम अनुच्छेद के अंतिम भाग में सामाजिक संरचना की अवधारणा का वर्णन किया है।

ईवान्स प्रिटचर्ड ने सूडान के न्यूर के साथ मिलकर गहन क्षेत्र कार्य आरंभ किया। इनके ऊपर अपने प्रथम प्रबंध में ईवान्स प्रिटचर्ड ने न्यूर समाज के विश्लेषण को उस समय प्रचलित प्रथा की अपेक्षा और भी अधिक मूर्त धरातल पर पहुंचाने का प्रयास किया क्योंकि तब कोई उपयुक्त सिद्धांत नहीं था। ईवान्स प्रिटचर्ड ने न्यूर के ऊपर कार्य करते हुए इस सिद्धांत को खोजा। यद्यपि समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र पर प्रभाव डालने वाले उनके अधिकांश विचार बाद में विकसित हुए।

न्यूर में अपने प्रबंध विषय में उन्होंने उन मानवों के जीवन के लिए मवेशी की उपयोगिता के बारे में बताया जिसका उन्होंने अध्ययन किया था। परिस्थिति विज्ञान प्रणाली में वे स्वयं को अपने क्षेत्रीय वितरण के अनुकूलित और ऋतु प्रवास में पाते हैं। न्यूर की समय और स्थान की अवधारणाऐं अधिकांश उनकी जीविका के प्रतिमान से पैदा होती हैं। तब केंद्रीकृत राजनीतिक सत्ता के अभाव में ईवान्स प्रिटचर्ड ने उन क्षेत्रीय खंडों का परीक्षण किया जिसने राजनीतिक व्यवस्था को बनाते हैं। न्यूर राज्य विहीन (या नेतृत्वविहीन) समाज के अच्छे उदाहरण हैं। उनकी विवेचना ने विभाजनकारी राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को जन्म दिया जहाँ पर सामाजिक व्यवस्था अधिकांशतः विपक्ष के क्रियाकलापों एवं समाज के विभिन्न वर्गों का संतुलन है।

न्यूर समाज और उनके आंतरिक संबंधों के बारे में ईवान्स प्रिटचर्ड के अंकन ने उन्हें सामाजिक संरचना की अवधारणा का मार्ग दिखाया। व्यक्ति संबंधी विचार से आरंभ करने के स्थान पर जैसा कि रेडक्लिफ-ब्राउन ने किया, ईवान्स प्रिटचर्ड ने सामाजिक संरचना संरचना को समूह के रूप में देखना आरंभ किया। उनके शब्दों में (1940 : 262)।

सामाजिक संरचना से हमारा आशय समुदायों के मध्य उन संबंधों से है जो उच्च प्रकार की सामंजस्यता और स्थिरता वाले हों।

संरचना "समुदायों का एक सुव्यवस्थित संयोजन" है। व्यक्ति विशेष आता है और चला जाता है। वह समय के साथ-साथ नियुक्त होता है तथा ऐसे ही विलुप्त हो जाता है। किंतु समुदाय जैसा था वैसा ही रहता है। इसमें मनुष्य पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता जाता है (1940 : 262)। जीवन और मृत्यु की प्रक्रिया व्यक्तियों को अनुकूलित करती है। किंतु समाज की संरचना टिकाऊ है। यह स्पष्ट है कि ईवान्स प्रिटचर्ड के अनुसार सामाजिक संरचना उन एकांशों के बारे में बताती है जो अधिकांशतया स्थिर हैं, अर्थात समुदाय हैं। "संरचनात्मक स्वरूप" से रेडक्लिफ-ब्राउन का आशय उसी से है जिसे ईवन्स प्रिचर्ड "सामाजिक संरचना" कहते हैं। सामाजिक संरचना का वर्णन करने वाले समूह को "संरचनात्मक समूह" के नाम से भी पुकारा जा सकता है। न्यूर में इसके उदाहरण क्षेत्रीय समुदायों, वंशावलियों और आयु वर्ग में मिलते हैं।

ईवान्स प्रिटचर्ड परिवार को "संरचनात्मक समुदाय" के रूप में नहीं मानते हैं। यह इसलिए क्योंकि वे सोचते हैं कि परिवार में अन्य समुदायों की भांति सुसंगति और स्थिरता नहीं है। परिवार अपने सदस्य की मृत्यु के उपरांत लुप्त हो जाता है और फिर एक नया परिवार अस्तित्व में आता है। फिर भी, इसका यह अर्थ नहीं है कि परिवार कम महत्वपूर्ण है क्योंकि "संरचना के संवयन के लिये परिवार अनिवार्य" है (1940 : 262)। परिवार में सदस्यों का जन्म होता है जो परिवार की निरंतरता और व्यवस्था को बनाए रखते हैं। इस संरचना के सूत्रीकरण का ईवान्स प्रिचर्ड स्पष्टीकरण यह कह कर देते हैं कि इसका आशय यह नहीं है कि समुदाय - सुसंगत और स्थिर - जिनसे संरचना का निर्माण होता है, स्थाई है। क्षेत्रीय, वंशावली तथा आयु-वर्ग प्रणाली परिवर्तनशील है, किंतु धीरे-धीरे और उनके हिस्सों में हमेशा एक ही प्रकार का आपसी संबंध विद्यमान रहता है।

न्यूर का उदाहरण देते हुए ईवान्स प्रिटचर्ड कहते हैं कि जनजाति आवासीय एकांश की अव्यवस्थित सभा नहीं है। प्रत्येक स्थानीय समुदाय विभक्त है और ये विभक्त समुदाय दूसरे समुदायों में मिल जाते हैं। इसी कारण प्रत्येक इकाई को समस्त पद्धति के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है। एक समाज को "समूहों की पद्धति" के रूप में परिकलित किया जा सकता है, जिसमें व्यक्तियों के समूहों के मध्य संबंध विद्यमान रहते हैं तथा ये संबंध संरचनात्मक संबंध हैं। इस प्रकार, संरचना "समुदायों के मध्य एक संबंध" है। इन संबंधों को प्रणाली के नाम से भी परिभाषित किया जा सकता है। ईवान्स-प्रिटचर्ड सगोत्र संबंधों को सगोत्र व्यवस्था के रूप में देखते हैं या हम राजनीतिक संबंधों को राजनीतिक व्यवस्था भी कह सकते हैं।

यह हमें समूह की परिभाषा के विषय की ओर लाता है। ईवान्स प्रिटचर्ड के शब्दों में, समूह एक ऐसे व्यक्तियों का संघ है जो स्वयं को दूसरी इकाइयों की तुलना में एक विशेष इकाई मानते हैं। किसी समूह के सदस्यों में अपनी पहचान का ज्ञेय बोध होता है और वे दूसरे समूह से इस प्रकार से परिभाषित किए जाते हैं। समुदाय के सदस्यों के मध्य अन्योन्य आबन्ध होते है। जब भी उनका अपने समूह या इसके सदस्यों में किसी एक से संबंधित विषय को लेकर मुकाबला होता है तब उनके एक जुट हो जाने की अपेक्षा की जाती है। इस आधार पर "प्रतिशोधी समुदाय" बनते हैं। जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों में से एक सदस्य की मृत्यु का बदला लेना है। मानव वध के मामले में मारे गये समुदाय के सदस्य मारने वाले वर्ग के सदस्यों के विरुद्ध एक हो जाते हैं। इस प्रकार दो रूप के संरचनात्मक समकक्ष और परस्पर विरोधी दो समूहों का जन्म होता है। इस अर्थ में एक जनजाति, एक वंशावली व एक आयु वर्ग का एक हिस्सा समूहों के उदाहरण हैं। फिर भी, एक मनुष्य की सगोत्रता एक समूह को नहीं बना सकती और न ही पड़ोसी जनजाति या बाहरी व्यक्ति से समूह बनता है।

संक्षेप में, ईवान्स प्रिटचर्ड के अनुसार सामाजिक संरचना के भाग जिनमें संरचनात्मक संबंधों का वर्णन होता है, समुदाय है, जो समय पर्यन्त बने रहते हैं। उनके लिए सामाजिक संरचना एक आनुभविक सत्ता नहीं है। व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों के अध्ययन से हम उनके समूहों को समझने की ओर बढ़ते हैं। जब हम समूहों के बीच संबंधों का वर्णन करते हैं, तो हम उनके सामाजिक संरचना का वर्णन भी कर रहे होते हैं। इसलिए, सामाजिक संरचना विद्यमान वास्तविकता का एक मानवविज्ञानी सार होता है। यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ईवान्स प्रिटचर्ड (1951) के लिए, सामाजिक मानवविज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की एक शाखा नहीं है जैसा कि रेडक्लिफ ब्राउन ने माना था, बल्कि यह एक प्रकार का मानवविज्ञान है। इतिहास के साथ इसका संबंध होता है, प्राकृतिक और जीव बिज्ञान के साथ नहीं।

## 5.5 आदर्श के रूप में सामाजिक संरचना : क्लाउड लेवी-स्ट्राउस एवं एडमंड लीच का योगदान (Contribution of Claude Levi-Strauss and Edmund Leach)

सम्भवतः सामाजिक संरचना की अवधारणा का सर्वाधिक प्रेरक और विवादास्पद योगदान फ्रांस के संरचनावादी क्लाउड लेवी-स्ट्राउस का था जो अपने श्रेष्ठ काल्पनिक एवं सगोत्रीय प्रणाली के अनुप्रस्थ सांस्कृतिक विश्लेषण के लिए प्रसिद्ध है। यदि प्रकार्यवादियों के लिए समाज अनेक हिस्सों

वाला एक जीवित प्राणी है, जिसे विच्छेदित एवं वर्गीकृत किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर यह संरचनावादियों के लिए उस भाषा का सादृश्य है जो हमें समाज की अवधारणा करने में मदद करता है। भाषा के एक प्रदत्त अंश के अध्ययन करने पर भाषाविद् इसमें प्रयुक्त सिद्धांतों जो भाव को अर्थपूर्ण बनाते हैं, इसके व्याकरण तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, यद्यपि उस भाषा के बोलने वाले इसके बारे में नहीं भी जानते। इसी प्रकार, संरचनावादी सामाजिक व्यवहार के एक प्रदत्त अंश से इसमें प्रयुक्त संरचना का अर्थ जानने का प्रयास करते हैं। संरचनावाद में स्थानांतरण दृश्य संव्यवहार से संरचना की ओर तथा जैविक सादृश्य से भाषा की ओर होता है (बरनार्ड, 2000)।

पुनः संरचनावादी कहते हैं कि विभिन्न भागों के मध्य संबंधों का समूह उस "कुछ" में बदल सकता है जो उसके मूल रूप से भिन्न होता है जो पूर्व में था। यह रूपांतरण का भाव है - एक से दूसरे में - जो संबंधों की विशेषता की अपेक्षा संरचनात्मकता के मर्म में रहता है। एडमंड लीच (1968 : 486) ने इसके समझने का उदाहरण इस प्रकार दियाः संगीत के एक अंश को कई तरह की विविधताओं में रूपांतरित किया जा सकता है। इसे लिखा जा सकता है, पियानों पर बजाया जा सकता है, फोनोग्राफिक रिकार्ड पर रिकार्ड किया जा सकता है। रेडियो पर प्रसारित किया जा सकता है और अंत में दर्शकों के मध्य अभिनीत भी किया जा सकता है। प्रत्येक अवस्था में, संगीत का अंश "रूपांतरण की एक संपूर्ण श्रृंखला" से गुजरता है। यह मुद्रित रूप में, अंगुलियों की गति के रूप में, ध्वनि की तरंगों के रूप में, बेकेलाइट के अंशों की नाली के आरोह-अवरोह में, विद्युत चुम्बक की कम्पन में, और इसी प्रकार अन्य चीजों में भी। किंतु संगीत के इन समस्त प्रकटीकरण में एक संरचना है हालांकि वह एक दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक अपने नियमों से आबद्ध है किन्तु उन की संरचना एक सी है इसी तरह, जब विभिन्न समितियों में विविधता होती है, तब उनमें जो संगत (और आम) रह जाता है, वह है उनकी संरचना। लेवी-स्ट्राउस (1963) ने इसे अपनी एक कृति में उपयुक्त ढंग से उल्लिखित किया जिसमें उन्होंने आस्ट्रेलियाई आदिवासी जातियों की तुलना भारतीय जाति प्रथा के साथ की और पाया कि इन दोनों में एक ही प्रकार की संरचना थी। यदि रेडक्लिफ ब्राउन के लिए संरचना द्रष्टव्य है, वहीं लेवी-स्ट्राउस के लिए यह निरपेक्ष अवधारणा है। यदि रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार विशिष्ट समय और स्थान पर एक "विशिष्ट समाज की संरचना" ही टिकाऊ रहती है, वही लेवी-स्ट्राउस के लिए "संपूर्ण मानव समाज की संरचना" ही दृढ़ रहती है टिकाऊ है (बार्न्स आर.एच. 2001)।

1953 में ए एल क्रोयूबर की एन्थापॉलिजी टूडे में सामाजिक संरचना शीर्षक से छपे अपने प्रसिद्ध निबंध में लेवी-स्ट्राउस कहते हैं कि सामाजिक संरचना अध्ययन का क्षेत्र नहीं है, यह "पूछताछ का कार्यक्षेत्र" भी नहीं है। हम सामाजिक संरचना का अध्ययन नहीं करते हैं अपितु यह एक व्याख्यात्मक प्रणाली है और इसका प्रयोग किसी भी प्रकार के सामाजिक अध्ययन में किया जा सकता है। रेडक्लिफ ब्राउन के विपरीत लेवी-स्ट्राउस का कहना है कि "सामाजिक संरचना" शब्द का आनुभाविक वास्तविकता से कुछ भी लेना-देना नहीं है। यह उन प्रतिमानों का उल्लेख करती है जो आनुभाविक वास्तविकता से बने हैं। वे लिखते हैं - "...सामाजिक संरचना के अध्ययन का उद्देश्य प्रतिमानों की सहायता से सामाजिक संबंधों को समझना है (1953 : 532)। सामाजिक संरचना प्रतिमान है, यह अध्ययन की एक पद्धति है।

यहाँ लेवी-स्ट्राउस सामाजिक संरचना की अवधारणा को सामाजिक संबंधों से भिन्न मानते हैं। सामाजिक संबंध "सामाजिक अनुभव" का कच्चा आंकड़ा है - यह मनुष्यों आनुभाविक और दृष्टव्य के मध्य संबंध है। सामाजिक संबंधों से ही सामाजिक संरचना बनाने वाले अधिमानों का निर्माण होता है। यद्यपि अधिमान कच्चे आनुभविक वास्तविकता से निर्मित हैं, इन्हें उस स्तर तक नहीं गिराया जा सकता। किसी एक निर्दिष्ट समाज में सामाजिक संबंधों की समष्टि वर्णित की जा सकती है, किंतु सामाजिक संरचना एक मानवशास्त्री की अवधारणा है जो विश्लेषण के लिए बनी है।

**अभ्यास 5.2**

लेवी स्ट्राउस सामाजिक संरचना को सामाजिक संबंधों से किस प्रकार भिन्न मानते हैं?

लेवी-स्ट्राउस तीन भिन्नताएं बताते हैं - प्रथम, प्रतिमान के ऊपर प्रेक्षण तथा प्रयोग, दूसरा प्रतिमानों का सचेतन और अवचेतन गुण तथा तीसरा मशीनी और सांख्यिकीय प्रतिमान। प्रतिमानों के "प्रयोंगों" से इन तथ्यों के उपरांत सामाजिक संबंधों के प्रेक्षण और प्रतिमानों के निर्माण में प्रतिमानों के प्रयोग की भिन्नता की आवश्यकता है। प्रयोग से लेवी-स्ट्राउस का आशय प्रेक्षित तथ्यों के लिए सर्वोत्तम माने जाने वाले प्रतिमानों की पहचान के उद्देश्य से उसी या दूसरी प्रकार के प्रतिमानों का "नियंत्रित तुलना" से है। किसी ढांचागत विश्लेषण में पहला कदम बिना किसी भेदभाव के तथ्यों का अनुपालन करना है। फिर उनको उनके स्वयं के संबंधों तथा समस्त तथ्यों के संबंधों में वर्णित करना है। इससे प्रतिमान निर्मित होते हैं और अंतिम विश्लेषण में सर्वोत्तम प्रतिमान का चयन किया जाता है। यह प्रभेद उस मानवशास्त्री के संदर्भ में है, जो समाज का अध्ययन करता है।

तुलना के द्वारा अध्ययनाधीन समाज के संदर्भ में सचेतन और अवचेतन प्रतिमानों के मध्य अन्तर किया जाता है। सचेतन प्रतिमानों को "गृहनिर्मित प्रतिमान" एवं मानक कहा जाता है। जो अंतरंगी प्रतिमान है। ये वे प्रतिमान हैं जिनके अनुसार समाज स्वयं को देखता है। इन प्रतिमानों के नीचे ऐसी गहन संरचनाएं हैं जिन्हें अवचेतन प्रतिमान कहते हैं जिन्हें समाज प्रत्यक्ष रूप से अथवा सचेतन रूप में अनुभव नहीं कर सकता है। मानवविज्ञानी मूल रूप से उस प्रतिमान के साथ कार्य करते हैं जो सचेतन प्रतिमान की अपेक्षा गहराई में दबी दृश्य प्रपंचों से निर्मित होते हैं। लेवी-स्ट्राउस कहते हैं ऐसा इसलिए है कि सचेतन प्रतिमान का उद्देश्य दृश्य प्रपंचों को स्थायी बनाना है और न कि उनका वर्णन करना। किंतु इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि सचेतन प्रतिमानों को रद्द किया जा सकता है। कुछ मामलों में वे इतने अधिक परिशुद्ध हैं जितने कि मानवशास्त्री भी नहीं निर्मित कर पाये। यहाँ तक कि जब सचेतन प्रतिमान अशुद्ध भी हों, फिर भी उनसे हमें गहनतम संरचना मिलती है।

अब हम अंतिम प्रभेद पर आते हैं। मशीनी प्रतिमान का आदर्श सूत्रीकरण यह है कि ये वो प्रतिमान हैं जो उसी स्तर पर बने रहते हैं जिस स्तर पर दृश्य प्रपंच रहते हैं। और जब ये दोनों-प्रतिमान एवं दृश्य प्रपंच भिन्न-भिन्न क्रम में होते हौ तब वे सांख्यिकीय प्रतिमान कहलाते हैं। दुर्भाग्यवश जैसा कि आलोचकों ने देखा है, लेवी-स्ट्राउस "उसी क्रम" का अर्थ नहीं समझा पाए। किंतु, जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया उससे ऐसा लगता है कि वे "जो कुछ लोग कहते हैं" और "जो वे करते हैं" के मध्य संख्यात्मक भिन्नता के पक्षधर थे। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए लेवी-स्ट्राउस ने विवाह के नियमों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जब वैवाहिक नियमों और समाजिक वर्गों में कोई भिन्नता नहीं है - इन दोनों को एक ही स्तर पर रखा गया है - प्रतिमान स्वरूप यांत्रिकी होगा। और जब बहुत से तथ्य विवाह के प्रकार को प्रभावित करते हैं तब लोगों के पास नियमों से भटकने के अलावा कोई चारा नहीं होता वह प्रतिमान सांख्यिकीय होगा

**बॉक्स 5.1 : एडमंड लीच की सामाजिक संरचना**

ब्रिटिश मानवशास्त्री एडमंड लीच (1954, 1961) ने भी प्रतिमान के रूप में सामाजिक संरचना के विचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, यद्यपि लेवी-स्ट्राउस और लीच के मध्य संरचना संबंधी उपागम में अनेक महत्वपूर्ण विभिन्नताएं हैं। उदाहरण के लिए, जहाँ लेवी-स्ट्राउस समय के हर एक बिंदु पर समस्त मानवीय समाज में प्रयुक्त संरचना "वैश्विक संरचना " को खोज बाहर निकालने में इच्छुक थे, वहीं दूसरी ओर लीच ने स्थानीय या क्षेत्रीय संरचनाओं को समझने के लिये संरचना संबंधी पद्धति को अपनाया। फलस्वरूप कुछ में लीच को "नव संरचनावादी" कहा गया (कूपर 1996 (1973))।

लीच ने जिस सामाजिक संरचना की अवधारणा को प्रतिपादित किया वह अनिवार्यतः वैसी ही है जैसी लेवी-स्ट्राउस की थी (नूटिनी 1970 : 76)। लेवी-स्ट्राउस की भांति लीच भी "सामाजिक विश्व" को विभिन्न ज्ञानशास्त्रतात्मक श्रेणियों में विभाजित करते हैं - सामाजिक अनुभव (अर्थात सामाजिक संबंधों) के कच्चे आंकड़े तथा वे प्रतिमान जो इससे निर्मित हुए हैं - प्रतिमान अनुभूतिमूलक नहीं हैं, ये मानवशास्त्रियों की सोच में तार्किक निर्माण हैं। लेवी-स्ट्राउस की भांति

लीच ने भी मशीनी एवं सांख्यिकी प्रतिमान के मध्य विभेद किया। अर्थात "जो कुछ आदमी कहते हैं" और "जो कुछ आदमी करते हैं" की सोच पर क्रमशः निर्मित प्रतिमान। किंतु वे मशीनी प्रतिमान को "विधिपरक शासन" और "सांख्यिकी प्रतिमान" को "सांख्यिकी प्रतिमान" के नाम से पुकारते हैं। लीच ने विधिपरक शासन और सांख्यिकी प्रतिमान के जो अर्थ दिए हैं वे अनिवार्यतः वही हैं जो लेवी-स्ट्राउस ने मशीनी व सांख्यिकी प्रतिमान में दिए हैं।

किंतु दो महत्वपूर्ण भिन्नताएं भी हैं, प्रथम, लेवी-स्ट्राउस के अनुसार मशीनी और सांख्यिकी प्रतिमान दोनों ही मोटे तौर पर समान सांख्यिकी विश्लेषणात्मक मूल्यों वाले हैं तथा वे एक दूसरे के पूरक हैं। लीच के अनुसार, विधि परक शासन और सांख्यिकी प्रतिमानों को अलग-अलग संदर्भों में लिया जाना चाहिए। एक विश्लेषण के अनुसार सांख्यिकी प्रतिमानों को विधिपरक की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। हमें अपना अध्ययन मनुष्य के वास्तविक संव्यवहार उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों और अनुरूपता जिसे वह प्राप्त करता है, से आरंभ करना चाहिए। दूसरा लीच ने बताया कि मशीनी प्रतिमान और विधपरक शासन संव्यवहार के गुणात्मक सिद्धांत हैं। शास्तियाँ उनका समर्थन करती हैं और उनमें बल प्रयोग करने की क्षमता है। सांख्यिकी प्रतिमान या मानक केवल व्यक्ति विशेष के संव्यवहार का सांख्यिकी औसत है। इनके पास बल प्रयोग की शक्ति नहीं है।

## 5.6 सारांश

सामाजिक संरचना की अवधारणा एक सुखद पहेली की तरह है। ए.एल.क्रोयूबर (1948) के शब्दों में, जिनके अनुसार एक बार लगभग प्रत्येक मानवविज्ञानी व समाजशास्त्री ने अपना योगदान प्रस्तुत करने का प्रयास किया, चाहे वह समाज के एक भाग (या विभिन्न भागों) का ध्यान आकर्षित करने से संबंधित हो जो लेखक के लिए महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, या पहले से विद्यमान विचार का समर्थन करने से संबंधित हो या फिर सामाजिक संरचना का सिद्धान्त हो। जैसा कि पहले कहा गया है कि सामाजिक संरचना से संबंधित बहस दो विषयों पर आधारित है। (1) समाज के किस भाग में संरचनात्मक संबंध है? और (2) सामाजिक संरचना वास्तविक है अथवा मानक शोधकर्ता जिसका निर्माण करते हैं? सामाजिक संरचना के ऊपर इन दो श्रेष्ठ मतों से लेवी-स्ट्राउस संरचना संबंधी अपनी प्रणाली गहराई से जुड़े हैं - सामाजिक संरचना वह प्रतिमान है जो सामाजिक संव्यवहार (संबंध एवं अनुभव) के अध्ययन करने के लिए बनाई गई है। रेडक्लिफ ब्राउन के लिए सामाजिक संरचना एक "आनुभविक" सत्ता है जिसमें सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की विषयवस्तु संघटित है। लेवी-स्ट्राउस को लिखे अपने पत्र में रेडक्लिफ ब्राउन ने लेवी-स्ट्राउस की सामाजिक संरचना संबंधी अवधारणा पर अपनी असहमति प्रकट की और कहा कि प्रतिमान के रूप में सामाजिक संरचना का विचार भी भ्रांतिमूलक है। रेडक्लिफ के अनुसार शब्द "संरचनात्मक प्रकार" लेवी स्ट्राउस के शब्द "प्रतिमान" के समान है (देखें, कूपर, संस्क. 1977)।

सामाजिक संरचना की अवधारणा जिसे आस्ट्रेलिया के मानवविज्ञानी एस.एफ. नाडेल ने प्रस्तावित किया है ने रेडक्लिफ ब्राउन और लेवी-स्ट्राउस दोनों के विचारों को मिलाने का प्रयास किया। उनके मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तक द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर (1957) में नाडेल रेडक्लिफ ब्राउन के इस मत से असहमत थे कि सामाजिक संरचना एक आनुभविक वास्तविकता है, अपितु यह एक अमूर्त है, सार मात्र है। ठीक इसी समय उन्होंने लेवी स्ट्राउस के इस विचार को भी अस्वीकार कर दिया कि सामाजिक संरचना का आनुभविक वास्तविकता से कुछ लेना देना नहीं है। उन्होंने रेडक्लिफ-ब्राउन के इस मत को स्वीकारा कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संरचना में अपनी अलग पहचान रखता है किंतु अंतःवैयक्तिक प्रभाव की आनुभविक वास्तविकता इंद्रियगोचर सत्ता से वे अमूर्त के स्तर से मुड़ गये जहाँ व्यक्ति एक ऐसा अभिनेता बन जाता है जो अन्यों से संबंधित भूमिका अभिनीत करता है। फिर भी इस अमूर्तता का आशय यह नहीं कि यह वास्तविकता से ही पृथक हो गया। नाडेल (1957 : 150) लिखते हैं कि:

मैं सामाजिक संरचना को, चाहे यह परिष्करण की किसी भी अवस्था हो, इसकी सामाजिक वास्तविकता के रूप में अथवा इसके एक पक्ष के रूप में मानता हूँ न कि इसके पीछे का तर्क ...

नडेल के अनुसार, सामाजिक संरचना के घटक समाज की सामाजिक संरचना से बने हुए अंतःसंबंधित भूमिकाओं व प्रतिमान (या डिजायन) हैं। सामाजिक संरचना के ऊपर उनकी परिभाषा निम्न प्रकार से है (1952 : 12)

हम मूर्त जनसंख्या और इसे संव्यवहार से अमूर्त द्वारा समाज की संरचना तक पहुंचते हैं जो अभिनेताओं के मध्य एक-दूसरे से संबंधित उनकी अभिनय क्षमता में प्राप्त संबंधों के प्रतिमान या तंत्र (अथवा पद्धति) है।

नडेल के अतिरिक्त कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने भी सामाजिक संरचना परिभाषित करने में भूमिकाओं के महत्व पर बल दिया है। उदाहरण के लिए पारसन्स (1961) कहते हैं कि सामाजिक पद्धति की संरचना "मानकीय संस्कृति के संस्थात्मक प्रतिमान" के रूप में वर्णित की गई है। प्रतिमान प्रथमतः पारस्परिक अवस्थाओं में अभिनेताओं की स्थिति तथा दूसरी गतिविधियों के प्रकार के अनुसार परिवर्तित होते हैं, प्रतिमान भूमिका को परिभाषित करते हैं जो व्यवहार के सिद्धांतों के अनुरूप होते हैं और वे संस्थानों का गठन भी करते हैं। सामाजिक संरचना का उद्देश्य मानवीय संव्यवहार को नियमित करना है। सामाजिक संरचना को अपनी अवधारणा में पीटी ब्ल्यू (1977) ने भी सामाजिक स्थितियों के बारे में कहा, जिनके मध्य जनसंख्या का विभाजन होता है। सामाजिक संरचनाओं की कुछ अवधारणाओं को आनुभविक अवस्था में कसौटी पर रखा गया। उदाहरण के तौर पर ब्ल्यू और शेवार्ट्ज (1984) ने वास्तविक जीवन को जानने के लिए ब्ल्यू के विचारों का अनुसरण किया।

## 5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बर्नार्ड एलन, 1968, हिस्ट्री एंड थ्योरी इन एंथ्रोपोलॉजी। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

हैरिस मार्विन, 1968. द राइज ऑफ एंथ्रोपोलॉजिकल थ्योरी, ए हिस्ट्री आफ थ्योरीज ऑफ कल्चर। न्यूयार्कः थॉमस वाई क्रोवेल कंपनी।

मर्टन, आर.के. 1975. स्ट्रक्चरल एनालिसिस इन सोसियोलॉजी। इन पी.एम.ब्लौ (इडी.), एप्रोचेज टु द स्टडी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर। न्यूयार्कः फ्री प्रेस।

नाडल, एस.एफ.1957. द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर। लंदनः कोहन एंड वेस्ट लि.

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**संदर्भ**

बर्नार्ड एलन, 2000. हिस्ट्री एंड थ्योरी इन एंथ्रोपोलॉजी। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

बर्नेस, एच.ई. 1948. हिस्टोरिकल सोसियोलॉजीः इट्स ऑरिजिंस एंड डेवलपमेंट। न्यूयार्कः फिलोसोफिकल लायब्रेरी।

बर्नेस, आर.एच. 2001. स्ट्रक्चरलिज्म। इन एन.जे.स्मेल्सर एंड पी.बी. बाल्टस (ईडी.),

इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल एंड बिहैवोरियल साइंसेस। एल्सेवर (पीपी. 15222-15225)।

ब्लौ, पी.एम. 1977: इनइक्वालिटी एंड हेटेरोजेनेटीः ए प्रिमिटिव थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर। न्यूयार्कः फ्री प्रेस।

ब्लो, पी.एम. एंड जे स्वार्ट्ज़ 1984. क्रॉस कटिंग सोशल सर्कल्स। ऑरिएंडो, सीएः एकेडेमिक प्रेस।

दुर्खाइम, एमाइल, 1938 (1895). द रूल्स ऑफ द सोसियोलॉजिकल मैथड। न्यूयार्कः फ्री प्रेस।

ईवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1940. द न्यूअरः ए डिस्क्रिप्शन ऑफ द मॉड्स ऑफ लाइवलीहुड एंड पॉलिटिकल इंस्टिट्यूशंस आफ ए निलोटिक पीपल। ऑक्सफोर्डः क्लारेंडन प्रेस।

....., 1951. सोशल एंथ्रोपोलॉजीः द ब्रॉडकास्ट लेक्चर्स। लंदनः कोहन एंड वेस्ट।

हैरिस मार्विन, 1968. द राइज ऑफ एंथ्रोपोलॉजिकल थ्योरी, ए हिस्ट्री आफ थ्योरीज ऑफ कल्चर। न्यूयार्कः थॉमस वाई क्रोवेल कंपनी।

क्रोबेर, ए.एल. 1948. एंथ्रोपोलॉजी। न्यूयार्कः हरकोर्ट, ब्रेस।

कूपर, एडम 1996. (1973)। एंथ्रोपोलॉजिस्ट एंड एंथ्रोपोलॉजीः द मार्डर्न ब्रिटिश स्कूल। लंदनः रूटलेज।

कूपर, एडम (ईडी.) 1977. द सोशल एंथ्रोपोलॉजी ऑफ रेडक्लिफ ब्रॉउन। लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

लीच, एडमंड आर. 1954. पॉलिटिकल सिस्टम्स ऑफ हाईलैंड बर्मा। बोस्टनः बीकन प्रेस।

....., 1961. रिथिंकिंग एंथ्रोपोलॉजी। लंदनः एथलोन प्रेस।

....., 1968. सोशल स्ट्रक्चर। इन इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेस, वाल्यूम 14. मैकमिलन कं. एंड फ्री प्रेस (पीपी. 482-489)।

लेविस-स्ट्रॉस, क्लॉड, 1953. सोशल स्ट्रक्चर। इन ए.एल. क्रोबेर (एडी.), एंथ्रोपोलॉजी टुडे। शिकागोः शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस (पीपी. 524-553)।

....., 1963. द बीयर एंड द बार्बेर। जर्नल आफ द रॉयल एंथ्रोपोलॉजिकल इंस्टीट्यूट ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, 93 : 1-11.

मर्टन, आर.के. 1975. स्ट्रक्चरल एनालिसिस इन सोसियोलॉजी। इन पी.एम.ब्लौ (एडी.), एप्रोचेज टु द स्टडी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर। न्यूयार्कः फ्री प्रेस।

नाडल, एस.एफ.1957. द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर। लंदनः कोहन एंड वेस्ट लि.

नुटिनी, हुगो जी. 1970. सम कंसीडिरेशन ऑन द नेचर ऑफ सोशल स्ट्रक्चर एंड मॉडल बिल्डिंगः ए क्रिटिक ऑफ क्लॉड लेविस-स्ट्रॉस एंड एडमंड लीच। इन ई.नेल्सन

हायेस एंड टान्या हायेस (एडी), क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, द एंथ्रोपोलॉजिस्ट एज हीरो। कैम्ब्रिजः द एम.आई.टी. प्रेस (पीपी. 70-122)।

ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर डिक्शनरी। 1999. ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

पार्सन्स, टॉलकट, 1961. एन आउटलाइन ऑफ द सोशल सिस्टम। इन टालकट पार्सन्स, ई.शिल्स, के.डी. नाईगल, एंड जे.आर. पिट्स (एडी.), थ्योरीज ऑफ सोसायटी, फाउंडेशंस ऑफ माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी। न्यूयार्कः फ्री प्रेस आफ ग्लोंको (पीपी. 30-79)।

रेडक्लिफ ब्रॉउन, ए.आर. 1922. द एंडमान इजलैंडर्स। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

....., 1948. ए नेचुरल साइंस ऑफ सोसायटी। न्यूयार्कः फ्री प्रेस।

....., 1952. स्ट्रक्चर एंड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसायटीः एसेज एंड एड्रेसेस। लंदनः कोहन एंड वेस्ट।

रेक्स जॉन, 1961. की प्रॉब्लम्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी। लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

स्पेंसर, हर्बर्ट, 1873. द स्टडी ऑफ सोसियोलॉजी। न्यूयार्कः डी. एप्पलेटन।

MAADHYAM IAS

इकाई 6

# संरचना और प्रकार्य

**इकाई की रूपरेखा**


6.1 प्रस्तावना

6.2 प्रत्यक्षवाद से प्रकार्यवाद की ओर

6.3 प्रकार्यवाद के आधारवाक्य

6.4 सामाजिक मानवविज्ञान में प्रकार्यवादः रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलीनोवस्की

6.5 टॉलकट पार्सन्स (1902-1979) एवं रॉबर्ट के. मर्टन (1910-2003) का प्रकार्यवाद

6.6 सारांश

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- प्रकार्यवाद के आधारवाक्यों की व्याख्या कर सकेंगे;
- समाज को समझने में प्रकार्यवाद की अवधारणा की प्रासंगिकता की विवेचना कर सकेंगे; और
- रेडक्लिफ-ब्राउन, मेलिनोवस्की और पारसंस के सैद्धांतिक सादृश्य में तुलना और भिन्नता कर सकेंगे।

## 6.1 प्रस्तावना

प्रकार्यवाद सामाजिक मानवविज्ञान एवं समाजशास्त्र में उपागम का नाम है जिसके अनुसार समाज अंतःसंबद्ध भागों का एक साकल्य है, जिसमें हर एक भाग साकल्य के अनुरक्षण में योगदान करता है। समाजशास्त्र का कार्य समाज के प्रत्येक भाग के योगदान के बारे में जानकारी हासिल करना है और इस बात का पता लगाना है कि इन भागों के व्यवस्थित क्रम में समाज किस प्रकार कार्य करता है। 'प्रकार्य" शब्द का शाब्दिक अर्थ (जो लैटिन भाषा में "फंगी", "पक्शियो" है और जिसका अर्थ संपन्न करना है, निष्पादित करना है) सम्पन्न करना अथवा पूर्ण करना (उद्देश्य को) है। वास्तुशिल्प के क्षेत्र में यह इस बात का संकेत करता है कि एक आकृति को व्यवहार और सामग्री के अनुकूल होना चाहिए। राजनीति और प्रबंधन जैसे क्षेत्रों में इसका आशय वस्तुओं को कार्य करने योग्य बनाना है। यह शब्द गणित में (ए, बी का प्रकार्य के रूप में) प्रयुक्त होता है, यह रोजमर्रा की वार्तालाप में प्रयुक्त होता है, जहाँ इसका अर्थ रोजगार या उद्देश्य से हो सकता है (उदाहरणार्थ, कार्यालय में आपका कार्य क्या है?) वास्तव में, परवर्ती प्रश्न में मैं जो पूछ रहा हूँ, वह है "आप अपने कार्यालय में क्या काम करते हैं" और करने से मेरा आशय शब्द "प्रकार्य" से है। यह शब्द समारोहों और उत्सव के अवसरों के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है जैसे उद्घाटन समारोह, विवाह समारोह आदि में। दूसरे शब्दों में प्रकार्य शब्द के अनेक अर्थ है और इसके अनेक प्रयोग हैं। लेवी जूनियर (1968 : 22) लिखते हैं, "शायद प्रकार्य की सामान्य अवधारणा के साथ जुड़ी एक बड़ी कठिनाई यह रही है कि इसमें अनेक विशिष्ट भिन्न संबंधों को समाविष्ट करने के लिए एक शब्द के रूप में प्रयोग के रूप में रही है"।

एक विशिष्ट उपागम के रूप में, समाज को देखने और उसके विश्लेषण करने के माध्यम के रूप में, प्रकार्यवादियों का आगमन सबसे पहले सामाजिक मानवविज्ञान में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ और बाद में 1930 के दशक में समाजशास्त्र में हुआ। फिर भी, इसकी जड़ें इतनी पुरानी है

जितनी कि जैविक सादृश्य की संकल्पना की, जिसका प्रयोग प्लेटो (ईसा पूर्व 428/7-345/7) और अरस्तु (ईसा पूर्व 384-322) द्वारा प्राचीन काल के दर्शनशास्त्र में किया गया था। "उद्देश्य" और "प्राप्ति" की अवधारणा अरस्तु के वस्तुओं के अंतिम परिणाम से संबंधित टेलोज (उद्देश्य) से संबंधित है। अव्यक्त टेलोज का विचार एडम स्मिथ के "अदृश्य हाथ" के रूपक में भी स्वचालित मशीन के रूप में पाया जाता है जो धन, व्यक्ति के कल्याण और श्रमहारा वर्ग में बढ़ोतरी से आर्थिक दक्षता को अधिकतम करता है। टेलोज से "टेलियोलॉजी" शब्द की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है प्रत्येक वस्तु का निर्धारण उद्देश्य से किया जाता है और विद्वानों को यह पता लगाना चाहिए कि वह उद्देश्य क्या है।

कुछ लेखक क्लाउड हेनरी डी सेंट-साइमन को अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम और उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक विचारक मानते थे। फ्रांस की क्रांति के बाद के लेखको ने उन्हें "समाजशास्त्र के जनक" माना, क्योंकि अपने लेखों में उन्हें एक साथ दो प्रकार की विचारधाराएं मिलीं - पहली, जिससे समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का विकास हुआ और दूसरा, जिसने मार्क्सवादी सिद्धांत के संवर्धन में पर्याप्त योगदान दिया। (गिड्डन 1973)। पहला विचार यह था कि "वैज्ञानिक प्रविधि" का प्रयोग समाज के अध्ययन के लिए किया जाना चाहिए और दूसरा यह है कि प्रत्येक समाज में इसके अंतर्विरोध के जीवाणु पाए जाते हैं जिसके कारण समय के साथ साथ इसमें बदलाव होते रहते हैं। सेंट सिमन ने क्रांति को परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रिया के रूप में भी पहचाना।

यह समाज का वैज्ञानिक रूंप से अध्ययन करने का प्रथम विचार था जिसे सेंट सिमन के सहयोगी और "समाजशास्त्र" (सोसियोलॉजी) शब्द की रचना करने वाले व्यक्ति आगस्ट कॉम्टे (1789-1857) ने "प्रत्यक्षवाद" अथवा "प्रत्यक्ष दर्शनशास्त्र" शीर्षक के अंतर्गत पूर्णतः विकसित किया। इस विचार में, समाज के अध्ययन की प्रविधि प्राकृतिक और जीव विज्ञान से ली गई। इस अध्ययन का उद्देश्य "उत्पत्ति के नियम" के साथ-साथ "समाज के कार्य करने की विधि" की खोज करना था अर्थात समय के साथ-साथ समाज की उत्पत्ति कैसे हुई और वे कौन से विभिन्न अवस्थाएं हैं, जिनसे इसे गुजरना पड़ा है और "किसी समय विशेष पर समाज किस प्रकार अपना कार्य करता है"। कॉम्टे का मत है कि इस प्रकार प्राप्त ज्ञान से हमें समाज में अपेक्षित परिवर्तन लाने, सामाजिक पुनर्निर्माण और सुधार करने में सहायता मिलती है। काम्टे का उद्देश्य प्राकृतिक और जीव विज्ञानों की तर्ज पर समाजशास्त्र को "समाज का विज्ञान" बनाने और विज्ञान के अनुक्रम में एक स्थान प्रदान करने का था। कॉम्टे के लिए, सर्वाधिक सामान्य और विशिष्ट विषय होने के नाते समाजशास्त्र विज्ञानों की श्रेणी में शिखर पर आसीन है और यह "विज्ञानों की रानी" था।

इस इकाई में, हम समाज वैज्ञानिक लेखों की अवधारणा पर प्रकाश डालेंगे। हम सर्वप्रथम प्रकार्यवाद के मूल आधार वाक्यों से आरंभ करते हैं और फिर उसके बाद रेडक्लिफ ब्राउन, मेलीनोवस्की और पारसंस के सैद्धांतिक योगदान पर नजर डालेंगे।

## 6.2 प्रत्यक्षवाद से प्रकार्यवाद की ओर

प्रकार्यवाद की अभिधारणा प्रत्यक्षवाद के दर्शन में निहित है। काम्टे ने भी समाज के सादृश् को शरीर रचना के रूप में प्रयुक्त किया है। जैव सादृश्य ने समाज के पर्यावलोकन में अंतःसंबद्ध भागों के रूप में सहायता की है, एक ऐसे विचार जो कार्यात्मक पहुंच का आधार है। समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद के निकटस्थ अग्रदूत ईमाइल दुर्खाइम (1858-1917) रहे हैं, जो काम्टे के घोर आलोचक भी रहे हैं और उन्होंने एलविन काउल्डनर (1973) के शब्दों में, "असहज काम्टीयन (Uneasy comtean)" होने का खिताब जीता।

कॉम्टे की ही भांति दुर्खाइम भी दर्शनशास्त्र या जीव विज्ञान से परे समाजशास्त्र की विषयवस्तु को परिभाषित करने के इच्छुक थे। उनके अनुसार, समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों का तुलनात्मक और वस्तुपरक अध्ययन है। जो चिंतन, अभिनय और अनुभव का मार्ग है और जिसके पास "वैयक्तिकत चेतना" के बाहर "विचारणीय गुण" विद्यमान हैं। सामाजिक तथ्य व्यक्ति विशेष में उत्पन्न नहीं होते अपितु ये "सामूहिक विचार" में सामूहिक मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं (मैं सामूहिक हूँ)। क्योंकि वे

व्यष्टि के बाहर रहते हैं, उनका अध्ययन वैसे ही किया जा सकता है जैसा कि भौतिक वस्तुओं का किया जाता है। सामाजिक तथ्य कॉमे डेस चोसेज हैं, अर्थात वे वस्तुएं हैं जिनका व्यक्ति से परे यथार्थ में अनुभव किया जा सकता है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि वे इतनी मूर्त हैं जितनी कि "भौतिक वस्तुएं"। इसके स्थान पर, इनके अध्ययन के लिए उसी मनोवृत्ति का प्रयोग किया जा सकता है जिसका प्रयोग जैविक वस्तुओं के प्राकृतिक अध्ययन के लिए किया जाता है जो प्राकृतिक एवं जीवन संबंधित विज्ञानों की विषयवस्तु के घटक हैं। काम्टे की ही भांति, दुर्खाइम का भी मानना है कि प्राकृतिक एवं जैव विज्ञान की विधियों को सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। किंतु ये विधियाँ उस तरह से प्रयुक्त नहीं की जाती हैं जैसे कि वे हैं। अपितु उनका सामाजिक तथ्यों के विज्ञान में उपयुक्त उपयोग विचार पूर्वक होना चाहिए तथा उनका आलोचनात्मक अन्वेषण किया जाना चाहिए। दुर्खाइम की पुस्तक "द रूल्स आफ द सोशियोलॉजी मैथेड" (1895) मूलतः इन्हीं समस्याओं से संबंधित थी।

**बॉक्स 6.1 : समाजशास्त्रीय व्याख्याएँ**

सामाजिक तथ्यों के अध्ययन से दुर्खाइम के अनुसार समाजशास्त्रियों ने "समाजशास्त्रीय व्याख्या" को प्रस्तुत किया। प्रत्येक समाजशास्त्रीय व्याख्या के दो भाग हैं - दुर्खाइम (दुर्खाइम 1895 : 123) के शब्दों में, ..... सामाजिक तथ्यों की व्याख्या करने के लिए सर्वाधिक सफल कारण जो इसे उत्पन्न करता है, और वह कार्यप्रणाली जो इसे परिपूर्ण करती है, इन दोनों का पृथक-पृथक अन्वेषण किया जाना चाहिए। समाजशस्त्रीय व्याख्या का प्रथम घटक "कारणात्मक-ऐतिहासिक व्याख्या" है। उस कारण (कारणों) का वर्णन करना है जो ऐतिहासिक स्त्रोतों का परीक्षण करके एक घटना का वर्णन करता है। न कि उसमें मिलना है जिसे रेडक्लिफ ब्राउन ने "ऊहात्मक इतिहास" कहा है दूसरा घटक "प्रकार्यमूल" है, अर्थात वह योगदान है जो समाज का एक भाग समाज के आम सामंजस्य ..... की स्थापना में करता हैं। (दुर्खाइम 1895 : 125)।

दुर्खाइम की प्रकार्य की परिभाषा ने बाद के प्रकार्यवादियों की रचनाओं को सामाजिक मानवविज्ञान व समाजशास्त्र दोनों में ही बुरी तरह से प्रभावित किया। उनके विचार से प्रकार्य एक प्रकार का योगदान है जो एक भाग समग्र के "अनुरक्षण और कल्याण" के लिये करता है। इस प्रकार प्रकार्य एवं सकारात्मक योगदान है। यह समाज (संपूर्ण समाज) के लिए स्वाभाविकतः अच्छा है, क्योंकि यह समाज की निरंतरता व स्वस्थ अनुरक्षण को सुनिश्चित करती है। इसके योगदान द्वारा इसका प्रत्येक भाग समाज की हर एक आवश्यकता या आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। एक बार आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो समाज टिके रहने और सहन करने के योग्य बन जाता है दुर्खाइम ने सामाजिक प्रकार्य के इस ढांचे को अपने समस्त परीक्षणों में अपनाया है।

उदाहरणार्थ, आचार्य की उपाधि के लिये किये कार्य में, जो श्रम विभाजन से संबंधित था, दुर्खाइम (1893) ने डारविन के इस सिद्धांत को रद्द कर दिया कि जब एक बार मानव आबादी के आकार में वृद्धि होती है तो जीवित रहने के लिए संघर्ष होने लगता है और जो बलवान होते हैं, वे जीवित रह जाते हैं, जबकि दूसरे मिट जाते हैं। इस प्रतियोगिता, संषर्ष और विलोपन के सिद्धांत से योगदान लेने के स्थान पर दुर्खाइम ने यह तर्क दिया कि मानवीय जनसंख्या में वृद्धि होती है, तो समाज श्रम विभाजन के कारण विशिष्टता प्राप्त कार्य-व्यवसायों की ओर मुड़कर और भी अधिक विशिष्टीकृत हो जाता है। जीवित रहने के लिए दूसरे मनुष्यों से प्रतिस्पर्द्धा करने की बजाय मनुष्य एक दूसरे पर निर्भर रहता है क्योंकि हर एक अपने क्षेत्र में दक्ष होता है। यह दक्षता मनुष्य को समाज के लिए महत्वपूर्ण बना देता है।

दुर्खाइम ने श्रम विभाजन की उस व्याख्या को भी रद्द कर दिया है जिसे अर्थशास्त्रियों व मनोवैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किया था जैसे श्रम विभाजन द्वारा आर्थिक कुशलता व उत्पादकता में वृद्धि होती है अथवा यह प्रसन्नता लाती है या इसके विपरीत, इससे व्यक्ति को अपने कार्यों में नीरसता मिलती है। दुर्खाइम उपयोगितावादी (अर्थात आर्थिक) और व्यक्तिवादी (अर्थात मनोविज्ञान संबंधी)

व्याख्याओं के आलोचक हैं क्योंकि उनके अनुसार इनमें से कोई भी वास्तविक रूप से श्रम विभाजन के वास्तविक प्रकार्य की व्याख्या नहीं कर सकता वह योगदान जो यह समाज के प्रति करता है दुर्खाइम के अनुसार श्रम विभाजन का प्रकार्य समाजशास्त्रीय है, यह सामाजिक एकात्मकता में योगदान करता है। आधुनिक औद्योगिक समाज एकीकृत है क्योंकि यह कार्यों के विशिष्टीकरण से उत्पन्न अन्योन्याश्रितता का परिणाम है। आस्ट्रेलिया के टोटेमवाद अपने अध्ययन में दुर्खाइम बताते हैं कि धर्म का कार्य समाज में एकात्मकता लाना है, लोगों को एक सदाचार समुदाय में बांधना है, जिसे चर्च कहते हैं, (दुर्खाइम 1915)।

दुर्खाइम विशेष रूप से यह दिखलाने के इच्छुक हैं कि सामाजिक तथ्यों का प्रकार्य नैतिकता है। सामाजिक संस्थाएं एकीकरण के लक्ष्य के निर्माण का कार्य करती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दुर्खाइम तथ्य को समझने में सफल रहे हैं कि समाज के लिए अधिसंख्या "अस्वास्थ्यकर" है। उदाहरणार्थ, उन्होंने अपराध को समस्त समाजों के लिए सामान्य और स्वस्थ लक्षण माना है क्योंकि यह नैतिकता एवं विधि के विकास की ओर सामूहिक मनोभावों और कार्यों को सुदृढ़ करता है। वे यह तर्क देते हैं कि अपराध संव्यवहार का अस्तित्व समाज की नम्यता की तालिका बनाता है। अपराध की सामान्य दर इस बात की ओर संकेत करती है कि समाज में व्यक्ति के समस्त विभेदों के दमन के संपूर्ण प्राधिकार की कमी है। अपराध सामाजिक दशाओं की उस सत्ता को दर्शाता है जो व्यष्टि को स्वयं "व्यक्ति" के रूप में व्यक्त करने योग्य बनाती हैं। फिर भी, यदि अपराध सामान्य सीमा से ऊपर बढ़ जाता है तब यह "अस्वास्थ्यकर" (या "रोगात्मक") और समाज के सामान्य क्रियाकलापों के लिए जोखिम भरा बन जाता है। जैसा कि स्पष्ट है कि दुर्खाइम सामाजिक तथ्यों के "सामान्य" और "रोगात्मक" स्वरूप के मध्य भेद करते हैं। समाज में जो स्वाभाविक है वह सामान्य है और जो नहीं है वह "रोगात्मक" है। जहां पहले वाला समाज की अखंडता के क्रियाकलाप को प्रदर्शित करता है वहीं बाद वाला एकीकरण की प्रक्रिया को विफल कर देता है। अस्तु, ठोस सामूहिक प्रयास द्वारा इसे नियंत्रित करना आवश्यक है। दुर्खाइम भी सामाजिक सुधार की दिशा में किए जाने वाले प्रयत्नों के पक्ष में हैं, किंतु उन्हें तथ्यों के प्रबल समाजशास्त्रीय अध्ययन का पालन करना चाहिए।

## 6.3 प्रकार्यवाद के आधारवाक्य

दुर्खाइम उस अर्थ में प्रकार्यवादी नहीं है जिस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका ब्रिटेन के सामाजिक मानवशास्त्रियों ए.आर. रेडक्लिफ-ब्राउन (1881-1955) एवं ब्रॉनिसलॉ मालिनोवस्की (1884-1942) ने समर्थन किया। दुर्खाइम प्रकार्यवाद शब्द का प्रयोग नहीं करता यद्यपि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, उन्होंने सामाजिक गतिविधियों की अवधारणा को परिभाषित किया है, तथा उनकी समाजशास्त्र संबंधी व्याख्या का दूसरा भाग "प्रकार्यमूलक" व्याख्या से संबंधित है। दुर्खाइम के कार्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके कार्य में समाज के अध्ययन संबंधी ऐतिहासिक (उत्पत्ति संबंधी, विकासवादी और इतिहास संबंधी) एवं समकालिक (समाज "यहाँ और अब") अध्ययन का सुदंर सहअस्तित्व है। किंतु यह स्पष्ट है कि उनके लेखों में समसामयिक समाज के अध्ययन ने एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए, उन्होंने धर्म संबंधी अपने प्रख्यात अध्ययन में आस्ट्रेलिया के टोटेमवाद के विचारों का धार्मिक जीवन के रूप में प्रमुखता से अध्ययन किया है। किंतु उन्होंने इसका उस रूप में चिंतन नहीं किया जिस रूप में सिद्धांतों के वर्णन हेतु इनसे पूर्व में किया गया। इसके विपरीत वे टोटेवाद की संरचना और कृत्यों पैर अधिक ध्यान देते हैं तथा बताते हैं कि मिश्रित समाज में धर्म के स्थान को समझने में इसका अध्ययन किस प्रकार से हमारी सहायता कर सकता है। समकालीन (या "वर्तमान") समाज के अध्ययन पर बल ने पश्चादवर्ती विद्वानों पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला।

बीसवीं सदी के आरंभ ने पुरातन विकास संबंधी उपागम को तथा साथ ही इसके क्रमिक पतन को देखा। इसने प्रकार्यवाद का उत्थान भी देखा। एडम कूपर (1976) के अनुसार 1922 का वर्ष प्रकार्यवाद का "आश्चर्य का वर्ष" था, क्योंकि इस वर्ष मे दो विनिबन्ध प्रकाशित हुए, जिन्होंने प्रकार्यवादी उपागम को सिद्ध किया। इनमें एक रेडक्लिफ ब्राउन का "द एंडमान आइसलैण्डर्स" तथा दूसरा मेलीनोवस्की कृत "आर्गोनौट्स आफ दि वेस्टर्न पैसिफिक" था। मानवशास्त्रीय प्रकार्यवाद का

प्रभाव ज्ञान की दूसरी शाखाओं पर देखा गया, विशेषतः समाजशास्त्र पर। यद्यपि किंग्सले डेविस (1959) जैसे विद्वान भी थे जिन्होंने प्रकार्यवाद के मार्ग में कुछ भी नया नहीं मिला क्योंकि उनका विचार था कि समाजशास्त्री हमेशा वही करते आए हैं जिसे प्रकार्यवादी उनसे करवाना चाहते थे। वहीं ऐसे भी विद्वान थे (जैसे, टेलकॉट पार्सन्स) जो स्पष्टतः प्रकार्यवादी मानवशास्त्रियों की रचनाओं से प्रभावित थे। इन विद्वानों की रचनाओं के परिणामस्वरूप प्रकार्यवाद एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपागम के रूप में सामने उभरकर आया जो 1960 के दशक के अंत तक और 1970 के दशक के आरंभ में प्रभावित करते रहे।

लगभग 150 वर्षों के अपने इतिहास में पहले काम्टे के प्रत्यक्षवाद में फिर दुर्खाइम के समाजवादी प्रत्यक्षवाद में और उसके बाद बीसवीं सदी के प्रकार्यवादियों की कृतियों में प्रकार्यवाद में अनेक रूप भेदों विभेद और तथ्य समाविष्ट होते नजर आते हैं। विभिन्न प्रकार्यवादियों में भिन्नताएं मिलती हैं। वास्तव में, उनमें से कुछ रेडक्लिफ-ब्राउन और मेलीनोवस्की की भांति पुरालेखक होते हैं। उनमें भिन्नता होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि सभी प्रकार्यवादियों में निम्नलिखित पाँच आयाम विद्यमान हैं।

1. समाज (या संस्कृति) दूसरी किसी भी व्यवस्था जैसे,- मशीन संबंधी व्यवस्था, अणु संबंधी व्यवस्था, रासायनिक व्यवस्था, या जैविक व्यवस्था के समान ही एक व्यवस्था है।
2. व्यवस्था के रूप में समाज (या संस्कृति) के अनेक भाग हैं (जैसे, संस्थान समूह, बंडल, संघ, संगठन) जो आपस में एक दूसरे से जुड़े हैं, आपस में एक दूसरे से संबंधित हैं और जो अन्योन्यात्रित हैं।
3. प्रत्येक भाग अपना कार्य स्वयं करता है - यह समाज (या संस्कृति) के लिए अपना स्वयं का योगदान प्रदान करता है और यह अन्य भागों से संबंध स्थापित करने का कार्य भी करता है।
4. एक भाग में परिवर्तन होने के कारण दूसरे भाग में परिवर्तन हो जाता है या कम से कम यह दूसरे भागों के कार्यकलाप को प्रभावित तो कर ही देता है, क्योंकि सभी भाग आपस में गहराई से एक-दूसरे से संबंधित हैं।
5. संपूर्ण समाज (या संस्कृति) जिसके लिए हम "समस्त" शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, भागों के संकलन की अपेक्षा बड़ा है। इसे किसी भाग में छोटा नहीं किया जा सकता, या कोई भी एक भाग समस्त की व्याख्या नहीं कर सकता। एक समाज (या संस्कृति) की अपनी खुद की पहचान होती है, इसकी अपनी चेतना होती है, अथवा जैसा दुर्खाइम ने कहा, सामूहिक चेतना होती है।

## 6.4 सामाजिक मानवविज्ञान में प्रकार्यवादः रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलीनोवस्की

समाज के विश्लेषण के लिए सामाजिक मानव विज्ञान में प्रथम उपागम विकासवादी था, जो पहले मौजूद था। तथापि यह चार्ल्स डरविन की पुस्तक आन द ओरिजिन आफ स्पीशीज (1859) के प्रकाशन के बाद काम्टे और स्पेंसर की कृतियों में पूरी तरह से स्थापित हुआ। उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्द्ध दशक में लगभग सभी मानवशास्त्री दो बातो पर केंद्रित थे। प्रथम, यह कि प्रथम स्थान पर संस्थान (या सांस्कृतिक प्रथा, विशेषक) किस प्रकार स्थापित हुआ? इसका उद्‌गम क्या था? और दूसरा यह कि वे कौन सी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जिनसे होते हुए यह अपनी समकालीन अवस्था तक पहुँचा। दोनों प्रश्न महत्वपूर्ण एवं संगत हैं। किंतु प्रमाणिक आंकड़ों के अभाव में प्रारंभिक (या शास्त्रीय) विकावादी अटकलबाजी व अनुमानों में असंगत रूप से उन कारणों (या कारकों) का अनुमान लगाते हुए उनमें संलिप्त रहे जिसने संस्थानों व उनके विकास की अवस्थओं का विकास किया। अधिसंख्य विकावादी - कुछ को छोड़कर - जैसे लेवस एच. मोरगन और एडवार्ड बी टेलर - ने ऐसे किसी आंकड़े को जमा नहीं किया जिसके ऊपर वे अपनी सामान्यीरण को आधारित रह सकें। उन्होंने लगभग उस सूचना के ऊपर विश्वास किया जिसे यानी मिशन के लोग,

उपनिवशीय अधिकारी तथा सैनिकों ने प्रदान किया जो गैर पाश्चात्य समाज के संपर्क में थे, इस बात को अच्छी तरह जानते हुए कि इन आंकड़ों में से अधिकांश आंकड़े पक्षपातपूर्ण, बढ़ा-चढ़ाकर पेश किए गए, अपूर्ण, तथा अशुद्ध भी हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया था, उन्होंने "आर्म-चेयर एंथ्रोपोलोजिस्ट्स" की कुख्यात पदवी हासिल की।

ब्रिटिश प्रकार्यवादी पहुँच के दोनों ही संस्थापक (रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलीनोवस्की) उन्नीसवीं सदी के विकासवाद के प्रबल छिद्रान्वेषी थे। रेडक्लिफ-ब्राउन (1952)ने कहा कि यह "आनुभविक इतिहास" पर आधारित था। जिसके लिए पहले यह शब्द प्रयुक्त होता था तथा यह "प्रामाणिक इतिहास" नहीं है। यह "छद्म ऐतिहासिक" था। इस प्रकार से एक वैज्ञानिक मूल्य रहित था। मेलीनोवस्की (1944) के अनुसार शास्त्रीय विकासवाद "अनुमान संबंधी पुनर्निर्माण का कूड़ाघर" था। इन विद्वानों के कार्यों के परिणामस्वरूप निम्नलिखित की जानकारी मिली।

1) क्षेत्र कार्य आधारित अध्ययन का आर्मचेयर मानव विज्ञान

2) समाज और उसकी सामाजिक संस्थाओं (ऐतिहासिक अध्ययनों) "यहाँ और अब" (समकालिक अध्ययनों) के विकास की अवस्थाओं की उत्पत्ति का अध्ययन करना।

3) समस्त समाज व संस्कृति (वृहद् पहुँच) का विशेष समाज, खासकर लघु स्तर वाले समाज (सूक्ष्म उपागम) का अध्ययन करना, तथा

4) समाज में इच्छित परिवर्तन लाकर समाज के ज्ञान को "यहाँ और अब" व्यवहारिक उपयोग में रखकर समाज को एक सैद्धांतिक स्तर सीमित रखकर उसकी व्याख्या करना। सिवाय "समाज की विचित्रता का अकादमिक अध्ययन" के रूप में न बने रह कर भिन्न एवं अनोखे रीतिरिवाजों और क्रियाकलापों जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है उसका उपयोग हमें लोगों की दशा को सुधारने पर करना चाहिए तथा स्थानीय लोगों के बाहरी दुनिया के साथ संबंधों के सुधार में करना चाहिए। संयोग से मेलीनोवस्की ने इसे मानव विज्ञान के "व्यावहारिक मानव विज्ञान की संज्ञा दी।

बाद के विचारकों जिन्हें "प्रकार्यवादी" नाम दिया गया, उन्होंने "समाज क्या था" के अध्ययन के केंद्र बिंदु से अपना ध्यान हटाकर "समाज क्या है" के अध्ययन की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया और यह अध्ययन काल्पनिक विधि द्वारा नहीं अपितु लोगों के साथ रहकर उनकी प्राकृतिक आदतों से ग्रहण किया गया।

यह विकास एवं विस्तार की उस प्रक्रिया के विपरीत नहीं था जिसे प्रकार्यवादियों ने अपनी आलोचना के स्तर पर लिया। वे जानते थे कि वे परिवर्तन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाऐं हैं। वास्तव में, रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलीनोवस्की दोनों ही विद्वानों का विचार था कि अपने महत्वपूर्ण क्षेत्र कार्य पर आधारित अध्ययन के द्वारा वे विकास एवं विस्तार की प्रक्रिया के अध्ययन में वृद्धि करेंगे। जिस बात के वे विरोधी थे वह थी तथ्यों पर आधारित अध्ययन की अपेक्षा "काल्पनिक इतिहास" द्वारा विगत का अध्ययन करना। यदि समाजशास्त्र से संबंधित प्रमाणिक ग्रंथ उपलब्ध थे तो परिवर्तन में पूरी जानकारी के लिए उनका अवश्य ही प्रयोग किया जाना चाहिए। किंतु प्रकार्यवादी जानते थे कि "पुरातन एवं पूर्व-शिक्षित" समाज के बारे में ये प्रलेख उपलब्ध नहीं थे। इसलिए इनके मध्य सामाजिक संस्थानों के विकास की जानकारी हमें नहीं मिलेगी। वे किस प्रकार विकसित हुए इस बारे में कल्पना करने के बजाय हमें परीक्षण, तुलना के वैज्ञानिक तरीके के इस्तेमाल से तथा सामान्यीकरण द्वारा हमें इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि वे क्या हैं।

### क) रेडक्लिफ ब्राउन का संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम

संस्थानों के उदगम एवं भूतकाल की छानबीन करने के बजाय तथा इस बात को छोड़ते हुए जिसमें सांस्कृतिक विशेषक विश्व के एक भाग से दूसरे भाग तक फैले, रेडक्लिफ-ब्राउन (1952 : 180) ने प्रत्येक समाज का "क्रियात्मक अंतःसंबंधित विधि" के रूप में परिभाषित किया है, जिसमें साधारण नियम एवं प्रकार्य कार्य करती हैं। वे स्वीकारते हैं कि दुर्खाइम ने प्रकार्य की अवधारणा का प्रथम क्रमबद्ध सूत्र प्रस्तुत किया तथा उनकी अवधारणा सामाजिक जीवन और जैव जीवन के

मध्यम एक सादृश्य है। फिर भी, शब्द "आवश्यकता" जिसे दुर्खाइम ने दशाओं के लिए प्रयुक्त किया है, के संदर्भ में जिनका संतुष्ट होना व्यवस्था के बने रहने के लिये आवश्यक है। रेडक्लिफ ब्राउन का विचार है कि यह शब्द हमें सीधे "वैश्विक मानव या सामाजिक आवश्यकता" की पूर्वधारणा की ओर ले जाएगा। इसके परिणामस्वरूप वह सिद्धांत जिसके अनुसार घटनाएं एवं विकास एक विशेष उद्देश्य एवं घटना को पूरा करने के लिए बने हैं, इसकी वजह से वे हमें रोकेगी। सौदेश्यवाद सिद्धांत की जानकारी के बारे में रेडक्लिफ-ब्राउन को संदेह है कि प्रकार्यवादी सोद्देश्यमूलक बन सकते हैं। इसलिए उन्होंने शब्द "आवश्यकता" के स्थान पर "अस्तित्व की अनिवार्य दशाओं" शब्द का प्रयोग किया। वे विश्वास करते हैं कि जीवित रहने के लिए अनिवार्य दशाओं का प्रश्न आनुभविक है और समाज का अध्ययन हमें इसके बारे में बताएगा। रेडक्लिफ-ब्राउन विभिन्न प्रणालियों के जीवित रहने के लिए "दशाओं की अनेकता" की अनिवार्यता को मान्यता प्रदान करते हैं। एक बार हमने इसको मान्यता प्रदान कर दी तो हम निश्चित रूप में यह कहने से अपने को बचाएं कि संस्कृति की प्रत्येक मद में प्रकार्य अवश्य हो और उस मद का विभिन्न संस्कृतियों में वही एक जैसा प्रकार्य होगा (टर्नर, 1987 : 48)।

रेडक्लिफ-ब्राउन शब्द "प्रकार्यवाद" के उस प्रयोग को पसंद नहीं करते हैं, जिसे मेलीनोवस्की ने बड़े उत्साह से प्रचारित किया था। उनका विरोध इस बात से है कि "वाद" (जैसे प्रकार्यवाद) विचार धारा विचारों का स्कूल, दर्शन तथा विचारों के परिमंडल हैं। विज्ञान इनमें कहीं नहीं है। जो कुछ इसके पास है, वह है अध्ययन का तरीका, उन रीतियों का चुनना जो अध्ययन के हिसाब से सर्वोच्च हों। एक वैज्ञानिक के किसी तरीके के साथ कोई "उत्कठ संबंध नहीं" होते। उनके लिये, वे सभी समानरूप से महत्वपूर्ण एवं गुण-संपन्न होते हैं। किंतु उनका संचालन मूल्य वैज्ञानिक शोध के तोपों के अनुसार तथ्यों के संतुष्टिपूर्ण अध्ययन करने में निहित है।

इसके अतिरिक्त रेडक्लिफ ब्राउन एक अवयव संस्थान और समाज के मध्य उपस्थित भेद को देखते हैं। उदाहरण के लिए एक जीव का अंत हो जाता है, किंतु एक समाज लम्बे समय तक जीवित रहता है। यद्यपि इसमें भी परिवर्तन होते है और इसकी आकृति बदल जाती है। एक जैविक संरचना का अध्ययन उसके अंगों के कार्य करना बंद करने के बाद भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में किसी जीव की संरचना उसके कार्य से पृथक भी की जा सकती है जो समाज के मामले में नहीं होता। सामाजिक संरचना तभी दृष्टिगोचर होती है जब यह कार्य करती है। सामाजिक संरचना तभी तक अध्ययन के योग्य है जब तक वह कार्य करती रहे। संरचना और कार्य सामाजिक मानव विज्ञान में अहरणीय अवधारणा है, इसीलिए रेडक्लिफ-ब्राउन अपने उपागम को प्रकार्यवाद के स्थान पर संरचनात्मक प्रकार्यवाद कहते हैं, जैसा कि अन्य अनेक विद्वानों ने किया। वे लिखते हैं (1952 : 180) -

प्रकार्य की अवधारणा ..... इसके अंतर्गत संरचना की वह धारण सम्मिलित है जो इकाइयों के अस्तित्व के मध्य संबंधों से बनती है, संरचना की निरंतरता उस जीवन-प्रक्रिया द्वारा कायम की जाती है जो घटक इकाइयों की गतिविधियों से बनी होती है।

रेडक्लिफ-ब्राउन का संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम निम्नलिखित मान्यताओं से बना है:

1) एक समाज के जीवित रहने के लिए अनिवार्य शर्त है उसके भागों (हिस्सों) का न्यूनतम एकीकरण।

2) प्रकार्य की अवधारणा उन प्रक्रियाओं की ओर संकेत करती है जो अनिवार्य एकीकरण या एकता को बनाए रखते हैं।

3) तथा, प्रत्येक समाज में संरचनात्मक आकृति को अनिवार्य एकता के अनुरक्षण के योगदान से दिखलाया जा सकता है।

दुर्खाइम के लिए केंद्रीय संकल्पना संरचना एकात्मकता वाला है, जबकि रेडक्लिफ-ब्राउन इसे समाज की "संरचनात्मक निरंतरता" कहते हैं। उदाहरण के लिए, वंश परंपरा वाली प्रणाली के विश्लेषण में, रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार पहले यह मान लेना चाहिए कि एकात्मकता के कुछ अल्प अंशों को उसे निरंतर बने रहने के लिए अवश्य विद्यमान रहना चाहिए। उसके बाद हमें वंश

की परंपरा की प्रणाली से सम्बद्ध प्रक्रिया का निरीक्षण अवश्य करना चाहिए ताकि सामाजिक एकता के लिए उनके परिणामों का मूल्य निर्धारित हो सके। इस प्रक्रिया में एक प्रक्रिया जिससे शोधकर्ता को गुजरना होता है, वह है उस समाज में जहाँ वे भू-मालिक समुदाय के रूप में हैं, उत्पन्न संघर्ष को निपटाने में वंश परंपरा प्रणाली की भूमिका से। वे यह परिभाषित करते हैं कि भूमि का अधिकार किसे है और यह परिवार की किस दिशा से होकर गुजरेगा। इन समाजों में बंशावली एक समष्टि समूह है। ऐसी संस्थाओं के अवरोहण द्वारा आर्थिक प्रणाली की एकता का वर्णन किया जा सकता है। फिर, हम समाज की दूसरी प्रणालियों की ओर बढ़ते हैं जिनमें प्रत्येक स्तर पर योगदान के विश्लेषण द्वारा एक भाग समस्त की संरचनात्मक अनवरतता को बनाएगा।

**अभ्यास 6.1**

रेडक्लिफ ब्राउन की संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागमों की मान्यताएँ क्या हैं?

रेडक्लिफ-ब्राउन अपने दावों में सैद्धांतिक बनने से बहुत दूर रहे। उनके अनुसार, सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक इकाई (एकीकरण) एक अनुमान मात्र है, जिसे हम समाज की संरचनात्मक निरंतरता एवं एकता के लिए देखते हैं, उसका यह अर्थ नहीं है कि यह परिवर्तित नहीं होता। रेडक्लिफ ब्राउन का विश्वास है कि "सामाजिक स्वास्थ्य" (यूनोमिया) और "सामाजिक बीमारी" (डाइस्नोमिया) की अवस्थाएँ निरंतरता के दो छोर हैं और वास्तविक समाज इनके मध्य कहीं रहता है।

### ख) मेलिनोवस्की का प्रकार्यवाद

रेडक्लिफ-ब्राउन से तुलना करने पर, यह मेलिनोवस्की है जो पृथक "स्कूल" , "प्रकार्यात्मक स्कूल " के निर्माण का दावा करते हैं। प्रकार्यात्मक विश्लेषण का उद्देश्य उनके लिए (1926 : 132) विकास के समस्त स्तरों पर उनके प्रकार्य के द्वारा उस संस्कृति की समग्र प्रणाली के अंतर्गत जिस भूमिका को वे निभाते हैं, के द्वारा मानववैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या तक पहुँचना है।

उनका (1926 : 132-3) मानना है कि प्रत्येक सभ्यता में प्रत्येक रिवाज, भौतिक विषय या विचार और विश्वास की कुछ आवश्यक प्रकार्यों को पूरा करते हैं उनके पास निष्पादित करने के लिए कुछ कार्य होता है, वे एक संपूर्ण कार्यकरण के अंतर्गत अनिवार्य तथ्य प्रस्तुत करते हैं।

जहाँ रेडक्लिफ-ब्राउन समाज और इसकी सत्ता की आवश्यक अवस्थाओं (यथा एकीकरण) से आरंभ करते हैं, मेलिनोवस्की का आरंभिक बिंदु "व्यक्ति" है जिसके पास मूल (या जीव विज्ञान संबंधी) आवश्यकताओं का ऐसा समूह है जिसकी संतुष्टि व्यक्ति विशेष के जीवित रहने के लिए आवश्यक है। मेलिनोवस्की व्यक्ति को जो महत्व देते हैं उसी के कारण मनोवैज्ञानिक प्रकार्यवाद शब्द उनके लिये सुरक्षित रखा गया है। जबकि रैडक्लिफ ब्राउन के उपागम को समाज शास्त्रीय प्रकार्यवाद कहा गया क्योंकि इसकी केन्द्रीय अवधारणा समाज है। मैलिनवोस्की का उपागम जैविकी, सामाजिक संरचनात्मक और प्रतीकात्मक तीनों स्तरों में भेद करता है। (टर्नर 1987-50-1) इनमें से प्रत्येक स्तर की कुछ जरूरतें है जिनका संतुष्ट होना मनुष्य के जीवित रहने के लिये जरूरी है। उसके जीवित रहने में अधिसंख्य सत्ता (यथा, समूह, समुदाय, संस्थाएं) की उत्तरजीवितता निर्भर करती है। मेलिनोवस्की ने प्रस्तावित किया कि ये तीन स्तर श्रेणीबद्ध समाज का निर्माण करते हैं। इसकी संतह पर जैविकी व्यवस्था उसके बाद दूसरा सामाजिक-संरचना और अंत में प्रतीकात्मक प्रणाली होती है। जिस रूप में आवश्यकताएं एक स्तर पर पूर्ण होती हैं, इस रूप में वे परवर्ती स्तर पर पूर्ण होने के तरीके को भी प्रभावित करती है।

अत्यधिक प्रमुख आवश्यकताएं जीव विज्ञान संबंधी है। किंतु यह किसी प्रकार के ह्रासवाद में समाविष्ट नहीं होता है क्योंकि प्रत्येक स्तर अपनी एक विशेष गुणधर्म और आवश्यकता को बनाता है और विभिन्न स्तरों के अंतर्संबंधों से वह संस्कृति विकसित होती है जो समस्त को जोड़ती है। संस्कृति मेलोनोवस्की के उपागम का सार-तत्व है। यह "अद्वितीय मानवीय" है, जो अन्य उप-मानव में विद्यमान नहीं होता। सभी बातों की तुलना करने पर चाहे भौतिक हों या अभौतिक - जिसका मानव ने कालांतर से निर्माण किया है, को-अपने वानरी पूर्वजों से पृथक करते हैं, संस्कृति एक

ऐसा उपकरण बन गई है जो मानव की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यह आवश्यकताओं की सेवा करने वाली तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली प्रणाली है। संस्कृति की इस भूमिका, जो जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, के कारण मेलिनोवस्की का प्रकार्यवाद "जैव-सांस्कृतिक प्रकार्यात्मकवाद" के रूप में भी जाना जाता है।

यहाँ रेडक्लिफ-ब्राउन और मेलिनोवस्की के मध्य एक और अंतर है। एक अवधारणा जो मेलिनोवस्की के लिए मौलिक अवधारणा है - संस्कृति की अवधारणा - वही रेडक्लिफ-ब्राउन के लिए मात्र उप तत्व (द्वितीय एवं प्रासंगिक) है। उनका विश्वास है कि सामाजिक संरचना का अध्ययन (जो उनके अनुसार एक द्रष्टव्य सत्ता है) संस्कृति के अध्ययन को सम्मिलित करता है, अतः संस्कृति के अध्ययन के लिए एक अलग कार्य क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। पुनः जबकि सामाजिक संरचना प्रेक्षण से संबंधित है जिसके बारे में मानव विज्ञानी आम आदमी के बारे में देखते और सुनते हैं, संस्कृति लोगों के मस्तिष्क में है और यह प्रेक्षण में उस तरह संशोधन योग्य नहीं है जैसा कि सामाजिक संरचना है। रेडक्लिफ ब्राउन मानव विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते हैं, जो तभी संभव होगा, जब आनुभाविक शोध योग्य विषयवस्तु हो।

**अभ्यास 6.2**

रेडक्लिफ ब्राउन और मेलिनोवस्की के सैद्धांतिक उपागमों में प्रमुख अंतर क्या हैं?

मेलिनोवस्की के उपागम का आधार "अनिवार्य श्रेणी" का सिद्धांत है, जिसका जैविक आधार है और जो समस्त समाज में समाविष्ट है। ये श्रेणियाँ ग्यारह के अंक में हैं, जिनमें से हर एक आवेग से बना है, जो एक सम्बद्ध शरीरविज्ञान संबंधी कार्य और एक संतुष्टि है जो उस कार्य का परिणाम है (देखिए तालिका 6.1)।

**तालिका 6.1**

| आवेग | कार्य | संतुष्टि |
|---|---|---|
| 1. सांस लेना, हाँफना | ऑक्सीजन को अंदर लेना | ऊतक स्टेशन में $CO_2$ को छोड़ना |
| 2. भूख | भोजन खिलाना | शमन करना |
| 3. प्यास | तरल पदार्थ लेना | ड्यूट्यूमसेंस |
| 4. यौन इच्छा | समागम | मांसल एवं नाड़ीय शक्ति का पुनःस्थापन |
| 5. थकान | आराम | थकान की संतुष्टि |
| 6. बेचैनी | गतिशीलता | संचित शक्ति के साथ जागना |
| 7. निद्रालुता | नींद में सोना | तनाव को दूर करना उदरीय आराम |
| 8. ब्लेडर प्रेशर | मूत्रण | शिथिलता |
| 9. कोलन प्रेशर | मल त्याग | सामान्य अवस्था में लौटना |
| 10. घबराहट | खतरे से बचना | |
| 11. दर्द | प्रभावोत्सपादक काय से दूर रहना | |

MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

**समस्त संस्कृति में समाहित स्थाई प्रमुख (अनिवार्य) श्रेणियां**

उदाहरण के लिए, निद्रालुता का आवेग सोने की क्रिया का साथ देता है। परिणामस्वरूप "संचित शक्ति के साथ उठने" की संतुष्टि (मेलिनोवस्की 1944 : 77; बरनार्ड 2000 : 68)। मेलिनोवस्की

ने इस ग्यारह तह वाली तालिका का सात जैविक आवश्यकताओं के साथ उनके संबंधित सांस्कृतिक उत्तर सहित अनुसरण किया है (देखें तालिका 6.2)।

**तालिका 6.2**

| | बुनियादी आवश्यकताएँ | सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएँ |
|---|---|---|
| 1. | उपापचय | कमिसरियत |
| 2. | पुनर्जनन | सगोत्रता |
| 3. | शारीरिक आराम | शरण लेना |
| 4. | सुरक्षा | बचाव |
| 5. | संचलन | गतिविधियाँ |
| 6. | वृद्धि | प्रशिक्षण |
| 7. | स्वास्थ्य | स्वच्छता |

उदाहरण के लिए, पहली आवश्यकता है भोजन तथा भोजन की प्राप्ति की प्रक्रिया में सांस्कृतिक यांत्रिकी केंद्र में है। जिसके लिए मेलिनोवस्की ने "कमीसारियत" शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ उस रक्षदल से है जो भोजन सामग्री का परिवहन करता है। इसी प्रकार, दूसरी अवश्यकता पुनर्जनन या पुनरुत्पादन है (समाज की जैविक निरंतरता) तथा जिसके लिए सांस्कृतिक उत्तर सगोत्रता है। जिसका संबंध यौन एवं विवाह को नियंत्रित करने से है। इस विचार से मेलिनोवस्की चार तह वाली श्रेणी की ओर जाते हैं, जिसे वे "उपकरण संबंधी अनिवार्यता" के सांस्कृतिक उत्तर से मिलाते हैं। चार तह प्रणाली अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक नियंत्रण, शिक्षा तथा राजनीतिक संगठन के हैं। यहाँ वे प्रतीकात्मक प्रणाली की ओर बढ़ते हो, जो धर्म, जादू, विश्वास और मूल्यों के हैं जो संस्कृति में इसकी भूमिका की परख करते हैं।

## 6.5 टॉलकट पार्सन्स (1902-1979) एवं रॉबर्ट के. मर्टन (1910 - 2003) का प्रकार्यवाद

MADHYAM IAS

सन् 1975 में अपने एक महत्वपूर्ण लेख में पार्सन्स ने अपने शिष्य रॉबर्ट मर्टन तथा स्वयं "मुख्य-प्रकार्यवादी" के नाम से नवाजा। उन्होंने यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया कि उन्होंने "संरचनात्मक प्रकार्यवाद" शब्द को क्यों छोड़ा जिसे एक समय वे अपने उपागम के लिए प्रयोग करते थे। उनके अनुसार, संरचना का मतलब "जीवित प्रणाली के हिस्सों" के मध्य संबंधों के किसी भी समूह से है। आनुभूतिक स्तर पर वे कहते हैं कि यह मान लिया जा सकता है कि इसका अनुमान लगाया जा सकता है कि एक समयावधि में ये संबंध स्थिर रहते हैं। प्रक्रिया द्वारा जो संरचना के साथ सह-संबंधित अवधारणा है, जिसे परिवर्तन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। जो एक व्यवस्था या इसके उपयुक्त भागों में होते हैं। संरचना के संबंध में केन्द्रीय तथ्य स्थिरता का है और प्रक्रिया के सम्बंध में केन्द्रीय तथ्य परिवर्तन का है। इस प्रकार संरचना से हमारा आशय सामाजिक प्रणाली में संबंधों के प्रतिमान से है और प्रक्रिया इस प्रणाली में होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करती हैं। "संरचनात्मक प्रकार्यवाद" का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसमें "संरचना" पर "प्रक्रिया" से अधिक बल दिया गया है।

ऊपर कहे गए लेख में पार्सन्स ने कहा कि प्रकार्य की अवधारणा "सैद्धांतिक व्यापकता के उच्चत्तर स्तर" की ओर संकेत करती है। यह संरचना की अवधारणा या प्रक्रिया की अपेक्षा कहीं अधिक विश्लेषणात्मक है, यद्यपि प्रकार्य संरचना की अवधारणा को सम्मिलित करती है। यह इसलिए कि संरचना की अवधारणा संरचना की सत्ता और प्रकृति के "परिणामों" से संबंधित है जिनका आनुभूतिक रूप से वर्णन किया जा सकता है और यह उस प्रक्रिया से भी संबंधित है जो इन प्रणालियों में भाग लेती है। पार्सन्स का विचार है कि उनका मूल सूत्र "संरचनात्मक प्रकार्यवाद"

के अंतर्गत समाज के विश्लेषण की ओर उसका झुकाव होना है मानो कि यह स्थिर है, किंतु नये सूत्र में जहाँ पर बल संरचना की अपेक्षा प्रकार्य की संरचना पर पड़ता है, परिवर्तन और विकास का लेखा-जोखा रखता है। यह नया सूत्र "प्रक्रिया और उसके परिणाम, जो स्तर संरचना पर पड़ते हैं, के प्रकार्य के परीक्षण को प्रारंभ करता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका के संदर्भ में, "स्थिर" संरचना यथा परिवार पर महिलाओं की शिक्षा की प्रक्रिया के प्रकार्य का परीक्षण किया जा सकता है।

पार्सन्स का प्रकार्यवाद "प्रकार्यात्मक आदेश" के रूप में प्रसिद्ध है। एक प्रणाली की टिकाऊ सत्ता के लिए अपेक्षित अनिवार्य शर्त (पार्सन्स 1951)। यह "एजिल मॉडल" (Agil Model) के रूप में भी प्रसिद्ध है (जो पार्सन्स द्वारा आविष्कृत चार प्रकार्यों के प्रथम अक्षरों पर आधारित है) अथवा जिसे चार प्रकार्यों वाला रूपावली (प्रतिमान) भी कहा जाता है। इसका विकास पार्सन्स के सहयोगी कार्य जो उन्होंने रॉबर्ट एफ. वेल्स के साथ छोटे वर्गों में नेतृत्व के ऊपर प्रयोग द्वारा किया (रोचर 1974)। ये चार प्रकार्य हमें यह बताने में हमारी सहायता करते हैं कि एक प्रणाली में संतुलन की स्थिति (अर्थात साम्यावस्था) कैसे प्रकट होती है। पार्सन्स के लिए समाजशास्त्रियों में एक महत्वपूर्ण समस्या वह है जिसे वे "हाबेशिएन प्राब्लम आफ आर्डर" के नाम से पुकारते थे। वे इसे इस नाम से इसलिए पुकारते थे क्योंकि इसका नामकरण प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक थॉमस हाब्स, जो "सामाजिक संविदा" के सिद्धांत के संस्थापकों में से एक थे, और जो इस प्रश्न से संबध रखते थे कि समाज में व्यवस्था कैसे आती है, के नाम से हुआ। पार्सन्स ने समाज में साम्यता लाने के लिए इन चार प्रकार्यों की भूमिका की छानबीन की।

पहले भी यह कहा गया है कि समाज का प्रकार्यात्मक ढांचा एक अंतर्निमितता एवं स्व-साम्यता के रूप में ठीक वैसे ही है जैसे किसी अवयववाद के जैविक ढाँचे के रूप में है। पार्सन्स ने साम्यता में अपने हित को डब्ल्यू.बी.कैनन की शरीरविज्ञान प्रक्रिया के होमोस्टेटिक स्थिरता के विचार में ढूंढते हैं और जीव विज्ञान में अपने प्रशिक्षण में एमहेस्ट कालेज, जहाँ उन्होंने अध्ययन किया था, में ढूंढ़ते हैं। उनके ऊपर मैलिनोवस्की का प्रभाव विशेष रूप से, जीव विज्ञान संबंधी प्रणाली की प्रमुखता के विचार का प्रभाव भी पड़ा। समाज के संबंध में पार्सन्स का मत है कि संस्थान या संरचनाएं "आवश्यकताओं" की पूर्ति द्वारा समानता को बनाए रखती है (या उसको पुनःस्थापित करती है) यदि इस प्रणाली पर दृढ़ रहना है तो उनकी संतुष्ट आवश्यक है। संस्थान (या संरचनाएं) भी उसी तरीके से "पुनरावर्ती समस्याओं" को हल करती हैं जैसे अवयव की इकाई समाज के संस्थानों (या संरचनाओं) से तुल्य अपने प्राकृतिक वातावरण में करते हैं। यह प्रणाली इस बात का आश्वासन है कि ये संस्थान (या संरचनाएं) प्रतिदिन के आधार पर आवश्यकताओं को संतुष्ट कर समुचित ढंग से कार्य करते हैं। समानता हासिल करने के लिए समाज को समाजीकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, सामाजिक मूल्यों के अंतरराष्ट्रीयकरण की आवश्यकता होती है और सामाजिक नियंत्रण के यांत्रिकीकरण की आवश्यकता होती है ताकि अंतर की जाँच की जा सके।

समस्त "कार्य प्रणाली" - और जिनमें से एक समाज भी है, की प्रमुख चार समान समस्याएं हैं (या चार प्रमुख आवश्यकताएं है) जैसे, अनुकूलन (ए), लक्ष्य प्राप्ति (G) (जी), एकीकरण (इंटेग्रेशन) (आई) और प्रतिमान का रख रखाव (पैटर्न मेंटीनेंस) या जिसे कालांतर में पार्सन्स ने अव्यक्त प्रतिमान व्यवस्थापना (लेटेन्ट पैटर्न मेंटीनेस) - टेंशन मैनेजमेंट या साधारण रूप में लेटेंसी (एल) नाम दिया। पार्सन्स समाज को (या सामाजिक व्यवस्था को) एक विशाल क्षेत्र के रूप में देखते हैं जिसे वे चार बराबर भागों में विभाजित करते हैं। ये भाग चार प्रकार्यात्मक समस्याएं हैं जो परिवर्णी शब्द (AGIL) एजीआईएल द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। (देखें आलेख 1)। आधारभूत विचार यह है कि समस्त प्रणालियों को इन चार प्रकार्यों को जीवित रहने के लिए निष्पादित करना है। ये चार प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं निम्नलिखित हैं -

1) अनुकूलन (एडेप्टेशन) - अनुकूलन (Adaptation) से अभिप्राय समाज के बाह्य वातावरण से पर्याप्त संसाधन एकत्रित करने की समस्या और उन्हें निश्चित ढंग से वितरित करना है। प्रत्येक समाज को एक विशेष स्थान की आवश्यकता होती है जो वातावरण को अनुकूलन प्रकार्य द्वारा सम्पन्न कर सके - जो कि बाह्य प्रकार्य है। अनुकूलन (एडेप्टेशन) लक्ष्य प्राप्ति के लिए संसाधनों

का प्रबंध करता है, जिसे उपकरण पहलू कहते हैं। जैविक संस्थान क्रिया की सामान्य प्रणाली में अनुकूलन (एडेप्टेशन) के प्रकार्य को सम्पन्न करता है। समाज के संदर्भ में इसे आर्थिक संस्थान सम्पन्न करते हैं।

2) लक्ष्य की प्राप्ति (गोल अटेनमेंट) - यह प्रकार्य प्रणाली की संसाधक संबंधी गतिशीलता को प्राप्त करने हेतु आवश्यकताओं तथा उनके मध्य प्राथमिकताएं स्थापित करने के कार्य से संबंधित है। यह अभिनेताओं के प्रयोजनों का संघटन करता है तथा उनके प्रयासों का आयोजन करता है। प्रकार्य के सामान्य क्रम में इस प्रकार्य को व्यक्ति का व्यक्तित्व पूरा करता है जबकि समाज के मामले में यह कार्य राजनैतिक संस्थान को दिया जाता है क्योंकि कार्यान्वयन एवं निर्णय लेने के लिए शक्ति आवश्यक है। लक्ष्य प्राप्ति अंत से संबंध रखती है, जिसका अर्थ पूर्णता के पक्षों से है। चूंकि उद्देश्य बाह्य वातावरण से संबंध रखते हैं, अतः ये अनुकूलन या एडेप्टेशन के समान हैं - एक बाह्य प्रकार्य हैं।

3) एकीकरण (इंटेग्रेशन) - यह चार प्रकार्यों वाले प्रतिमान का हृदय है (वालेस एवं वोल्फ 1980 : 36) एकीकरण से आशय विभिन्न अभिनेताओं के मध्य (या प्रणालियों की इकाइयों यथा संस्थानों) सामंजस्य, समायोजन की आवश्यकता और संबंध स्थापित करने से है ताकि यह प्रणाली अविरल चलने वाली सत्ता बनी रहे। प्रकार्य के सामान्य सिद्धांत के अनुसार, सामाजिक प्रणाली इस प्रकार्य का कार्य करते हैं जबकि समाज में इस कार्य को करने के लिए विधि संस्थान और न्यायालय होते हैं। एकीकरण अंत से और इसके आंतरिक पहलू से संबंध रखता है।

4) लेटेंसी (पैटर्न मेंटीनेंस एंड टेंशन मैनेजमेंट) - यह प्रकार्य योजना के लिए ज्ञान एवं सूचना करने से संबंधित है। प्रकार्य के सामान्य सिद्धांत में, संस्कृति, जो ज्ञान और सूचना का भंडार है, इस कार्य को पूरा करती है। संस्कृति कार्य नहीं करती क्योंकि इसके पास शक्ति नहीं है। यह छुपी रहती है और प्रकार्य करने के लिए अपेक्षित ज्ञान एवं सूचना के साथ अभिनेताओं (जो शक्ति से ओतप्रोत है) की पूर्ति करती है। क्योंकि लोगों के प्रकार्यों के पीछे संस्कृति विद्यमान है, इसे अव्यक्त 'Latent' कहते हैं। एकीकरण दो चीजों की परवाह करता है, प्रथम यह अभिनेताओं को एक योजना में अपने अभिनय को करने के लिए प्रेरित करता है और उसके मूल्यों को बनाये रखने के लिए प्रेरित करता है तथा दूसरा विभिन्न वर्गों एवं अभिनेताओं के मध्य आंतरिक तनाव स्थापित करने के लिए या बनाए रखने के लिए यंत्रीकरण की व्यवस्था करता है। एक समस्या जिसका सामना प्रत्येक समाज को करना पड़ता है, वह है इसके मूल्य प्रणाली को अक्षुण्ण बनाए रखना तथा इस बात के प्रति आश्वस्त होना कि इसके सदस्य नियमानुसार कार्य करें। यह तभी संभव है जब सामाजिक मूल्यों को सुव्यवस्थित सम्प्रेषित एवं आत्मसात किया जा सके। वे संस्थान जो इस प्रकार्य को कार्य रूप देते हैं, वे हैं - परिवार, धर्म और शिक्षा। लेटेन्सी का आशय है लक्ष्य की प्राप्ति करना, यह प्रणाली के लिए आंतरिक है।

**ए.आई.जी.एल. (एजिल मॉडल)**

| साधन (उपकरण संबंधी) | | लक्ष्य (उपभोग संबंधी) | |
|---|---|---|---|
| बाह्य ए | अनुकूलन | लक्ष्य की प्राप्ति | जी |
| आंतरिक एल<br>प्रतिमान व्यवस्थापन<br>तथा तनाव से<br>राहत की विधि | लेटेंसी (पैटर्न मेंटीनेंस तथा टेंशन-रिलीविंग मैकेनिज्म) | एकीकरण | आई |

| कार्य (एक्शन) सिद्धांत का सामान्य स्तर | |
|---|---|
| जीव | व्यक्तित्व |
| संस्कृति | सामाजिक व्यवस्था |

| सामाजिक व्यवस्था में एजीआईएल का प्रकार्यवाद | |
|---|---|
| अर्थव्यवस्था | राज्य व्यवस्था<br>सामाजिक समुदाय |

इस चार प्रकार्य वाले प्रतिमान को ध्यान में रखते हुए पार्संस (1973) ने जरनाल्ड प्लेट्ट के साथ मिलकर अमेरिका में अमेरिका के कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के सदस्यों का उच्च शिक्षा के अध्ययन के लिए सर्वेक्षण किया। इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकला कि अमेरिका के विश्वविद्यालय और कालेज युक्तिमूलक (या वैज्ञानिक) ज्ञान के क्षेत्र में अपनी पहुंच को आगे बढ़ाने के मामले में विशिष्टता प्राप्त हैं। अमेरिकन प्रणाली की उच्च शिक्षा के अंतर्गत केंद्रीय अंश मूल्य संज्ञानात्मक युक्तिमूलक है। यह मूल्य तत्कालीन अमेरिकी समाज में सर्वोच्च महत्वपूर्ण थी। उच्च शिक्षा की अमेरिकन प्रणाली इस प्रकार उन मूल्यों को संप्रेषित और अनुरक्षित करती है जो इसके समाज के केंद्र में है (जिसका यह एक भाग है। इस प्रकार यह पैटर्न मेंटीनेन्स के प्रकार्य का अनुपालन करती है।

विश्लेषण के उद्देश्य के लिए पार्संस एजिल मॉडल के सदृश्य समस्त प्रणालियों में तथा उनकी उप-प्रणालियों में उप-प्रणालियों की पहचान करते हैं (देखें तालिका 1)। जैसा कि हम देख चुके हैं, क्रिया प्रणाली के सामान्य स्तर पर जीव विज्ञान संबंधी अवयव अनुकूलन का कार्य करती हैं, व्यक्तित्व प्रणाली, लक्ष्य प्राप्ति की क्रिया, सामाजिक प्रणाली जो विभिन्न इकाइयों को जोड़ती है तथा सांस्कृतिक प्रणाली जो प्रतिमान व्यवस्थापन (पैटर्न मेंटीनेंस) से संबंध रखती है, के कार्य को करती है। फिर, सामाजिक प्रणाली चार एजिल प्रकायों में विभाजित हो जाती है। हम पहले भी यह देख चुके हैं कि अर्थव्यवस्थ अनुकूलन के प्रकार्य का कार्य करता है। जबकि राज्य व्यवस्था (या राजनीतिक संस्थाएं) उद्देश्य प्राप्ति का कार्य करती हैं। उप-प्रणाली जो, संघटन के प्रकार्य का निष्पादन करती है, के लिए पार्संस "सामजिक समाज" शब्द का प्रयोग करते हैं जो फर्डीनंड टोनी के आइडियाज आफ जीमिन्स्कैफ्ट ("कम्यमुनिटी") की याद दिलाते हैं। "सोसिएटल कम्युनिटी" "मानक" "मूल्यों" और "संस्थानों" की "एकात्मकता", "एकता", "समशक्तिशीलता" और "निष्ठा" उत्पन्न करती है। पार्संस कहते हैं कि पैटर्न मेंटीनेंस का कार्य उनके अनुसार "न्यासीय प्रणाली" है जिसका संबंध एक न्यास और न्यासिता से है। यह प्रणाली चारित्रिक मूल्यों, विश्वासों और सार्थक प्रतिमानों को जन्म देती है और उन्हें तर्कसंगत बनाती है।

इस प्रणाली की प्रत्येक उप-प्रणाली को एक प्रणाली के रूप में लेकर विश्लेषण के लिए लिया जा सकता है तथा उसके बाद इसे इसके अवयवों को देखते हुए चार भागों में विभाजित किया जा सकता है जो क्रमशः अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और लैटेंसी का कार्य करते हैं। समाज के विश्लेषण की इस प्रणाली को क्रमबद्ध उपागम के रूप में जाना जाता है।

## 6.6 सारांश

पार्संस का एजिल मॉडल आदर्श किस्म का है, एकल समाज की अपेक्षा विभिन्न मत वाले बहु समाजों पर अधिक लागू होता है। बाद वाले मामले में संस्थान एक हो जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि एक ही संस्थान एक से अधिक प्रकार्यों को संपन्न करता है। यहाँ परिवार का उदाहरण दिया जा सकता है जो आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक प्रकार्यों को करता है जो कि उनके पापरस्परिक प्रकार्यों यथा युवा को सामाजिक बनाना जैसे कार्यों के अतिरिक्त होते हैं। कम्यूनिस्ट समाज में पार्टी अर्थव्यवस्था के पहलू को निर्धारित कर सकती है जो उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया है तथा इस प्रकार अनुकूलन और लक्ष्य प्राप्ति अप्रभेद्य प्रतीत होते हैं।

पार्संस का सिद्धांत "ग्रांड थ्योरी" अर्थात महा सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध है, जो कि एक संपूर्ण सम्मिलित, एक संपूर्ण एकीकृत प्रणाली - जि2समें एक विशाला वर्णनात्मक शक्ति है। फिर भी,

पार्सन्स के विद्यार्थी रावर्ट मर्टन इस सिद्धांत के बारे में शंकित थे। उनके लिए यह अधिक कार्य प्रयोग के लिए सामान्य है (मर्टन 1957)। इसके बदले में उन्होंने मध्य-स्तर (मिडिल रेंज) के सिद्धांतों के लिए अपनी प्राथमिकता प्रदर्शित की जिसके अंतर्गत सामाजिक परिदृश्य (यथा समूह, सामाजिक गतिशीलता या रोल संबंधी विरोध) के कुछ निर्धारित पहलू शामिल हैं। इस मध्यम श्रेणी के कौशल के कारण मर्टन का प्रकार्यवाद पारसंस से पूर्णतया भिन्न है।

उदाहरण के लिए, मर्टन किसी प्रर्कायात्मक पूर्वापेक्षा, जो समस्त सामाजिक प्रणाली में वैद्य हो, की खोज को त्याग देते हैं। वे अपने से पूर्व के प्रकार्यवादियों के इस विचार को भी रद्द कर देते हैं कि आवर्ती सामाजिक दृश्यों को समाज के प्रति उनके हितों को संपूर्ण रूप में परिभाषित किया जाए। आलोचना के लिए मर्टन ने पहले के प्रकार्यवादियों के तीन आधार तत्वों की पहचान कीः

1) समाज की प्रकार्यात्मक इकाई के आधारतत्व। यह एक अनुमान है कि समाज में एकता स्थापित है जो उस योगदान से जन्म लेती है जो इसके हिस्से समग्र के प्रति करते हैं।

2) वैश्विक प्रकार्यवाद का आधार तत्व। यह एक ऐसा अनुमान है कि समस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूपों की सकारात्मक प्रकार्य है, जो समाज के अनुरक्षण और भलाई के लिए है।

3) अनिवार्यता का आधार तत्व। यह अनुमान है कि एक सामाजिक या सांस्कृतिक रूप से समाज के जीवित रहने के लिए एक अनिवार्य पूर्व शर्त है।

मर्टन ने अनुभव किया कि इनमें से कोई भी आधार तत्व आनुभविक रूप से उपयुक्त नहीं है। इसके विपरीत यह मानने का कोई कारण नहीं है कि प्रकार्यों को पूरा करने के लिए विशिष्ट संस्थान ही एकमात्र हैं। आनुभाविक शोध बताते हैं कि एक बहुत बड़ी श्रृंखला हो सकती है, जिसे मेरटन ने प्रकार्यात्मक पर्याय कहा है, जो कि उसी प्रकार्य को संपन्न करने में सक्षम हो।

एक आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर मर्टन ने यह दिखाने का प्रयास किया जिसे वे "समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण की दशा कहते हैं कि यह एक प्रकार्यात्मक प्रतिमान (या सापेक्ष महत्व) है (जो कोई महान सिद्धांत नहीं है) जो अनुरूपता के सामाजिक यथार्थ के वास्तविक आयामों को दृष्टि में रखते हुए उनको समझने और उनकी व्याख्या करने में सक्षम है। अन्य दूसरे प्रकार्यवादियों की भांति उन्होंने भी समाज को अंतर्संबंधित भागों के रूप में देखा, जहाँ एक भाग के प्रकार्य का दूसरे भागों तथा समस्त प्रणाली के लिये अर्थापत्ति अर्थात विवक्षा है। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की भांति वे भी समानता एवं एकता की अवधारणा तथा समाज की दृढ़ता के लिए रीति-रिवाजों एवं संस्थाओं के योगदान में इच्छुक हैं। प्रकार्य के ऊपर उनकी परिभाषा संपूर्ण के एक भाग के रूप में "सार्थक योगदान" के रूप में भी है। प्रकार्य ऐसे योगदान या परिणाम है जो "एक प्रदत्त प्रणाली के अनुकूलन या समंजन" के लिए बनी हैं। समाज व उसकी संस्थाओं के कार्यकरण के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य मूल्यों एवं मानकों के वर्ग में सभी हिस्सा लें, जो प्रकार्यवाद का दूसरा महत्वपूर्ण गुण है।

दूसरे अन्य प्रकार्यवादियों से उपर्युक्त किन्हीं बिंदुओं पर सहमत होते हुए मर्टन ने दो प्रतीकात्मक व्याख्याओं के वर्ग यथा, प्रकार्य और दुष्क्रिया तथा "व्यक्त" और "अव्यक्त" प्रकार्यों के मध्य स्पष्ट भेद बताया है। अधिकांश प्रकार्यवादी सोचते हैं कि समस्त योगदान समाज के लिए स्वाभाविक रूप में अच्छे हैं या प्रकार्यात्मक हैं जिसे स्वीकार करने में मर्टन असमर्थ लगते हैं। उनका विचार है कि ऐसे कार्य भी हैं जो प्रणाली के रूपांतरण या समंजन को कम करते हैं। ऐसे कार्यों के परिणाम घातक होते हैं, जिसके लिए तकनीकी शब्द "दुष्क्रिया" का प्रयोग किया गया। अतः यह अपेक्षित है कि समाजशास्त्री सर्वदा निम्नलिखित प्रश्न पूछेः प्रकार्यात्मक या दुष्क्रियात्मक परिणाम किसके लिए हैं? एक संस्था एक समय में प्रकार्यात्मक भी हो सकती है और दुष्क्रियात्मक भी हो सकती है। सभी सामाजिक संस्थाओं में कुछ मिश्रित प्रकार्यात्मक एवं दुष्क्रियात्मकता का समावेश होता है। चाहे संस्थान का प्रकार्यों की ओर झुकाव हो या दुष्क्रिया की ओर। यह प्रकार्यात्मक एवं दुष्क्रियात्मक परिणामों के मध्य सही संतुलन पर निर्भर करता है।

**बॉक्स 6.2 : व्यक्त और अव्य प्रकार्य**

व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों में विभेद समाजशास्त्र के संस्थापकों के लेखों में विद्यमान है। उदाहरण के लिए, अपने धर्म संबंधी अध्ययन में दुर्खाइम (1915) लिखते हैं कि "लोग उसके बारे में क्या करते हैं जिससे वे परिचित हैं" तथा "जो उनके लिए अभीष्ट नहीं है और जिसका उन्हें पूर्वाभ्यास नहीं है।" उसके लिए उनके सामूहिक कार्यों द्वारा क्या प्रकट होता है। जब लोग सामूहिक टोटमिक अनुष्ठान के लिए एकत्रित होते हैं तो तब उनका उद्देश्य अपने टोटेम का सम्मान करना होता है, किंतु जो कुछ ये अनुष्ठान उत्पन्न करते हैं वह है हम से भरपूर जो अनभिप्रेत, अमान्य तथा अप्रत्याशित परिणाम। इस बात के चलते यह कहा जा सकता है कि व्यक्त प्रकार्य वे परिणाम होते हैं जिनका व्यक्ति अनुपालन करते हैं या इसकी अपेक्षा करते हैं, जबकि अव्यक्त प्रकार्य वह है जिससे यह परिणाम निकलते हैं जो न तो मान्यता प्राप्त है और न ही अभीष्ट।

मर्टन ने दो द्विभागीय (प्रकार्य एवं दुष्क्रिया, व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों) रूप में चार उदाहरण दिए। पूर्ववर्ती प्रकार्यवादियों ने केवल एक व्याख्या को प्रस्तुत किया और वह भी अव्यक्त प्रकार्य से संबंधित। मर्टन की अवधारणा संबंधी योजना अनेक व्याख्यात्मक दावों सहित शेष व्याख्या, यथा पार्सन्स का "महान सिद्धांत" की अपेक्षा "आनुभविक शोध" का मार्गदर्शन करता है।

## 6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बर्नार्ड, एलन, 2000. हिस्ट्री एंड थ्योरी इन एंथ्रोपोलॉजी। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

गोल्डनर, एल्विन डब्ल्यू 1973. फॉर सोसियोलॉजी। लंदनः एलेन लेन।

टर्नर, जोनाथन एच. 1987. द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी। जयपुरः रावत पब्लिकेशंस।

**संदर्भ**

बर्नार्ड, एलन, 2000. हिस्ट्री एंड थ्योरी इन एंथ्रोपोलॉजी। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

डेविस, किंग्स्ले, 1959. द माइथ ऑफ फंक्शनल एनालाइसेस एज ए स्पेसल मैथड इन सोसियोलॉजी एंड एंथ्रोपोलॉजी। अमेरिकन सोसियोलॉजिकल रिव्यू, 24 : 757-72.

दुर्खाइम एमाइल, 1893. द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी। ग्लेंकोः द फ्री प्रेस।

....., 1895. द रूल्स ऑफ सोसियोलॉजिकल मैथड। न्यूयार्कः द फ्री प्रेस।

....., 1915. द एलिमेंट्री फॉर्म्स ऑफ द रिलिजियस लाइफ। लंदनः एलेन एंड अनविन।

गिड्डंस, एंथोनी, 1973. द क्लास स्ट्रक्चर ऑफ द एडवांस्ड सोसायटीज। लंदनः हचिन्सन।

गोल्डनर, एल्विन डब्ल्यू 1973. फॉर सोसियोलॉजी। लंदनः एलेन लेन।

कूपर एडम, 1973. एंथ्रोपोलॉजिस्ट्स एंड एंथ्रोपोलॉजीः द मॉडर्न ब्रिटिश स्कूल। लंदनः रूटलेज।

लेवी, जूनियर, मेरियन जे. 1968. फंक्शनल एनालाइसिसः स्ट्रक्चरल-फंक्शनल एनालाइसिस। इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेस। मैकमिलन कं. एंड फ्री प्रेस।

मालिनोस्की, ब्रोनिसलॉ, 1922. एर्गोनौट्स ऑफ द वेस्टर्न पैसिफिक। लंदनः जॉर्ज रूटलेज एंड संस।

....., 1926. एंथ्रोपोलॉजी। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका। फर्स्ट सप्लीमेंटरी वाल्यूम।

....., 1944. ए साइंटिफिक थ्योरी ऑफ कल्चर एंड अद एसेज। चैपल हिलःयूनिवर्सिटी ऑफ नार्थ करोलिना प्रेस।

पार्सन्स टॉलकट, 1951. द सोशल सिस्टम। न्यूयार्कः द फ्री प्रेस।

....., 1975. द प्रेजेंट स्टेटस ऑफ स्ट्रक्चरल-फंकशनल थ्योरी इन सोसियोलॉजी। इन लेविस ए. कोसर (एडी.), द आइडिया ऑफ सोशल स्ट्रक्चरः पेपर्स इन ऑनस ऑफ रॉबर्ट के. मर्टन। न्यूयार्कः हरकोर्ट ब्रेस जोभावानोविच।

पार्सन्स टॉलकट, एंड गेलार्ड एम. प्लाट, 1973. द अमेरिकन यूनिवर्सिटी। कैम्ब्रिजः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रेडक्लिफ ब्राउन, ए.आर. 1922. द अंडमान आयरलैंडर्स। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

....., 1952. स्ट्रक्चर एंड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसायटीः एसेज एंड एड्रेसेज। लंदनःकोहन एंड वेस्ट।

रोचर गाय, 1974. टॉलकट पार्सन्स एंड अमेरिकन सोसियोलॉजी। लंदनः नेल्सन।

टर्नर, जोनाथन एच. 1987. द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी। जयपुरः रावत पब्लिकेशंस।

वालेस, रथ ए. एंड एलिसन वोल्फ, 1980. कंटेम्पोरेरी सोसियोलॉजिकल थ्योरी। ईगलवूड क्लिफ, एन.जे. प्रेंटिस-हाल।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 7

# संरचना, प्रकार्य और नव-प्रकार्यवाद

**इकाई की रूपरेखा**

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्रकार्यवाद की समीक्षा

7.3 नव-प्रकार्यवाद की अभिधारणा

7.4 नव-प्रकार्यवाद के गुण-दोषःसारांश

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- प्रकार्यवाद की महत्वपूर्ण-समीक्षा की व्याख्या कर सकेंगे, जिससे नव-प्रकार्यवाद का जन्म हुआ है;
- नव-प्रकार्यवाद के अभिविन्यास के आमुख और आधार की चर्चा कर सकेंगे; और
- नव-प्रकार्यवाद के गुण-दोषों का समालोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 7.1 प्रस्तावना

बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि सामाजिक मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र के इतिहास में किसी सिद्धांत ने इतनी रुचि, उत्साह एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं की जितना प्रकार्यवाद ने उत्पन्न किया है। विभिन्न नामों (जैसे - 'प्रकार्यात्मक उपागम', 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम', संरचनात्मक-प्रकार्यवाद', 'प्रकार्यात्मक विचारधारा' इत्यादि) से प्रचलित प्रकार्यवाद का उद्भव 1930 के दशक में एक प्रकार की एकीकृत कार्यविधि और सिद्धांत के रूप में हुआ। इससे पहले, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से यह इधर-उधर छितरी विचारधारा और प्रतिज्ञाप्तियों का समूह या निकाय थी। 1960 के दशक तक इसकी प्रतिष्ठा अविवादित थी, क्योंकि इसके समर्थक सर्वोच्च वरीयताप्राप्त विद्वान थे, जिन्हें सिद्धांत और कार्यविधि दोनों के रूप में इसे विकसित करने के अलावा विभिन्न अन्य योगदानों के लिये में जाना जाता था और अभी भी जाना जाता है। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध अमेरिकी प्रकार्यवादी टॉलकट पार्सन्स को पारिवारिक समाजशास्त्र, सामाजिक प्रणाली की विचारधारा, चिकित्सा संस्थानों काले लोगों के व्यवसाय और समस्याओं, उत्पत्तिंवाद इत्यादि में भूमिका विश्लेषण में उनके योगदान के लिए जाना जाता है। इसी प्रकार से रॉबर्ट मेर्टन का सामाजिक संरचना और एनोमी, विचलन और समनुरूपता, नौकरशाही की दुष्क्रियाऐं, विज्ञान का समाजशास्त्र, सर्वेक्षण विधियाँ, भूमिका-निर्धारण इत्यादि को हमेशा संदर्भ के रूप में प्रयोग किया जाता रहेगा।

सन 1930 के दशक से लेकर सन् 1960 के दशक तक की अवधि के दौरान जब संयुक्त राज्य अमेरिका और विश्व के अन्य भागों में प्रकार्यवादी उपागम को आभासी रूप में चुनौती नहीं दी जा सकती थी, उस समय इसकी कुछ समालोचना बेशक उभर रही थी। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश समाज-मानवविज्ञानी सर ई ई ईवन्स प्रिटकर्ड ने विज्ञान के रूप में सामाजिक मानवविज्ञान के विचार को अस्वीकार किया (जिसका समर्थन संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम के समर्थक, ए आर. रेडक्लिफ ब्रॉउन) और इसे अपेक्षाकृत एक तुलनात्मक इतिहास के रूप में देखा। यद्यपि ईवन्स-प्रिचर्ड ने एक प्रकार्यवादी के रूप मे चिंतन शुरू किया, लेकिन बाद में वे मानवतावादी बन गए।

सर एडमंड आर लीक ने सामाजिक मानवविज्ञान में प्रकार्यवादी के रूप में अपना व्यवसाय शुरू किया, लेकिन बाद में वे प्रक्रियावादी विश्लेषक बन गए अर्थात समाज को "समय-प्रक्रिया" के रूप में देखना, जैसा कि राजनीतिक प्रणाली पर 1954 में लिखी उनकी पुस्तक में देखा जा सकता है। बाद में, क्लॉड लेविस्ट्रॉस के प्रभाव में आकर वे संरचनावचादी बन गए और नव-संरचनावादी के रूप में प्रसिद्ध हुए (कूपर, 1973)। 1961 में प्रकाशित उनकी पुस्तक "रिथिंकिंग एंथ्रोपॉलॉजी" ने संरचनात्मक-प्रकार्यवाद के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की। इन समीक्षाओं के बावजूद प्रकार्यवाद पूर्ण सम्मान से आगे बढ़ता रहा।

लेकिन 1960 के दशक के अंत तक और 1970 के दशक के आरंभ में प्रकार्यवादी सिद्धांत की समालोचना में कई गुणा वृद्धि हुई। पार्सन्स ने कार्रवाई पर आधारित सिद्धांतों को संरचना आधारित सिद्धांतों के साथ मिलाने का प्रयास किया जो अनेक समालोचकों को पसंद नहीं आया। समाजशास्त्र में मार्क्सवादी उपागम का पुनर्वास और संघर्ष सिद्धांत का सफल प्रार्दुभाव प्रकार्यवाद के लिए एक बड़ा आघात था। अनेक नए सिद्धांतों और उपागमों में से प्रत्येक ने ऐसे पहलू को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जिसे प्रकार्यवाद ने अनदेखा किया और यह चर्चा का मुख्य बिंदु बन गया। अनेक समालोचकों को यह स्पष्ट रूप से दिखाई दिया कि समाजशास्त्र अपने विकास में उत्तर-प्रकार्यवाद, एक उत्तर-पर्सोनियन चरण में प्रवेश कर चुका था।

धीरे-धीरे कुछ विश्राम के पश्चात् 1980 के दशक के दौरान पार्सन्स के काम के पुनरूत्थान में फिर से अभिरुचि उत्पन्न हुई। कुछ ने इसे "पार्सन्स की पुनःखोज" का चरण कहा। प्रारंभ में, इसका संरचनात्मक प्रकार्यवाद से बहुत कम संबंध था, लेकिन क्लासकी चिंतकों (इमाइल दुर्खाइम, मैक्स वेबर, विल्फ्रेडो पारेटो) के कार्यों का विश्लेषण करने की पार्सन्स की योग्यता और अपनी कृति द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन (1937) में जिस प्रकार सामाजिक कार्रवाई के सिद्धांत की खोज का प्रयोग उसने सफलतापूर्वक अर्थव्यवस्था और समाज, परिवार और औद्योगिकीकरण जैसे अग्रणी क्षेत्रों में किया। इसका अनुसरण करते हुए पार्सन्स के प्रकार्यवाद में पहले जर्मनी और तत्पश्चात अमेरिका में अभिरुचि का पुनरुत्थान हुआ। 1985 में जेफ़री सी. एलेक्जेंडर ने "नव-प्रकार्यवाद" शब्द का प्रयोग किया जिसका उद्देश्य पार्सन्स के सिद्धांत पर विचार करना और उसे संशोधित करना था। नव-प्रकार्यवाद ने प्रकार्यवाद के मूल सिद्धांत के मौलिक प्रस्तावों की समीक्षा की। इसने अनेक अन्य सिद्धांतों के पहलुओं की जाँच की, जिनमें से कुछ के प्रकार्यवाद के परस्पर विरोधी संबंध थे। उदाहरण के लिए, मार्क्सवाद - उन्हें नव प्रकार्यवाद से एकीकृत किया। इसके परिणामस्वरूप, नव-प्रकार्यवाद ने स्वयं को एक एकल सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत नहीं किया बल्कि समान मत के अंतर्गत अनेक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया। इस पृष्ठभूमि के विरुद्ध एलेक्जेंडर (1985) ने जोर दिया कि नव-प्रकार्यवाद पर सिद्धांत के रूप में कम विचार किया जाना चाहिए और इस पर "व्यापक बौद्धिक प्रवृत्ति या आंदोलन" के रूप में अधिक विचार किया जाना चाहिए।

यह इकाई प्रकार्यवाद की समालोचनात्मक उत्पत्ति और नव-प्रकार्यवाद के उद्भव पर केंद्रित है। हम नव-प्रकार्यवाद की संकल्पना का अध्ययन करेंगे जैसा कि समाजशास्त्रीय लेखों में इसका वर्णन किया गया है और साथ ही इसके गुण-दोषों की जाँच भी करेंगे।

## 7.2 प्रकार्यवाद की समीक्षा

प्रकार्यवाद की समालोचनाओं में सर्वाधिक प्रमुख यह है कि इसमें पर्याप्त रूप से इतिहास को शामिल नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों मे, यह स्वभाव से ऐतिहासिक है (लेकिन इतिहास विरोधी नहीं है)। यह विगत एवं इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करता है यद्यपि प्रकार्यवाद के समर्थकों ने उद्भव और विघटन को परिवर्तन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं माना है। 1930 के दशक में सामाजिक मानव विज्ञान में प्रकार्यवाद उन्नीसवीं शताब्दी के "कूट-ऐतिहासिक" और "मीमाँसात्मक" उत्पत्तिवाद और प्रसारवाद की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। इसने पूर्ववर्ती उपागमों के मानवकेंद्रित पूर्वाग्रहों से बाहर निकलने का प्रयास भी किया जिसने ऐसे समकालीन पूर्व-साक्षर समाजों को महत्व दिया जिन्हें "आदिम समाजों" के रूप में लोकप्रियता हासिल थी और

कुछ रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को भूतकाल के अवशेष के रूप में पाया। एडवर्ड टेलन ने बेझिझक "समकालीन आदिमों" को "सामाजिक अवशेष" और भूतकाल के उत्तरजीवन (अवशेष) के रूप में प्रस्तुत किया और माना कि इनका अध्ययन पूर्व-ऐतिहासिक समय के समाजों की सांस्कृतिक विशेषताओं को समझने में हमारा मार्गदर्शन करेगा (हैरिस 1968 : 164-5)। इससे हमें मानव के इतिहास की पुनःरचना करने में सहायता मिलेगी।

इससे घनिष्ठता से संबंधित प्रकार्यवाद की दूसरी समालोचना हैः यह सामाजिक परिवर्तन की समकालीन प्रक्रियाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित नहीं करता है। इस प्रकार, यह न तो समाजों के भूतकाल का अध्ययन करने में सक्षम है और न ही यह समकालीन परिवर्तन प्रक्रिया का अध्ययन कर पाती है। यह "समकालीन स्थिर संरचनाओं" के अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त है बशर्ते कि ऐसी कोई संरचना उपलब्ध हो। अथवा, शायद यह जिन समाजों का अध्ययन करता है, उनका चित्रण उन्हें स्थिर मान कर करता है जो कि वास्तव में नहीं होता है। प्रकार्यवादियों द्वारा प्रस्तुत समाज की तस्वीर एक "स्थिर नदी" के समान होती है जो अपने उतार और प्रवाह के बारे में कुछ भी नहीं बताती। सादृश्यता से प्रकार्यवादी उसी प्रकार से समाज को जड़ कर देते हौ जैसा कि एक ""स्टिल कैमरा" अपने फ्रेम में लोगों और स्थानों को जड़ कर देता है।

इस मुद्दे पर दो मत हैं। पहला, ऐसा समझा जाता है कि समस्या प्रकार्यवाद के सिद्धांत से जुड़ी है क्योंकि जब समाज के विभिन्न अंग समस्या के साथ-साथ एक-दूसरे को पुनर्बलित करते हैं, जब प्रत्येक अंग दूसरे अंग के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब यह व्याख्या करना कठिन होता है कि ये सभी अंग किस प्रकार परिवर्तन लाने में अपना योगदान दे सकते हैं (कोहन, 1968)। अथवा, अंग परिवर्तित क्यों होते हैं। अथवा परिवर्तन सहयोग क्यों देते हैं जबकि वे सभी सौहार्द्र की स्थिति में होते हैं? दूसरा मत यह है कि प्रकार्यवाद में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इसको इतिहास और परिवर्तन के मुद्दों पर काम करने से रोकता है। उदाहरण के लिए, पार्सन्स द्वारा 1966 में सोसाइटीजः इर्वोल्यूशनरी एंड कम्परीटिव पर्सपैक्टिव (समाजः उत्पत्ति और तुलनात्मक परिपेक्ष्य) शीर्षक से लिखी पुस्तक परितर्वन के आयामों से निपटने में संरचनात्मक प्रकार्यवाद की योग्यता को प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार औद्योगिक क्रांति पर 1959 में सेमल्सर का कार्य भी था। कुछ विद्वानों के अनुसार समस्या प्रकार्यवाद के सिद्धांत में नहीं थी, लेकिन इसके प्रयोगकर्ताओं में थी जिन्होंने शायद ही कभी परिवर्तन के मुद्दे पर विचार किया हो, और यहाँ तक कि जब कभी उन्होंने ऐसा किया भी है तो ऐसा उन्होंने क्रांति की तुलना में विकासात्मक और अनुकूलनात्मक अर्थों में किया है (टर्नर एंड मर्यांस्की 1979)। प्रकार्यवाद की समस्या को इसके सिद्धांत या इसके प्रयोगकर्ताओं से कुछ सरोकार था या नहीं, वास्तविकता यह है कि संरचनात्मक प्रकार्यवादियों का प्रमुख योगदान स्थिर सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन में था, न कि बदलती हुई सामाजिक संरचना के अध्ययन में (रिट्ज 2000 : 115)।

प्रकार्यवाद की दूसरी समालोचना यह है कि यह प्रभावपूर्ण ढंग से संघर्ष से निपटने में समर्थ नहीं है। प्रकार्यवादियों ने सौहार्द्रपूर्ण संबंधों पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया है। उन्होंने आम-सहमति, स्थिरता, संतुलन और एकीकरण पर बढ़ चढ़ कर ध्यान दिया, संघर्ष और अव्यवस्था की शक्तियों और उनसे उत्पन्न परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया। उनके लिए संघर्ष आवश्यक रूप से विनाशकारी है जो समाज के ढाँचे के बाहर घटित होता है। यहाँ पर दुर्खाइम को स्मरण कर सकते हैं जिन्होंने "एनोमी" (मानक विहीनता की अवस्था) को "सामाजिक रोग" बताया था। कॉम्टे और बाद में दुर्खाइम दोनों ही मार्क्सवादी और समाजवादी विचारधारा के प्रखर आलोचक थे, उनका मत था कि समय की माँग (जब वे लिख रहे थे) सामाजिक पुनर्संरचना और व्यवस्था बनाए रखनी थी। कॉम्टे ने कहा कि समाज एकदम विघटित हो गया था क्योंकि फ्रांस की क्रांति और क्रांति को दिये गये किसी भी प्रकार के समर्थन से अव्यवस्था और तीव्र हो सकती थी। इस प्रकार कॉम्टे के सकारात्मकवाद और दुर्खाइम की "प्रकार्यात्मक व्याख्याओं" ने संघर्ष के मुद्दों पर बहुत कम ध्यान दिया।

**बॉक्स 7.1 : प्रारंभिक बीसवीं शताब्दी का प्रकार्यवाद**

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक मानवविज्ञानी प्रकार्यवाद में निश्चित रूप से विगत की विरासत, सामाजिक-क्रम का सिद्धांत अंतर्निहित था, लेकिन एक दूसरा कारण भी था, जिसकी वजह से इसने निरंतर संघर्ष और परिवर्तन के पहलुओं को अनदेखा किया। इसने अपनी आनुभविक प्रमाणिकता को दार्शनिक प्रस्तावना (जैसा कि इसने कॉम्टे के मामले में किया) अथवा गौण आँकड़ों (जैसा कि दुर्खाइम के मामले में था) से नहीं लिया, बल्कि प्रथम दृष्टया सरल समाजों जैसे अंडमान अथवा ट्राब्रिएंड प्रायद्वीप के प्रेक्षण-आधारित अध्ययनों से लिया। मानव-विज्ञानियों ने जिन समाजों का अध्ययन किया वे पूर्णतया शेष विश्व से कटे हुये थे विश्व के अन्य समाजों की तुलना में उनमें उच्च स्तर पर नियामक आम-सहमति बनी क्योंकि वे आमतौर पर सदृश थे। उनकी कमोबेश एक संस्कृति थी। उनमें सामाजिक मान्यताएं अविवादित थीं, प्रति-नियामक क्रियाऐं नगण्य थी, नियमों और परम्पराओं के प्रति समरूपतता उच्च स्तर की और अधिक मूल्य रखती थी और यदि तुलनात्मक रूप में कहा जाए तो उनमें परिवतन की सीमा और मात्रा निश्चित रूप से कम थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि वे "परिवर्तनशील " नहीं थे, लेकिन वे कछुए की चाल से धीरे-धीरे बदल रहे थे।

रॉबर्ट रेडफील्ड (1955) के शब्दों में, ये समाज "भविष्योन्मुख" आधुनिक समाजों की तुलना में "विगतोन्मुख" थे। विगतोन्मुख समाज अपनी परम्परा पर गर्व करते थे, जो उनके लिए अति पवित्र था; वे इसे इसी रूप में बनाए रखना चाहते थे और इसलिए इस पर किए गए किसी प्रकार के प्रहार का वे कड़ा विरोध करते थे। "भविष्योन्मुख" समाज अपने कार्यों से संतुष्ट नहीं थे। वे अपनी जीवन-शैली, प्रौद्योगिकी, मानकों और मूल्यों को बदलने के लिए प्रयासरत थे। चूँकि मानव-विज्ञानी प्रकार्यवाद का प्रमाणन "विगतोन्मुख" प्रौद्योगिकीय रूप से सरल, पूर्व-साक्षर और गैर-सभ्य समाजों के अनुभविक अध्ययन से प्राप्त हुआ था, इसलिए यह निश्चित था कि इन समाजों की विशेषताएं अपनी उपस्थिति सिद्धांत में ही ढूँढ़ेंगी।

चूँकि प्रकार्यवाद संघर्ष, अव्यवस्था और परिवर्तन के मुद्दों पर काम नहीं करता है, इसलिए अनेक समालोचकों ने यह पाया कि प्रकार्यवाद का पूर्वाग्रह रूढ़िवादी है। प्रकार्यवाद के अपने समालोचनात्म्क मूल्यांकन में गोल्डनर (1970) ने कहा कि प्रकार्यवादियों में से अग्रणी प्रकार्यवादी पार्सन्स के लिए "एक आधा भरा गिलास" "आधा खाली" होने की बजाय "आधा भरा" हुआ था। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बिंदु यह है कि जो "गिलास को आधा भरा" मानते हैं वे "गिलास को आधा खाली" मानने वालों और नकारात्मक पक्ष पर बल देने वालों की तुलना में स्थिति के सकारात्मक पहलू पर जोर देते हैं। प्रकार्यवाद में रूढ़िवादी पूर्वाग्रह केवल इसकी अनदेखी करने की प्रवृत्ति के कारण नहीं है (इतिहास, परिवर्तन, संघर्ष, अव्यवस्था) बल्कि इनकी जोर देने की प्रवृत्ति (समाज "यहाँ और अब", मानक और मूल्य, आम-सहमति, व्यवस्था) के कारण है। प्रकार्यवादी समाज की नियामक व्यवस्था से जबरदस्त रूप से जुड़े हुए हैं।

प्रकार्यवाद में व्यक्ति गतिशीलता और सर्जनात्मकता से विहीन होता है। वह समाज का उत्पाद होता है और इसकी शक्तियाँ प्रत्येक मोड़ पर उसे प्रतिबंधित करती हैं। इसका विरोधी दृष्टिकोण यह है कि व्यक्ति ही समाज में परिवर्तन की पहल करता है। व्यक्ति व्यवस्था का उतना प्रयोग करते हैं, जितना व्यवस्था उनका इस्तेमाल करती है। परस्पर क्रियात्मक उपागम के समर्थकों का तर्क है कि प्रकार्यवाद अभिकर्मकों और अंतःक्रिया की प्रक्रिया की जटिल प्रकृति को पर्याप्त रूप से संकल्पनागत करने में असफल रहा है। प्रकार्यवाद ने समाज में व्यक्ति की भूमिका को अनदेखा क्यों किया, इसका एक कारण यह था कि समाज की उत्तरजीवितता को बनाए रखने में ही इच्छुक था। यह "सामूहिकता" में रुचि रखता था "व्यक्ति" में रुचित नहीं रखता था और जब कभी यह व्यक्ति मे रुचि रखता भी था, जैसा कि मॉलिनोस्की के मामले में था, तो यह जैविक आवश्यकताओं की संतुष्टि के बिंदु तक ही सीमित रहता था। यह व्यक्ति की मनोवृत्तियों और भावनाओं और सामाजिक परिवर्तन शुरू करने के लिए इन मानसिक आयामों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका को नही देखता और न उसका विश्लेषण करता था।

व्यवस्था बनाए रखने की प्रकार्यवादियों की खोज ने उन्हें मौजूदा मानकों और मूल्यों, वैचारिक और सोपानिकी संरचनाओं, संस्थानों और समाज में व्याप्त शक्ति वितरण के नियमों के प्रति न्याय करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने मार्क्स की तरह यह महसूस नहीं किया कि समाज में नियामक व्यवस्था सम्भ्रांत वर्ग के शासन की देन थी और इसकी अनेक विरोधी शक्तियाँ थीं। व्यवस्था के प्रति उनकी रुचि उत्पन्न कर वे वास्तव में प्रणाली और स्थापित व्यवस्था को सही सिद्ध कर रहे थे और इस प्रकार यथास्थिति को बनाए रखने में सहायता कर रहे थे। प्रकार्यवाद पर विद्यमान स्वरूप में प्रमुख सम्भ्रांत वर्ग का समर्थक होने का आरोप लगाया जा रहा था।

इसके अलावा, प्रकार्यवाद की कुछ महत्वपूर्ण क्रियाविधिक और तार्किक आलोचनाएं भी थीं। प्रकार्यवादियों की यह मान्यता कि एक ऐसा "एकल सिद्धांत" है जिसका सभी परिस्थितियों में प्रयोग किया जा सकता है, वास्तव में एक भ्रम था। अनेक विद्वानों ने महसूस किया कि प्रकार्यवाद को ऐसे जटिल समाजों में लागू करना कठिन था जो न केवल तेजी से बदल रहे थे, बल्कि वे संघर्षरत भी थे। सापेक्षवाद की विचारधारा अर्थात वस्तुएं अपने सांस्कृतिक संदर्भों में अर्थपूर्ण हैं और जिसे प्रकार्यवादियों ने सहयोग दिया था, इसने तुलनात्मक विश्लेषण को कठिन बना दिया। यदि "वस्तुओं" को उनके उस सामाजिक संदर्भ में ही समझा जा सकता है जिसके वे एक भाग हैं तब हम दूसरी प्रणाली की समान "वस्तु" से इनकी तुलना कैसे कर सकते हैं उदाहरण के लिए, यदि टोडा समुदाय में बहुपति प्रथा अर्थपूर्ण है तो हम जौनसार भाबर की बहुपति-प्रथा से इसकी तुलना कैसे कर सकते हैं। कुछ विद्वानों ने प्रकार्यवाद में तुलनात्मकता के अभाव के विषय में काम करने का प्रयास किया है। वाटर गोल्डचिमिट (1966) ने एक उपागम के पक्ष में तर्क दिया है जिसे उन्होंने "तुलनात्मक प्रकार्यवाद" कहा है। इस उपागम के अनुसार प्रकार्य एक सार्वभौमिकता हैं जिसकी प्रतिक्रिया संस्थाओं में होती है सभी संस्कृतियों को इन प्रकार्यों की जरूरत होती है, लेकिन इन प्रकार्यों को पूरा करने वाली संस्थाओं में एक से दूसरे समाज में अंतर पाया जाता है।

प्रकार्यवाद की एक महत्वपूर्ण समालोचना यह है कि यह स्वयं में सोद्देश्यवादी है अर्थात इसमें व्याख्याएं "उद्देश्य" अथवा "लक्ष्यों" के रूप में दी गई है। इसके संदर्भ में टर्नर और मैरियांस्की (1979) की प्रस्तुति थी कि सोद्देश्यवाद स्वयं में एक समस्या नहीं है। वास्तव में, "सामाजिक सिद्धांत को समाज और इसके घटक अंगों के बीच में सोद्देश्यवाद" पर विचार करना चाहिए (रिट्ज 2000)। समस्या तब उत्पन्न होती है जब सोद्देश्यवाद को अस्वीकार्य सीमा तक खींचा जाता है और जब यह विश्वास किया जाता है कि केवल समाज का एक दिया गया और विनिर्दिष्ट भाग ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। सोद्देश्यवाद तब अवैध हो जाता है जब यह इस मत पर विचार करने में असमर्थ होता है कि वैकल्पिक संरचनाओं की विविधता एक आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। क्यों कुछेक संरचनाएं उभरती हैं और क्यों कुछ संरचनाएं अद्वितीय होती हैं, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है। बाद के प्रकार्यवादी, जैसे - पार्सन्स और मेर्टन इस समस्या से परिचित थे और उन्होंने अपनी तरफ से इसका समाधान करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए, मार्टन ने प्रकार्यात्मक विकल्पों की संकल्पना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। परिवार-तंत्र के अपने विश्लेषण में पार्सन्स यह प्रदर्शित करने में सफल हुए हैं कि समकालीन औद्योगिक समाज में एकल परिवार प्राथमिक समाजवाद के कार्य का निष्पादन करता है और प्रौढ़ व्यक्तित्व को स्थिर करता है और कोई भी अन्य संस्था उन्हें इस प्रकार नहीं कर सकती। ये प्रकार्य किसी अन्य संस्था को हस्तांतरित नहीं किए जा सकते थे।

प्रकार्यवाद की भूमिका में अस्पष्ट को सुस्पष्ट करने के लिए आलोचना की जाती रही है। इस पकार के तर्क-ज्ञान के लिए "पुनरुक्ति" तकनीकी शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, यदि धर्म का अस्तित्व है तो इसे प्रकार्यात्मक होना चाहिए अन्यथा इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा और इसके कार्य को समाजिक एकात्मकता के प्रति समर्पित होना चाहिए क्योंकि इसके बिना समाज जीवित नहीं रह पाएगा। अनेक समालोचकों ने इंगित किया है कि प्रकार्यवाद "गोलीय अथवा चक्रीय तर्क-बोध से ग्रस्त होता है। मौजूदा संस्थानों के आधार पर आवश्यकताओं को अभिगृहीत किया जाता है, इसके बदले में जिनका प्रयोग अपने अस्तित्व को व्यक्त करने में किया जाता है। उदहारण के लिए, "सामाजिक वास्तविकता" के रूप में समाज श्रम विभाजन की व्याख्या करता

है और इसके बदले में श्रम विभाजन समाज में एकात्मता को बनाए रखने में अपना योगदान देता है। यहाँ पर जो बात घट रही है वह यह है कि संपूर्णता को इसके अंगों के रूप में परिभाषित किया जा रहा है और इसके बाद अंगों को समग्र रूप में परिभाषित किया जा रहा है। चूँकि एक को दूसरे के रूप में परिभाषित किया जा रहा है, वास्तव में इनमें से किसी को भी - न तो समग्र और न ही इसके अंगों - को परिभाषित नहीं किया जा रहा है। जैसा कि हमने पहले देखा था कि, यहाँ पर भी इस पर वाद-विवाद है कि क्या पुनरुक्ति सिद्धांत में अंतर्निहित है अथवा यह इसके प्रयोगकर्ताओं के कार्यों के फलस्वरूप अस्तित्व में आया है।

**अभ्यास 7-1**

प्रकार्यवाद की उन प्रमुख समालोचनाओ की चर्चा कीजिए जिससे नव-प्रकार्यवाद का उद्‌भव हुआ।

## 7.3 नव-प्रकार्यवाद की अभिधारणा

पार्सन्स के कार्य में पहले जर्मनी और बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका में फिर से अभिरूचि उत्पन्न होने से नव-प्रकार्यवाद का उद्‌भव हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य प्रकार्यवाद के समय के माप पर सही उतरने वाले कुछ पहलुओं का विलय ऐसे अन्य प्रतिमानों से करना था जिन्होंने समालोचनात्मक परिप्रेक्ष्यों को अच्छी तरह से विकसित किया हो। इसका लक्ष्य ऐसे "संकर" का निर्माण करना था जो अन्य परिप्रेक्ष्यों के सुदृढ़ बिंदुओं को आपस में मिलाता हो जिससे संतुलित तरीके से तथाकथित विरोधी मुद्दों (जैसे - सहमति और संघर्ष, संतुलन और परिवर्तन, सामूहिकता और व्यक्तिगतता) से निपटा जा सके।

### क) जर्मनी में नवजागरण

जर्मनी में नव-प्रकार्यवाद से जुड़े विद्वानों में निकलस लुहमन्न और जुरगन प्रसिद्ध थे। इन्होंने शुरू में आधुनिक समाजों में सामाजिक अभियांत्रिकी सिद्धांत के साथ सहयोग किया लेकिन बाद में इन्होंने अलग से काम किया। यद्यपि लुहमन औपचारिक रूप से विधि में प्रशिक्षित थे, लेकिन वे समाजशास्त्र के विद्यार्थी रहे हैं और 1960 में उन्होंने एक वर्ष हार्वर्ड में बिताया जहाँ पर उन्हें पार्सन्स से मिलने का अवसर मिला। उन्होंने एक ऐसे समाजशास्त्रीय उपागम का विकास किया जिसमें सामान्य प्रणाली सिद्धांत के साथ-साथ पार्सन्स के संरचनात्मक प्रकार्यवाद के कुछ पहलुओं को भी शामिल किया गया। उन्होंने इसमें संज्ञानात्मक जीव-विज्ञान और साइबरमेटिक की संकल्पना का समावेश भी किया (रिट्‌ज 2000 : 185)। हालांकि वे ठोस व्यक्ति के रूप में व्यक्तियों के पास उपलब्ध विकल्पों के बारे में पार्सन्स से सहमत नहीं थे। पार्सन्स ने मूल्य आम-सहमति पर बल दिया और यह विश्वास व्यक्त किया कि चूँकि सामाजिक प्रणाली, व्यक्ति प्रणाली को प्रभावित करती है, इसलिए व्यक्ति के पास सामाजिक संबंधों और व्यवहार के लिए उपलब्ध विकल्प सीमित होते हैं। लेकिन लुहमन की यह सोच सही नहीं थी। उसने व्यक्ति को सामाजिक प्रणाली से बाहर कर "समाज में रखा, जिसे "सामाजिक" परिवेश कहा जाता है" - जो अत्यधिक जटिल एवं कम प्रतिबंधात्मक होता है। यह लोगों को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है, विशेष रूप से यह अतार्किक और अनैतिक व्यवहार की स्वतंत्रता प्रदान करता है (अब्राहमसन 2001 : 148)।

अब्राहमसन का (2001 : 148) का कहना है कि यदि लुहमन ने पार्सन्स को छोड़कर मूल्य आम-सहमति की संकल्पना की समस्या की खोज की तो हैबरमस पार्सन्स की तरफ जा सकता है। हैबरमस ने अपने प्रारंभिक लेखों में पार्सन्स की आलोचना की है लेकिन बाद में उसने अपने सिद्धांत में सांस्कृतिक, सामाजिक और व्यक्तित्व प्रणाली को स्थान दिया। इन प्रणालियों के बीच के संबंध के बारे में उसकी संकल्पना पार्सन्स के दृष्टिकोण के समरूप थी। उसने पार्सन्स की "स्व-नियामक प्रणाली" की संकल्पना को स्थान दिया जिसका उदय समाजों के जटिल होने पर हुआ जिसके परिणामस्वरूप संरचनारत्मक प्रणाली "सजीव विश्व" से पृथक हुये है अर्थात संस्कृति, समाज और व्यक्तित्व के बारे में अनुभव करने और संचार के लिए अंतःविषयक क्षेत्र।

### ख) संयुक्त राज्य अमेरिका में नवजागरण

अमेरिका में नव-प्रकार्यवाद के प्रमुख वक्ता जेफरी एलेक्जेंडर और पॉल कोलोमी हैं। 1985 में प्रकाशित उनके संयुक्त प्रकाशन में उन्होंने नव-प्रकार्यवाद को "ऐसे प्रकार्यात्मक सिद्धांत की स्व-समीक्षक लड़ी के रूप में परिभाषित किया, जो इसके सैद्धांतिक मूल को बनाए रखते हुए प्रकार्यवाद के बौद्धिक क्षेत्र को व्यापक करना चाहता है (पी 118)"। नव-प्रकार्यवाद के शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने संरचनात्मक प्रकार्यवाद की कठिनाइयों को दूर कर इसका विस्तार करने का प्रयास किया। संरचनात्मक प्रकार्यवाद ऐसी एकल और सबको साथ लेकर चलने वाली संकल्पनात्मक योजना की कल्पना करता हैं जो हर समय सभी समाजों पर लागू होती है। तुलना के आधार पर नव-प्रकार्यवाद "मुक्त संगठित पैकेज" है जो कि सामान्य तर्क के इर्द-गिर्द निर्मित है। इसने बहुत से स्वायत "अप्रसार" और "परिवर्तनों" को अपने में समेटा हुआ है जो विविध स्तरों पर और विविध आनुभविक संदर्भों में काम करते हैं (एलेक्जेंडर और कोलोमी, संपाद.1990)।

नव-प्रकार्यवादियों का उद्देश्य अधिक सांश्लेषिक सिद्धांत सृजित करना है। इस बात में कोइ शंका नहीं है कि पार्सन्स महासिद्धान्त (ग्रैंड थ्योरी) का अतुलनीय संश्लेषक था संरचनात्मक प्रकायवाद का आरंभ से ही ठोस सांश्लेषिक आधार है। अपनी संरचनात्मक प्रकार्यवाद की किस्मों में पार्सन ने सैद्धांतिक साधनों की विस्तृत श्रृंखला को एकीकृत करने का प्रयास किया है। वह ऐसी विविध पद्धतियों के बीच अंतःसंबंध बनाने का भी इच्छुक था जो सामाजिक जगत का गठन करते हैं जैसे सांस्कृतिक, सामाजिक एवं व्यक्तित्व संबंधी पद्धतियाँ। अतः एलेक्जेंडर एवं कोलोमी का मानना है कि संरचनात्मक प्रकार्यवाद की शुरुआत काफी आशाजनक थी। लेकिन धीरे-धीरे पार्सन्स का नजरिया संकीर्ण एवं नियतिवादी बन गया। उसने सांस्कृतिक पद्धति को अन्य पद्धतियों के निर्धारणकर्त्ता के रूप में देखा जिसे अन्य पद्धतियों का निर्धारण करना है। इसके अलावा उसने "व्यवस्था की समस्या" पर जरूरत से ज्यादा ध्यान देने के कारण दबाव और संघर्ष पर अपर्याप्त ध्यान दिया।

एलेक्जेंडर एवं कोलोमी मानते हैं कि संरचनात्मक प्रकार्यवाद की कमियाँ अनिवर्त्य हैं। इसके सांश्लेषिक अभिविन्यास पर दुबारा पकड़ कायम की जा सकती है। द्वंद्व की संकल्पनाएं एवं विषयगत अर्थ को पेश किया जा सकता है। कोई यदि चाहे तो व्यवस्था के एकीकरण एवं इसकी विविध उप-पद्धतियों की अंतर्व्याप्ति को "प्रवृत्ति" के रूप में देख सकता है जिन्हें एक "माने गए तथ्य" की बजाय जिसकी छानबीन की जानी है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 7.2: नव-प्रकार्यवादः ऐसी समस्याएँ जिन्हें नियंत्रित करना है**

नव-प्रकार्यवाद में जिन समस्याओं पर काबू पाने की जरूरत है, वे हैं—

1) व्यक्तिवाद-विरोधी — संरचनात्मक प्रकार्यवाद में व्यक्ति विशेष निष्क्रिय है और इसमें सृजनात्मकता का अभाव है और साधारण शब्दों में वह ऐसे सामाजिक बलों का उत्पाद हैं जिनकी न तो वह जाँच करता है और न ही उन्हें नियंत्रित करता है।

2) परिवर्तन के प्रति द्वेष — संरचनात्मक प्रकार्यवाद बदलाव की बजाय सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत है;

3) रूढ़िवाद — संरचनात्मक प्रकार्यवाद ने ऐसी पद्धति एवं उसके व्यवहारों की पुष्टि देने की दिशा में काम किया है जिसमें असमानता, शोषण एवं उत्पीड़न की पुष्टि शामिल है।

4) आदर्शवाद — संरचनात्मक प्रकार्यवाद आदर्श समाज की दृष्टि से विचार प्रकट करता है जहाँ सब कुछ व्यवस्था में है और स्थिर है।

5) आनुभविक विरोधी पक्षपात — संरचनात्मक प्रकार्यवाद असल समाजों की बजाय अमूर्त सामाजिक पद्धति से अधिक संबंधित है।

नव-प्रकार्यवाद को इन समस्याओं को नियंत्रित करने के लिए "प्रयास" या प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। एलेक्जेंडर को इसे विकसित सिद्धांत कहने में थोड़ा संदेह था और संरचनात्मक प्रकार्यवाद की आलोचनाओं के प्रति वे अधिक संवेदनशील थे।

नव-प्रकार्यवाद के बुनियादी अभिविन्यासों को रेखांकित किया जा सकता है। नव-प्रकार्यवाद समाज के व्याख्यात्मक प्रारूप के आधार पर काम करता है। इसके लिए, समाज में कुछ ऐसे मूल तत्वों का समावेश है जो कि निरंतर अन्य तत्वों के साथ अन्तक्रिया करते है एक साथ मिल कर प्रतिमान गठित करते हैं। इस प्रतिमान की वजह से समाज अपने पर्यावरण से अलग हो जाता है जिसके साथ उसकी अंतहीन अंतःक्रिया है। पद्धति के भाग सांकेतिक रूप से संबद्ध हैं अर्थात एक-दूसरे को योगदान दे रहा है। हालांकि कोई ऐसा बल नहीं है जो उनकी अंतःक्रिया को निर्धारित करता है नव-प्रकार्यवाद किसी एक नैमित्तिक नियतिवाद का खंडन करता है। यह मुक्त एवं बहुलवादी है।

नव-प्रकार्यवाद कार्य एवं व्यवस्था पर समान रूप से ध्यान केंद्रित करता है। एलेक्जेंडर के अनुसार (1983 : 65) ये संकल्पनाएँ समाजशास्त्रीय वाद-विवाद की "सही पूर्वधारणा" को गठित करती हैं। संरचनात्मक प्रकार्यवाद की सामाजिक संरचनाओं एवं संस्कृति में व्यवस्था के वृहत स्तर स्रोतों पर पूर्णतः ध्यान केंद्रित करने की प्रवृत्ति है। यह सूक्ष्म स्तर की क्रियाओं की ओर कम ध्यान देता है। ये ऐसी क्रियाऐं हैं जो स्थानीय स्तर पर की जाती हैं। अपने विश्लेषण में, नव प्रकार्यवाद में तर्क एवं अभिव्यंजक क्रियाओं का समावेश है। यह उस नजरिए से अलग है कि मानवीय क्रियाऐं सिर्फ "तर्कसंगत", "लाभ-उन्मुख", "लाभप्रद सोच", एवं "वैज्ञानिक" है। संस्कृति का एक मुख्य प्रकार्य है कि यह लोगों को खुद को कभी-कभार सौंदर्यपरक ढंग से अभिव्यक्त करने की अनुमति देती है।

संरचनात्मक प्रकार्यवाद की तरह, नव-प्रकार्यवाद एकीकरण में रुचि रखता है लेकिन यह एक सम्पादित तथ्य नहीं है। बल्कि यह एक सामाजिक संभावना है। यह इस बात को मान्यता देती है कि विचलन सर्वव्यापी सामाजिक वास्तविकता है और इसकी जाँच करने के लिए प्रत्येक पद्धति में सामाजिक नियंत्रण के साधन अवश्य होने चाहिए, पथभ्रष्टों को नियमों के लिए बाधित करना अन्यथा उनके कार्यों की सजा कठोर होती जाएगी। सामाजिक नियंत्रण, पद्धति में कुछ किस्म के स्थायित्व को बहाल करने का प्रयास करता है। नव-प्रकार्यवाद का संबंध संतुलन से है लेकिन यह संरचनागत प्रकार्यवाद से कहीं अधिक विस्तृत है। नव-प्रकार्यवाद का ऐसा मानना नहीं है कि कोई भी पद्धति सदैव "स्थायी संतुलन" पर आधारित हो। यह सदैव सतत एवं अपूर्ण होती है। इसके अलावा संतुलन की संकल्पना को प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए उपयोगी बिंदु के रूप में देखा जा सकता है। यह वास्तविक सामाजिक व्यवस्था में लोगों के जीवन को व्यक्त नहीं करता जो कि चिरस्थायी क्रिया है। यह पुनः हमारा ध्यान पूर्व उल्लिखित नव-प्रकार्यवाद पर केंद्रित करता है। यह समान रूप से व्यवस्था एवं कार्य से संबंधित है।

सभी प्रकार्यवाद में से यह पार्सन का संरचनात्मक प्रकार्यवाद है जो बाद के ऐसे विचारकों पर अधिकतम प्रभाव का प्रयोग करता है जिनमें से कुछ बाद में नव-प्रकार्यवादियों के रूप में प्रसिद्ध हो गए और जिन्होंने पारंपरिक पार्सयिन संस्कृति, सामाजिक एवं व्यक्तित्व पद्धतियों को स्वीकारा जो कि किसी भी समाज के लिए महत्वपूर्ण हैं। ये पद्धतियाँ एक दूसरे को काटती है जिसकी वजह से ये तनाव उत्पन्न करती हैं जो कि बदलाव एवं नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इसके अलावा परिवर्तन उत्पन्न होता है जब समय के साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं व्यक्तित्व की पद्धतियां बदल जाती हैं। यह परिवर्तन अनुरूपता एवं सद्भावना के कारण नहीं लेकिन व्यक्तिवाद एवं संस्थागत दबावों के उदय होने के कारण उत्पन्न होता है।

**अभ्यास 7.2**

संरचनात्मक प्रकार्यवाद और नव-प्रकार्यवाद के बीच की प्रमुख समानताओं एवं असमानताओं पर प्रकाश डालिए?

नव-प्रकार्यवाद इस बात को स्वीकार करता है कि समाज में कानून एवं कार्य की प्रक्रियाओं के विषय में अपनी समझ को समृद्ध बनाने के लिए हमें समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों के

सिद्धांतों एवं परिप्रेक्ष्यों से भी ज्ञान प्राप्त करने की बात सोचनी चाहिए। एलेक्जेंडर एवं कोलोमी ने अन्य सैद्धांतिक परंपराओं के साथ संरचनागत प्रकार्यवाद को संश्लेषित करने का प्रयास किया। संरचनगत प्रकार्यवाद में आदर्शवादी पक्षपातों को दूर करने के लिए नव-प्रकार्यवाद भौतिकवादी उपागमों को बढ़ावा देता है। व्यवस्था पर जोर देने के लिए संरचनागत प्रकार्यात्मक प्रवृत्ति का सामना करने के लिए नव-प्रकार्यवाद ने संस्कृति के सिद्धांतों की छानबीन शुरू कर दी। विनिमय सिद्धांत, सांकेतिक अंतःक्रियावाद, परिणामवाद और घटनाविज्ञान जैसे उपागमों से अंतर्दृष्टि प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है ताकि पारंपरिक प्रकार्यात्मक उपागम के वृहत स्तर के पक्षपातो की क्षतिपूर्ति की जाए।

नव-प्रकार्यवाद का भविष्य इस बात की शंका से घिरा हुआ है कि एलेक्जेंडर ने अपनी पुस्तक न्यूफंक्शनलिज्म एंड आफ्टर (1998) में व्यक्त किया है कि अपने कैरियर में नव-प्रकार्यवाद अभिविन्यास को अभिवृद्ध किया ह। उसका कहना है कि इसका एक महत्वपूर्ण लक्ष्य पार्सन्स सिद्धांत की महत्ता को दर्शाना था। पार्सन ने ऐसी सैद्धांतिक योजना निर्मित की थी जो कि क्लासिकी समाजशास्त्र में निहित वाद-विवादों को नियंत्रित करने के योग्य थी, लेकिन न तो वह और न ही उसके सहयोगी एवं विद्यार्थी सिद्धांत का पूरा लाभ उठा पाये। एलेक्जेंडर ने अपने उद्देश्य को ऐसी सैद्धांतिक लड़ियों को विकसित करने के रूप में देखा जिसकी शुरुआत पार्सन के कार्य से हुई थी। जैसा कि उसकी सोच है कि वह इस साहसिक कार्य में सफल हो गया है और नव-प्रकार्यवाद का उसका लक्ष्य पूरा हो गया है। एलेक्जेंडर का कहना है कि हालांकि यह उसके बाद के चिंतन और सभ्य समाजों पर उसके मौजूदा कार्य को लगातार प्रभावित करता रहेगा।

## 7.4 नव-प्रकार्यवाद के गुण-दोषःसारांश

यद्यपि कुछ विशेषताएं जिन्हें "नव-प्रकार्यवाद" कहते हैं, पार्सन के कार्यों में जर्मन हित में नजर आती है। यह सैद्धांतिक "प्रवृत्ति" सिद्धांत अमेरिकी समाजशास्त्री जैफरी सी एलेक्जेंडर और बाद में उसके युवा सहयोगी पाल कोलोमी से संबद्ध है। "नव-प्रकार्यवाद" शब्द का प्रतिबंधित प्रयोग भी पारिस्थितिक अध्ययनों में भी पाया जाता है जहाँ इसका बुनियादी अर्थ सांस्कृतिक अनुकूलन की प्रक्रियाओं के विश्लेषण में तकनीकी - पर्यावरणीय बलों को प्राथमिक महत्ता देना है (बेटिंगर, 1996)।

एलेक्जेंडर "नव-प्रकार्यवाद" शब्द के प्रयोग से प्रसन्न नजर नहीं आता । उसका यह भी मानना है कि पार्सन के उपागम को दर्शाने में "प्रकार्यवाद" उपयुक्त शब्द नहीं था। पार्सन ने स्वयं अपने उपागम के लिए "संरचनात्मक प्रकार्यवाद" को हटाने का प्रयास किया - लेकिन उसे पता था कि उसके समाजशास्त्र के लिए इसका प्रयोग निरंतर चलता रहेगा। उसके कुछ सहयोगी इसके सिद्धांत को क्रिया सिद्धांत (एक्शन थ्योरी) कहना पसंद करते हैं। एलेक्जेंडर (1985) का यह भी सोचना है कि "प्रकार्यवाद" शब्द के अनुपयुक्त होने के बावजूद भी, पार्सन का सिद्धांत भविष्य में इसी नाम से जाना जाएगा। इस शब्द को हटाने से कोई अधिक लाभ नहीं मिलेगा बजाय इसके इस पर गौर करो और इसे पुनः परिभाषित करो। एकीकृत सिद्धांत होने की बजाय नव प्रकार्यवाद एक प्रवृत्ति है जो कि निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तियों से बनी हुई है (एलेक्जेंडर, 1985 : 10)।

1) संपूर्ण रूप में समाज की मुक्त एवं बहुलवादी व्याख्या।
2) कार्य बनाम संरचना के संदर्भ में एक जैसा आवंटन (क्रिया बनाम व्यवस्था)
3) एकीकरण को एक संभावना के रूप में देखा जाता हैः विचलन एवं सामाजिक नियंत्रण विचारित वास्तविकताएँ हैं।
4) व्यक्तित्व, संस्कृति एवं समाज के बीच पहचान।
5) विभेदन को सामाजिक बदलाव लाने वाले प्रमुख बल के रूप में देखा जाता है।
6) संकल्पना एवं सिद्धांत के विकास को समाजशास्त्रीय विश्लेषण में शामिल सभी स्तरों से अलग रूप में माना जाता है।

प्रकार्यवाद को नवीन रूप देने के लिए एलेक्जेंडर एवं अन्य विचारकों के प्रयासों पर प्रदत्त प्रक्रियाओं में भारी भिन्नता है। कुछ विचारकों ने एलेक्जेंडर की प्रकार्यात्मक परंपरा को अत्यंत अस्पष्ट पाया है। वे प्रकार्यवाद एवं नव-प्रकार्यवाद के बीच की निरंतरता पर भी सवालिया निशान लगाते हैं क्योंकि "नव प्रकार्यवाद में ऐसी हर बात का समावेश है जिसके लिए प्रकार्यवाद की आलोचना की गई है (फस्क 2000, 245)। ऐसी बातों की एक सीमा है जहाँ सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य बेतरतीब धारणाओं को अपने में समेट सकते हैं और बावजूद इसके उसका नाम एवं वंशावली भी बनाए रखते हैं। कुछ समीक्षाकारों के लिए संरचनात्मक प्रकार्यवाद में पेश किए जाने वाले परिवर्तन वास्तविक होने की बजाय अधिक क्रांतिबर्द्धक हैं। नव-प्रकार्यवाद अभी भी ऐसे लक्ष्यों से ओत-प्रोत है जो प्रकार्यवाद को विशिष्ट बनाते हैं जैसे कि यह विचार कि समाजों को व्यक्तिपरक ढंग से समझा जा सकता है। यह बात निरंतर हावी रही है। व्यक्तियों को अभी भी गतिशील एवं सृजनात्मक नायकों की बजाय पद्धति के प्रतिकारियों के रूप में देखा जाता है। द्वंद्व को पहचाना जाता है लेकिन सिद्धांत में इसका द्वितीयक स्थान ही बना रहता है (अब्रहमसन, 2001) और क्रांति पर निश्चित रूप से विचार नहीं किया जाता। अतः क्या नव-प्रकार्यवाद नई बोतलों में पुरानी मदिरा है?

एलेक्जेंडर का सुझाव है कि समाजशास्त्र विज्ञान के उत्तर-प्रत्यक्षवाद पर आधारित होना चाहिए जिसका अर्थ है कि हम अपने आसपास के विश्व को सैद्धांतिक तथा आनुभविक पूछताछ के माध्यम से समझ सकते हैं। यह नजरिया प्रत्यक्षवाद का खंडन करता है क्योंकि वह सिद्धांत आनुभविक आंकड़ों तक सीमित करता है। अन्य शब्दों में, इसके लिए आनुभविक तथ्यों से सिद्धांत को अलग करके नहीं देखा जा सकता। प्रत्यक्षवाद आनुभविक प्रेक्षणों एवं गैर-आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के बीच तीव्र अंतर बताता है। गैर-आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ दर्शनशास्त्र और अलौकिकता के क्षेत्र को गठित करते हैं, अतः आनुभविक विज्ञान में इन्हें कोई स्थान नहीं मिल सकता।

उत्तर प्रत्यक्षवाद मानता है कि सिद्धांत पर आनुभविक शोध की बजाय अन्य सिद्धांतों के संदर्भ में चर्चा, जाँच सत्यापन एवं इसकी व्याख्या की जा सकती है। अन्य शब्दों में, तथ्यों की बजाय एक सिद्धांत दूसरे सिद्धांत का हवाला दे सकता है। सिद्धांतों को ऐसे लिया जाता है जैसे कि ये अनुभवजन्य प्रेक्षणों को दर्शाते हैं। एलेक्जेंडर सामाजिक विज्ञान में आनुभविक आधारित निष्कर्षों के आलोचक हैं। सामाजिक विज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान के बीच का बुनियादी अंतर है कि सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य सदैव ऐसे हर कार्य में निहित होते हैं जिन्हें सामाजिक विज्ञानी करते हैं। अतः समाजशास्त्रीय सिद्धांत आनुभविक प्रेक्षणों को स्पष्ट करने में अपनी योग्यता एवं क्षमता के बावजूद वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

भविष्य में, एलेक्जेंडर का सोचना है कि उत्तर प्रत्यक्षवाद के आधार पर महासिद्धान्त (ग्रैंड थ्योरी) बनाई जा सकती है। यह सिद्धांत क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांत में विविध ध्रुतत्वों के संदर्भ मं बहुआयामी होगी, जैसे कि वृहत-सूक्ष्म (माइक्रो-मैक्रो), व्यवस्था-द्वंद्व, संतुलन-स्थायित्व, संरचना-एजेंसी आदि। लेकिन अपने संकरण विविध, सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों से "विलय" के बाद भी नव-प्रकार्यवाद "विशिष्ट प्रतिमान" नहीं होगा। अन्य शब्दों में संशय, नव-प्रकार्यवाद के भविष्य पर छाया हुआ है।

## 7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. (एडी.), 1985. नियोफंकशनलिज्म। बेवरले हिल्स, सीएः सेज।

कूपर, एडम, 1973. एंथ्रोपोलोजिस्ट्स एंड एंथ्रोपोलॉजीः द मॉडर्न ब्रिटिश स्कूल, लंदनः रूटलेज।

रिट्ज, जॉर्ज, 2000. मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी। मैकक्रा हिल हायर एजुकेशन।

### संदर्भ

एब्राहमसन, मार्क, 2001. फंक्शनल, कंफिल्क्ट एंड नॉन-फंक्शनल थ्योरीज। इन इन जॉर्ज रिट्ज एंड बेरी स्मार्ट (एडी.), हैंडबुक ऑफ सोशल थ्योरी। सेज पब्लिकेशंस (पीपी. 141-51)।

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. 1982. पॉजिटिविज्म, प्रिसपोजिशंस एंड करेंट कंट्रोवर्सीज। थ्योरेटिकल लॉजिक इन सोसियोलॉजी। वाल्यूम 1, बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. (एडी.), 1998. नियोफंकशनलिज्म एंड आफ्टर। लंदनः ब्लेकवेल।

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. (एडी.), 1985. नियोफंकशनलिज्म। बेवरले हिल्स, सीएः सेज।

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. एंड पॉल कोलोमी, 1985. टुवर्ड्स नियो-फंकशनलिज्म। सोसियोलॉजिकल थ्योरी, 3 : 11-23.

एलेक्जेंडर, जेफरी सी. एंड पॉल कोलोमी (एडी.), 1990. डेफरेंसिएशन थ्योरी एंड सोशल चेंजः कम्परेटिव एंड हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव्स। न्यूयार्कः न्यूयार्क यूनिवर्सिटी प्रेस।

बेटिंगर, रॉबर्ट 1996. नियो-फंकशनलिज्म। इन डी. लेविंसन एंड एम एम्बर (एडी.), एनसाइक्लोपीडिया आफ कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी। हेनरी हॉल्ट रेफरेंस बुक (पीपी. 851-3)।

कुन, पर्सी, 1968. मार्डन सोशल थ्योरी। न्यूयार्कः बेसिक बुक्स।

फॉस्क, हाल्वर, 2000. नियो-फंकशनलिज्म। इन हेन एंडरसेन एंड लार्स बो कसपर्सेन (एडी.), क्लासिकल एंड मॉडर्न सोशल थ्योरी। ऑक्सफोडः ब्लैकवेल पब्लिशर्स (पी. 235-50)।

गोल्ड्सचिमिड, वाल्टर, 1966. कम्परेटिव फंक्शनलिज्म। एन एसे इन एंथ्रोपोलोजिकल थ्योरी। बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

हैरिस मार्विन, 1968. द राइज आफ एंथ्रोपोलॉजिकल थ्योरी, ए हिस्ट्री आफ थ्योरीज ऑफ कल्चर। न्यूयार्कः थॉमस वाई क्रोवेल कंपनी।

कूपर, एडम, 1973. एंथ्रोपोलोजिस्ट्स एंड एंथ्रोपोलॉजीः द मॉडर्न ब्रिटिश स्कूल, लंदनः रूटलेज।

लीच, एडमंड आर. 1954. पॉलिटिकल सिस्टम आफ हाईलैंड बर्मा। ए स्टडी आफ काचिन सोशल स्ट्रक्चर। लंदनः द एथलोन प्रेस।

....., 1961. रिथिंकिंग एंथ्रोपोलॉजी। लंदनः द एथलोन प्रेस।

पार्सन्स, टॉलकट, 1937. द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन। न्यूयार्कः मैकग्रा-हिल।

....., 1966. सोसायटीजः एवोल्यूशनरी एंड कम्परेटिव पर्सपेक्टिव्स। एंगलवूड क्लिफ, एन.जे. प्रेटिस-हॉल, इंक.

रेडफील्ड, रॉबर्ट. 1955. पीजेंट सोसायटी एंड कल्चर। शिकागोः शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस।

रिट्ज, जॉर्ज, 2000. मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी। मैकक्रा हिल हायर एजुकेशन।

स्मेलसर, नील, 1959. सोशल चेंज इन द इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन। शिकागोः यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

टर्नर, जोनाथन एंड ए.जेड. मरयांस्की, 1979. फंक्शनलिज्म। मेंलो पार्क, कालिफः बेंजामिन/कुमिंग्स।

MADHYAM IAS

इकाई 8

# सत्ता के सैद्धांतिक और संकल्पनात्मक मुद्दे

**इकाई की रूपरेखा**


8.1 प्रस्तावना

8.2 सत्ता की संकल्पना

8.3 सैद्धांतिक विचार

8.4 कुलीन की संकल्पना

8.5 सामर्थ्यवान कुलीन और वीटो समूह

8.6 स्थानीय समुदायों में सत्ता

8.7 सारांश

8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सत्ता की संकल्पना एवं अर्थ को समझ सकेंगे;
- कुलीन एवं स्थानीय समुदायों में सत्ता की अभिव्यक्ति का वर्णन कर सकेंगे; और
- प्रमुख विचारकों की सत्ता पर लिखी पुस्तकों की आलोचनात्मक चर्चा कर सकेंगे।

## 8.1 प्रस्तावना

साधारण शब्दों में सत्ता का अर्थ है किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के व्यवहार को अपनी इच्छानुसार प्रभावित करने की योग्यता। टॉनी के शब्दों में, "सत्ता को एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह की दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के आचरण को अपनी इच्छानुसार सुधारने अथवा उनके आचरण को अपनी अनिच्छा के अनुरूप बदलने से रोक सकने की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सत्ता लोगों के बीच आधीनता और अधिकार का संबंध बनाती है। कई समाज विज्ञानी, विशेषतः समाजशास्त्री मुख्यतः सामाजिक संबंधों में सत्ता के खेल के परिणामों में रुचि रखते हैं। इस इकाई में हम सत्ता के अर्थ और धारणा से शुरू करते हुए सामाजिक लेखों में सत्ता को समझने के लिए प्रमुख सैद्धांतिक प्रवृतियों की ओर जाएंगे। यहां हम छः समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण की संक्षेप में समीक्षा कर रहे हैं, जिन्होंने सत्ता की विभिन्न विधाओं का वर्णन किया है। बाद में इसी इकाई में, हम सत्ता के परस्पर दो विरोधी सन्दर्भों में अभिव्यक्त होने पर चर्चा करेंगे : एक तरफ कुलीन वर्ग और दूसरी ओर स्थानीय समुदाय।

## 8.2 सत्ता की संकल्पना

सत्ता सदैव दो के बीच सामाजिक संबंधों को अनिवार्य बनाती है। यह कहना कि किसी व्यक्ति के पास सत्ता है, निरर्थक है यदि यह न कहा जाए कि वह सत्ता किस पर प्रयोग की जाती है। सत्ता रखने वाला एक व्यक्ति या व्यक्तियों का एक समूह, दूसरों से वह करवा सकता है, जो वह करवाना चाहता है। यदि वे, जिन पर सत्ता प्रयोग की जा रही है, आज्ञा पालन से इंकार अथवा विरोध करते हैं तो उन्हें किसी न किसी प्रकार से दंडित किया जाता है। सत्ता सदैव संबंधों में विषमता पैदा करती

है। जिन लोगों की सीमित संसाधनों तक अधिक पहुंच है जैसे वित्त पर नियंत्रण, उत्पादन अथवा वितरण के साधनों का स्वामित्व अथवा नियंत्रण वे उनसे अधिक सत्ताशाली होते हैं जिनके पास साधन नहीं है अथवा जिन्हें इनके नियंत्रण का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अपनी इच्छा को थोपने के लिए दंड विधि का प्रयोग सत्ता का एक महत्वपूर्ण अंग है और इसी आधार पर यह प्रभाव से भिन्न है।

कोसर (1982) ने सत्ता की संकल्पनात्मकता के लिए दो परम्पराओं (प्रथाओं) को रेखांकित किया जिन्हें सामाजिक लेखों में पहचाना जा सकता है। पहले में सत्ता को 'अ' द्वारा अपनी इच्छा को 'ब' पर उसके विरोध के बावजूद थोपने पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। यहां 'ब' पर 'अ' का प्रभुत्व है। यह प्रवृत्ति मैक्स वेबर के लेखों में भी देखी जा सकती है। दूसरी परम्परा का ध्यान सत्ता के एक संसाधन रूप पर केन्द्रित है जो किसी समूह की सेवा के लिए है और अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्हें इसके उपयोग की पूरी छूट है। यहां सत्ता की संकल्पना एक सामूहिक सुविधा की है। इस प्रवृत्ति को टैलकट पार्सन्स में खोजा जा सकता है।

यहाँ दो प्रश्न प्रासांगिक हो जाते हैं, कुछ लोगों के पास सत्ता क्यों होती है जबकि दूसरों के पास यह नहीं होती? क्यों कुछ लोग आज्ञा देते हैं और दूसरे उसका पालन करते हैं? शुरू में कोई भी शारीरिक ताकत और मजबूती के बारे में सोचने लगता है। मजबूत व्यक्ति के पास सत्ता होती है और वह आदेश देता है जबकि कमजोर लोगों के पास सत्ता नहीं होती और वे आज्ञा का पालन करते हैं। लेकिन यह हमेशा सत्य नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि संसाधनों में असमानता से सत्ता में असमानता आती है। अतः यदि एक निश्चित क्षेत्र में संसाधन समान रूप से संतुलित हों, तो दो के बीच कोई सत्ता संबंध नहीं होगा। इन दो प्रश्नों का उत्तर काफी जटिल है। यह जानना आवश्यक है कि किस आधार पर किसी के पास सत्ता है, किस आधार पर आज्ञा पालन की अपेक्षा करता है और आज्ञा पालन करने वाला आज्ञा पालन को बाध्यता समझता है? गर्थ और मिल्स स्पष्ट करते हैं कि सत्ता अपने आप में ही ऐसी है कि एक व्यक्ति वैसी ही करता है जैसा दूसरा चाहता है। आज्ञा पालन डर पर आधारित हो सकती है, अथवा लाभ की तार्किक गणना कर अथवा अन्य ढंग से कर सकने की ऊर्जा के अभाव के कारण, निष्ठा या किसी अन्य कारण से।

डेनिस रांग विस्तृत रूप से वर्णन करता है "यदि किसी को सत्ताशाली माना जाता है और वह जानता है कि लोग उसे सत्ताशाली मानते हैं तथा वह इस विश्वास को बनाए रखने के लिए उत्साहित करता है तथा निर्णय लेता है कि उसकी इच्छा के अनुसार काम न करने वालों से हस्तक्षेप करेगा अथवा दंड देगा तब निश्चित रूप से वह सत्ताशाली है और यह सत्ता उसे उसके गुणों से मिली है, शायद प्रारंभ में दूसरों के आधार के बिना। एक समूह जो असंगठित है और जिसके पास संयुक्त लक्ष्यों अथवा हितों का अभाव है और सत्ता के प्रयोग के लिए तत्पर नहीं है—वह समूह सत्ताशाली नहीं है। प्रायः जो लोग सत्ता में होते हैं वह सत्ताहीन लोगों के मुद्दों की अवहेलना करने में सक्षम होते हैं। वे कमजोर लोगों की इस शिकायत को भी दरकिनार करने में सक्षम होते हैं कि उनका ध्यान नहीं रखा जाता।

इस स्तर पर सत्ता और संबंधित धारणाओं में अन्तर करना महत्वपूर्ण है :

### क) सत्ता और अधिकार

इस स्थिति में सत्ता को संबंधित धारणाओं से अलग करने की आवश्यकता है। जब सत्ता को वैधता अथवा न्यायसंगतता प्राप्त होती है तो इसे सत्ता माना जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि सत्ता का स्वेच्छा से पालन किया जाता है। एक व्यक्ति जिसके पास अधिकार (सत्ता) है, वह दूसरों को आदेश दे सकता है अथवा दूसरों पर नियंत्रण कर सकता है। एक वरिष्ठ अधिकारी का उदाहरण लीजिए जो अपने अधीनस्थों को काम सौंपता है तथा उनका दूसरे शहरों में स्थानान्तरण भी कर सकता है। ऐसा सरकार में उसकी हैसियत तथा प्राप्त अधिकार के कारण है। औपचारिक संगठनों में अधिकार स्पष्ट एवं निश्चित होते हैं तथा इनका प्रयोग संगठन के नियमों एवं कानूनों के अन्तर्गत होता है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि सत्ता एवं अधिकार के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि आदेश देने वाला व्यक्ति श्रेष्ठतर है। एक शिक्षक प्रधानाचार्य से अधिक विद्वान हो सकता है जबकि

प्रधानाचार्य उसे निष्काषित कर सकता है। यह केवल अधिकार के कारण है जो प्रधानाचार्य को प्राप्त है कि वह शिक्षक को निलंबित कर सकता है। सत्ता को औपचारिक संगठनों में संस्थात्मक अधिकार (सत्ता) के रूप में लागू किया जा सकता है और अनौपचारिक संगठनों में संस्थात्मक सत्ता के रूप में।

### ख) सत्ता और प्रतिष्ठा

ई.ए. रोस (1916) ने सत्ता के अवस्थित होने के तत्कालिक कारण के रूप में प्रतिष्ठा की ओर ध्यान आकर्षित किया। यह कहा गया कि जिस वर्ग की प्रतिष्ठा अधिक होगी। उसके पास सत्ता भी अधिक होगी। अतः प्रतिष्ठा सत्ता का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। प्रतिष्ठा को सत्ता के साथ जोड़ना उचित नहीं है क्योंकि प्रायः प्रतिष्ठा सत्ता के साथ जुड़ी हुई नहीं होती। सत्ता अपने आप में प्रतिष्ठा का आधार बन जाती है अर्थात जब एक व्यक्ति के पास सत्ता होती है तो उसके पास प्रतिष्ठा भी होती है परन्तु जब एक व्यक्ति के पास प्रतिष्ठा होती है तो आवश्यक नहीं कि उसके पास सत्ता भी हो।

### ग) सत्ता और प्रभाव

सत्ता और प्रभाव में निकट का संबंध है। सत्ता, आज्ञापालन एवं आधीनता पर अधिकार रखती है। प्रभाव, दमनकारी होने के बजाय विश्वासोत्पादक है। सत्ता के लिए लक्षित नियंत्रण की आवश्यकता होती है जिसे प्रायः दंडात्मक विधियों से लागू किया जाता है, लेकिन प्रभाव में दंड अथवा प्रतिबंधों का प्रयोग नहीं होता। आवश्यक रूप से प्रभाव सत्ता के साथ जुड़ा हुआ नहीं होता। एक पुलिसमैन के पास सत्ता तो हो सकती है परन्तु प्रभाव नहीं। इसी हिसाब से देश का प्रधानमंत्री ऐसा व्यक्ति होता है जिसके पास सत्ता और प्रभाव दोनों होते हैं।

### घ) सत्ता और प्रभुता

सत्ता का अस्तित्व और इसकी अभिव्यक्ति अंतर–समूह संबंधों में होती है। सत्ता लोगों की हैसियत से जुड़ी हुई है, जो लोगों को औपचारिक संगठनों में प्राप्त है जबकि प्रभुता व्यक्ति के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई है और इसे मनोवैज्ञानिक धारणा भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर सत्ता समाज की संरचना के साथ जुड़ी हुई है और इसे सामाजिक संकल्पना के रूप में लिया जा सकता है (ब्रिस्टिड–1982)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 8.3 सैद्धांतिक विचार

सत्ता के संदर्भ में प्रमुख सैद्धांतिक विचार :

i) लक्ष्यों को प्राप्त करने की इसकी क्षमता (यहां सत्ता को प्रभुता के तुल्य माना गया है, जिसमें किसी के ऊपर सत्ता के प्रयोग की रणनीति सम्मिलित है); और

ii) एकता और सामूहिक स्वायत्तता उत्पन्न करने की क्षमता (यहां सत्ता को सामूहिक कार्रवाई के वृहद् ढांचे के अंतर्गत समझने की बात है जिसमें संयुक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सत्ता प्रयोग करने की रणनीति सम्मिलित है)। इस परिदृश्य के समक्ष सत्ता की समाजशास्त्रीय संकल्पना की मुख्य धाराओं का यहां वर्णन किया गया है।

### क) मैक्स वेबर : सत्ता और प्रभुता

वेबर (1914, 1920) के अनुसार, सत्ता एक सामान्य अवधारणा के रूप में प्रभुता से एक विशेष तथ्य के रूप में भिन्न है। सत्ता को एक कर्ता के सामाजिक संबंधों में दूसरों पर अपनी इच्छा थोपने के अवसर के रूप में परिभाषित किया जाता है (दूसरों के प्रतिरोध के बावजूद)। यहां यह जानना रोचक है कि सत्ता का माप उनकी आधीनता की प्रकृति पर निर्भर करता है, जिन पर इसे प्रयोग किया जा रहा है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि सत्ता रखने वाले के प्रति आधीनता की संभावना अधिक हो तो सत्ता अधिक होती ही है। सुरक्षात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि एक

व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की सत्ता को अपनी इच्छा थोपने के अवसरों के रूप में मापा जाता है। यहाँ सत्ता के आधार अथवा इच्छा को थोपने के आधार की आवश्यकता महत्वपूर्ण नहीं है। स्कॉट (1996, 22) यह व्याख्या करता है कि सत्ता एक क्षमता है जिसे कर्ता के कार्यों के माध्यम से अनुभव किया जाता है। इस क्षमता को अकस्मात अथवा दैवीय परिस्थितियों से निर्धारित किया जाता है (एक व्यक्ति दूसरों के लिए सत्ताशाली होता है या तो अपने बेहतर शरीर के कारण अथवा उन जानकारियों के कारण जो दूसरों के पास नहीं हैं, जहां तक ढांचागत परिभाषित अवसर और क्षमताएं एक व्यक्ति के पास उपलब्ध है (जब संसाधनों का सामाजिक वितरण ठीक से अथवा खराब होता है तो उसी प्रकार अपनी इच्छा को अनुभव करना भी होता है)। दूसरी ओर प्रभुता के लिए एक स्वामी की उपस्थिति को माना जाता है। सत्ता और प्रभुता के बीच मुख्य अंतर यह है कि पहले का अभिप्राय नियंत्रण का अधिकार एवं आज्ञापालन है तो प्रभुता का अभिप्राय स्वैच्छिक आज्ञाकारिता प्राप्त करना है।

प्रभुता के दो परस्पर विरोधी प्रकार हैं। पहले प्रकार की प्रभुता में हितों को तार्किक और सोच–समझकर अपने पक्ष में करना है। प्रायः इस प्रकार ही सत्ता रखने वाला अपने अधीनस्थों को यह समझाने में सक्षम होता है कि उसको मनचाहा करने की छूट देने में उनका ही भला है। ऐसा प्रायः तब होता है, जब छोटी कंपनिया अपना सामान किसी एकाधिकार प्राप्त फुटकर विक्रेता को बेचती हैं। ऐसा करके वे फुटकर दुकानदार की सत्ता के आधीन हो जाते हैं क्योंकि उनकी आजीविका उसके सुनाम पर निर्भर करती है। दूसरी प्रकार की सत्ता वह है जिसे सत्ता के कारण प्रयोग किया जाता है। यहां प्रभुता किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा प्रयोग की जाती है क्योंकि इसे सत्ता के रूप में वैधता प्राप्त है। जिन पर प्रभुता प्रयोग की जाती है, वे अपने व्यवहारवश प्रभुता प्राप्त लोगों के आदेशों एवं मांगों को स्वीकार करते हैं।

**बॉक्स 8.1 : सत्ता और प्रभुता**

वेबर ने सत्ता के उन रूपों की ओर विशेष ध्यान दिया जिनमें स्थायी और टिकाऊ संबंध सम्मिलित थे और जब सत्ता की इस संरचना को उसने प्रभुता का नाम दिया। विवेकपूर्ण प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्ता की संरचना प्रभुता के विभिन्न प्रकारों में होती है : सत्ता संबंध जो पहले परम्परागत तथा आदतन होते हैं, वे अधिक सचेत और सोचा–समझा सामाजिक व्यवहार बन जाते हैं। कार्यों की तर्कसंगतता में विचाररहित परम्परागत और आदतवश कार्यों के स्थान पर अपने हित एवं आधारभूत मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के प्रति उन्मुख कार्यों को अपनाना सम्मिलित होता है। वेबर दो प्रकार की तर्कसंगतता के अभिप्राय की बात करता प्रतीत होता है, जिन्हें क्रमशः उपकरणीय (यंत्रीय) तर्कसंगतता तथा मूल्य तर्कसंगतता कहा जा सकता है। परम्परागत अथवा आदतों के आधार पर बनी सामाजिक व्यवस्था उपकरणीय तर्कसंगतता के माध्यम से आवश्यकता की गणना द्वारा पोषित सामाजिक व्यवस्था के रूप में विकसित होती है। मूल्य तर्कसंगतता के माध्यम से वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था का रूप होती हैं जिसे वैधता की अवधारणा पोषित करती हैं (वेबर, 30 स्काट 1996: 22–23 से उद्धृत)।

इस प्रकार की प्रभुता में सत्ता का अभ्युदय इस संभावना से होता है कि आदेश का पालन किया जाएगा। इसके साथ ही वेबर ने तीन प्रकार की सत्ता के बीच भेद किया। तर्कसंगत–कानूनी सत्ता, जो नियमों, अध्यादेशों तथा सत्ता प्रयोग करने वालों के पद की वैधता पर आधारित होती है। जैसे टैक्स संग्रह करने वाले अधिकारियों द्वारा प्रयोग की गई सत्ता अथवा अधिकार, पुलिसमैन, कार्यालय अधिकारियों, दीर्घ–अवधि से चली आ रही परम्परागत सत्ता जो पावन गुणों में विश्वास एवं इसका प्रयोग करने वाली वैधता में विश्वास पर आधारित होती है, परिवार में बुजुर्गों की सत्ता, पावन गुणों में श्रद्धा एवं निष्ठा पर आधारित चमत्कारिक सत्ता, किसी व्यक्ति की वीरता अथवा चारित्रिक गुणों अथवा देवी–देवताओं की सत्ता (आरोन–1967)।

### ख) कार्लमार्क्स : वर्ग और सत्ता

मार्क्स (1954,55) को वर्ग और वर्ग संघर्ष की सोच के लिए जाना जाता है। अधिक निश्चित ढंग से कहा जाए तो उसने पूंजीवादी समाज में दो वर्गों की पहचान की। एक बुर्जुआ वर्ग (शासक वर्ग) और दूसरा सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग)। बुर्जुआ वर्ग शासन करता है और मज़दूरों पर आज्ञापालन का अधिकार रखता है। बुर्जुआ वर्ग की सत्ता का आधार पूंजी पर उसका नियंत्रण तथा सैन्य सत्ता एवं विचारों पर उसका अधिकार है। बोटोमोर के शब्दों में–"आधुनिक पूंजीवादी समाज में संघर्ष की रेखाएं सुस्पष्ट हैं क्योंकि ऐसे समाजों में आर्थिक हितों की भिन्नता सामंतवादी समाजों जैसे निजी आबंधों से धुंधलाए बिना स्पष्ट दिखाई देती हैं। पूंजीवाद के विकास के कारण वर्गों का ध्रुवीकरण तीव्रता से होने लगा है जैसा पहले किसी अन्य प्रकार के समाज में नहीं हुआ था। आज एक छोर पर पूंजी के निर्विरोध तथा दूसरी ओर गरीबी के संकेन्द्रीकरण ऐसे दोनों के बीच के संक्रमणीय सामाजिक वर्ग एवं मध्यस्थों के लुप्त होने से ध्रुवीकरण तीव्रता से होता है। सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग के लिए पूंजी बढ़ाने का प्रयास करता है। दोनों वर्गों के बीच शोषण का संबंध है, जिसमें शासक वर्ग को दिहाड़ी मजदूरों की कीमत पर लाभ होता है, जिसे सर्वहारा कहते हैं। मजदूर बुर्जुआ वर्ग के लिए वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनके लिए उन्हें वेतन मिलता है। मजदूरी मात्र उनके जीवित रहने के लिए ही पर्याप्त होती है। निश्चित रूप से मजदूरों द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य तथा मजदूरों को प्राप्त वेतन के बीच के अन्तर को सत्ताधारी वर्ग प्राप्त करता है। सर्वहारा वर्ग वास्तव में अपने वेतन और काम की शर्तों एवं हालात के लिए संघर्ष करता रहता है। पहले यह संघर्ष असंगठित एवं प्रभावहीन था। आधुनिक उद्योगों एवं उत्पादन की फैक्ट्री व्यवस्था ने वर्ग संघर्ष को राजनीतिक संगठन के युग में प्रवेश करवाया है। मार्क्स का विचार है कि किसी दिन सर्वहारा वर्ग इस बुजुर्आ वर्ग को उखाड़ फैंकेगा और लंबी प्रभुता एवं शोषण से मुक्त हो जाएगा।

### ग) राबर्ट माईकल्स : कुलीन तंत्र का कठोर नियम

माईकल का विश्वास था कि मानव में सत्ता के प्रति झुकाव जन्मजात है। जो सत्ता प्राप्त कर लेते हैं वे इसे स्थायी बनाना चाहते हैं। इस परिदृश्य में लोकतंत्र को संगठन की आवश्यकता होती है जो कुलीन तंत्र की ओर ले जाता है। दलीय संगठनों में कुलीन शासन की इस प्रवृति को कुलीन तंत्र का कठोर नियम कहते हैं। उसका मानना था कि इतिहास की लोकतांत्रिक तरंगे प्रायः सदा एक ही किनारे पर दम तोड़ देती हैं। वे प्रायः सदा नये रूप में आती हैं। लोकतंत्र के नवीनीकरण का एक कारण यह है कि कुलीनतंत्र को दमनकारी माना गया और उसे उखाड़ फेंका गया। माईकल का आग्रह है कि लोकतांत्रिक तरंगे सदैव इस कठोर नियम को तोड़ेंगी। यह समझ लेना चाहिए कि किसी संगठन में लोगों का बड़ा समूह अपने संयुक्त कार्यों को शासित नहीं कर सकता। समय के साथ विशेषज्ञता विकसित होती है और श्रम विभाजन भी विकसित होता है। कुछ लोगों को प्रतिनिधित्व करने एवं उनकी इच्छा को लागू करने के लिए चुना जाता है। माईकल (1927) के अनुसार, प्रत्येक संगठन/संस्था प्रारम्भ में कितनी ही लोकतांत्रिक क्यों न हो, उसमें कुलीन तंत्र उत्पन्न हो जाता है। उसकी यह मान्यता थी कि लोग नेताओं की प्रतीक्षा करते हैं कि वे उन पर शासन करें और उनकी चिन्ताओं का ध्यान रखें। नेता लोग राजनीतिक क्षेत्र में जनता की अक्षमता से अपनी सत्ता अर्जित करते हैं। अयोग्य जनता उन नेताओं को मानती है जिनकी क्षमता से वह प्रभावित होती है। कुलीनतंत्र नेतृत्व के स्थायित्व एवं दीर्घायु को बनाए रखता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी दमनकारी परिस्थितियां अशांति की ओर नहीं ले जातीं। इन स्थितियों के प्रति जागरूकता ही वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। संघर्षों और विद्रोहों को प्रायः दबा दिया जाता है। माईकल का मानना है कि कुलीन तंत्र द्वारा लोगों पर थोपी गई सीमाओं को जानना उचित है। वह कहता है कि जरूरी नहीं कि विकेन्द्रीकरण से लोगों को अधिक स्वतंत्रता मिले और न ही इससे आम आदमी की सत्ता में वृद्धि होती है। प्रायः यह ऐसी व्यवस्था के रूप में कार्य करती है जिसमें कमजोर नेता सशक्त नेताओं के क्षेत्र से बच निकलना चाहते हैं। यद्यपि कमजोर नेता अपने क्षेत्र के अंतर्गत एक केन्द्रीकृत सत्ता स्थपित कर सकते हैं। एक गुटतंत्र (कुलीन तंत्र) कई छोटे गुटतंत्रों का रास्ता बनाता है और प्रत्येक अपने क्षेत्र में सत्ताशाली होता है। उसने लोगों की स्वतंत्र जानकारी, आलोचना

और नेताओं के जनता में नियंत्रण पर बल दिया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये गुण लोकतंत्र को मजबूत करने की प्रक्रिया के लिए अनिवार्य हैं (जेटलिन 1987)।

### घ) स्टीवन ल्यूक्स : सत्ता और मानव

ल्यूक्स मानता है कि सारी सत्ता मनुष्य अथवा सामूहिक मानव कर्ता वर्ग की विशेषता है। प्रायः मानव कर्ताओं के समक्ष अपना रास्ता चुनने के कई विकल्प होते हैं। मानव कर्ता अपनी विशेष सत्तायों का प्रयोग तब करते हैं जब वे अपनी आवश्यकताओं और विश्वासो के आधार पर स्वेच्छा से कार्य करते हैं जिससे उन्हें इस प्रकार से कार्य करने का औचित्य प्राप्त होता है। मानवकर्ता द्वारा इस प्रकार से सत्ता प्रयोग का अभिप्राय है कि कर्ता के पास कार्य करते समय इसे अन्य ढंग से करने की सत्ता है अर्थात वह कार्य करे अथवा न करे–यह उसकी इच्छा पर है–एक कार्य को करने अथवा करने में असफल होने के बीच खुला संबंध है और ऐसी कोई बाह्य स्थितियां नहीं हैं जिनके अंतर्गत उसके लिए कार्य करना अनिवार्य हो (ल्यूक्स 1977, 1982:159)। इस परिप्रेक्ष्य से दो निष्कर्ष निकलते हैं–सत्ता प्रयोग करने वाले के पास अलग ढंग से कार्य करने का चयन अथवा विकल्प है और जिन पर सत्ता का प्रयोग किया जा रहा है उनके पास भी अन्य ढंग से कार्य करने का विकल्प था, यदि उन पर सत्ता का प्रयोग नहीं किया जाता।

ल्यूक्स की सत्ता संबंधी परिकल्पना मानती है कि कर्ता ढांचागत निर्धारित सीमाओं के बीच कार्य करते हैं उनके पास एक निश्चित अंश तक स्वायत्तता होती है और उस स्वायत्तता में वे अलग ढंग से कार्य कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में मानव कर्ताओं के विकल्प निर्धारित करने वाले पूर्ण ढांचागत निर्धारकों एवं थोपी हुई बाध्यताओं में सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। वह एक मालिक का उदाहरण देता है जो लागत कम करने के लिए अपने कुछ कामगारों को अनावश्यक घोषित कर देता है। दूसरे मामले में एक अधिकृत सरकारी परिसमापक किसी परिक्षण कंपनी को दीवालिया घोषित कर देता है जिससे मजदूर बेरोजगार हो जाते हैं। पहला मामला सीधे सत्ता प्रयोग का मामला है परन्तु दूसरा मामला ऐसा नहीं है क्योंकि परिसमापक के समक्ष कोई विकल्प नहीं है। ल्यूक्र्स निष्कर्षतः कहता है कि सामाजिक जीवन को सत्ता और संरचना के द्वंद्वात्मक रूप कर्ताओं के लिए विकल्प चुनने और दी गई सीमाओं के भीतर अपनी रणनीति पर चलने की संभावनाओं के जाल के रूप में सही ढंग से समझा जा सकता है।

### ड.) एन्थोनी गिड्डन्स : निर्भरता और प्रभुता के रूप में सत्ता

अन्तर्व्यवहार के संदर्भ में एन्थानी गिड्डन्स की सत्ता की संकल्पना की जड़े प्रभुता में जमी हुई हैं। वह सत्ता के बीच विस्तृत भाव और सीमित भाव से भेद करता है। विस्तृत भाव में वह सत्ता को मानव की रूपान्तरकारी क्षमता के रूप में वर्णित करता है। यहां क्षमता का अर्थ है एक व्यक्ति की घटनाओं की एक श्रृंखला के क्रम में अपने हस्तक्षेप से बदलाव लाने की योग्यता। दूसरी तरफ सीमित भाव में सत्ता अधिकांशतः सापेक्ष है। यह परिणामों को प्रभावित करने की योग्यता कहलाती है, जब परिणाम किसी अन्य कर्ता पर निर्भर करते हों। दोनों के बीच मूल अन्तर कर्ता का है। विस्तृत भाव में सत्ता प्रयोग, एक व्यक्ति के परिणाम को सीधे प्रभावित करने की योग्यता है तो सीमित भाव में सत्ता प्रयोग परिणामों को उन स्थितियों में प्रभावित करने की योग्यता है जब वे दूसरों पर निर्भर करती हैं (स्टीवर्ट–2001)।

अधिक निश्चित ढंग से सत्ता का सीमित भाव (तंग दृष्टि) में अभिप्राय है दूसरे कर्ताओं पर निर्भरता और व्यक्ति की उन पर हावी रहने की योग्यता। इसमें जोर सत्ता रखने वाले व्यक्ति की प्रभुता पर है जो सत्ता तो रखता है परन्तु इसकी अनुपालना दूसरों पर निर्भर करती है, जिन पर वह नियंत्रण लागू करता है। तब इस संबंध को प्रभुता के संबंध के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार गिड्डन्स (1976 : 111) लिखता है कि इस भाव में लोग दूसरों पर सत्ता रखते हैं–यह सत्ता प्रभुता के रूप में है।

गिड्डन्स की सत्ता के प्रति मूल संकल्पना का संबंध संघर्षों और आधीनता में अभिव्यक्त संसाधनों और योग्यताओं को प्राप्त एवं प्रयोग करने से है। गिड्डन्स के अपने शब्दों में सत्ता का सीमित और

विस्तृत भाव में संबंध क्षमताओं एवं योग्यताओं से है। अपने अर्थ से अलग सत्ता केवल तभी अस्तित्व में नहीं होती जब इसका प्रयोग किया जाए, बेशक सत्ता धारकों के पास क्या है जिस को प्रदर्शित करने के लिए अनन्तः और कोई मापदंड नहीं है। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि हम भावी अवसरों पर प्रयोग करने के लिए सत्ता संग्रह की बात कर सकते हैं। बाद में गिड्डन्स (1984) ने कहा कि प्रभुता के ढांचे का जन्म सत्ता उत्पादन की ओर ले जाता है। इसलिए सत्ता संसाधनों के वितरण तथा लोगों की उनमें से अधिकांश को प्रभावशाली बनने की योग्यता पर निर्भर करती है। उसका मत है कि वास्तविक स्थितियों में प्रत्येक द्वारा सत्ता प्रयोग की संभावनाएं हैं। आधीन अवस्था में भी एक व्यक्ति पूर्णतः किसी अन्य पर निर्भर नहीं होता और प्रायः उपलब्ध संसाधनों को व्यवस्था की जन्म के लिए उत्तरदायी स्थितियों पर कुछ हद तक नियंत्रण कर पाने के लिए बदलने में सक्षम होता है। गिड्डन्स के विचार में सत्ता हमेशा दमनकारी नहीं होती। वस्तुतः सत्ता को परिणामों को प्राप्त करने की क्षमता के रूप में अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। प्रभुता के वृहद् ढांचे में सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रियाओं में सत्ता का प्रवाह सहजता से होता है इस तथ्य के बावजूद कि सत्ता के प्रतिबंधों की अवहेलना नहीं की जा सकती, सत्ता स्वतंत्रता अथवा मुक्ति प्राप्त करने का एक माध्यम है।

### माईकल फोकाल्ट : सत्ता और प्रभुता

माईकल फोकाल्ट संकल्पनात्मक, विधियात्मक और राजनीति के आधार पर सत्ता को प्रभुता के साथ देखता है। वह प्रभुता के ढांचे के भीतर सत्ता के आधुनिक और शास्त्रीय (पुरातन) चरित्र के बीच भेद करता है। प्रभुता के आधुनिक रूप में अनुशासनात्मक सत्ता पूर्व आधुनिक प्रभुता की संप्रभु सत्ता के बिल्कुल विपरीत है। पहले तो अनुशासनात्मक सत्ता निरन्तर और पूर्णतः व्यापक है, वहीं संप्रभु सत्ता नियतकालिक है। (इसलिए निरंतर नहीं है) और समाज में प्रवेश करने की क्षमता कम है (इसलिए व्यापक नहीं है)। दूसरे अनुशासनात्मक प्रारूप में प्रभुता, वांछित कार्य को राजनीतिक विवेकशीलता और सत्ता के शिल्प विज्ञान के माध्यम से घटित करवाती हैं वहीं संप्रभुता में प्रभुता (प्रधानता) निषेधों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और यदि ऐसा नहीं होता तो न किए जाने वाले कार्य को करने के लिए दंड के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। तीसरे अनुशासनात्मक प्रारूप में कर्ताओं के संगठन में परस्पर विरोध है (नियंत्रण और निर्भरता की दृष्टि से आत्मपरकता) जबकि संप्रभुता माडल (प्रारूप) कर्ताओं के समर्पण पर निर्भर करती है। (स्टीवर्ट–2001)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

फोकाल्ट के अपने शब्दो में–

''सत्ता का आधुनिक रूप दैनिक जीवन में लागू होता है जो व्यक्तियो का वर्गीकरण करता है, व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व से चिन्हित करता है, उसे उसकी पहचान के साथ जोड़ता है और उस पर सत्य का नियम आरोपित करता है जिसे उसे मानना चाहिए और दूसरों को उसमें इस नियम को पहचानना चाहिए। वह सत्ता का ऐसा रूप है जो व्यक्तियों को पराधीन बनाता है। यहाँ 'पराधीन' शब्द के दो अर्थ हैं नियंत्रण और निर्भरता के कारण किस अन्य के आधीन और अपनी पहचान के साथ आत्म ज्ञान अथवा विवेक द्वारा अपनी पहचान से बंधे रहना। दोनों अर्थ सत्ता के ऐसे रूप की ओर इंगित करते हैं जो अधीन बनाती है और पराधीन कर देती है। इसका अभिप्राय परिभाषित करने के मापदंड को बनाता है। इससे आगे सत्ता का आधुनिक रूप प्रभुता के संबंधों, विरासत, विषमता और नियंत्रण पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि प्रभुता के नए रूप विकसित होते हैं और उसका कहना है कि बंधनों से मुक्ति संभव नहीं है (व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर भी)। उसके अनुसार वैश्विक लोकोन्मुख मुक्तिदायिनी राजनीति संभव नहीं है। निश्चित रूप से फोकाल्ट पर एक प्रकार की घातकता का आरोप है जो सत्ता की अवधारणा में ही निहित है।

## 8.4 कुलीन की संकल्पना

साधारणतया कुलीन शब्द का प्रयोग एक विशेष श्रेष्ठता रखने वाली वस्तुओं के लिए किया जाता था। 17वीं शताब्दी में इस शब्द के सीमित प्रयोग को विस्तृत किया गया और बाद में इसमें अधिक सक्रिय उच्च वर्ग के सामाजिक समूहों तथा अन्य को सम्मिलित किया जिन्हें दूसरों से श्रेष्ठतर कहा

जा सकता था। यह केवल उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ कि इस शब्द को यूरोप में समाजशास्त्रीय लेखन में महत्व प्राप्त हुआ। 1930 में कुलीन के समाजशास्त्रीय सिद्धांत को ब्रिटेन और अमेरिका में विकसित किया गया विशेषतः बिल फ्रेडो पायरिटो के लेखों में ऐसा किया गया।

पायरिटो (1935) ने कुलीन संकल्पना का वर्णन ऐसे लोगों के वर्ग के रूप में किया जिनका घातांक ऊंचा था (क्षमता के संकेत के रूप में–जैसे सफल वकील का क्रम उस वकील से ऊंचा होता है जिसे मुवक्किल नहीं मिलते)। लोगों के इस वर्ग को कुलीन (संभ्रांत) कहा गया। अधिक सरल शब्दों में पायरिटो ने कुलीन को ऐसे तथ्यों के संदर्भ में परिभाषित किया जिन्हें बाहर के पर्यवेक्षक सत्यापित कर सकते थे। इस प्रकार कुलीन वर्ग में वे सभी सम्मिलित हैं जो सफल रहे हैं और जिन्हें अपने समकक्ष और जनता सर्वश्रेष्ठ मानती है। जब उसने निरन्तर कुलीन के संबंध में चर्चा की तो पायरिटो का अभिप्राय उन लोगों से नहीं था जो सफल रह चुके थे अपितु उन लोगों से था जो प्रशासन अथवा सरकार के राजनीतिक कार्य करते थे और वे लोग जो अधिकारी अथवा मंत्री न होते हुए भी सरकारी मशीनरी के संचालन को निर्धारित करते थे। दो वर्ग हैं : गैर कुलीन (जिनकी सरकार में कोई भूमिका हो अथवा न हो) और कुलीन। बाद के वर्ग अर्थात कुलीन को दो वर्गों में बांटा जा सकता है : शासकीय कुलीन वर्ग (जिनकी सरकार में चलती है अथवा जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सरकार में अपनी भूमिका रखते हैं , गैर शासकीय कुलीन वर्ग जिनकी सरकार में कोई आवाज, भूमिका नहीं है)। पायरिटो का तर्क है कि एक ही व्यक्ति का आर्थिक पदानुक्रम में भी वही रैंक होता है जो अन्य मानकों पर होता है (जैसे सांगीतिक योग्यता, बुद्धिमता का स्तर आदि) तथा राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव के स्तर के लिए होता है। इसका अभिप्राय है कि उच्च वर्ग अमीर वर्ग भी होता है और इन्हीं वर्गों को कुलीन कहा जाता है। बाद में पायरिटो ने उन्हीं की चर्चा की जिनके पास सत्ता थी : शासकीय कुलीन वर्ग और जनसाधारण। यद्यपि पायरिटो ने कुलीन वर्ग में गतिशीलता के तत्व को पहचाना अर्थात् उसने कुलीन वर्ग को एक स्थित वर्ग नहीं कहा जो हमेशा एक–सा रहता है। उसने कुलीन वर्ग के चक्र के विचार को प्रचारित किया। कम से कम ऐसे दो माध्यम हैं जिनके द्वारा कुलीन वर्ग के चक्र को स्पष्ट किया जा सकता है। कुलीन वर्ग के चक्र का अभिप्राय ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति कुलीन और गैर कुलीन समूहों में घूमता है। इसका संबंध उस प्रक्रिया से भी है जिसमें एक कुलीन व्यक्ति को दूसरे से बदला जा सकता है। पायरिटो के लेखों में दोनों को सम्मिलित किया गया है परन्तु पहली संकल्पना कि कुलीन व्यक्ति कुलीन और गैर कुलीन समूहों में घूमता है, को महत्व प्राप्त है। अफसर शाही के नष्ट एवं नवीनीकरण के संदर्भ में पायरिटो का मत है कि शासकीय वर्ग की पुनर्स्थान केवल संख्यात्मक दृष्टि से नहीं अपितु सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि वह निम्न वर्ग से उन्नत हुए परिवारों द्वारा गुणात्मक दृष्टि से होती है। इसके अतिरिक्त वह अभी सत्ता प्राप्त लोगों में ह्रास के तत्वों की उत्पति तथा आधीन वर्ग में उच्च श्रेणी के गुणों एवं तत्वों में वृद्धि की चर्चा भी करता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक संतुलन अस्थिर हो जाता है। एक हल्का झटका इसको गिराने में सफल हो सकता है। किसी विजय अथवा क्रांति के बाद एक नया कुलीन वर्ग सत्ता में आता है और एक नया संतुलन स्थापित करता है। पायरिटो लोगों के कुलीन और गैर कुलीन वर्ग में आने–जाने की चर्चा भी करता है। उसका कहना है कि कुलीन वर्ग से निर्मित शासक वर्ग निम्न वर्ग के उन लोगों को अपने में शामिल करता है जिनसे उसे खतरा है। जब ऐसे लोगों को कुलीन वर्ग में शामिल किया जाता है तो वे अपना चरित्र पूरी तरह से बदल कर स्थापित कुलीन वर्ग की प्रवृत्ति और हितों को अपना लेते हैं।

मैरी कोलावन्सिका (पायरिटो की छात्रा) ने ऐसे संचरण की पहचान की है जिसमें शासकीय कुलीन के विभिन्न वर्गों के बीच संचरण होता है तथा ऐसे चक्र की भी पहचान की है जिसमें कुलीन वर्ग एवं शेष जनता के बीच संचरण होता है। (निम्न स्तर के व्यक्ति वर्तमान कुलीन वर्ग में प्रवेश कर सकते हैं अथवा निम्न स्तर के व्यक्ति स्वयं एक नया कुलीन वर्ग बना सकते हैं जो वर्तमान कुलीन वर्ग के साथ सत्ता के लिए संघर्ष करता है।). कोलाबन्सिका का कार्य मुख्यतः फ्रांसीसी समाज में कुलीन वर्ग के संचरण से संबंधित है जिसमें 18वीं और 19वीं सदी पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। (बोटोमोर 1964 से उद्धृत)।

गेटिनो मोस्का कुलीन एवं जनसाधारण में भेद करने वाला पहला व्यक्ति था। उसने समझाया कि सभी समाजों में लोगों के दो वर्ग होते हैं एक जो शासन करता है और दूसरा वह जो शासित होता है। शासन करने वाला वर्ग सभी राजनीतिक कार्य करता है, सत्ता पर एकाधिकार जमाता है और सत्ता के साथ जुड़े सभी लाभ एवं सुविधाओं का आनन्द लेता है। शासित वर्ग संख्या की दृष्टि से बड़ा होता है और पहले वर्ग द्वारा वैध और कभी–कभी तानाशाह और हिंसक साधनों से शासन एवं नियंत्रण में रखा जाता है। पायरिटो की भांति मोस्का भी कुलीन वर्ग को राजनीतिक सत्ता से समृद्ध लोगों के समूह के रूप में समझता था। मोस्का ने स्पष्ट किया कि शासक और जनसाधारण के बीच एक उपकुलीन वर्ग है जो नये मध्यम वर्ग से निर्मित है जिसमें प्रबंधक, सफेद पोश कामगार, वैज्ञानिक, इंजीनियर, विद्वान और बुद्धिमान लोग सम्मिलित हैं। उप कुलीन वर्ग कुलीन वर्ग को नए सदस्य प्रदान करता है। समाज की सरकार में उप कुलीन वर्ग स्वयं एक महत्वपूर्ण तत्व है। मोस्का का कहना है कि किसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता इस द्वितीय श्रेणी द्वारा प्राप्त नैतिकता के स्तर, बुद्धिमत्ता और गतिविधियों पर निर्भर करती है। वह इस नए कुलीन वर्ग के अभ्युदय को कुछ हद तक सामाजिक ताकतों के उदय के साथ जोड़कर समझाता है जो समाज में नये हितों प्रौद्योगिक और आर्थिक हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। (बोटोमोर : 1964)

## 8.5 सामर्थ्यवान कुलीन और वीटो समूह

अमेरिका में सत्ता के सन्दर्भ में सी. राईट मिल्स (1956) ने सत्ताशाली कुलीन की संकल्पना को प्रस्तुत किया (एकीकृत सत्ताशाली समूह के रूप में वर्णित जिसमें उच्च सरकारी अधिकारी, सैनिक अफसर और निगमों के निदेशक शामिल हैं) जबकि डेविड रेज़मैन ने वीटो समूहों की संकल्पना को प्रस्तुत किया (जिसे हित समूहों की विभिन्नता और संतुलित अनेकता के रूप में वर्णित जिसमें प्रत्येक मूल रूप से अपने अधिकार क्षेत्र की सुरक्षा के प्रति चिंतित है और दूसरों की गतिविधियों को बाधित कर के अपने अधिकार क्षेत्र की रक्षा करता है–यदि उसे उनसे अपने अधिकार क्षेत्र को खतरा महसूस होता है)।

कोर्नहोजर (1966), मिल्स और रेज़मैन के बीच अमेरिका में सत्ता विषय पर पांच आयामों (पक्षों) में तुलना करता है।

i) सत्ता की संरचना तथा आज के अमेरिकी समाज के प्रमुख खंडों में सत्ता का वितरण किस प्रकार किया जाता है। मिल्स का कहना था कि सत्ता के पिरामिड को तीन परतों से बना हुआ माना जा सकता है। शीर्ष पर कुलीन सत्ता धारी दूसरी परत पर सत्ता के मध्यम स्तर (विभिन्न एवं संतुलित हितों समूहों की अनेकता से निर्मित) और तीसरी परत पर जनसाधरण (असंगठित और सत्ताहीन जनसाधारण, जिन्हें ऊपर से नियंत्रित किया जाता है) होते हैं। दूसरी ओर रेजमैन तीन परतों के स्थान पर दो परतों से बने पिरामिड को प्रस्तावित करता है। रेजमैन कुलीन सत्ता को नहीं गिनता। ऊपरी परत वीटो समूहों की है। यहाँ निर्णायक शासक समूह के स्थान पर हित समूहों की अयोग्य क्रिया में केन्द्रित अव्यवस्थित सत्ता ढांचा होता है जिससे वीटो समूह बनता है। निचली परत पर न्यूनाधिक असंगठित जनता होती है जो हित समूहों के साथ सहयोग करती है (इसकी प्रधानता अथवा प्रभुता नहीं होती।) ऐसा करने के पीछे उनका अपने अधिकार क्षेत्र में दखलान्दाज़ी के खतरे को दूर रखने का प्रयास होता है।

ii) सत्ता की संरचना में बदलाव तथा अमेरिकी इतिहास में किस प्रकार सत्ता के वितरण में परिवर्तन हुआ है। मिल्स सत्ता के केन्द्रीकरण में वृद्धि पर तथा सत्ता कुलीन वर्ग के उत्थान पर जोर देता है जबकि रेजमैन सत्ता के अपसारण में वृद्धि तथा अनेक संगठित समूहों की ओर सत्ता अपसारण की प्रवृति पर बल देता है।

iii) सत्ता के ढांचे तथा अमेरिकी समाज में सत्ता प्रयोग करने के साधनों का संचालन :

मिल्स के अनुसार सत्ताशाली कुलीन वर्ग सभी महत्वपूर्ण जन नीतियों विशेषतः नीति को निर्धारित करता है। कुलीन सत्ता वर्ग नीचे के लोगों के साथ हेराफेरी करता है। दूसरी ओर रेजमैन इससे सहमत नहीं था। उसके अनुसार नीति निर्धारित करने वाला नीति बनाए जाने वाले

मुद्दे पर निर्भर करता है। वीटो समूह का गठन करने वाले समूह प्रायः अनेक मुद्दों पर निष्क्रिय रहते हैं। इनमें से अधिकांश तभी सक्रिय होते हैं जब इनसे संबंधित अथवा इनके हित से जुड़े किसी मुद्दे पर निर्णय अथवा नीति बनानी हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सत्ता के उतने ही ढांचे हैं जितने क्षेत्र नीति के हैं।

iv) सत्ता के ढांचे का आधार तथा किसी प्रकार सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्व वर्तमान सत्ता वितरण को आकार देते एवं पोषित करते हैं। यह स्पष्ट है कि सांझा हित वाले लोग ही सत्ता में भी सहयोगी होते हैं। मिल्स के अनुसार सत्ता कुलीन वर्ग संयुक्त हित वाले लोगों का प्रतिनिधित्व करता है और वीटो समूहों में हितों की विविधता होती है।

v) सत्ता ढांचों के परिणाम तथा किस प्रकार वर्तमान सत्ता वितरण अमेरिकी समाज को प्रभावित करता है : मिल्स के कथनानुसार–

क) मुख्य संस्थानों के हितों में (निगमों, सशस्त्र सेनाओं, सरकार के कार्यकारी अधिकारियों) जिनके नेताओं से सत्ता कुलीन वर्ग निर्मित होता है, वर्तमान सत्ता वितरण की व्यवस्था में बहुत वद्धि हुई है।

ख) कुछ गिने–चुने लोगों के हाथ में सत्ता केन्द्रित होने के कारण तथा सत्ता प्रयोग के लिए तिकड़म से जनता की नजर में राजनीति का पतन हुआ है।

ग) सत्ता का केन्द्रीकरण सत्ता की वैधता के आधार में परिवर्तन हुए बिना हुआ है। सत्ता को जनता और इसके चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहना चाहिए परन्तु असल में यह उन लोगों के हाथ में रहती है जो अफसरशाही को निर्देश देते हैं। इसलिए सत्ताधारी लोग अपनी सत्ता के लिए न तो उत्तरदायी और न ही जिम्मेदार हैं।

घ) यदि सत्ता एक छोटे समूह की ओर प्रवृत होती है जो अपनी सत्ता के लिए उत्तरदायी नहीं है और यदि राजनीति में जनता के उचित विचार को सम्मिलित नहीं किया जाता तो लोकतांत्रिक संस्थाएं बुरी तरह कमजोर होंगी। इसके विपरीत रेजमैन का कि किसी एक समूह अथवा वर्ग का दूसरों की तुलना में अधिक पक्ष नहीं लिया जाता, कई लोगों के लिए राजनीति का पतन हुआ है जो आवश्यक नहीं कि वीटो समूहों के उत्थान से हुआ हो, सत्ता की वास्तविकता और सत्ता की कल्पना के बीच असंगति बढ़ रही है। सत्ता को, जितना हम मानते हैं उससे कहीं अधिक वितरण होता है और अमेरिका में सत्ता परिस्थिति जन्य एवं अस्थिर है। यह अव्यवस्थित है जिसके कारण प्रभावी नेतृत्व का ह्रास हो रहा है।

## 8.6 स्थानीय समुदायों में सत्ता

समुदाय सत्ता का केन्द्र बिन्दु ऐसे निर्णय हैं जो समुदाय के लोगों के लिए महत्वपूर्ण हैं। मूल प्रश्न यह है कि समुदाय में किस के पास सत्ता है जो उन चीजों के विषय में कह सके जो समुदाय के कई लोगों के लिए महत्वपूर्ण है। निर्णय लेने की योग्यता अथवा/और निर्णय लेने की परम्परा कि समुदाय को, समुदाय के लिए क्या करना चाहिए। (स्पिनर्ड 1965, 1966)

**बॉक्स 8.2: निर्णय लेने हेतु अभिप्रेरण**

तुलनात्मक दृष्टि से बहुलवादी अमेरिकी समुदाय में निर्णय लेने पर सत्ता पदानुक्रम द्वारा निश्चित भूमिका की छवि नहीं है। एक विशेष निर्णय लेने की प्रक्रिया में हस्तक्षेप के लिए अभिप्रेरण साहित्य से उभरा हुआ एक महत्वपूर्ण परिवर्त है। ऐसा अभिप्रेरण उस सीमा से उत्पन्न होता है जिस सीमा तक कोई निर्णय समूह अथवा किसी व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है। (स्पिनर्ड–1965)

डेलबर्ट मिलर और राबर्ट डहल सामुदायिक सत्ता के विषय पर महत्वपूर्ण योगदान देने वाले दो विद्वान हैं। (डी. एन्टीनियो और एहरलिच 1961 को देखिये)। उन्होंने अपने अध्ययन और शोध पर

## 8.7 सारांश

यह स्पष्ट है कि दैनिक व्यवहार में आमतौर पर प्रयोग होने वाली सत्ता की अवधारणा के कई आयाम हैं और इसका संचालन विभिन्न तरीकों से किया जाता है। सामजशास्त्रियों ने सत्ता की संकल्पना प्रभुता के रूप में की है जो एक दमनकारी एवं उत्पीड़क बल के साथ–साथ योग्य बनाने वाला संसाधन भी है। जैसा कि हमने देखा सत्ता कुलीन एवं स्थानीय समुदाय दोनों के पास होती है। सत्ता अपने स्वभावगत कई प्रकार की ऊर्जा को समाहित करती है तथा समाज में सभी संबंधों को नियमित करती है, जिससे यह समाजशास्त्रियों के लिए विशेष रुचि का विषय बन जाता है।

## 8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेरटेड, आर, 1982 (आर्ग, 1950), ए एनालाइसिस ऑफ सोशल पॉवर इन सोसियोलॉजिकल थ्योरी : ए बुक ऑफ रीडिंग्स एडीटेड बाई लेविस ए कोसर एंड बर्नार्ड रोजेनबर्ग, न्यूयार्क, मैकमिलन।

डी. एंटोनियो, विलियम वी एंड होवॉर्ड एस. एरलिक (एडी.), 1961, पॉवर एंड डेमोक्रेसी इन अमेरिका, नॉट्रे डेम, इंडियानाः यूनिवर्सिटी ऑफ नॉट्रे डेम प्रेस।

### संदर्भ

एरॉन, आर. 1966 (आर्जि. 1960)। "सोशल क्लास, पॉलिटिकल क्लास, रूलिंग क्लास" इन क्लास, स्टेट्स एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कंपरेटिव पर्सपेक्टिव एडिटेड बाई रेंटार्ड बेंसिक्स एंड सेमॉन मार्टिन लिपसेट, लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

बेनफील्ड, एडवर्ड सी. 1961। पॉलिटिकल इनफ्ल्यूएंस, न्यूयार्कः द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्को।

बेरटेड, आर., 1982 (आर्ग, 1950), एन एनालाइसिस ऑफ सोशल पॉवर इन सोसियोलॉजिकल थ्योरी : ए बुक ऑफ रीडिंग्स एडीटेड बाई लेविस ए कोसर एंड बर्नार्ड रोजेनबर्ग, न्यूयार्क, मैकमिलन।

बोट्टोमोर, आई.बी. 1964, एलीट्स एंड सोसायटी, न्यूयार्क, पेंगुइन बुक्स।

कोसर, लेविस ए. 1982, "द नोशन ऑफ पॉवर : थ्योरोटिकल डेवलपमेंट्स" इन सोसिलॉजिकल थ्योरी : ए बुक ऑफ रीडिंग्स एडिटेड बाई लेविस ए. कोसर एंड बर्नाड रोजेनबर्ग, न्यूयार्क : मैकमिलन।

डी. एंटोनियो, विलियम वी एंड होवॉर्ड एस. एरलिक (एडी.) 1961, पॉवर एंड डेमोक्रेसी इन अमेरिका, नॉट्रे डेम, इंडियाना : यूनिवर्सिटी ऑफ नॉट्रे डेम प्रेस।

फोको, एम. 1982, "द सब्जेक्स एंड पॉवर" इन मिखाइल बिवाइंड स्ट्रक्चरलिज्म एंड हर्मेंटीज एडिटेड बाई एच. ड्रेफुस एंड पी. रेनबो, ब्रिग्टॉनः हार्वेस्टर।

गर्थ, एच उंड सी. राइट मिल्स, 1993, चार्टर एंड सोशल स्ट्रक्चर, स्ट्रक्चर, हारकोर्ट ब्रेस जोवानविक।

गिड्रडंस, ए. 1976, यू रूल्स ऑफ द सोसेयोलॉजिकल मैथड, लंदनः हचिंसन।

गिड्डंस, ए. 1982, "पॉवर, द डायलेक्टिक ऑफ कंट्रोल एंड क्लास स्ट्रक्चुरेशन" इन सोशल क्ला एंड द डिविजन ऑफ लेबर : एसेज इन ऑनर द इल्या न्यूसटाड।

गिड्डंस, ए. 1984, द कंस्टिट्यूशन ऑफ सोसायटी, कैम्ब्रिजः पॉलिटी प्रेस।

कॉर्नहौसर, डब्ल्यू. 1966 (ऑर्जि, 1961) "पॉवर" एलीट ऑर "वीटो ग्रुप्स"? इन क्लास, स्टेटस एंड पॉवरः सोशल सट्राटिफिकेशन इन कंपरेटिव पर्सपेक्टिव एडिटेड बाइ रेनहार्ड बेंडिक्स एंड सेग्मॉर मार्टिन लिपसेट। लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

लुकेस, एस. 1977 (रिप्रिंट 1982), एसेज इन सोसियोलौजिकल थ्योरी, न्यूयार्कः कोलम्बिया, यून्निवर्सिटी प्रेस।

आधारित बहस को प्रारंभ किया। विवाद का मूल मुद्दा यह है कि स्थानीय समुदायों पर किस की सत्ता/सत्ता है। मिलर का आग्रह है कि कुलीन व्यावसायी वर्ग स्थानीय समुदायों में निर्णय लेते हैं। दूसरी ओर डहल का कहना है कि सत्ता एकमुखी न होकर बहुमुखी है। अब हम दोनों दृष्टिकोणों की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर चर्चा करेंगे। डेलबर्ट मिलर ने समाज से सुविज्ञ सूचना देने वालों को चुना। उसने उनको एक तैयार सूची में से महत्वपूर्ण और भिन्न–भिन्न संगठनों एवं संस्थाओं से जुड़े लोगों को चुनने के लिए कहा जो काम करवा लेने की सत्ता रखते थे। अब मिलर ने उनके द्वारा चुने हुए लोगों से साक्षात्कार किया। उसने उनसे यह भी पूछा कि कोई काम करवा लेने के लिए वे किससे सहायता मांगेंगे। इसको प्रतिष्ठात्मक तकनीक का नाम दिया गया। मिलर के विचार से व्यावसायी वर्ग अपना काम करवा लेते थे। वे समुदाय में नीति निर्माण को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। यहां स्थानीय सरकारें मजबूत नहीं होती और निर्वाचित अधिकारी प्रायः व्यावसायी, वकील अथवा समुदाय के राजनीतिज्ञ होते हैं। यह 'पैसीफिक सिटी' के लिए सत्य था। यद्यपि 'इंग्लिश सिटी' के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि व्यावसायी नहीं अपितु श्रमिक महत्पपूर्ण तथा साथ ही शिक्षा, धर्म और कल्याण तथा प्रतिष्ठा समूहों के क्षेत्र से निकले नेता भी महत्वपूर्ण थे। उपरोक्त उल्लिखित दोनों अध्ययनों के आधार पर मिलर ने निष्कर्ष निकाला कि सत्ता का ढांचा/प्रतिमान पूरे अमेरिकी समाज में एकरूप नहीं था।

राबर्ट डह ने 'न्यू हैवन' का अध्ययन किया। उसके शोध का तरीका मिलर के ढंग से बिल्कुल अलग था। डहल ने विशेष मुद्दों पर विशेष निर्णयों को खोजा। महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने विशेष परिस्थितियों में विशिष्ट निर्णय लेने वालों की खोज की। इस तकनीक को 'घटना विश्लेषण' का नाम दिया गया। उसका निष्कर्ष था कि मिलर के आग्रह के विपरीत निर्णय लेने की प्रक्रिया में व्यावसायियों की भूमिका बहुत कम थीं उसने स्पष्ट किया कि इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता था कि व्यावसायियों के पास अनेक संसाधन होते हैं पर यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी कई देनदारियां और जिम्मेदारियां होती हैं जो उन पर अनेक बाधाएं लगाती हैं और इस कारण वे निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रमुख योगदान देने वाले नहीं हो सकते। इसलिए सत्ता का एक केन्द्र नहीं अपितु कई पथ होते हैं। डहल की मान्यता है कि महापौर एवं उसका स्टाफ महत्वपूर्ण समुदायिक निर्णय लेने की शुरुआत करने वाले एवं व्यवस्था करने में अधिक भागीदार होते हैं। मिलर का आग्रह था कि राजनीतिक नेता अपने प्रति अनिश्चित होते हैं तथा दूसरों से संकेत पाने की ताक में रहते हैं जबकि व्यावसायी की एक सुपरिभाषित छवि है और वे अधिक दृढ़ता से कार्य करते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मिलर एवं डहल से अलग लेनफील्ड (1961) ने समुदाय की सत्ता के क्षेत्र में शिकागो में छः सामुदायिक समस्याओं का अध्ययन करके महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि निश्चित रूप से शिकागो में राष्ट्रीय निगमों और क्षेत्रीय व्यापारिक तथा बैंकिंग संस्थानों में उच्च पदों पर आसीन व्यावसायी संसाधनों से सम्पन्न होते हैं जिससे उन्हें असीम सत्ता प्राप्त होती है। फिर भी व्यावसायी महत्वपूर्ण सामुदायिक निर्णयों में प्रमुखता नहीं रखते। इस क्षेत्र से दूर रहने का मुख्य कारण एकता का अभाव एवं हित हैं तथा इसके साथ ही हस्तक्षेप करने की कीमत थी। वे संतुष्ट दिखते थे तथा यदि उनके हित दाव पर न लगे हों तो वे ऐसी स्थितियों को जाने देते थे। दूसरी ओर यदि उनके व्यक्तिगत हितों को खतरा होता था अथवा चोट पहुंचती थी तो वे अधिकाधिक सम्मिलित होकर अपने प्रभाव के प्रयोग से निर्णयों को प्रभावित करते थे। बेनफील्ड उस विषय पर डहल से सहमत था कि शिकागो में मुख्य निर्णय बड़े संगठनों के प्रबंधकों, कुछ नागरिक नेताओं तथा मुख्य निर्वाचित अधिकारियों द्वारा किए जाते हैं।

बेनफील्ड राजनीतिक नेताओं को सशक्त रूप से सर्वव्यापक मानता प्रतीत होता है जब वे किसी प्रश्न पर खुलकर आते हैं। ऐसे में उन्हें अपने सीमित पूंजी को खर्च करने की नौबत आती है तथा राष्ट्रीय सरकार के अतिरिक्त अन्य सत्ता समूहों, व्यावसायियों, अन्य सत्ताशाली सामुदायिक तत्वों के विरुद्ध संघर्ष में उतरना पड़ता है जिनके हित प्रभावित होते हैं तथा जो विरोधी पक्ष लेते हैं। इसलिए वे प्रायः धीमे होते हैं और मुद्दों पर टकराव के बजाय समझौतों की कोशिश करते हैं।

मिल्स, सी. राइट, 1956, द पॉवर एलीट, न्यूयार्क : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

पैरेटो, वी. 1935, द माइंड एंड सोसायटी, न्यूयार्कः हार कोर्ट ब्रेस जोवानोविक

रेसमन, 1853, द लोनली क्राउड, न्यूयार्क : डबलडे एंकर एडीसन।

रॉस, ई.ए. 1916, सोशल कंट्रोल, न्यू यार्क, मैकमिलन।

स्पिनारेड, डब्ल्यू, 1966, (आर्जि. 1965), ''पॉवर इन लोकल कम्युनिटीज'' इन क्लास, स्टेटस एवं पॉवर : सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव एडीटेड बाई रेनहर्ड बेंसिक्स एंड सेमॉर मार्टिन लिपसेट, लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

स्टुवार्ड, ए. 2001, थ्योरीज ऑफ पॉवर एंड डोमिनेशनः द पॉलिटिक्स ऑफ एम्पावरमेंट इन लेट मॉडर्निटी, न्यू दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस।

टवारे, आर.एच. 1931, इक्वालिटी, लंदन : एल्लेन एंड अनविन।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 9

# वर्ग और वैधता

**इकाई की रूपरेखा**


9.1 प्रस्तावना

9.2 पूंजीवाद, वर्ग संबंध और विकास

9.3 वैधता की संकल्पना

9.4 वैधता क्यों आवश्यक है?

9.5 वैधता के आधार : परम्परागत, कानूनी–तार्किक, चमत्कारिक

9.6 परम्परागत (पारम्परिक) सत्ता

9.7 कानूनी–तार्किक सत्ता

9.8 चमत्कारिक सत्ता

9.9 वैधता और सामाजिक परिवर्तन

9.10 सारांश

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विभिन्न प्रकार की वैधता को जान पाएंगे;
- वैधता के आधार की रूप रेखा; और
- वैधता के अस्थायी आधार का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण संकल्पना वर्ग और वैधता पर चर्चा करेंगे। इस इकाई के पहले भाग में हम कार्ल मार्क्स वर्णित वर्ग की संकल्पना पर अधिक ध्यान देंगे। दूसरे भाग में हम मैक्स वेबर द्वारा प्रचारित वैधता की धारणा पर चर्चा करेंगे। आइये हम वर्ग से प्रारंभ करें:

परम्परागत ढंग से वर्ग एक समूह अथवा लोगों के ऐसे समूह को कहते हैं जिनके कुछ गुण एक से होते हैं। उन्होंने समाज में वर्ग की स्थिति का कई प्रकार से निर्धारण किया है। मार्क्स के अनुसार समाज में किसी वर्ग की स्थिति के निर्धारण के लिए आर्थिक स्थिति प्रमुख है। इसको सरल ढंग से यूं कहा जा सकता है कि वर्ग ऐसे लोगों का समूह है जिनका समाज के अन्य वर्गों के विरुद्ध एक सांझा आर्थिक हित होता है। उसके लिए समाज में वर्गों के निर्माण के लिए ये आर्थिक स्थिति आधार होता है। यद्यपि उसके लिए वर्ग केवल एक आर्थिक वर्ग नहीं था अपितु समाज में परिवर्तन लाने के लिए एक सामाजिक बल था। वह यहां समाज में क्रांति लाने के लिए आर्थिक वर्गों में परिवर्तनशीलता के मुद्दे पर परिवर्तन के एक मुख्य कारक के रूप में आत्मपरक चेतना पर बल देता है। अतः उसके लिए दूसरों के समक्ष एक से आर्थिक हित रखने वाले लोगों का समूह अपने आप में एक वर्ग है और जब अपने आप में इस वर्ग के साथ आत्म परक वर्ग चेतना की मध्यस्थता होती है तो यह अपने लिए वर्ग बन के उभरता है। वस्तुतः यह वर्ग क्रांतिकारी होता है जो समाज में परिवर्तन एवं कार्रवाई के लिए तैयार होता है।

यह महत्वपूर्ण है कि वर्ग स्थिर सामाजिक श्रेणी नहीं होती, अपितु यह समाज के परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती है। प्रत्येक समाज की हर आर्थिक स्थिति में प्रत्येक वर्ग की बिल्कुल अलग सामाजिक और ऐतिहासिक भूमिकाएं होती हैं। हमें इसे विस्तृत रूप से समझने के लिए वर्ग संबंध और परिवर्तन से संबंधित मार्क्स की संकल्पना को समझना होगा।

### वर्ग संबंध और परिवर्तन

समाज के आर्थिक परिवर्तन के सभी स्तरों और स्थितियों में विशेष प्रकार के वर्ग संघर्ष होते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार सामाजिक वर्ग सामाजिक परिवर्तन के एजेंट होते हैं। परिवर्तन वर्ग संघर्ष पर निर्भर करता है। अतः उसके लिए आज तक सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है। उन्मुक्त और स्वतंत्र लोग तथा दास, कुलीन और नीच, जमींदार और कृषि दास, मालिक और मजदूर और एक शब्द में कहें तो शोषक और शोषित निरंतर एक–दूसरे के विरुद्ध रहे हैं–कभी छुपे हुए और कभी खुली स्पष्ट लड़ाई–एक ऐसी लड़ाई जिसका परिणाम या तो क्रांतिकारी समाज का पुनर्गठन रहा अथवा या फिर संघर्ष करने वाले समाजों की तबाही रहा।

मार्क्स के अनुसार वर्गों का निर्माण वस्तुनिष्ट भौतिक स्थितियों पर आधारित होता है। वर्ग एक प्रकार की आर्थिक स्थिति के लोगों का समूह होता है इसी प्रकार अन्य वर्ग होता है। सार यह कि यह आर्थिक हित एक–दूसरे के वर्ग के विरुद्ध और विपरीत होता है ये वर्ग संबंध एक–दूसरे के प्रति वर्ग चेतना के कारण आक्रमण कार्रवाई में परिवर्तित होते हैं। वस्तुनिष्ठ भौतिक स्थितियां 'अपने आप में वर्ग' का आधार बनती हैं जो व्यक्तिपरक वर्ग चेतना को भेदने और छेदने की प्रक्रिया में "अपने आपके लिए वर्ग" में परिवर्तित हो जाती हैं।

कार्ल मार्क्स के लिए इतिहास के प्रारंभिक युगों में वर्ग संबंध बहुत जटिल थे जो वर्तमान पूंजीवाद की स्थिति में सरल हो गए हैं। आधुनिक पूंजीवाद समाज में कार्रवाई की नई परिस्थितियों और उत्पादन पर नियंत्रण रखने वाले बुर्जुआ वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच नए प्रकार के संघर्ष से जुड़े नये वर्ग उभरे हैं।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद के अंतर्गत दिहाड़ी मजदूर कंगाल होते हैं जो जनसंख्या और पूंजी के बढ़ने की दर से कहीं तेज दर से बढ़ते हैं। बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व एवं फलने–फूलने के लिए पूंजी निर्माण और इसमें वृद्धि आवश्यक है। उद्योगों की उन्नति, जिसे बुर्जुआ वर्ग प्रोत्साहित करता है–मजदूर के एकाकीपन को मजदूरों के संगठन और क्रांतिकारी जुड़ाव से प्रतिस्थापित करती है। आधुनिक उद्योगों का विकास स्वतः ही अपनी उन जड़ों को काटता है जिसके आधार पर वे उत्पादन करते हैं और सराहते हैं। अतः बुर्जुआ वर्ग वास्तव में अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा करता है। बुर्जुआ वर्ग का अंत और मजदूरों की विजय अपरिहार्य है। (119)

## 9.2 पूंजीवाद, वर्ग संबंध और विकास

आधुनिक उद्योगों ने विश्व बाजार को स्थापित किया है जिससे वाणिज्य, जहाजरानी और धरा के माध्यम से संचार व्यवस्था के विकास की संभावनाओं को असीम बनाया है। इस विकास ने फिर से उद्योगों एवं स्वतंत्र व्यापार के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया है।

बुर्जुआ वर्ग नए बाजारों के विस्तार, नई प्रौद्योगिकी को लागू करने, अतिरिक्त मूल्य कमाने और सर्वहारा के शोषण से निरन्तर अपने लाभ को अधिकतम करता रहता है। यद्यपि इन सबके साथ पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर अंतर्विरोध की नई ताकतें उभरती हैं। परस्पर विरोध की नई ताकतों के अभ्युदय से अघूते बुर्जुआ वर्ग अपने दृष्टिकोण और व्यवहार में बहुत क्रांतिकारी थे। मार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से बुर्जुआ वर्ग ने सर्वाधिक क्रांतिकारी भूमिका का निर्वाह किया है। बुर्जुआ वर्ग उत्पादन के अपने साधनों में तीव्र परिवर्तन किए बिना नहीं रह सकता और इस कारण संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तनों के बिना नहीं रह सकता।

विश्व बाजार के दोहन के माध्यम से बुर्जुआ वर्ग ने उत्पादन और खपत की प्रक्रिया को विश्वव्यापी बना दिया है। पुराने उद्योग नष्ट हो गए। पुराने राष्ट्रीय उद्योग हटा दिए गए। पूंजीवादी व्यवस्था

में अब उद्योग स्थानीय कच्चे माल पर निर्भर नहीं करते अपितु कच्चा माल दूर–दूर के क्षेत्रों से प्राप्त किया जाता है और इसके उत्पादों की पूरे विश्व के हर क्षेत्र में खपत होती है। अपने देश के उत्पादन से संतुष्ट होने वाली मांगों के स्थान पर अब नई आवश्यकताएं दिखाई देती हैं जिनकी पूर्ती दूर–दराज के देशों के उत्पादनों से होती है। पुराने स्थानीय और राष्ट्रीय अकेलेपन और आत्मनिर्भरता का स्थान अब हर दिशा में व्यवहार और देशों की सार्वभौमिक परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। जैसा वस्तुओं के उत्पादन में हुआ है वैसा ही बौद्धिक उत्पादन में भी हुआ है। अलग–अलग देशों की बौद्धिक कृतियां सबकी संयुक्त सम्पत्ति बन जाती है। एक तरफ राष्ट्रीयता और संकुचित मानसिकता अब अधिकाधिक असंभव होती जा रही है और अब अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्य के स्थान पर विश्व साहित्य का उदय हुआ है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादियों ने मानव और मशीन के बल पर प्रकृति का भी प्रयोग किया है जैसे उद्योगों एवं कृषि में मांग से जहाज रानी, रेलवे, इलैक्ट्रिक टेलिग्राफ तथा नदियों के नहरीकरण के मामलों में रसायनशास्त्र के प्रयोग से। इस सबसे विश्व स्तर पर अर्थव्यवस्था के स्वतंत्र वस्तुकरण के क्षेत्र को सहायता मिली। इससे स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा का अभ्युदय हुआ जिसको सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं ने भी अपनाया।

मार्क्स के अनुसार आधुनिक पूंजीवाद ने अपने विनाश के बीज अपने ही भीतर बो लिए हैं। बुर्जुआ वर्ग की वृद्धि के अनुपात में आधुनिक मजदूर वर्ग 'सर्वहारा' का उदय हुआ है। ये मजदूर जो अपने आपको थोड़ा–थोड़ा करके बेचते हैं– वे वाणिज्य की अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु हैं और उन पर प्रतियोगिता के सभी प्रभाव पड़ते हैं तथा बाजार के उतार–चढ़ाव का भी उन पर प्रभाव होता है।

मार्क्स के अनुसार मालिक का मूल उद्देश्य है कि वह अपने लाभ को उत्पादन प्रक्रिया के वस्तुकरण के माध्यम से अधिकतम करना चाहता है। जब तक पूंजीवाद उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पर आधारित है तब तक यह निजी उत्पादकों के लाभ को अधिकतम करता है। इस लाभ को फिर धन के प्रत्यार्वन के माध्यम से और अधिक किया जाता है। धीरे–धीरे वस्तु के माध्यम से धन से धन द्वारा अर्जित लाभ वहाँ जाकर रुकता है जब किसी के पास पैसा प्रारंभ से कहीं अधिक हो जाता है। लाभ के स्रोत बताने के लिए मार्क्स मूल्यों के सिद्धांत मजदूरी/वेतन और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की चर्चा करता है। मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु में लगे श्रम की गुणवत्ता के अनुपात में होता है। पूंजीपति मजदूरों को जो वेतन देते हैं वह उन मजदूरों द्वारा पूंजीपति को दिए गए श्रम का हरजाना है जो पूंजीपति के व्यापार के अस्तित्व के लिए मजदूरों और उनके परिवारों के अस्तित्व के लिए आवश्यक राशि के बराबर होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मजदूर को की गई मजदूरी से कम वेतन मिलता है अर्थात् उसके उत्पादित की गई वस्तु की कीमत से कम मिलता है। यहां अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत आता है जिसका अर्थ है मजदूर के श्रम घंटों से अधिक उत्पादित कीमत। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मजदूर को अपने श्रम घंटों से अधिक अपने उत्पादन की गुणवत्ता के लिए कुछ नहीं मिलता। उसे तो केवल अपने जीवन के लिए आवश्यक साधनों तक सीमित वेतन ही मिलता है। मार्क्स ने किसी वस्तु की कीमत और मजदूरी की भी गणना की जो वस्तु के उत्पादन की कीमत के बराबर है। जैसे–जैसे काम के प्रति आकर्षण घटता है वैसे–वैसे वेतन/मजदूरी भी घटती है। मशीनों के प्रयोग के बढ़ने और श्रम विभाजन से मजदूर की मजदूरी का बोझ उसके श्रम के घंटों में वृद्धि तथा काम के बढ़ने के रूप में बढ़ता है। सर्वहारा के पास सम्पत्ति नहीं होती। उसके अपने बच्चों और पत्नी के साथ संबंध बुर्जुआ वर्ग के पारिवारिक संबंधों के साथ कोई तुलना नहीं रखते, आधुनिक औद्योगिक मजदूर फ्रांस, अमेरिका और जर्मनी में एक जैसी होने के कारण मजदूर की विशुद्ध राष्ट्रीय पहचान छिन गई है। कानून, नैतिकता और धर्म उसके लिए बुर्जुआ वर्ग के पूर्वाग्रह हैं जिनके पीछे अनेक बुर्जुआ हित छिपे रहते हैं। (118)

धीरे–धीरे अधिक शक्ति एवं जागरूकता प्राप्त करने के लिए सर्वहारा वर्ग की संख्या भी बढ़ जाती है। बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध लड़ाई में निम्न मध्यम वर्ग, छोटे निर्माता, कारीगर और किसान भी सर्वहारा की फौज में सम्मिलित हो जाते हैं। मार्क्स के लिए पिछले सभी आन्दोलन अल्पसंख्यकों के आन्दोलन थे या अल्प संख्यकों के हित में किए गए आन्दोलन थे। सर्वहारा आन्दोलन आत्म चेतना से पूर्ण अपार

बहुसंख्यकों का स्वतंत्र आन्दोलन है अथवा बहुसंख्यकों के हित में आन्दोलन है। और मार्क्स फिर लिखता है कि सर्वहारा के विकास के अधिकांश सामान्य पक्षों को दर्शाने में हमें वर्तमान समाज में चल रहे गुप्त गृह–युद्ध का पता इस सीमा तक चला जहाँ यह युद्ध खुली क्रांति के रूप में प्रकट होकर बुर्जुआ वर्ग का तखता पलट कर सर्वहारा के नियंत्रण की नीवं रखता है।

## 9.3 वैधता की संकल्पना

वैधता का अर्थ है कानूनी और नियमित गतिविधियां जिन्हें किसी उचित आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी वैध उद्देश्य के लिए जनता के पैसे को प्रयोग करना, कार्यालय अथवा कार्य से अनुपस्थित रहने के वैध कारण और वैध रूप से संबंधित/विवाहित लोगों के यहां पैदा होना–ऐसे मामले हैं जो हमें वैधता शब्द के प्रयोग के बारे में प्रारंभिक विचार प्रदान करते हैं। हमारे दैनिक जीवन में ऐसे अनेक मामले आते हैं जब हम दूसरों के कृत्यों और कार्यों को उचित, स्वीकार्य और न्यायसंगत मानते हैं। लेकिन कभी ऐसे उदाहरण भी आते हैं जब हम दूसरों के कार्यों को न्यायोचित नहीं समझते। जब हम दूसरों की हरकतों पर प्रश्न उठाने लगते हैं तब हमें वैध शब्द के अर्थ का कुछ अनुभव होने लगता है। किसी व्यक्ति के पास हमारे साथ इस तरह बात करने का क्या अधिकार है? वह हमें कुछ करने का आदेश देने वाला कौन होता है? ऐसे प्रश्न हमारे दिमाग में तब आते हैं जब हम दूसरों की गतिविधियों, निर्णयों अथवा आदेशों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। इसको यूं समझा जा सकता है कि किसी के पास क्या वैध आधार है जिसके दम पर वह हमसे अनुग्रह के लिए कह रहा है। यह प्रश्न दूसरे की गतिविधियों से जुड़ा हुआ है, लेकिन कभी–कभी किसी की प्रतिष्ठा से संबंधित प्रश्न भी उठाए जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का जिक्र पहले किया जा चुका है। वैध संबंधों जैसे विवाह से उत्पन्न संतान को वैध संतान कहा जाता है। इस प्रकार वैधता की धारणा का क्षेत्र हमारी सामान्य चिंताओं से कहीं अधिक विस्तृत है।

## 9.4 वैधता क्यों आवश्यक है?

आधुनिक समय में अथवा इतिहास में, पूरे विश्व में सत्ता में रहे लोग अथवा सरकारें लोगों पर अपनी सत्ता को प्रायः न्यायोचित दर्शाने का प्रयास करते रहे हैं। सत्तासीन लोग अपनी शक्ति रखने को वैध दर्शाने में सक्षम होने चाहिए। उदाहरण के लिए लोकतांत्रिक देशों में शासन करने वाले लोग नियमित आधार पर लोगों द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। ऐसे देशों में निर्वाचन एक निश्चित अवधि के बाद होते हैं और केवल निर्वाचित प्रतिनिधियों को ही लोगों पर शासन करने का अधिकार होता है। सत्तासीन लोग कुछ विशिष्ट सुविधाओं पर अपनी पकड़ एवं पुरस्कारों एवं पदवियों को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं। वे ऐसा निश्चित प्रक्रम विकसित कर लेते हैं जिससे वे अपने अधीन लोगों तथा जन–साधारण पर अपने अधिकारों को न्यायोचित ठहराने में सफल रहते हैं। दूसरी ओर ये अधीन लोग भी कुछ आधार तलाशते हैं जिसके कारण वे अपने से श्रेष्ठ लोगों की अधीनता को स्वीकार कर सकें। इस प्रकार वैधता शासक और शासितों के बीच संघर्ष का समाधान कर सकती है। इस प्रकार वैधता लोगों के विभिन्न दावों के बीच संघर्ष को समाप्त करती है और विशेषतः उन मामलों में जो समाज में शक्ति वितरण से जुड़े हुए हों। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि वैधता के इर्द–गिर्द मुद्दों का क्षेत्र दिखाई देने वाले क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है। इन मुद्दों में से कुछ का अर्थपूर्ण और वैज्ञानिक विश्लेषण समाजशास्त्रीय निबंधों में किया गया है।

## 9.5 वैधता के आधार : परम्परागत, कानूनी–तार्किक, चमत्कारिक

जर्मनी के प्रमुख समाजशास्त्री मैक्स वेबर को श्रेय जाना चाहिए कि उसने न केवल वैधता जैसे मुद्दों के महत्व को पहचाना अपितु इसके वैज्ञानिक विश्लेषण का भी प्रयास किया। समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए वैधता को एक महत्वपूर्ण मुद्दा स्थापित करने के बाद उसने वैधता के महत्वपूर्ण

आधारों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया। मैक्स वेबर ने वैधता के तीन मुख्य आधारों की पहचान की जिन्हें उसने परम्परागत, कानूनी–तार्किक और चमत्कारिक कहा। मैक्स वेबर ने शक्ति और सत्ता (अधिकार) के बीच अन्तर को भी स्पष्ट किया। मैक्स वेबर के अनुसार शक्ति का अभिप्राय कर्ता द्वारा प्रतिरोध के बावजूद अपनी इच्छा को पूरा करना है। उसके अनुसार वैध शक्ति को ही सत्ता कहते हैं।

## 9.6 परम्परागत (पारम्परिक) सत्ता

परम्परागत आधार पर वैधता को पाया जा सकता है। इतिहास में कुछ समय पहले तक विश्व में अनेक सम्राट परम्परागत सत्ता के आधार पर लोगों पर शासन करते थे। यदि सत्ता को परम्परागत ढंग से प्राप्त किया गया (जैसा कि सम्राटों के मामले में) तो लोग प्रायः उस पर उंगली नहीं उठाते। अनेक परम्परागत कल्पित कथाओं और ग्रंथों द्वारा राजा के शासन का समर्थन किया गया है क्योंकि उसे ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। राजा के शासन के पीछे मुख्य मान्यता यह थी कि ईश्वर ने राजा को लोगों के कल्याण एवं भलाई के लिए आज्ञा दी है।

**बाक्स 9.1 आरोपित प्रतिष्ठा**

राजा के अतिरिक्त भारत में अनेक गांवों के मुखिया भी इस प्रकार की पारम्परिक सत्ता का आनन्द लेते रहे हैं। भारत में पारम्परिक पंचायतों और जातीय पंचायतों ने परम्परागत सत्ता को फलने–फूलने के पर्याप्त क्षेत्र को प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विभिन्न भागों में कबीलों के मुखियाओं के अनेक मामले हैं। ऐसे सभी उदाहरण एक केन्द्रीय प्रश्न की ओर ले जाते हैं। प्रारंभिक समाजों में शासकों को लोगों पर शासन करने में क्यों अधिक समस्याएं और प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा? इसका उत्तर यह है कि शासक अपनी परम्परागत वैधता का प्रयोग की शक्ति प्राप्त करते थे तथा अपने अधीन लोगों तथा समाज के शोषित तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण के नाम पर अपनी गतिविधियों को न्यायोचित ठहराते थे। परम्परागत सत्ता समाज के अनेक लोगों की आरोपित प्रतिष्ठा के साथ भी जुड़ी हुई है। ऐसी सुविधा संपन्न स्थिति को प्राप्त करने के लिए नियुक्ति कौन करता है? किस आधार पर कोई कुछ निश्चित आदेश करता है जिसका अधिकांश लोगों को पालन करना होता है? लोग प्रायः ऐसे प्रश्नों से बचते हैं और इस प्रकार से संघर्ष समाधान का स्रोत प्रायः प्रचलित परम्परागत सत्ता होती है। अतः यदि शक्ति संरचना परम्परागत आधार पर अपनी वैधता प्राप्त करती है तो इसे पारम्परिक सत्ता के रूप में समझा जाता है।

MADHYAM IAS

## 9.7 कानूनी–तार्किक सत्ता

मैक्स वेबर के अनुसार वैधता का दूसरा आधार कानूनी और तार्किक है। इस प्रकार की सत्ता प्रायः विश्व के सभी आधुनिक समाजों में पाई गई है। इस प्रकार की कानूनी और तर्कसंगत सत्ता की सबसे उपयुक्त अभिव्यक्ति आजकल की अफसरशाही को कहा जा सकता है। मैक्स वेबर ने स्वयं अफसरशाही की पूरे देश में उभरती हुई एक घटना के रूप में पहचान की और इसका सैद्धांतिक विश्लेषण किया। यद्यपि बाद में कुछ अन्य समाज विज्ञानों के कुछ अन्य विद्वानों ने भी बदलते हुए विश्व के परिदृश्य में नौकरशाही की धारणा को समझने की कोशिश की परन्तु मैक्स वेबर की बुद्धिमत्तापूर्ण शिल्पकारिता के कारण आज भी नौकरशाही पर उसके सूत्रों को सम्मान प्राप्त है। वास्तव में मैक्स वेबर की विवेचना में प्रायः उसके नौकरशाही पर सूत्रों से अधिक बहुत कुछ है। उदाहरण के लिए मैक्स वेबर के नौकरशाही पर सूत्रों में आदर्श प्रकार, आधुनिक संगठन और उसके सामाजिक विज्ञान की प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं। यहां पर मूल मुद्दा यह समझने का है कि आधुनिक संगठनों में किस प्रकार नौकरशाही को कानूनी–तार्किक आधार पर वैधता प्राप्त होती है। आगे बढ़ने से पहले नौकरशाही के प्रति कुछ विचारों को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

**बॉक्स 9.2: आदर्श प्रकार की नौकरशाही**

नौकरशाही की धारणा की विभिन्न विद्वानों, शिक्षाविदों और राजनीतिक नीतिकारों ने स्वागत के साथ–साथ आलोचना की है। नौकरशाही पर चर्चा शैक्षणिक बहस से कहीं आगे तक जाती है और कई बार राजनीतिक और नैतिक आधार पर इसकी भूमिका पर प्रश्न उठाए गए हैं। अपनी समझ के अनुसार विशेषतः अमेरिका में मैक्स वेबर ने आदर्श प्रकार की नौकरशाही का निर्माण किया जिसमें इसके साथ जुड़ी ग्यारह विशेषताएं सम्मिलित थी। इस अवस्था में स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि यहां पर मैक्स वेबर के आदर्श प्रकार की धारणा पर चर्चा नहीं की जा रही है, परन्तु इसके संबंध में कुछ बातों को दिमाग में रखना चाहिए क्योंकि उसने आदर्श प्रकार की नौकरशाही की चर्चा की थी।

पहले तो यह दिमाग में रखना चाहिए कि आदर्श प्रकार का किसी व्यक्ति अथवा संगठन द्वारा प्राप्त की जाने वाली आदर्श स्थितियों से कुछ लेना–देना नहीं है। दूसरे मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही में कथित गुण जो होने चाहिए, वे किसी नौकरशाही में वास्तव में नहीं मिलते। तीसरे आदर्श प्रकार का विपरीत वास्तविक नौकरशाही है जो समाज में वास्तव में होती है। लेकिन क्योंकि आदर्श प्रकार को समाज विज्ञान के साहित्य में महत्व प्राप्त हुआ तथा इसके प्रत्यंग वास्तविक प्रकार की नौकरशाही को न तो महत्व प्राप्त हुआ और न ही बाद की अवस्थाओं में शोध कार्य में इसका प्रयोग किया गया। परन्तु तब आदर्श प्रकार के निर्माण की क्या आवश्यकता थी। मैक्स वेबर का विश्वास था कि आदर्श प्रकार उपयोगी है और इसका निर्माण किया जा सकता है जब कभी हमारा अज्ञात अथवा कम ज्ञात स्थितियों से वास्ता पड़ रहा हो।

**सोचिये और कीजिये 9.1**

चमत्कारिक और तार्किक–कानूनी सत्ता में क्या अन्तर है? अपने उत्तर को अपनी कापी में लिखिये।

मैक्स वेबर ने वैधता की कानूनी–तार्किक धारणा को विस्तार से स्पष्ट किया है। आधुनिक संगठनों में वैधता के इस कानूनी तार्किक आधार को नौकरशाही के माध्यम से अनुभूत किया जाता है। इस अवस्था में पाठकों को परामर्श दिया जाता है कि वे इस प्रकार की वैधता को दिमाग में रखें और अन्य प्रकार की वैधताओं से उसकी तुलना करें। नौकरशाही के मुख्य लक्षणों अथवा विशेषताओं का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया जा सकता है–

1) नौकरशाही में लिखित नियमावली होती है जिसका ऊपर से लेकर नीचे तक सब एक सुपरिभाषित ढंग से पालन करते हैं। इससे संबंधित कार्य और आदेश ऊपर के अधिकारी देते हैं तथा नीचे के स्तर के लोग उनकी पालना करते हैं। नौकरशाही में कागजी काम की अधिकता होती है अर्थात मौखिक आदेश नहीं दिए जा सकते। इसी प्रकार केवल वही आदेश दिए जा सकते हैं जो नियमों के अनुसार उचित हों। इसका अर्थ यह हुआ कि न तो लगत आदेश दिए ही जा सकते हैं और न ही उनका पालन होता है। कागज पर लिखित कार्य से एक–दूसरे के प्रति पक्षपात के अवसर कम हो जाते हैं। इस प्रकार के संगठन और कार्य पद्धति के पीछे यह विचार होता है कि यदि मुद्दे ठीक और राज्य के कानूनों के अनुरूप हैं तो उन मुद्दों पर कार्य होना चाहिए। सक्षम एवं श्रेष्ठ नौकरशाही संगठन के उद्देश्यों में लोग नहीं अपितु मामले सम्मिलित होते हैं।

2) क्योंकि नौकरशाही अपना काम कागजों पर करते हैं, इसलिए यह काम इसके स्थायी कर्मचारी ही करते हैं। कार्यालय के नियम कर्मचारियों के चयन एवं पदोन्नति को नियमित करते हैं। इस प्रकार के संगठन की प्रकृति और कार्य इसके सदस्यों से भिन्न होते हैं। ऐसे संगठन के पीछे यह विचार होता है कि किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप कहीं से न हो, इसमें पूर्ण पारदर्शिता और अवैयक्तिक कार्यशैली हो।

3) यद्यपि वेबर का लेखन जनता नौकरशाही से संबंधित था परंतु इसके साथ जुड़ी तार्किकता पर उसके जोर ने इसके प्रयोग के क्षेत्र को निजी क्षेत्र तक विस्तृत किया। क्योंकि वेबर वैधता के तार्किक आधार को नौकरशाही एवं नए उद्यमों–दोनों के लिए जरूरी मानता था अतः ऐसी आशा थी कि अंततः नौकरशाही को निजी व्यापारिक संगठनों में भी स्थान मिलेगा।

4) वैधता के इस कानूनी तार्किक रूप को समझने एवं परीक्षण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि यह नौकरशाही के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने व्यवहार में मैक्स वेबर के सूत्रों के विपरीत विशेषताएं देखी थीं। उदाहरण के लिए कई विद्वानों द्वारा कुप्रशासन अक्षमता, अनावश्यक कागजी कार्रवाई तथा लोगों में असंतोष इत्यादि का जिक्र किया गया है। नौकरशाही की यह त्रुटियों का जिक्र पूंजीवादी और समाजवादी प्रकार की प्रशासन व्यवस्थाओं में भी होता है। लेकिन वैधता के कानूनी– तार्किक रूप को महत्व देने और इसके विश्लेषण का श्रेय मैक्सवेबर को जाता है।

## 9.8 चमत्कारिक सत्ता

चमत्कारिक सत्ता को मैक्स वेबर ने वैधता के तीसरे आधार के रूप में परिभाषित किया है। वैधता प्राप्त करने के ये आधार पिछले आधारों से बिल्कुल भिन्न हैं। चमत्कारिक सत्ता न तो परम्परागत और न ही कानूनी–तार्किक आधारों पर निर्भर है। यह पहले वर्णन किए गए दोनों आधारों से बिल्कुल भिन्न है। चमत्कार, किसी व्यक्ति में कुछ गुणों का नाम है जो उसको ईश्वरीय कृपा अथवा क्षमता प्रदान करते हैं जिससे वह दूसरों को प्रेरित करने तथा उनमें जोश भरने का काम कर सकता है। ये ऐसे विशिष्ट गुण हैं जो प्रत्येक प्रकार के व्यक्तित्वों में नहीं होते, ये लोगों में कम ही दिखाई पड़ते हैं। जिनके पास यह गुण होता है वह लोगों का समर्थन बिना किसी कठिनाई के सहज ही जुटा लेते हैं। वे अपने व्यक्तित्व में निहित इन दुर्लभ गुणों के आधार पर तथा समाज की समस्याओं को सुलझाने की अद्वितीय प्रवृत्ति के कारण लोगों का नेतृत्व करने योग्य होते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक चमत्कारिक नेता का न केवल अद्वितीय व्यक्तित्व होता है अपितु उसकी समाज की समस्याओं को हल करने की प्रवृत्ति भी पहले की प्रवृत्तियों से भिन्न दिखाई देती है। यदि हम किसी चमत्कारी नेता और उसके अनुयायियों में संबंधों का विश्लेषण करने लगें तो हमें ज्ञात होता कि इस प्रकार का संबंध भी अन्य संबंधों से बिल्कुल अलग है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

**बाक्स 9.3: व्यक्तिगत गुण और विशेषताएं**

जैसा कोई चमत्कारी नेता सोचता और कहता है उसके अनुयायी साधारणतः अपने नेता की इच्छाओं के अनुरूप काम करते हैं। इस आधार पर नेता अपने शब्दों और कार्यों के लिए वैधता प्राप्त करते हैं क्योंकि लोग बिना किसी प्रश्न के चुपचाप उसका अनुसरण करते हैं। हम इसे दूसरे शब्दों में भी समझ सकते हैं। चमत्कारी नेताओं में ऐसे व्यक्तिगत गुण और विशेषताएं होती हैं जिनके बल पर वे दूसरों को काबू करने और विशेषतः अपने अनुयायियों को काबू कर लेने में सक्षम होते हैं। यदि चमत्कारी नेता कुछ प्रस्तावित करता है तो उसके अनुयायी बिना कुछ पूछे उसका समर्थन करने को तत्पर रहते हैं। चमत्कारी नेता के अनुयायी उसे ऊंचाई पर रखते हैं तथा उसके निजी गुण अनुयायियों को इतना प्रभावित करते हैं कि वे उसके लिए कुछ भी करने को सहमत हो जाते हैं। इससे अनुयायियों का अपने नेता के प्रति असीम, अगाध और स्थायी प्रकार का विश्वास झलकता है। अपनी ओर से चमत्कारी नेता किसी भी समस्या को हल करने में सक्षम प्रतीत होता है और कम से कम उसके अनुयायी तो इस बात पर विश्वास करते हैं।

अनुयायी चमत्कारी नेता में विश्वास रखते हैं और प्रायः उसकी प्रवृति में क्या ठीक है या क्या गलत है, में भेद करने का प्रयास नहीं करते। चमत्कारी नेता वास्तव में दूसरों को प्रेरित करने में सक्षम होता है जिसके फलस्वरूप अनुयायी उसमें आस्था विकसित कर लेते हैं जो अधिकांशतः स्थायी होती है। वेबर ने चमत्कारिक प्रकार के नेतृत्व के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखा है। इसके अनुरूप चमत्कार

अथवा करिश्मा एक ताकत है जो नौकरशाही की कठोरता को चुनौती दे सकती है अथवा उस पर प्रश्न उठा सकती है। उदाहरण के लिए आधुनिक समाज के संदर्भ में चमत्कारी नेता कुछ विशेष मुद्दों जैसे बाल–मजदूरी अथवा मानवाधिकार इत्यादि पर नौकरशाही की भूमिका का बारीकी से परीक्षण कर सकते हैं। चमत्कारिक नेतृत्व एक विश्वास को लेकर चलता है जो नेता और अनुयायियों के बीच संबंधों को यथावत बनाए रखता है।

**सोचिये और कीजिये 9.2**

चमत्कार की धारणा की रूपरेखा बताइये। चमत्कार का किस प्रकार पुनः प्रयोग किया जाता है। अपने उत्तर को लिखिये।

मैक्स वेबर का विचार था कि नेता के लिए एक बार अपना चमत्कार दिखाना संभव है, परन्तु यह प्रयाप्त नहीं है। क्योंकि अनुयायियों की अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं तो नेतृत्व को विवश होकर अपना करिश्मा दोबारा दिखाना पड़ता है। वास्तव में अनुयायी अपने नेता से अपना करिश्मा एक से अधिक बार दिखाने की अपेक्षा करते हैं। सामान्यतः नेताओं को 'एक बार काफी नहीं है' की स्थिति घेर लेती है। अनुयायियों की ये ऊंची अपेक्षाएं नेता को बार–बार सोचने और कुछ ऐसा नया कर दिखाने को विवश करती हैं जिसे लोग पहले किए गए करिश्मे (चमत्कार) के बराबर समझें। और क्योंकि उसके व्यक्तित्व में विशेष अद्वितीय गुण होते हैं और कभी–कभी वह अपना करिश्मा दोबारा दिखा पाता है। मैक्स वेबर ने इस प्रक्रिया को "करिश्मे का नैत्यकरण" (Routinisation of Charesma) कहा। इसके बिना कोई करिश्माई नेता बना नहीं रह सकता। टी.के. ऊम्मेन ने भारतीय सन्दर्भ में ऐसे नेतृत्व के एक मामले का अध्ययन किया है। उसके अनुसार भूदान–ग्रामदान आन्दोलन में विनोबा भावे की भूमिका को करिश्माई (चमत्कारिक) नेता के रूप में देखा जा सकता है। अध्ययन में यह पाया गया कि विनोबा भावे के करिश्माई नेतृत्व का परिणाम व्यवस्था के स्थायित्व के पक्ष में था परन्तु उससे प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ जब कुछ शक्तिशाली लोगों ने अपनी जमीनें स्वेच्छा से गरीब लोगों को दान कर दीं। अतः करिश्माई अधिकार (चमत्कारिक सत्ता) का अभिप्राय वैधता के एक अद्वितीय आधार से है जो पूर्व वर्णित परम्परागत तथा कानूनी–तार्किक आधार से भिन्न है।

## 9.9 वैधता और सामाजिक परिवर्तन

MAADHYAM IAS

यद्यपि मैक्स वेबर ने तीन प्रकार की वैधता की चर्चा की है, परन्तु तब से समाज में कई परिवर्तन आ चुके हैं। मैक्स वेबर का वैधता को तीन प्रकार से जोड़ना उसकी अन्य धारणाओं के अनुरूप है और एक प्रकार से इन्हें शुद्ध अथवा आदर्श प्रकार के रूप में लिया जा सकता है। मैक्स वेबर के सूत्रीकरण ने वैधता के महत्वपूर्ण आधारों को सम्मिलित किया है परन्तु उसकी सूची बहुत विस्तृत नहीं है। उदाहरण के लिए आधुनिक समाज में वैधता के अन्य आधार की पहचान की गई है जो व्यावसायिक सत्ता से संबद्ध है। डाक्टर, इंजीनियर, चार्टेड एकाउंटेंट, कंप्यूटर प्रशिक्षित और वकील अपने काम में विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं और अपना काम सीखने के लिए बरसों पढ़ते और प्रशिक्षण लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप ऐसे व्यावसायियों की अपनी इच्छा होती है और उनके पास अपने कार्य क्षेत्र में स्वतंत्र निर्णय लेने और ऐसे कार्य करने की सत्ता होती है, जिसे करने में वह सक्षम हैं। अतः इस प्रकार से प्राप्त की गई शक्ति को व्यावसायिक सत्ता कहते हैं और इसे बरसों के प्रशिक्षण के बाद विशेषज्ञता के आधार पर प्राप्त किया जाता है। यहां एक उदाहरण दिया जा सकता है कि यह केवल डाक्टर ही निर्णय कर सकता है कि मरीज का किस प्रकार का इलाज किया जाए। इस प्रकार का निर्णय परम्परागत, कानूनी, तार्किक अथवा चमत्कारी सत्ता रखने वाले लोग नहीं ले सकते।

आजकल विश्व भर के समाज पहले की अपेक्षा अधिक तेज गति से बदल रहे हैं। परिवर्तन के इस काल को समाजों के रूपान्तरण का काल भी कहा जाता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया के दौरान लोगों के लिए वैधता के विभिन्न दावों को समझना कठिन हो जाता है। कई बार हम वैधता के परस्पर विरोधी दावों का सामना करते हैं। उदाहरण के लिए भारत में लड़के की शादी के विषय में निर्णय लेने के लिए कौन उपयुक्त व्यक्ति है–ऐसा ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि मां–बाप निर्णय लेते हैं

तो यह परम्परागत सत्ता का उदाहरण है और यदि लड़का स्वयं निर्णय लेता है और अदालत में शादी करता है तो यह कानूनी–तार्किक सत्ता (अधिकार) का उदाहरण है। एक विवाहित दम्पत्ति अपने संबंधों की वैधता को परम्परागत अथवा कानूनी–तार्किक आधार पर प्राप्त कर सकता है। अनुभाविक स्थितियों में हम कभी–कभी वैधता के परस्पर विरोधी आधारों से रूबरू होते हैं। उदाहरण के लिए विवाह के निर्णय के संबंध में हम वैधता के परम्परागत एवं कानूनी तार्किक आधारों के बीच परस्पर विरोधी दावों का सामना करते हैं। तेजी से बदलते समाजों में वैधता के वास्तविक आधारों को पहचानना वास्तव में कठिन हो जाता है। विश्व के समाजों में तेजी से हो रहे परिवर्तनों ने ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी हैं जहां वैधता के आधार का निर्णय करना कठिन हो जाता है। प्राचीन सामाजिक साहित्य में हमें ऐसे समाज देखने को मिलते हैं जिन्होंने विकास का आनन्द नहीं लिया है। समाजों के विकास के साथ कुछ अवांछित परिस्थितियां भी आई हैं।

उदाहरण के लिए–

एमिल दुर्खाइम ने समाज की रुग्ण अवस्था की चर्चा की है। कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में असंबद्धता की बात की है। ये परिस्थितियां वैधता के संकट के लिए आधार प्रदान करनी हैं। ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत कभी–कभी कार्रवाई के लिए वैध आधार के प्रति निर्णय नहीं किया जा सकता। आधुनिक समाजों में, विशेषतः अमेरिका के संदर्भ में सी. राईट ने समाज में व्याप्त असहजता और उदासीनता की चर्चा की है जो वर्तमान मूल्यों के प्रति खतरे के परिणाम से उत्पन्न हुई है। साधारण शब्दों में जब कभी हमें ऐसे वाक्य सुनने को मिलते हैं कि "तुम ऐसा कहने वाले होते कौन हो?" अथवा "इस प्रकार के आदेश देने वाला वह कौन होता है?" तो हम वैधता के लिए पैदा होते संकट का प्रारंभ देख सकते हैं। जब कभी वैधता के पुरातन और ज्ञात आधारों पर प्रश्न उठाए जाते हैं तथा नए आधार सामने नहीं आते तो ऐसी स्थिति को वैधता का संकट कहा जा सकता है। वैधता के इस संकट को विशेषतः पश्चिमी देशों में देखा गया है लेकिन कुछ विकासशील देशों में भी ऐसी स्थितियों को उभरते हुए देखा जा सकता है। यद्यपि वैधता के पुराने आधारों को आधुनिक समाजों में चुनौती दी गई है परंतु परिणामस्वरूप उपजे वैधता के संकट को वैधता के नये आधारों पर सुलझाया जा सकता है। परंतु एक प्रवृति जो पूरे विश्व में आज उभर रही है–वह है कि आज वैधता का कानूनी–तार्किक आधार प्रतिदिन बढ़ रहा है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 9.10 सारांश

वैधता की धारणा का प्रयोग क्षेत्र इसके प्रत्यक्ष संकल्पनात्मक प्रयोग से कहीं अधिक विस्तृत है। बदलाव के इस युग में तथा नई विश्व व्यवस्था में वैधता की धारणा को नए अर्थ एवं विस्तृत उपयोग प्राप्त हुआ है। दुनिया के कुछ देशों में लोकतांत्रिक विधि से चुनी हुई सरकारें हैं और वे लोगों द्वारा निर्वाचित होने के आधार पर वैधता प्राप्त करते हैं। गैर निर्वाचित सरकारों को देश और विदेश में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है क्योंकि उनके लिए लोगों पर शासन करने की वैधता को प्राप्त करने में अत्यंत कठिनाई हो सकती है। दूसरी ओर वे लोग जो राज्य और आतंकवादी समूहों के विरुद्ध संघर्ष अथवा सशस्त्र संघर्ष करते हैं उन्हें वैधता प्राप्त नहीं होती जबकि वे लोगों के लिए संघर्ष करने का दावा करते हैं। पिछले दिनों सारी दुनिया के आतंकवादी समूहों को जनता का समर्थन और सहानुभूति मिलना बन्द हो गया है और उनकी हिंसक कार्रवाइयों के विरुद्ध जनमत तैयार हुआ है। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषणों में चुनावों से जुड़ा प्रश्न उभर कर आया है। आधुनिक समाज में चुनावों का नया आयाम और नये अर्थ प्राप्त हुए हैं। आधुनिक राजनीति में आतंकवाद और संगठित हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं बचा है। आमतौर पर जनसाधारण और विशेष रूप से बुद्धिजीवी यह प्रश्न पूछते हैं कि ये आतंकवादी चुनाव क्यों नहीं लड़ सकते? इस प्रकार चुनावों और निर्वाचित सरकारों को एक प्रकार की वैधता प्राप्त है जिसके विषय में एक सदी पहले सोच भी नहीं सकते थे। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं जैसे कामनवेल्थ देश केवल लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित सरकारों को ही अपने सदस्य के रूप में भाग लेने की स्वीकृति देते हैं। आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई को अन्तर्राष्ट्रीय आयाम प्राप्त हो चुका है। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में वैधता से जुड़े मुद्दों को नया क्षेत्र, नया अर्थ और नया आयाम प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार मानव अधिकारों पर

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा अनेक राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों की स्थापना ने जीवन की गुणवत्ता को नया अर्थ दिया है। ये मानवाधिकार लोगों के वैध अधिकार होने चाहिएं और इनका कहीं भी उल्लंघन, भले ही किसी व्यक्ति, समूह अथवा किसी राज्य द्वारा हो–उसे एक अपराध माना जाना चाहिए क्योंकि यह एक अवैध कार्य है। ऐसे मुद्दे हमें वैधता से संबंधित मुद्दों के बदलते हुए आयामों को समझने का अवसर प्रदान करते हैं।

## 9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वेबर मैक्स 1958, द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़म, न्यूयार्क : सेरीबरर्स

वेबर मैक्स 1968, इकौनोमी एंड सोसाइटी 3 वाल्यूम टोटावा, एन जे : बेडमिनस्टर प्रेस

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

# इकाई 10
# सत्ता : कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य

**इकाई की रूपरेखा**


10.1 प्रस्तावना

10.2 पूर्ववर्ती लेखक : हॉब्स, लॉक, रुसो

10.3 उन्नीसवीं शताब्दी

10.4 बीसवीं शताब्दी के लेखक

10.5 मैक्स वेबर तथा टैलकट पार्सन्स

10.6 टैलकट पार्सन्स

10.7 उपव्यवस्था के रूप में राजनीति

10.8 सारांश

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने बाद आप :

- सत्ता का अर्थ समझने, और
- सत्ता का व्यवहार समझने योग्य हो जाएंगे।

## 10.1 प्रस्तावना

हम 'सत्ता' के दैनिक जीवन में तथा शब्द कोषीय अर्थ समझने से प्रारंभ करते हैं।

- तत्पश्चात् हम 17वीं और 18वीं शताब्दी के तीन राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा समाज के लिए इसकी आवश्यकता तथा लोगों द्वारा स्वीकार्य सत्ता की प्रकृति के विषय की ओर दृष्टि डालेंगे।
- एक राजनीतिक विज्ञानी तथा दूसरा परिवर्तित समाजशास्त्री ने सत्ता और संप्रभुता की सीमाओं पर विचार दिए और इस प्रकार समाज में अन्य संस्थाओं समूहों के महत्व का परिचय दिया। उनके विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।
- दो प्रमुख समाजशास्त्रियों–मैक्स वेबर और टैलकट पार्सन्स ने सत्ता की प्रकृति और इसकी वैधता पर चर्चा की है। सत्ता धारकों के लिए मैक्स वेबर द्वारा चर्चित उनका क्षेत्र तथा टैलकट पार्सन्स द्वारा सामाजिक व्यवस्था द्वारा संयुक्त लक्ष्यों को पाने की क्षमता तथा अपनी क्षमता में वृद्धि करने के विषय में बताए गए तथ्यों का वर्णन किया गया है।
- इस इकाई को समझने के लिए छात्रों के लिए कार्य तथा सत्ता पर अन्य इकाइयों को पढ़ना उपयोगी होगा।
- स्थितियों तथा सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए भारतीय संदर्भ से कुछ विषयों को दर्शाने का प्रयास किया गया है और इस प्रकार विषय सामग्री पुराने लेखकों से लिए गए उदाहरणों पर आधारित नहीं है। 'सत्ता' शब्द का मूल लेटिन शब्द 'पोटिस', पोज़े अथवा 'पोट–परे' है जिसका अर्थ'' भी होना है। इस शब्द का प्रयोग दैनिक जीवन में अनेक अर्थों में किया गया है जैसे 'अश्व–सत्ता' जो ऊर्जा को मापती है, 'पावर–लूम' जो पावर के करघों से भिन्न है और जो यांत्रिक ऊर्जा का विचार देती है। गणित में जब हम $X^3$ लिखते हैं तो इसका अर्थ होता 'X' को आपस में तीन बार गुणा करना अर्थात $X \times X \times X$। यदि X का मान '2' हो तो $X3 =$

$2\times2\times2 = 8$ यहां 'सत्ता' को लघु अंक को बड़ा बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। ये उदाहरण सत्ता के अर्थ का सामान्य भाव दर्शाते हैं कि सत्ता का अर्थ है ऊर्जा में वृद्धि करने की क्षमता तथा एक व्यक्ति अथवा वस्तु के क्षेत्र को विस्तार देना। यह जानना अच्छा होगा कि हम कैसे इसके समक्ष तक पहुंचे। हम एक मानक शब्द कोष को प्रयोग करने की सिफारिश करते हैं जिससे हम किस शब्द के बारे में जानना चाहते हैं उससे भली–भांति परिचित हो जाएं। इस पैराग्राफ में दो स्रोतों का प्रयोग किया गया है। द कन्साईज़ आक्सफोर्ड डिक्शनरी और चैम्बर्स टवेन्टियथ सेन्चरी डिक्शनरी। अंग्रेजी की आक्सफोर्ड डिक्शनरी का बड़ा वाल्यूम यह भी उल्लेख करता है कि शब्द का पहली बार प्रयोग कैसे हुआ था और किसने किया था। उत्साही छात्र किसी शब्द के विभिन्न अर्थ एवं प्रयोग जानने के लिए किसी मानक डिक्शनरी (शब्द कोष) को प्रयोग करने की आदत बना सकते हैं। यह प्रारंभ है। आगे समाजशास्त्र का शब्दकोष तथा अंतर्राष्ट्रीय एन्साईक्लोपीडिया का प्रयोग अलग कदम होना चाहिए।

जब किसी शब्द का प्रयोग कई बार होता है तो शब्दकोष भी कुछ शब्दों को दर्ज करता है जिनके अर्थ एक जैसे ही होते हैं। आक्सफोर्ड कन्साईज डिक्शनरी अंग्रेजी के शब्दों Ability to do or act तथा influence, authority, under one's control जैसे शब्दों का उल्लेख करती है। इस प्रश्न का उत्तर एक अन्य इकाई में दिया गया है। अब हम दूसरी अवस्था में पहुंचते हैं।

## 10.2 पूर्ववर्ती लेखक : हॉब्स, लॉक, रुसो

पहले के विद्वानों के लेखों में तथा साधारण साहित्य में कुछ मुख्य शब्दों की चर्चा समाज विज्ञान के पैदा होने के पूर्व की गई है। उनके लेखों में हम इन शब्दों के अर्थ एवं महत्व को जानने का प्रयास करते हैं। यहाँ 'सत्ता' शब्द और कार्य के साथ इसके संभव संबंधों को तीन लेखकों हॉब्स, लॉक और रुसो के योगदान के माध्यम से देखते हैं।

पारिभाषिक दृष्टि से सत्ता संबंधों का संबंध असमान पदों से तथा उनमें उपस्थित लोगों के अन्तर्व्यवहार से है। यहाँ एक गंभीर प्रश्न उठाया जाता है कि दार्शनिक स्तर पर भी 'असमानता' को क्यों स्वीकार अथवा सहन किया जाए। हमारे पास एक दूसरा विचार है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ परन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा है। यह विचार फ्रांस में बहुत तेजी से चर्चा में रहा जब फ्रांस सामाजिक सार पर 1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति की तैयारी में जुटा था। सम्राट दैवीय अधिकारों का दावा करता था इसलिए संघर्ष राजा और पादरियों, दोनों के विरुद्ध किया गया जो उस अधिकार को न्यायोचित ठहराते थे। मानवीय धर्म निरपेक्ष ताकतों को मजबूत करने के लिए संघर्ष हुआ। मनुष्य सभी वस्तुओं का पैमाना है–एक नई कहावत बन गया। धर्मनिरपेक्ष ज्ञान को इन्साइक्लोपीडिया में संकलित किया गया था।

राजनीतिक दार्शनिकों में से हॉब्स (1588–1679) ने मनुष्य के स्वभाव के विषय में प्रश्न उठाए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने आदिम मानव के विषय में बात की जो एक–दूसरे के समान थे।

व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेद तब तक इतना विचारणीय नहीं है जब तक एक व्यक्ति किसी लाभ का दावा करता है और दूसरा उसके लिए दिखावा भी नहीं कर सकता और जब दो व्यक्ति एक ही चीज की इच्छा करें जिसका दोनों आनन्द न ले सकते हों तो वे दुश्मन बन जाते हैं और एक–दूसरे को नष्ट करने अथवा नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। मनुष्य के स्वभाव में हम झगड़े के तीन कारण पाते हैं : प्रतियोगिता, आत्म संशय और प्रशंसा। पहला कारण मनुष्य को हिंसा की ओर ले जाता है–ऐसा वह स्वयं दूसरे व्यक्ति के लोगों, पत्नियों, बच्चों और पशुओं का स्वामी बनने के लिए करता है। दूसरा कारण स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए तथा तीसरा छोटी–छोटी बातों जैसे प्रशंसा का एक शब्द, एक मुस्कराहट अथवा अपने मित्रों, देशों और व्यावसायों के बीच अपनी झलक के लिए। (संदर्भ पार्सन्स ई.टी., ऐ.एल. 1960)।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु है। समय, कला, शब्द, समाज के हिसाब किताब से अलग-अलग मनुष्य का जीवन-एकाकी, निर्धन, घिनौना पशुवत और छोटा होता है। अतः व्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा उन्हें हैरान रखने के लिए एक संयुक्त सत्ता और प्रकृति के नियमों की आवश्यकता

पड़ी। वह सहमत तर्कों तथा राजा नामक संस्था को इसका हल मानता था। हॉब्स को समाज में व्यवस्था का प्रश्न उठाने वाला महान विचारक माना गया, यद्यपि अन्य विचारक मानव प्रकृति को दिखाने एवं समाधान से सहमत नहीं थे। लेकिन हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सत्ता व्यवस्था बनाए रखने के कार्य को पूरा करने के लिए है।

जॉन लॉक (1632–1704) मनुष्यों की समानता में विश्वास करता है और उसे गलत काम करने वालों को दंड देने का अधिकार देता है, परन्तु ऐसी स्वतंत्रता का दुरुपयोग हो सकता है, जब पीड़ित स्वयं की न्यायाधीश भी हो। इसलिए राज्य की आवश्यकता है जो संयुक्त सहमति से इस भूमिका का निर्वाह और नागरिक सरकार की वकालत करेगा।

रुसो (1712–1778) तीनों विचारकों में से सर्वाधिक प्रसिद्ध है और उसका फ्रांसीसी क्रांन्ति पर अत्यधिक प्रभाव है। वह इस विचार के साथ संबद्ध है 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ था परन्तु जन्म के बाद वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा है। प्रकृति के नियमानुसार मनुष्य जाति एक सामान्य इच्छा के विकास की ओर बढ़े तो सत्ता प्रयोग के लिए तर्क प्रदान कर सके और इस प्रकार राजा और तानाशाह (निरंकुश) भी इस सामान्य इच्छा की अवहेलना नहीं कर सके और इससे राजशाही का समापन और गणतंत्र का आगमन हुआ। राजनीतिक दार्शनिकों ने हॉब्स, लॉक और रुसो के विचारों का बारीकी से अध्ययन किया लेकिन इन तीनों के लेखों के प्रसंग के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

1) व्यवस्था बनाए रखने के लिए केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता और इस विचार से राज्य को एक कार्य से जोड़ा गया।

2) सत्ता के असमान वितरण के लिए स्पष्टीकरण और न्यायसंगतता की आवश्यकता है। यहां दो पक्ष महत्वपूर्ण बन जाते हैं। किसको सत्ता मिलती है और किस प्रकार मिलती है। इसकी वैधता क्या है?

इन दो प्रश्नों का व्यक्तियों और राज्य के संदर्भ में हल ढूंढा जाएगा।

## 10.3 उन्नीसवीं शताब्दी

उन्नीसवीं शताब्दी में समाज पर चर्चा में विचारों और प्रगति की प्रधानता थी। हरबर्ट स्पेन्सर ने समाज को एक जीव के रूप में और विकास के विचारों को एक साथ मिला दिया तथा समाज ने राज्य को समाज के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। फ्रांसीसी समाज में म्यूजिकल चेयर रेस का गुण प्रत्यक्ष था वहां राजशाही और गणतंत्र निरन्तर एक–दूसरे का स्थान ले रहे थे। अंत में 1871 में तीसरा गणतंत्र स्थिर हो सका। बुद्धिजीवी वर्ग की प्रतिष्ठा इसकी सफलता में दाव पर लगी थी। राजा की सेना की तरह ही एक कुशल सेना तेयार की गई। लोक सेवकों, तकनीशियनों तथा नेताओं के प्रशिक्षण के लिए विशेष संस्थानों का गठन किया गया। शिक्षा पर अभी भी चर्चा का नियंत्रण था। शिक्षा राज्य द्वारा प्रायोजित स्कूल खोले गए। फिर भी उनकी कार्यकुशलता को बनाए रखा जाना था। (भारत में हम मिशन स्कूल और सरकारी सकूलों के बीच भेद से परिचित हैं)। मंत्री ने दुर्खाइम से परामर्श किया जिसकी राय थी कि शिक्षकों को नये दायित्व पूर्ण कार्य के लिए पहले प्रशिक्षण देना आवश्यक है। राजनीतिकों ने यह काम दुर्खाइम को सौंपा और इस दायित्व को पूरा करने को कहा। दुर्खाइम की पहली नियुक्ति प्रांतीय नगर बोर्डेक्स में प्रोफेसर आफ एजुकेशन के रूप में हुई। शिक्षा धर्मनिरपेक्ष राज्य में समाजीकरण की ताकत के रूप में देखी जाती थी। और राज्य ही भूमिका को शिक्षा के क्षेत्र में कम किया गया और शिक्षा को गणतंत्र मजबूत करने के लिए कार्यात्मक रूप में देखा गया। राजशाही के लिए चर्च के माध्यम से शिक्षा कार्यात्मक थी लेकिन क्रांति के बाद नई शिक्षा गणतंत्र के लिए कार्यात्मक बन गई तथा फ्रांस में राजशाही तथा चर्च के कार्यक्षेत्र से बाहर हो गई।

## 10.4 बीसवीं शताब्दी के लेखक

बीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्रियों में राबर्ट एम. मैकाइवर का नाम अमेरिका में सबसे महत्वपूर्ण है। उसने अपना कार्य राजनीतिशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में प्रारंभ किया और 'स्टेट' नामक पुस्तक

लिखी। यह उन लोगों से अलग हटने की प्रक्रिया थी जो राज्य की संप्रभुता को निरपेक्ष और अविभाज्य मानते थे। अपने प्रसिद्ध कथन मे मैकाइवर ने कहा "राज्य समाज के समकालीन और समविस्तृत नहीं है।" उसने समाज के विभिन्न अवयवों की पुनर्परीक्षा की और तीन संभावनाओं की परीक्षा की

1) ऐसी गतिविधियां जो केवल राज्य कर सकता है।

2) ऐसी गतिविधियां जो राज्य अन्य संस्थाओं से बेहतर कर सकता है।

3) ऐसी गतिविधियां जिन्हें संस्थाएं राज्य से बेहतर चला सकती है।

उसके विचार में राज्य, समाज की महान संस्थाओं में से एक है। उसने अपने ये विचार चार्ल्स एच. पेज के साथ मिलकर 'सोसायटी' नामक पुस्तक में लिखे हैं जिन्हें भारत में समाजशास्त्र के छात्रों ने लगभग आधा दशक तक ध्यान से पढ़ा।

**सोचिये और कीजिये 10.1**

क्या राज्य और समाज एक हैं? इस प्रश्न के सभी पहलुओं का परीक्षण कीजिए।

इंग्लैंड में हैराल्ड लास्की का राजनीतिक आन्दोलनों पर बड़ा प्रभाव था और अपनी पुस्तक "ग्रामर आफ पोलिटिक्स" में उसने यह विचार प्रस्तुत किए कि समाज में सत्ता के बहुत केन्द्र हैं और राज्य उनमें से एक हैं। लास्की और मैकाइवर को पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए सत्ता के केन्द्र और समाज में राज्य और अन्य समूहों के अन्योन्य कार्यों की प्रकृति की चर्चा महत्वपूर्ण हो गयी। कुल मिला कर इसका यह प्रभाव हुआ कि राज्य और राजनीति को आश्रित (आधीन) परिवर्ती के रूप में देखा जाने लगा।

## 10.5 मैक्स वेबर और टैलकट पार्सन्स

पहले उल्लेख किए गए सत्ता की प्रकृति तथा इसकी वैधता से जुड़े दो प्रश्नों पर केन्द्रीय रूप से जर्मनी के पुराने समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने ध्यान दिया और अन्य विचारकों के अतिरिक्त टैलकट पार्सन्स ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि राज्य ऐसी एजेंसी है जो सामाजिक व्यवस्था के सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए काम करती है। अब हम इन लेखकों की ओर ध्यान देते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 10.1: मैक्स वेबर : एक परिचय**

प्रख्यात जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का जन्म 29 अप्रैल 1864 को हुआ था उसने 1920 तक जीवन जिया और कार्य किया। हम आपका ध्यान उसके लेखन के संदर्भ में इग्नू के स्नातक कोर्स तथा स्नातकोत्तर कोर्स में सम्मिलित इकाईयों की ओर ले जाना चाहते हैं। यहाँ यह याद किया जा सकता है कि वह समय आर्थिक वृद्धि (विकास) और जर्मनी का एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित होने का समय था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता तीव्रतम थी और प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) चल रहा था तथा फ्रांस में वर्सेल्सि में शांति संधि पर हस्ताक्षर के समय उसकी विशेषज्ञ राय उपलब्ध थी और बाद में वेमार गणतंत्र (Weimar Republic) के लिए संविधान लिखने का काम भी उसने किया। उसकी राजनीतिक सक्रियता से भरी पारिवारिक पृष्ठभूमि, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों और धार्मिक स्कूलों ने उसे पूंजीवादी और नौकरशाही कार्य प्रणाली तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं का भरपूर अनुभव प्रदान किया। एक विद्वान विचारक होने के नाते उसने इन अनुभवों को संकल्पनाओं का रूप दिया और उनका विश्लेषण किया। और विश्वस्तरीय चर्चाओं में यह जानने का प्रयास किया कि पश्चिमी यूरोप और केवल पश्चिमी यूरोप में ऐसा क्यों हुआ कि उन्नीसवीं सदी में घटनाओं की एक श्रृंखला ने इसे विश्व स्तर पर एक महत्वपूर्ण इकाई बना दिया। उसने विभिन्न धार्मिक व्यवस्थाओं की यह जानने के लिए तुलना की कि किस प्रकार से विचारों का आर्थिक वृद्धि पर मुख्य प्रभाव

पड़ता है। इस थोड़ी–सी स्मृति से मैक्स वेबर का हम से पुनः परिचय हुआ है और जर्मन में मैक्स का उच्चारण 'माक्स' के रूप में होता है। यूरोपीय विद्वान उसके मूल लेखन की निरन्तर चर्चा करते रहते हैं। भारत में हम उसके अंग्रेजी अनुवाद पर निर्भर करते हैं जिससे यूरोपीय विद्वान हस्तक्षेप करते रहते हैं। भारत के समाजशास्त्रियों में से इरावती कार्वे, रामकृष्ण मुखर्जी, चन्द्रशेखरया और सुरेन्द्र मुंशी ने जर्मन भाषा में कौशल प्राप्त किया और हमें उस भाषा की महक को पकड़ने तथा जर्मन समाजशास्त्रियों का अध्ययन करने में सहायता करने का प्रयास किया जैसे मैक्स वेबर, मार्क्स सिम्मल, टोनी और बाद में डेहरनडोर्फ जैसे समाजशास्त्रियों को जिन्होंने अपना प्रमुख लेखन जर्मन भाषा में किया।

मैक्स वेबर के लिए संबंधात्मक गणना एवं तार्किकता के आधार पर, सामाजिक जीवन का संगठन एक वैचारिक प्रक्रिया के रूप में उन्नीसवीं सदी के यूरोप की एक प्रमुख विशेषता थी। उसने जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे अर्थ व्यवस्था, राजनीति और संगीत तक को ऐसी दृष्टि से देखा जिससे वह तर्कसंगतता अभिव्यक्त करते थे। अतः उसने धोखाधड़ी और गैर कानूनी ढंग से लाभ कमाने तथा तर्कसंगत पूंजीवाद में भेद किया। इसी प्रकार आरकेस्ट्रा मे कई वाद्ययंत्रों के साथ संगीत की प्रस्तुति ने भी उसका ध्यान आकृष्ट किया। सत्ता पर उसकी चर्चा वैध सत्ता अथवा सत्ता के प्रयोग से संबंधित थी। वह तीन प्रकार के तर्कों अथवा नियमों पर आधारित तीन प्रकार की सत्ता का उल्लेख करता है।

### क) परम्परा

जब प्राप्त सत्ता को अगले व्यक्ति को सौंपा जाता है जैसे पारम्परिक समाजों में राजा अपने बड़े पुत्र को सौंपता है, तो यह मामला परम्परा के माध्यम से सत्ता के वैधीकरण का बनता है। मातृ प्रधान समाज में बहन का पुत्र राजा बनता है (मलयालम क्षेत्र)। भारत उत्तर–पूर्व क्षेत्र मे सबसे छोटी बेटी का पति, जिसे नोकरोय कहते हैं, प्रभावी प्रबंधक बनता है। अन्य क्षेत्रों में राजा का भाई राजा का उत्तराधिकारी होता है। ये अन्तर अपने–अपने समाज में परम्पराओं के उदाहरण हैं। एक अमेरिकी कबीले में सत्ता उस व्यक्ति को मिलती थी जो कीमती चीजों को जलाता अथवा नष्ट करता था। इस मामले में काफी बड़ी संख्या में कंबल जलाने वाला एक व्यक्ति मुखिया बन गया और उसकी यह हैसियत तब तक बनी रही जब तक किसी दूसरे ने यह रिकार्ड नहीं तोड़ा। पूरी दुनिया में कबीलों अथवा सरदारी में उस क्षेत्र की परम्पराओं के आधार पर सत्ता प्राप्त की जाती है। यह उदाहरण मैक्स वेबर ने नहीं अपितु हमने केन्द्रीय विचार को दर्शाने के लिए जोड़े हैं। उसने सामंतवादों और राजा के साथ उनके संबंधों के उदाहरणों का प्रयोग कर परम्परा को सत्ता के वैधीकरण के स्रोत के रूप मे परीक्षा करने के लिए किया।

### ख) नौकरशाही

ब्यूरो का शाब्दिक अर्थ है एक बड़ी टेबल जिसके कई दराज होते हैं। एक ही विषय में संबंधित अलग–अलग कागजों को एक ही दराज में रखा जा सकता है। सब मिलकर ब्यूरों एक संगठन बन जाता है जहां वर्गीकृत सूचनाओं के साथ काम किया जाता है, उदाहरण के लिए हम प्रेस ब्यूरो की बात करते हैं जो लोगों को सूचनाएं देते हैं। सरकार में भी कई सरकारों का संगठन इसी प्रकार किया जाता है। उनके पास भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति और सेवा मुक्त/समाप्त करने के नियम होते हैं।

व्यक्ति को कार्यालय से अलग कर दिया जाता है और सत्ता परिभाषित होती है तथा साथ ही वरिष्ठ एवं अधीनस्थों की सत्ता भी परिभाषित होती है। कार्यालयों का पदानुक्रम होता है, नियम होते हैं जो उन पर शासन करते हैं और लिखित आदेश होते हैं जिन पर वो कार्य करते हैं अथवा कार्य करने से इन्कार कर देते हैं। मर्टन ने यह देखा कि नौकरशाह निर्णय लेने वालों तथा नौकरशाहों से नीचे के लोगों के बीच एक संपर्क कड़ी होता है और वह सत्ता प्राप्त कर लेता है क्योंकि वह निर्णय ले सके कि किस कागज को आगे भेजना है और किसे रोके रखना है। लेकिन वेबर की दृष्टि में नौकरशाही तार्किक कानूनी व्यवस्था है और इसी रूप में काम करती है। नौकरशाही तार्किक–कानूनी व्यवस्था है और इसी से अपनी वैधता प्राप्त करती है।

**ग) करिश्मा (चमत्कार)**

फारसी शब्द 'करिश्मा' मूल शब्द है जो यूरोपीय भाषाओं में आ गया है दोनों का लगभग एक–सा ही अर्थ है। करिश्मा, किसी व्यक्ति की असाधारण योग्यता को दर्शाता है और इसका प्रयोग किसी संत अथवा दैवीय प्रकार की सत्ता को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जो चमत्कार करके दिखा सकती है। इसकी निरन्तरता इसके परिणाम देने पर निर्भर करती है। यदि एक व्यक्ति के गुण कमजोरी अथवा बुढ़ापे के कारण प्रभावी नहीं रहते तो वह करिश्मा खो बैठता है। करिश्मे की वैधता परम्परा अथवा तार्किक–कानूनी नौकरशाही से नहीं मिलती। वास्तव में करिश्मा इन दोनों से आगे बढ़कर अपनी असाधारण कार्यक्षमता का परिचय देता है और स्वयं अपने आपको न्याय संगत ठहराता है। कुछ क्रांतिकारी व्यक्तित्व धर्मनिरपेक्ष स्थितियों में भी ऐसी सत्ता का प्रयोग करते हैं।

यहाँ वेबर कहता है कि एक करिश्माई नेता असाधारण तरीकों से सत्ता में आ सकता है परन्तु उसको सत्ता में बने रहने के लिए परम्परागत तरीके अथवा तार्किक नौकरशाही से वैधता प्राप्त करनी होती है। इस प्रकार से हम कुछ क्रांतिकारियों को सत्ता प्राप्त करने पर रूढ़िवादी बनता देख सकते हैं। हम वैधता के तीनों प्रकारों को एक साथ लेने पर कह सकते हैं कि आधुनिक लोकतंत्र में सत्ता प्राप्त करने अथवा सत्ता में परिवर्तन के लिए संवैधानिक तरीकों में विशेषता रखते हैं और मुख्यतः यह सब गोली के माध्यम से नहीं अपितु वोट के माध्यम से होता है। वास्तव में लोकतंत्र की परीक्षा सत्ता परिवर्तन में सहजता और राजनीतिक व्यवस्था के चलने से होती है। इस दृष्टि से मानव विकास के पैमाने पर भारत को कई एशियाई, अफ्रीकी और कुछ लातीनी अमेरिकी देशों से अधिक अंक मिलते हैं।

सत्ता पर मैक्स वेबर के सूत्र यह पूछने पर विवश करते हैं कि किस के पास सत्ता है और किसके ऊपर है? यदि 'A' 'B' को उसकी इच्छा के विरुद्ध आदेश देता है तो 'A' के पास 'B' के ऊपर सत्ता है। इसमें 'A' के पास सकारात्मक सत्ता है और 'B' के पास नकारात्मक। अब हम यूं सोच सकते हैं कि 'A' 'B' को चार आदेश दे सकता है तो हम कह सकते हैं कि 'A" के पास +4 सत्ता है और सत्ता का कुल योग A और B के पास + 4 - 4 = 0 शून्य है। इस अवधारणा को सत्ता का शून्य योग कहते हैं।

## 10.6 टैलकट पार्सन्स

टैलकट पार्सन्स ने मैक्स वेबर की कुछ कृतियों का जर्मन भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद किया और सत्ता तथा समाज के लिए इसके कार्यों के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यहाँ सत्ता को समाज की व्यवस्था को बनाए रखने की एक आवश्यक शर्त के रूप में देखा जाता हे जो समाज के कुछ सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता करती है। आधुनिक समाज में कार्यों का विभेदीकरण होता है और वह परस्पर जुड़े होते हैं। किसी व्यवस्था की विशेषताएं उसकी उप–व्यवस्था में प्रकट होती हैं। यह किस प्रकार संगठित और कार्य करती हैं–को संक्षेप में बताया गया है। कार्यात्मक प्रवृति का अर्थ संघर्षों का लुप्त होना नहीं है अपितु वास्तव में यह व्यवस्था का समस्याओं से जुझने और उन्हें अपने संसाधनों से हल करने की क्षमता को दर्शाता है। आपको यहाँ से ज्ञात हो जाएगा कि विभिन्न संस्थानों वाले आधुनिक समाजों में किस प्रकार प्रत्येक संस्थान समाज की आवश्यकताओं को पूरा करता है, एक दूसरे से जुड़ा रहता है और एक–दूसरे से शान्ति प्राप्त करता है। यह कार्यात्मक दृष्टिकोण का सार है। इस परिप्रेक्ष्य के माध्यम से सत्ता को उसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है जिस परिप्रेक्ष्य में टैलकट पार्सन्स अमेरिकी लोकतंत्र को केन्द्र में रखकर मुद्दों को स्पष्ट करता है। कुछ उदाहरण भारत से देकर कुछ बातों को स्पष्ट किया जाएगा।

> **सोचिये और कीजिये 10.2**
>
> क्या विवाद (संघर्ष) कार्यात्मक है? अपनी स्थति को स्पष्ट करें और मित्रों के साथ चर्चा करें।

पार्सन्स ने इस स्थिति का दो आधार पर पुनर्परीक्षण किया। पहला तो यह कि शून्य का योग केवल विशेष मामलों में ही हो सकता। प्रायः हमें ऐसे मामले देखने को मिलते हैं जहाँ लाभ और हानि एक

दूसरे को निरस्त नहीं करते। A, B को चार आदेश दे सकता है B उनका पालन करता है फिर भविष्य में ऐसा हो सकता है कि 'A' से 'B' अपनी इच्छा का पालन करवा लेता है। अपने दैनिक जीवन में हमें ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं। जब पुत्र की इच्छा का पिता पालन करता है अथवा एक अधिकारी को अपने अधीनस्थ क्लर्क की राय माननी पड़ती है। ग्रामीण जीवन में संरक्षक और उसके आश्रित के बीच संबंधों की भी यही हालत होती है। राजस्थान के गावों में ढोल वाला ढोल बजाकर विवाह समारोह के समापन की घोषणा करता है। वह दृढ़ता से खड़ा हो जाता है और ढोल नहीं बजाता। यह एक ऐसा तरीका है जिससे संरक्षक खुशामद करता है और सम्मानजनक पैसा देता है। जब ढोल वाला भुगतान की गई राशि से संतुष्ट होता है तो इस रस्म पर ढोल बजाने लगता है। एक खाती स्वागत के लिए लकड़ी का बोर्ड बनाकर लाता है। वह शादी की सारी कार्रवाई को रोके रखता है जब तक उसके उचित दावे को मान नहीं लिया जाता। जहाँ जनता के सामने के प्रस्तुति के कारण निम्न स्तर पर रखे गए कारीगरों की कीमत बढ़ जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण तीर्थ स्थानों अथवा अन्य धार्मिक स्थानों पर देखे जा सकते हैं। 'यजमान' के संबंधों का निरंतर चले जाने का अन्य कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह है कि कारीगर अथवा सेवा करने वाले ऐसे अवसरों पर वीटो का प्रयोग पर सकते हैं और प्रभुता की भूमिकाएं अदल–बदल जाती हैं। हम अपने समाज से उदाहरण लेकर यह स्पष्ट कर रहे हैं कि सत्ता का वितरण जिसकी एक ही दिशा ऊपर से नीचे दिखाई देती है वह उलट भी सकती है। ऐसे मामलो में सत्ता समीकरण संरक्षक के लिए +4 और सेवक के लिए -4 हो सकता है, फिर भी दो अन्य मौकों पर सेवक के पास अधिक सत्ता हो सकती है। तब 'A' की सत्ता का योग +4 और अन्य मामलों में -2 होगा। तब शून्य योग +4 - 4 = 0 हो सकता है तथा -2 + 2 = 0 भी हो सकता है। यदि हम दोनों को जोड़ें तो । के लिए +4 और B के लिए +2 होगा। इसे शून्य योग न होने की स्थिति कहा जाता है। पार्सन्स का कहना है कि योग शून्य न होने की स्थितियाँ आमतौर पर होती हैं और यदि यह शून्य हो जाता है तो यह एक विशेष मामला होता जिसे हम शून्य न होने की सामान्य स्थिति के अन्तर्गत विशेष मामले के रूप में लेते हैं।

सत्ता का दूसरा पक्ष यह है कि इसे व्यक्तिगत मामलों के लिए नहीं अपितु पूरी सामाजिक व्यवस्थाओं, इसकी आवश्यकताओं और विभिन्न एजेंसियों की भूमिकाओं के लिए विचार में लाया और समझा जाता है। यहाँ किसी व्यवस्था के लिए आवश्यक कार्यात्मक जरूरतों का स्मरण करना और तालिका का प्रयोग करना सहायता करेगा।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

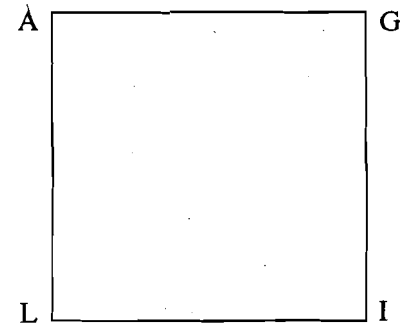


चित्र

A का अभिप्राय व्यवस्था को प्रकृति और पर्यावरण के साथ अपनाने से है। पूरे समाज के लिए यह कार्य अर्थव्यवस्था के द्वारा किया जाता है।

G का अभिप्राय गोल (लक्ष्य) प्राप्त करने से है। इसका अर्थ है समाज के सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करना। जिस एजेंसी को यह कार्य सौंपा गया है वह है राजनीति। यहाँ राजनीति समाज की ओर से सांझे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करती है।

I का अभिप्राय है अखंडता, समाज की अनेक इकाईयां होती हैं जिनके अपने हित होते हैं–कई बार उनका आपस में संघर्ष भी हो सकता है। संघर्ष का भी एक सिद्धांत है जिसके अनुसार समाज में

संघर्ष होना सामान्य है। कार्यात्मक दृष्टिकोण इससे इन्कार नहीं करता लेकिन इसका कहना है कि यदि कोई सामाजिक व्यवस्था है तो इसके पास ऐसी क्षमता और तंत्र होना चाहिए जिससे यह विवाद और संघर्ष को हल कर सके। 'संघर्ष समाधान' शब्दावली उस प्रक्रिया का वर्णन करती है। एक आधुनिक समाज में कानूनी व्यवस्था इस भूमिका का निर्वाह करती है। संघर्षशील दल अपने दावे प्रस्तुत करते हैं और न्यायपालिका उनको हल करती है। जब तक इस विधि से काम चलता है तो हम कहते हैं कि व्यवस्था में सामंजस्य बना हुआ है अर्थात परस्पर विरोध नहीं है। खेलों के क्षेत्र में तीव्रतम प्रतियोगिता होती है–वहीं उस खेल के अपने नियम होते हैं और रेफ्री अथवा अम्पायर भी होते हैं जिनका निर्णय सबको मानना ही होता है। कहीं–कहीं कुछ अपवाद हो सकते हैं परन्तु जब तक निर्णय लेने वालों की भूमिका को स्वीकार किया जाता है तब तक हम कह सकते हैं कि व्यवस्था ठीक ढंग से चल रही है।

L का अभिप्राय अतर्निहितता से है। वे समाज के मूल्यों के अनुरूप कानून बनाने के आधारों को परिभाषित करते हैं। ऐसे समाज रहे हैं जहाँ जन्म अथवा जन्म के क्रम से कोई व्यक्ति राजकुमार अथवा मुखिया बनने योग्य हो जाता था। ऐसे समाज आरोपण के सिद्धांत पर आधारित थे। आधुनिक लोकतांत्रिक समाज प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए उपलब्धियों पर जोर देते हैं। भूतकाल में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए न्यायसंगतता धर्म द्वारा प्रदान की जाती थी। कई परिस्थितियों में उपलब्धियों के धर्म निरपेक्ष मूल्य को महत्वपूर्ण माना जाता है। आधुनिक लोकतंत्रों के मामलें में जैसे भारत के संविधान की प्रस्तावना में ऐसे मूल्यों को सम्मिलित किया गया है जो सामान्य ज्ञान के आधार पर सभी पहचान सकते हैं जैसे स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव इत्यादि।

शेष आप स्वयं लिख सकते हैं।

किसी व्यवस्था के चार पक्षों को एक विशेष ढंग से क्रमबद्ध किया जाता है अनुकूलन का संबंध व्यवस्था की सीमाएं बनाए रखने से है तथा अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में किसी व्यवस्था के स्थान को परिभाषित करने में सहायता करने और इसकी स्थिति को स्पष्ट करता है। समाज को बाहरी पर्यावरण प्रकृति और इसके संसाधनों के साथ संबंधों को परिभाषित करना होता है। अर्थ व्यवस्था उन संसाधनों और ऊर्जा का प्रयोग करने के एक संगठित प्रयास के रूप में कार्य करती है। इस अर्थ में अर्थ व्यवस्था को एक उप–व्यवस्था के रूप में लिया जाता है। अर्थव्यवस्था का एक उपव्यवस्था के रूप में विश्लेषण का काम नील जे. स्मेलसर ने पार्सन्स के साथ मिलकर किया। स्मेलसर ने अर्थशास्त्र का अध्ययन इंग्लैंड में किया था और जब वह अमेरिका में हार्वर्ड के साथ काम करने लगा तब अर्थ व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ जोड़ा जाना शुरू हुआ था। इस प्रकार दो महान लेखकों ने 'इकानमी एंड सोसायटी (1956)' नामक मुख्य लेखन किया।

**बाक्स 10.2: पार्सन्स और मिल्स**

कुछ बरसों बाद पार्सन्स ने एक और पुस्तक 'स्ट्रक्चर एंड प्रोसेस इन माड्रर्न सोसायटीज़ 1960 का लेखन किया। उस समय तक पार्सन्स ने सरल भाषा में लिखना शुरू कर दिया था उसके लिए एक लेखक को लगा दिया गया था जो उसके विचारों को सरल शब्दों में लिख सके। पार्सन्स ने इस पुस्तक पर आधारित एक भाषण बरकले विश्वविद्यालय में दिया वहाँ स्मेलसर ने पढ़ाना शुरू किया था। मैं उस समय उपस्थित था जब भाषण समाप्त हुआ तो छात्रों ने आपस में चर्चा की और कइयों ने कहा कि जो पार्सन्स ने कहा है मैंने उसे ढंग से समझा है तो कुछ अन्य ने पूछा "इसमें नया क्या था?"

मैंने उस पुस्तक पर 'पावर इलीट' के लेखक राईट मिल्स की टिप्पणियों को पढ़ा और इस बात को मैं उसके ध्यान में भी लाया। पार्सन्स अपनी स्थिति पर मजबूती से टिका रहा और कहा कि अमेरिकी लोकतंत्र में दिखाए दोष आधारहीन हैं। अमेरिकी न्याय व्यवस्था मजबूत है और यह लोकतांत्रिक प्रणाली को भंग करने के मामलों पर ध्यान दे सकती है। इस कहावत से एक और उद्देश्य पूरा होता था–यह इस बात पर बल देता है कि किस प्रकार पार्सन्स व्यवस्था को एक गतिमान व्यवस्था मानता था एक ऐसी व्यवस्था जो सक्रिय एवं क्रियाशील थी, दूसरे यह गलतियों और गुटियों पर ध्यान दे

सकती थी और अंत मे कि लोगों का न्यायपालिका में विश्वास था। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार से एक व्यवस्था आलोचकों के समक्ष काम कर रही थी जो कहते थे कि व्यवस्था का अस्तित्व नहीं है। इसलिए इसके अध्ययन के लिए कोई भी प्रवृति अथवा प्रयास स्वयं में एक गलती है।

अब हम उन बिन्दुओं का सार बना सकते हैं जो कार्यात्मक विश्लेषण को संभव बनाते हैं–

- सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व है जो अपने भीतर उठने वाले विवादों का हल करने में सक्षम है।
- एक सामाजिक व्यवस्था के भाग होते हैं।
- ये भाग सक्रिय होते हैं और अपनी सक्रियता से व्यवस्था बनाए रखने और चलाए रखने में योगदान देते हैं।
- व्यवस्था की अवधि और कार्य लोगों के जीवन से तथा एक पीढ़ी के जीवन काल से बड़ा होता है।
- एक व्यवस्था के भागों के अध्ययन का तरीका, उनके परस्पर संबंध तथा व्यवस्था को बनाए रखने में योगदान को कार्यात्मक दृष्टिकोण कहते हैं।
- कार्यात्मक दृष्टिकोण का आधार स्पेन्सर, दरखेम, मलिनो और रेडक्लिफ ब्राऊन ने रखा समाजों का इस दृष्टिकोण से विश्लेषण करने वाली पहले की इकाइयों को देखें–हमें पार्सन्स और मेर्टन के नाम याद आते हैं जिन्हें कुछ विश्लेषणों के आधार पर नव–कार्यात्मकवादी कहा जाता है। मलिनोस्वकी तथा रेडिफ–ब्रान ने मूलतः प्रारंभिक समाजों का अध्ययन किया था। दरखेम ने इस दृष्टिकोण का दो अन्य–क्रमिक विकास और वर्णनात्मक दृष्टिकोण के साथ प्रयोग किया। मेर्टन ने विचारों को आधुनिक समाज तक विस्तार दिया और कार्य तथा दुष्कार्य और गुप्त कार्य जैसे शब्दों को गढ़ा और उन्हें साध्य तथा साधनों के अन्तर्सन्बंधों के अध्ययन के साथ जोड़ा। पार्सन्स सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के साथ जुड़ा हुआ था। उसके मुख्य बिन्दुओं का तथा व्यवस्था की कार्यात्मक आवश्यकताओं को संक्षेप में AGIL तालिका में संकेत दिया गया है। इस दृष्टिकोण को आगे चलकर प्रत्येक भाग जैसे अर्थव्यवस्था, राजनीति और धर्म के साथ कई लेखकों ने अपनाया है।

MADHYAM IAS

संकल्पना के रूप में सत्ता राजनीति के क्षेत्र से संबंध रखती है। सत्ता का कार्यात्मक विश्लेषण इसे दो स्तरों पर देखता है।

1) Bullets सत्ता किस के पास है और किस के ऊपर है। इसका योग शून्य है। यह एक परम्परागत उत्तर है। दूसरी ओर सत्ता का कार्यात्मक दृष्टिकोण इसे शून्य योग नहीं मानता, जो एक विशेष विशेष स्थिति होने पर शून्य योग भी हो सकता है। अर्थात शून्य योग व्यापक रूप में अशून्य योग के अन्तर्गत रखा गया है।

2) सत्ता, समाज के सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने की सामान्य क्षमता है। यह दृष्टिकोण सत्ता का किसी दूसरे के साथ प्रतियोगात्मक पक्ष से परे जाता है। कार्यात्मक दृष्टिकोण सत्ता को व्यवस्था में केवल सत्ता के लिए संघर्ष के रूप में नहीं लेता। व्यवस्था की सत्ता में वृद्धि हो सकती है और वह व्यवस्था को चलाए रखने एवं मजबूत बनाने के लिए सक्षम हो सकती है। इस दृष्टि से भी व्यवस्था की सत्ता की संकल्पना शून्य योग की नहीं है बल्कि यह अपनी क्षमता में वृद्धि करती रहती है ताकि सामूहिक चुनौतियों का सामना कर सके।

## 10.7 उपव्यवस्था के रूप में राजनीति

अब हम समाज की उपव्यवस्था के रूप में राजनीति का विश्लेषण करेंगे। ऐसी शैक्षिक क्रियाओं के समान्तर क्रियाएं भारत में होती हैं। जब हम भारत में जाति का अध्ययन करते हैं तो हम उपजातियों की भी चर्चा करते हैं और हमें जी.एस. घूरे की प्रसिद्ध कहावत याद आती है कि उपजाति ही

वास्तविक जाति है। बाद में भारतीय और अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने स्थानीय शब्दावली 'जाति' को 'उपजाति' के लिए प्रयोग करना शुरू कर दिया। यहाँ हमारा मुख्य विषय है कि किस प्रकार व्यवस्था और उपव्यवस्था का सामान्य स्तर पर विश्लेषण किया जाता है। क्या उपव्यवस्था व्यवस्था की भांति होती है। पार्सन्स और स्मेलसर इससे सहमत हैं कि उपव्यवस्था व्यवस्था की भांति होती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था एक उपव्यवस्था है, राजनीति एक उपव्यवस्था है—वे व्यवस्था की भांति काम करते हैं—का क्या अर्थ है? हम आगे देखेंगे—

चित्र उच्च स्तर और सामान्यता

राजनीतिक मिश्रण

| | | | |
|---|---|---|---|
| A | साधनः विनियम | उद्देश्य विनिर्देशः सत्ता | G |
| L | मूल्यः संगठनात्मक प्रभावशीलता | प्राथमिक मानक नेतृत्व | I |

**चित्र**

चारों में से प्रत्येक, एक उपव्यवस्था के आंतरिक गुणों को प्रकट कर रहा है। उदाहरण के लिए दूसरे कक्ष में सत्ता (G)।

निम्न स्तर और सामान्यता (सत्ता)

| | |
|---|---|
| वित्तीय संसाधनों का आवंटन | संगठनात्मक उत्तरदायित्वों का आवंटन |
| सदस्यता योगदान के नियंत्रण का मूल्यन | बंधित निर्णय करने की सामान्य सत्ता |

**चित्र**

अन्य तीन नियम, नेतृत्व और मूल्यांकन को इसी प्रकार अन्य चित्र में पार्सन्स द्वारा वर्गीकृत किया गया है। सन्दर्भः (पार्सन्स 1960 : 167—168.)

एक उपव्यवस्था, व्यवस्था की विशेषताओं को दोबारा पैदा करती है और इसके गुणों को ग्रहण करती है। हमने एक जाति के मामले की चर्चा की है, इसी प्रकार एक पारिवारिक चक्र में एक संयुक्त परिवार में पिता की मृत्यु के बाद संयुक्त परिवार कई एकल परिवारों का रूप धारण कर लेता है क्योंकि उसके दो या चार बेटे अपनी—अपनी इकाई स्थापित कर लेते हैं। बाद में उनके बेटे होते हैं जिनकी शादियां होती हैं और वे घर पुनः संयुक्त परिवार बन जाते हैं और बच्चों का योग इस पर मोहर लगा देता है। पहली पीढ़ी के बेटे अगली पीढ़ी में मां—बाप और तीसरी पीढ़ी में दादा—दादी बन जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी प्रवृतियां पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती हैं। अर्थव्यवस्था को वृद्धि की प्रक्रिया में एक कंपनी अथवा बैंक एक क्षेत्रीय शाखा स्थापित कर सकता है जो शीघ्र की पूरी इकाई की हैसियत प्राप्त कर लेती है। शिक्षा के क्षेत्र में पंजाब और निकटवर्ती राज्यों में एक नया विश्वविद्यालय नए कैम्पस में प्रारंभ होता है और वह एक स्वतंत्र निकाय बन जाता है। राजनीति के क्षेत्र में हम एक संघीय सरकार कई राज्य सरकारों और कुछ संघीय क्षेत्रों को देखते हैं। वे सभी

प्रतिनिध्यात्मक सरकारें हैं और उनमें मात्र सत्ता वितरण का अन्तर है। विकेन्द्रीकरण के अगले कदम से यह प्रारूप जिला, पंचायत समिति और ग्राम पंचायत तक जाता है। इन सभी स्तरों में कुछ बदली हुई मात्रा में सत्ता के प्रयोग के संबंधित इकाईयों के लिए कार्यात्मक होना होता है और यदि व्यवस्था को निरन्तर रहना है तो AGIL के चार गुणों और आवश्यकताओं का ध्यान रखना होगा।

1) प्रत्येक राजनीतिक इकाई को अपनी सीमाओं को परिभाषित करना होगा और बाह्य स्थितियों को अपनाना होगा। इसके अपने प्राकृतिक एवं अन्य संसाधन हैं जिन्हें सबके भले के लिए प्रयोग किया जाता है।

2) राजनीति के माध्यम से संयुक्त लक्ष्यों का ध्यान रखा जाता है। शासन के अपने नियम होते हैं और यदि कोई विवाद हो तो वे नियम तय करते हैं कि किसे क्या और कैसे मिलेगा। निराशा, नौकरशाही, तुलनात्मक वंचित होने जैसी समस्याओं का स्वीकृत मूल्यों और वैकल्पिक साधनों से उन्हें हल करने के सन्दर्भ में मेर्टन द्वारा परीक्षण किया गया है।

विवाद का समाधान करने वाली एजेंसी को सक्रिय किया जाता है। अंत में एजेंसियां व्यवस्था के मूल प्रारूप के अनुसार कार्य करती हैं जैसे शिक्षा, सबके लिए स्वास्थ्य–सभी नागरिकों के अधिकारों की झलक के रूप में काम करते हैं। इन कार्यों को राजनीति की प्रत्येक उपव्यवस्था द्वारा किया जाना होता है–भारत के मामले में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, जिला परिषद, नगर पालिकाओं, पंचायत समिति और ग्राम समिति द्वारा। निर्दिष्ट अलग–अलग हो सकता है, क्षेत्र में अन्तर हो सकता है परन्तु कार्यात्मक पक्ष की ओर सबको ध्यान देना होगा। यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि किस प्रकार उपव्यवस्था में व्यवस्था के सभी लक्षण और गुण पुनः प्रकट होते हैं और प्रत्येक स्तर पर इन आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार होती है। के तरीके को समझना व्यवस्था के कार्यात्मक विश्लेषण के साथ चलता है।

पार्सन्स ने अमेरिकी लोकतंत्र की राजनीतिक प्रक्रिया का विश्लेषण किया था। यहाँ इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि कार्यात्मक दृष्टिकोण सत्ता में विवादों पर ध्यान देता है, वास्तव में जैसा कोजर ने बताया है कि सामाजिक संघर्ष की भी एक क्रिया है। इसका क्या अर्थ है? इसका अभिप्राय है जब दो राजनीतिक दलों में, जो अलग–अलग राज्यों में सत्ता में है, अथवा राज्य में सत्ता दल केन्द्र के सत्ता दल से अलग है, विवाद या संघर्ष पैदा होता है तो इससे दोनों दलों में एक–दूसरे से बेहतर कर दिखाने की होड़ उत्पन्न होती है। दूसरे इस विवाद से एक दल दूसरे के विरुद्ध अपने अधिकारों का आग्रह करता है और यह दर्शाते हैं कि किस प्रकार दोनों विरोधी दल उस व्यवस्था को बनाए रखने में सम्मिलित होते हैं जिससे वे अपनी वैधता प्राप्त करते हैं। संविधान में लक्ष्यों को शामिल किया गया है, सत्तायों को स्पष्ट किया गया है और इनके प्रयोग में प्रत्येक द्वारा थोड़ी–सी सतर्कता के कुल एकता को बढ़ावा मिलता है। इस विवाद, संघर्ष अथवा प्रतियोगिता से सामान्यता और इसकी मजबूती में वृद्धि होती है।

दो विरोधी दलों अथवा दलों के दो संयोगों (गठबंधनों) के संदर्भ में संघर्ष की स्थिति से अन्यथा विघटित उपसमूहों में आंतरिक एकता पैदा होती है और इस प्रकार उनमें एक कार्यात्मक एकता पैदा करके संयुक्त उद्देश्य के लिए संघर्ष हेतु तैयार किया जाता है। एक सांझे दुश्मन की परिभाषा, एक समाज अथवा समूहों के बीच एकता की प्रक्रिया की ओर ले जाती है।

## 10.8 सारांश

साधारणतया कार्यात्मक दृष्टिकोण को साधारण और सरल समाजों के अध्ययन के लिए उपयोगी माना जाता है। मेर्टन ने कार्यात्मक अध्ययनों का ताजा तालिका चित्र मध्य स्तर के औद्योगिक समाजों की समस्याओं को गिनाने के लिए प्रस्तुत किया। वृहद् स्तर पर क्षेत्र के मामले अति सामान्यीकृत दृष्टिकोण "ग्रैन्ड थियोरी" को पार्सन्स ने संस्थानों में बढ़ते विभेदीकरण के अध्ययन के लिए विस्तार दिया। अर्थव्यवस्था की भांति राजनीति समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती दिखाई देती है। राजनीति संयुक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समाज के सामूहिक संगठन का प्रतिनिधित्व करती और इसके द्वारा 'सत्ता' की उत्पत्ति होती है। यह योग के शून्य न होने की अवधारणा है। यह वैध नेतृत्व

द्वारा अधिकार प्राप्त होने के माध्यम से असहमति को कम करने के लिए, नियंत्रण रखने एवं संयुक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाती है। अमेरिका जैसे आधुनिक समाज में सत्ता सशक्त कानून और अर्थव्यवस्था के साथ मिलकर प्रतियोगिता के माध्यम से सफलता के मूल्यों से ताकत प्राप्त करती है–ऐसी उपलब्धि जो जन्म, परम्परा अथवा आरोपित नहीं होती। (नेतृत्व और सत्ता मूलतः नौकरशाही के कानूनी प्रक्रियाओं को थोड़े चमत्कार के प्रभाव से अलग कर दिया जाता है) इसके बदले ये पक्ष एक–दूसरे को मजबूत करते हैं और सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है। समस्याएं उठती है परन्तु उन्हें पूरी व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है।

## 10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अब्राहमसन, मार्क फंकसनलिज्म (1978) एंगलवुड क्लिफ्स, एन.जे. प्रेंटिस हॉल।

ब्रुबेकर, रोजर्स, 1984, द लिमिट्स ऑफ राशनेलिटी : एन एसे ऑन द सोशल एंड मॉरल थॉट ऑफ मैक्स वेबर, लंदन : एल्लेन एंड येरिविन।

### संदर्भ

कोसर, लेविस 1956, द फंक्शंस ऑफ सोशल कंफ्लिक्ट, न्यूयार्क, द फ्री प्रेस।

मैकाइवर, आर.एम. 1926, द मार्डन स्टेट, ऑक्सफोड क्लारेंडन प्रेस।

चार्ल्स एच. पेज 1949, सोसायटी, एन इंट्रोडक्टरी एनालाइसेस, न्यूयार्क रिनेहर्ट।

पार्सन्स, टालकॉट, 1960, स्ट्रक्चर एंड प्रोसेस इन माडर्न सोसायटीज, ग्लेंको द फ्री प्रेस।

पार्सन्स, टालकॉट, एट ऑल, 1965, थ्योरीज ऑफ सोसायटी, 1 वाल्यूम एडी. न्यूयार्क, द फ्री प्रेस 1960–2 वाल्यू।

वेबर, मैक्स, 1947, द थ्योरी ऑफ सोशल एंड इकोनॉमिक आर्गेनाइजेशन, ट्रांसलेटेड बाई ए.एम.।

हंडरसन एंड टॉलकाट, पार्सन्स, न्यू यार्क ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रेफरेंस टु हॉब्स 1965, लॉक एंड रूसो एंड काम्टे एंड स्पेंसर फ्राम द एडी. वर्क ऑफ टॉलकट, पार्संस (एडी.)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 11

# सत्ता और संस्थाएँ

**इकाई की रूपरेखा**


11.1 प्रस्तावना

11.2 सत्ता के साधन (उपकरण)

11.3 सत्ता के स्रोत

11.4 सत्ता के संदर्भ

11.5 सारांश

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सत्ता की अवधारणा और संबंधित संकल्पनाएं;
- सत्ता के उपकरणों;
- सत्ता के स्रोतों; और
- सत्ता के प्रयोग के सन्दर्भों के विषय को समझने योग्य हो जाएंगे।

## 11.1 प्रस्तावना

मानव समाजों और सामाजिक संबंधों में सामाजिक सत्ता एक सार्वभौमिक घटना है। यह व्यक्तियों और सामाजिक समूहों के पास होती है। वास्तव में यह सभी सामाजिक संबंधों राजनीति ओर अर्थव्यवस्था का आधारभूत संयुक्त तत्व है। सामाजिक सत्ता को प्रायः असंतुलित अवस्था में अनुभव किया जाता है। यह सत्ता असंतुलन अधिकांश सामाजिक समस्याओं का मूल कारण होता है।

सत्ता को दो मुख्य तरीकों से समझा जा सकता है। सत्ता को समझने का एक तरीका जिसे पिछले दिनों शैक्षिक चर्चाओं में प्रमुखता प्राप्त हुई–वह है सत्ता को सरल संख्यात्मक घटना के रूप में समझना। सत्ता की यह संकल्पना कार्य करने की एक प्रकार की साधारण क्षमता पर केन्द्रित है। यह दृष्टिकोण सत्ता को उसके धारकों की क्षमता को बढ़ाने वाला मानता है और इसलिए इसकी टक्कर उन लोगों से होती है जिनके पास सत्ता नहीं है और इस प्रकार उनकी स्वतंत्रता और आजादी पर एक बोझ बन जाती है। हॉब्स और लॉक के सत्ता संबंधी विचारों को इस सामान्य दृष्टिकोण के अंतर्गत रखा जा सकता है।

सत्ता की दूसरी और जटिल संकल्पना यह है कि सत्ता, क्षमता का जिन लोगों पर सत्ता का प्रयोग किया जाता है उनकी सहमति के बल पर कार्य करने के अधिकार को मिलाकर कहलाती है। यह दृष्टिकोण, वस्तुस्थिति की विपरीत स्थितियों में पहचान में आने वाली सत्ता के प्रभावों पर निगाह रखता है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण का यह मानना है कि दूसरों के हाथ में सत्ता, शिकार को वह सब करने से रोकती है जिसे वह अन्यथा प्राप्त कर लेते अथवा वह सोचने से भी रोकती है जो वह अन्यथा सोचते। इस दृष्टिकोण का सही विश्लेषण फोकाल्ट का सत्ता विश्लेषण है (फोकाल्ट–1980) सत्ता की यह दूसरी अवधारणा स्पष्ट होने के बजाय अस्पष्ट है। यह अवधारणा या संकल्पना आधुनिक सामाजिक और राजनीतिक सोच के केन्द्र में है।

सत्ता को कई तरीकों से देखा गया है। कुछ विद्वान (मिल्स 1959) सत्ता को 'शून्य योग' की संकल्पना मानते हैं। यहाँ सत्ता को केवल पारस्परिक ढंग से परिभाषित किया गया है। इस

अवधारणा का अर्थ है कि यदि एक व्यक्ति अथवा दल जीतता है तो आवश्यक रूप से दूसरा हारता है। दूसरे शब्दों में सत्ता इस प्रकार से एक व्यक्ति या समूह के पास होती है कि दूसरा आदमी या समूह जिस पर यह सत्ता प्रयोग की जाती है–उसके पास सत्ता नहीं होती। कुछ अन्य का विचार है कि सत्ता को 'शून्य योग' के रूप में देखना चाहिए (पार्सन्स–1961) उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या दल सत्ता की उस हद तक भागीदारी करता है कि दोनों को लाभ होता है। इस दृष्टिकोण में सत्ता को पारस्परिक सम्मिलित उद्देश्यों के रूप में देखा जाता है।

अतः सामाजिक सत्ता को अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। हमारे लिए सत्ता एक व्यक्ति या समूह की दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने, प्रभावित करने अथवा उसे तोड़ने मरोड़ने की क्षमता तथा उन पर अपनी इच्छा लादने की योग्यता को कहते हैं, भले ही दूसरे सहयोग करें अथवा नहीं। सामाजिक सत्ता दूसरों को प्रभावित करने अथवा दूसरों से प्रभावित न होने की क्षमता भी है। जिसके पास सत्ता होती है वह दूसरों पर अपनी इच्छा बलपूर्वक लादता अथवा थोपता है। धनाढ्य, बाहुबली, प्रतिष्ठित बुद्धिमान, सक्षम लोगों के पास दूसरों को प्रभावित करने के अधिक अवसर हैं।

सत्ता को आमतौर से जुड़ी अवधारणाओं, प्रतिष्ठा, प्रभाव, श्रेष्ठता, क्षमता, योग्यता, ज्ञान, प्रभुता, अधिकार, बल, दमन, सत्ता इत्यादि के समानार्थी शब्द के रूप में प्रयोग किया गया है। लेकिन वे समान संकल्पनाएं/अवधारणाएं नहीं हैं। इसलिए हम इन शब्दों के अन्तरों को समझेंगे।

सबसे पहले आईये हम सत्ता और प्रतिष्ठा के स्वतंत्र परिवर्त्यों के बीच अन्तर करें। दो शब्दों के बीच संबंधों को इस प्रकार समझा जा सकता है कि सत्ता तो बिना प्रतिष्ठा के हो सकती है परन्तु प्रतिष्ठा सत्ता के बिना नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए एक वैज्ञानिक के पास प्रतिष्ठा हो सकती है परन्तु सत्ता नहीं। इसी प्रकार एक पुलिसमैन के पास सत्ता हो सकती है परन्तु प्रतिष्ठा नहीं। इसी प्रकार हम सत्ता तथा निकट से संबंधित शब्दों जैसे क्षमता, योग्यता, ज्ञान, श्रेष्ठता इत्यादि के बीच संबंध स्थापित कर सकते हैं। ये अवधारणाएं सत्ता के साथ जुड़ी अथवा जुड़ी नहीं हो सकतीं। सत्ता की संकल्पना प्रभुता की संकल्पना के बहुत निकट है। मूलतः सत्ता संक्षेप में एक सामाजिक संकल्पना है जबकि प्रभुता सामाजिक मनोवैज्ञानिक संकल्पना है। दूसरे शब्दों में सत्ता समूहों में पाई जाती है और यह अन्तर समूहों के संबंधों में व्यक्त होती है, जबकि प्रभुता अनिवार्य रूप से किसी व्यक्ति में पाई जाती है और इसे आपसी व्यक्तिगत संबंधों में व्यक्त किया जाता है। अर्थात सत्ता लोगों द्वारा प्राप्त पदों में निहित होती है जबकि प्रभुता अनौपचारिक संगठनों में लोगों द्वारा अभिनीत भूमिकाओं से प्रकट होती है। सत्ता, संस्थाओं के संगठन, समूहों के प्रबंधन एवं समूहों के सान्निध्य तथा समाज के अपने निजी ढांचे का फलन है। इसके विपरीत प्रभुता, व्यक्तित्व और प्रकृति/स्वभाव का फलन है। यह निजी गुण है। (बियर्सटेड–1969)। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक चर्चाओं और समूहों के आधार पर यह भेद अथवा व्यक्तित्व के आधार को दृढ़ता से नहीं लेना चाहिए। क्योंकि आजकल हम प्रायः सामूहिक प्रमुखता/प्रभुता और नेतृत्व की बात करते हैं और यहाँ तक कि हम परस्पर व्यक्तिगत स्तरों पर सत्ता संबंधों की बात भी करते हैं।

इसी प्रकार सत्ता और प्रभाव में एक महत्वपूर्ण विशेषता से भेद किया जा सकता है। सत्ता अधिकतर दमनकारी होती है जबकि प्रभाव विश्वासोत्पादक होता है। इस सन्दर्भ में हम कार्ल मार्क्स पर विचार कर सकते हैं–एक महान दार्शनिक जिसने बीसवीं सदी पर अत्यधिक प्रभाव डाला, परन्तु वह कोई सत्ताशाली व्यक्ति नहीं था। ठीक इसी प्रकार से अधिकार, सुविधा की भांति अपने आप में सत्ता नहीं है परन्तु सत्ता के लिए प्रारंभिक आवश्यकता है। लेकिन तब हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या बल और सत्ता को सत्ता कह सकते हैं? उत्तर होगा कि नहीं ये नहीं हैं, यद्यपि ये बहुत निकट से जुड़े हुए शब्द हैं। साधारण ढंग से हम उनमें यह सोचकर भेद कर सकते हैं कि सत्ता एक गुप्त बल है, बल सत्ता को व्यक्त करता है और सत्ता संस्थात्मक सत्ता है। सत्ता संभावना है–अतः जब इसका प्रयोग किया जाता है तो यह या तो बल अथवा सत्ता बन जाती है। उदाहरण के लिए किसी अल्पसंख्यक द्वारा किसी संस्था से अलग होने की धमकी में प्रभावकारी सत्ता है परन्तु एक बार अल्पसंख्यकों के अलग हो जाने के बाद यह सत्ता नहीं रहेगी लेकिन बल अवश्य होगा।

## 11.2 सत्ता के साधन (उपकरण)

मुख्य रूप से ऐसे तीन गुण हैं जो सत्ता प्रयोग का अधिकार देते हैं। दूसरे शब्दों में सत्ता रखने अथवा सत्ता लागू करने के तीन उपकरण अथवा साधन हैं। वे हैं दमनकारी, प्रतिपूरक और अनुबंधित सत्ता। इन तीनों को अलग–अलग करने की बहुत जरूरत नहीं है। हम सत्ता के अन्य पक्षों पर जाने से पहले संक्षेप में इनके बारे में चर्चा करेंगे।

दमनकारी सत्ता को, दूसरों को धमकाने, डराने तथा तकलीफ पहुंचाने तथा दूसरों पर गंभीर परिणाम देने वाले हमलों से स्वीकृति प्राप्त होती है। इसमें किसी भी प्रकार से हानिकारक कार्रवाई या दंड, संसाधन अथवा संपत्ति हथियाने, झिड़कने और किसी व्यक्ति अथवा जाति की निन्दा करने के रूप में क्षतिकारक कार्रवाई की धमकी शामिल होती हैं। इस प्रकार की सत्ता की प्रक्रिया ऐसी स्थितियों में होती है जहां दूसरों को आधीन बनाकर उनकी इच्छाओं और प्राथमिकताओं पर प्रतिबंध लगाकर उन पर वैकल्पिक इच्छाओं अथवा प्राथमिकताओं को थोपने की क्षमता के माध्यम से अप्रिय और पीड़ादायी प्राथमिकताएं थोपी जाती है।

हम दमनकारी सत्ता को दो स्तरों पर समझ सकते हैं। पहले तो ऐसी स्थिति जहाँ एक व्यक्ति अथवा समूह पीड़ादायी अनुभव से गुजरता है, वह वस्तुस्थिति को स्वीकार कर लेता है क्योंकि उसे दिया गया विकल्प भी कोई बेहतर नहीं होता अथवा अनुभव किए जा रहे से भी बदतर होता है। दूसरे वह स्थिति जब एक व्यक्ति अथवा समूह थोपे गए प्रतिबंधों के विरुद्ध कुछ करने से हट जाता है अथवा अपनी बात कहने से बचता है और अप्रिय परिणाम भोगने के स्थान पर दूसरों के विचार को स्वीकार कर लेता है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति अथवा समूह दूसरों के आदेशों को इस लिए स्वीकार करता है और विरुद्ध नहीं बोलता क्योंकि ऐसा करने से उसे डांट फटकार और सख्त दुष्परिणाम का शिकार होना पड़ेगा।

**बॉक्स 11.1: उपयुक्त और क्षतिपूरक सत्ता की तुलना**

उपयुक्त और क्षतिपूरक–दोनों प्रकार की सत्तायों का प्रमुख विशिष्ट लक्षण उनकी वस्तुनिष्ठतता (यथार्थ) अथवा प्रत्यक्षता है। दूसरों की इच्छा को स्वीकार करने वाले इसके प्रति सचेत होते हैं– वे ऐसा एक की गई गणना के आधार पर करते हैं और ऐसा करना बेहतर समझते हैं। ऐसा इस लिए होता है कि उनकी आधीनता के बदले में कुछ विशेष मिलने की अपेक्षा होती है। जो सत्ता का प्रयोग करते हैं वे अपने कृत्यों के प्रति सोद्देश्य ढंग से जागरूक होते हैं।

उपयुक्त और क्षतिपूरक सत्ता के बीच अंतर नकारात्मक और सकारात्मक पुरस्कार का अंतर है। उपयुक्त सत्ता किसी को शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुंचा कर उसको अपनी इच्छा अथवा लक्ष्य को छोड़ने के लिए धमकाने को कहते हैं। क्षतिपूरक सत्ता किसी व्यक्ति को लाभकारी पुरस्कार देकर अपनी प्राथमिकताओं के पीछे दौड़ने को भूलकर पुरस्कार के लिए तैयार करती है। उपयुक्त सत्ता दंड के वायदे अथवा दंड की वास्तविकता से अधीनता प्राप्त होती है तो क्षतिपूरक सत्ता लाभों के वायदे अथवा वास्तविकता से अधीनता अर्जित करती है। (स्रोत : गालब्रथ–1984)

क्षतिपूरक सत्ता दूसरों को सकारात्मक कदमों से व्यक्ति अथवा समूह को ईनाम के रूप में कुछ देकर उनकी अधीनता को अर्जित करती है और वे दमन के समक्ष घुटने टेक देते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में क्षतिपूर्ति कई प्रकार से हो सकती है जैसे सेवा के लिए नकद अथवा वस्तु के रूप में ईनाम देकर, किसी भूखंड पर काम करने का अधिकार देकर अथवा जमींदार के खेत के उत्पादन में से हिस्सा देकर। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से विकास के लिए आर्थिक सहायता का पैकेज देकर अथवा सामाजिक राजनीतिक दृष्टि से अशांत क्षेत्र अथवा समुदाय को आर्थिक सहायता आधुनिक परिस्थिति में क्षतिपूरक सत्ता का एक अन्य उदाहरण हो सकता है।

उपरोक्त दमनकारी सत्ता और क्षतिपूरक सत्ता के दोनों मामलों में व्यक्ति अथवा समूह दमन करने वाले के प्रति अपनी अधीनता के प्रति सचेत होता है जो भले ही मजबूरी दबाव, प्रेरणा अथवा प्रलोभन के माध्यम से स्वीकार की गई होती है।

**सोचिये और कीजिये 11.1**

सत्ता को आप कैसे परिभाषित करेंगे। क्या आप सत्ता का प्रभुता, प्रतिष्ठा और प्रभाव से अंतर अथवा भेद कर सकते हैं।

सत्ता का तीसरा साधन अथवा उपकरण अनुबंधित सत्ता है जो दमनकारी अथवा क्षतिपूरक सत्ता के विपरीत व्यक्तिनिष्ठ है। इस मामले में न तो सत्ता प्रयोग करने वाले और न ही इसको सहने वालों को इसके प्रयोग के प्रति सजग अथवा जानकार होना आवश्यक है। इस प्रकार की सत्ता व्यक्ति अथवा समूह के विश्वास और प्रवृति को बदल कर प्राप्त की जाती है। इस परिस्थिति में एक व्यक्ति अथवा समूह दूसरों की इच्छा को इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि वह मानता है कि जो पहल की गई है वह दृढ़ विश्वास, शिक्षा, सामाजिक प्रतिबद्धता अथवा वायदों के माध्यम से ठीक दिखाई देती है। वे उस पहल को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वे महसूस करते हैं कि यह ठीक दिशा में उठाया गया कदम है। ऐसी स्थिति में अधीनता की अभिस्वीकृति अनिवार्य नहीं है। अनुबंधित सत्ता आधुनिक समाज में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और व्यापक प्रकार की सत्ता है चाहे वह आर्थिक और राजनीतिक पक्ष हों तथा पूंजीवादी और समाजवादी देशों में भी इस प्रकार की सत्ता महत्वपूर्ण है।

## 11.3 सत्ता के स्रोत

सत्ता के अनेक स्रोत अथवा संस्थाएं हैं। ये साधन अथवा संस्थाएं सत्ता धारकों को सत्ता के प्रति अधीनता स्वीकार करने वालों से अलग करते हैं। विद्वानों ने अपनी सोच और अवधारणाओं के आधार पर सत्ता के विभिन्न स्रोतों की पहचान की है। उदाहरण के लिए बियर्सटेड्ट (1969) ने सत्ता के तीन स्रोतों की पहचान की है–जिनके नाम हैं–लोगों की संख्या, सामाजिक संगठन और संसाधन। वह कई अवयवों को सत्ता के तीसरे स्रोत में शामिल करता है–जैसे धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, ज्ञान, श्रेष्ठता, कपट, धोखाधड़ी, गोपनीयता और प्राकृतिक संसाधन। (1986) ने सत्ता के चार स्रोतों की पहचान की है जैसे सैद्धांतिक (वैचारिक), आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक संबंध। ट्यूमिन (1992) के विचार में सत्ता के पांच स्रोत हैं–भूमिका विशेष से जुड़ी सत्ता अथवा अधिकार, माल (वस्तुएं) और सेवाएं, कौशल और योग्यताएं, व्यक्तिगत विशेषताएं और दमनकारी सत्ता।

गालब्राथ (1984) सत्ता के तीन स्रोतों को वर्गीकृत करता है–व्यक्तित्व, सम्पत्ति और संगठन। कुछ अन्य विद्वान भी हैं जो अलग ढंग से वर्गीकरण करते हैं इसलिए किसी एक वर्गीकरण को मानना कठिन है। लेकिन इन सभी वर्गीकरणों में न्यूनाधिक एक से ही तत्व हैं। हम अपने मतलब के लिए अधोलिखित सत्ता के मुख्य स्रोतों पर विचार करेंगे।

व्यक्तित्व, लोगों की संख्या, संसाधन अथवा सम्पत्ति, कौशल, योग्यताएं और ज्ञान, जनसंचार, दमनकारी बल और संगठन।

व्यक्तित्व अथवा नेतृत्व शरीर, मस्तिष्क, भाषण, नैतिकता, श्रेष्ठता और अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं की पहचान है जो किसी व्यक्ति को सत्ता के स्रोतों तक पहुंचने के योग्य बनाता है। व्यक्तित्व का अभिप्राय व्यक्तिगत गुणों से भी है जैसे सौंदर्य, आकर्षण अथवा करिश्मा जो किसी व्यक्ति का अनुग्रह प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिक समय में व्यक्तित्व का अनुबंधित सत्ता के साथ आधारभूत जुड़ाव है। अनुबंधित सत्ता अर्थात दूसरों के विश्वास और प्रवृति को बदलने अथवा प्रेरित करने की योग्यता।

लोगों की संख्या एक अन्य महत्वपूर्ण सत्ता का स्रोत है। दूसरे शब्दों में बहुसंख्यक सामाजिक सत्ता के अवशिष्ट पथ का निर्माण करते हैं। एक ही संगठन और एक ही जनसंख्या समूह में अधिसंख्या

सदैव अल्पसंख्या को नियंत्रित कर सकती है और उनसे आज्ञापालन करवा सकती है। हम विभिन्न सन्दर्भों में संख्या के खेल को देख सकते हैं। साधारण समाजों में सत्ता तक पहुंच पाना दमन और बल प्रयोग के माध्यम से ही होता था। ऐसे परिवार जिनके पास अधिक युवा और बाहुबल होता था वे दूसरों पर सत्ता रखने का लाभ पाते थे। दूसरे शब्दों में ऐसे परिवारों में युवकों की संख्या सत्ता का महत्वपूर्ण और बड़ा स्रोत है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे समाजों में कूटनीति और बुद्धिमत्ता काम नहीं करती। ऐसे कई उदाहरण हैं कि साधारण समाजों में योग्य लोगों के पास सत्ता होती है।

आधुनिक समाजों में हम सत्ता कारक के रूप में संख्या के महत्व को भी समझ सकते हैं–जैसा कि सभी प्रकार के चुनावों में देखा जाता है कि बहुमत को अधिकार और सत्ता के रूप में सत्ता को संस्थागत ढंग से प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार की सत्ता सभी संस्थाओं में देखने को मिलती है भले ही वह लोकतांत्रिक हों या तानाशाह हों या कुछ अन्य हों। बहुमत की सत्ता जैसा कि औपचारिक और अनौपचारिक संगठनों में पाई जाती है–वह निःसन्देह संबंधित संगठन के जीवित रहने अथवा उसके खतरे की चाबी है।

कौशल और योग्यताएं सत्ता का पर ऐसा स्रोत हैं जो लोगों की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं को पूरा करने हेतु सेवाएं प्रदान कर सकती हैं। ये कौशल, दस्तकारी, सैनिक निपुणता, आर्थिक विशेषज्ञता, चिकित्सकीय ज्ञान और साहित्यिक कलाकारी के रूप में हो सकते हैं। इसमें ज्ञान और मीडिया की सत्ता भी सम्मिलित है। कौशल रखने वालों को उन लोगों पर सत्ता रखने का लाभ प्राप्त होता है जो इस कौशल का लाभ उठाना चाहते हैं। ज्ञान सत्ता बन जाता है क्योंकि यह हालात को प्रयोग करने की विशेषता के विषय में जान कर प्रभाव बनाने के लिए ज्ञान पुंज की भांति है।

आज की दुनिया में मीडिया (जनसंचार) सत्ता का एक बड़ा स्रोत बन गया है। मीडिया तक पहुंच रखने तथा नियंत्रण एवं हेरा–फेरी के माध्यम से सूचनाओं और संचार को प्रभावित एवं नियंत्रित करके इसका इस्तेमाल महत्वपूर्ण ढंग से प्रकट हुआ है। उदाहरण के लिए अखबारों अथवा दूरदर्शन में पत्रकारों अथवा स्तंभ लेखकों द्वारा विवादित एवं महत्वपूर्ण मुद्दों पर किए अनुमान एवं विचारों का पाठकों एवं दर्शकों पर काफी असर पड़ता है। संसाधन अथवा सम्पत्ति सत्ता रखने की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। संसाधन कई प्रकार के हो सकते हैं। इसमें सम्पत्ति, धन, प्रतिष्ठा, ज्ञान, श्रेष्ठता, कौशल और योग्यता धोखा/फरेब, धोखा–धड़ी, गोपनीयता और सभी प्रकार के प्राकृतिक और दैवीय संसाधन सम्मिलित होते हैं। दैवीय संसाधनों के विषय में हम धार्मिक सरकारों की एजेंसियों के रूप को समझ सकते हैं जो नियंत्रण बनाने के साधन के रूप में दैवीय प्रतिबंधों का प्रयोग करती हैं। एक अमीर व्यक्ति को सम्मान एवं सत्ता प्राप्त होती है। अपनी गतिविधियों के माध्यम से एक अमीर आदमी को अधीनता अथवा अन्य ढंग से अनुबंधित अधीनता प्राप्त हो जाती है। वस्तुओं और सेवाओं के मालिक को अपनी इच्छा के अनुसार खरीदने और प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। फिर भी सम्पत्ति, धन–दौलत, आय इत्यादि मुख्यतः क्षतिपूरक सत्ता से संबद्ध हैं।

दमनकारी बल में सत्ता को दमन से प्राप्त किया जाता है। भले ही वह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक अथवा शारीरिक दमन हो। इस दमनकारी बल के माध्यम से दूसरों को डरा धमका कर उनकी अधीनता प्राप्त कर सकता है और अपनी इच्छा और लक्ष्य के अनुसार काम कर सकता है। लोग शारीरिक, मानसिक पीड़ा के डर के कारण अथवा अपनी स्वतंत्रता और संसाधनों के खो जाने के डर के कारण उन के आगे हार मान जाते हैं। इस प्रकार के दमन के शिकार हो जाते हैं। ये धमकियां और खतरे वास्तविक अथवा काल्पनिक सोच भी हो सकते हैं।

आधुनिक समाजों में संगठन सत्ता का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है। एक सुगठित और अनुशासित सेना अथवा पुलिस अपने से कहीं बड़ी संख्या के असंगठित लोगों को नियंत्रित कर सकती है। इससे संगठन की सत्ता का ज्ञान होता है। संगठन, सत्ता के तीनों उपकरणों–अनुबंधित सत्ता, दमनकारी सत्ता और क्षतिपूरक सत्ता से जुड़ा हुआ है।

**सोचिये और कीजिये 11.2**

सत्ता के स्रोत कौन–कौन से हैं? कम से कम चार स्रोतों का वर्णन कीजियें

भूमिका विशिष्ट सत्ता भी संगठन द्वारा स्वीकृत अधिकारों तथा उसको दिए गए पद के कारण संगठन सत्ता का एक महत्वपूर्ण अवयव है। उदाहरण के लिए किसी संगठन के अध्यक्ष के पास अपने पद की सत्ता अथवा सत्ता होती है। इसी प्रकार न्यायाधीशों, पुलिस, नौकरी देने वालों, अध्यापकों एवं अन्यों के पास भी सत्ता होती है और औपचारिक संबंधों में एक भागीदार के पास संबंधों के कुछ पक्षों अथवा सभी पक्षों को नियंत्रित करने के कानूनी अथवा पारम्परिक अधिकार होते हैं। इन सत्तायों को औपचारिक संबंधों की सीमा में ही देखना चाहिए। यह व्यक्ति की प्रतिष्ठा (हैसियत) से जुड़े संबंधों के लिए विशिष्ट होती है।

एक संगठन प्रायः दूसरों को अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर सकता है। संगठन के पास भी राज्य की भांति दमन अथवा उपयुक्त सत्ता के अधिकार होते हैं। एक संगठन की क्षतिपूरक सत्ता उसके पास उपलब्ध सम्पत्ति की मात्रा और कीमत पर निर्भर करती है।

**बॉक्स 11.2: वैध और अवैध स्रोतों और उनके प्रयोग में अन्तर स्पष्ट करना**

वैध और स्वीकार्य सत्तायों को अवैध और अस्वीकार्य सत्तायों से अलग किया जाना चाहिए। यद्यपि सभी अवैध सत्तायां उन्हीं आधारों पर निर्भर करती हैं जो वैध सत्तायां प्रदान करते हैं। गैंगस्टर, चोर, आतंकवादी, वैश्याएं, जुआरी एवं अवैध दुनियां में काम करने वाले अन्य अपनी दुनिया में अपनी भूमिका विशेष की सत्ता के कारण अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकते हैं। अथवा अपने भौतिक संसाधन जैसे कौशल, व्यक्तिगत विशेषताओं और मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिकि दमन के कारण अपनी सत्ता का प्रयोग कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त अवैध दुनिया से संसाधन प्राप्त करने वाले जैसे चोरी, जुआ, मादक द्रव्यों के व्यापार से पैसा अर्जित करने वाले अवैध रूप से प्राप्त पूंजी को वैध और अवैध दुनिया में सत्ता के स्रोत के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। वैध तरीकों से कमाए हुए पैसे को वैध अथवा अवैध कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है, जैसे गैर कानूनी दवाओं को खरीदना, गैर कानूनी ढंग से जुआ खेलना अथवा रिश्वत देकर कोई ठेका प्राप्त करना। इसी प्रकार श्रेष्ठ भूमिका की पदच्युत करने, अधीनों को तंग करने और अनाधिकृत रूप से वांछित व्यवहार प्राप्त करने के लिए प्रयोग कर सकता है।

–स्रोत : ट्यूमिन, 1992

सत्ता के स्रोतों की भी अपने बीच में कई प्रकार की जोड़ियां बनती हैं। उनमें भी सत्ता के वैध और अवैध दोनों स्रोत सम्मिलित होते हैं। (टैलकट पार्सन्स–1967)। उन्हें भी विभिन्न मात्राओं में परस्पर मिलाया जाता है। मिलाने में विभिन्नता के कारण सत्ता को लागू करने पर अलग–अलग परिणाम प्राप्त होते हैं।

## 11.4 सत्ता के संदर्भ

ऐसे मुख्य चार संदर्भ हैं जहां सत्ता प्रयोग की जा सकती है। उन्हें राजनीतिक मामलों, संस्थाओं को रूप देने, जीवन के अवसर सुनिश्चित करने और व्यक्तिगत संबंधों के संदर्भ में देखा जा सकता है (ट्यूमिन–1992)।

राजनीतिक कार्यों के मामले में कार्यों की संरचना और विधि को राजनीतिक समुदायों जैसे कस्बों, नगरों, राज्यों, देशों और अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों के संचालन के लिए, निश्चित करना अति आवश्यक है। इस संदर्भ में सत्ता का व्यक्तियों और समूहों, दोनों क्षेत्रों पर प्रभाव होता है। समूहों में संस्थाएं, राजनीतिक दल और पूरा समुदाय सम्मिलित होते हैं। ऐसे समूह अपनी पदेन भूमिका से अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए हमारे पास ऐसी स्थितियां हैं जिनमें संबंधित राज्य के संविधान

के अनुसार संघीय शासन के पास स्थानीय शासन से अधिक सत्ता होती हैं। भारत के संदर्भ में संघीय सरकार के पास राज्य सरकारों से अधिक सत्ता हैं।

सत्ता के विनियोग के लिए संस्थाओं को रूप देना महत्वपूर्ण है। सत्ता आधारभूत संस्थाओं जैसे परिवार, राजनीति, शैक्षिक व्यवस्था, धार्मिक संस्थानों और अर्थव्यवस्था में भूमिकाओं की अन्तःक्रियाओं के लिए प्रासंगिक है। इन संस्थानों और संस्थाओं में हम कुछ न कुछ संबंध पाते हैं चाहे वह नौकरी देने वाले और नौकरी करने वाले के बीच हो, शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच हो अथवा पुजारी और आम इन्सान के बीच हो। अपने दैनिक जीवन में हमारे पास कोई न कोई पद अथवा भूमिका होती है जो हमारे जीवन को संचालित करती है। ऐसे संबंधों में अपने भागीदारी के कारण हम विभेदकारक संबंधों, प्रमुखता और अधीनता के नमूनों को अनुभव करते हैं जो आचरण के प्रतिमान को निर्धारित करने के महत्वपूर्ण तत्व हैं।

व्यक्ति के अपने जीवन में जीवन के अवसरों को सुनिश्चित करने के लिए सत्ता का प्रयोग भी किया जाता है। कीमती जीवन अवसरों में हिस्सेदारी के लिए यह प्रतिस्पर्धात्मक ढंग से कार्य करती है। यह जीवन के पहले वर्ष में जीवित रहने, अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखने, स्कूली शिक्षा और नौकरी के अच्छे अवसरों के लिए तथा दीर्घायु जीने के लिए हो सकती है। ये मूल्यवान जीवन अवसर अपने भाग्य को काबू में रखने के लिए महत्वपूर्ण कारक हैं क्योंकि यह किसी की हैसियत तथा अपने भविष्य को काबू में रखने एवं उसे रूप देने की योग्यता को बढ़ाने में योगदान देने वाला गुण है।

**सोचिये और कीजिये 11.3**

सत्ता प्रयोग करने के विभिन्न संदर्भों की व्याख्या कीजिये।

सांस्थानिक भूमिकाओं की सीमा क्षेत्र से बाहर व्यक्तिगत संबंध सत्ता के विनियोजन के लिए प्रासंगिक हैं। ये संबंध कई प्रकार के हो सकते हैं और विभिन्न स्थितियों में बनते हैं। हम लोगों में बाजारों, गलियों, बसों, उप–मार्गों,गाड़ियों, जहाजों, पार्कों, स्टेडियमों, सेमिनारों तथा कॉफ्रेंसों में मिलते हैं। हम दोस्ती बनाते हैं और कभी–कभार इन संबंधों से प्यार भी करते हैं। हम अपने पड़ोस के लोगों से भी मिलते हैं और ऐसे अन्य लोगों से भी जो औपचारिक रूप से हम से जुड़े नहीं होते हैं। लेकिन हम जानते हैं कि हमें अपने हितों, इच्छाओं और कृत्यों को पूरा करने के लिए किन के साथ रिश्ते बनाने चाहिए। ये सभी संबंध व्यक्ति संबंधों में सत्ता की महत्वपूर्ण भूमिका के अच्छे उदाहरण हैं।

ऐसी स्थितियां भी होती हैं जब लोग आकर्षित होते हैं और अपने निजी आकर्षण और सौंदर्य के माध्यम से दोस्ती बनाई जाती है। यही गुण अन्य लोगों को उनका प्यार और विश्वास पाने के लिए प्रभावित कर सकता है। ये स्थितियां कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ सत्ता निजी संबंधों के माध्यम से काम करती है। उपरोक्त वर्णित की गई सभी सत्तायां एक बराबर प्रासंगिक नहीं हैं और न ही वे सभी स्थितियों में प्रासंगिक हैं। परन्तु इस प्रकार की सत्ता के एक या अधिक प्रकार सत्ता के चारों संदर्भों में प्रासंगिक होंगे।

**बॉक्स 11.3: सत्ता के परिमाण को मापना**

किसी व्यक्ति द्वारा प्रयोग की गई सत्ता के या तो उस व्यक्ति द्वारा किए सभी सत्ता के कार्यों का सत्ता के सफल कार्यों के अनुपात से मापा जा सकता है या किसी अन्य निश्चित मानदंड से। इन मापों को विभिन्न सत्ता धारकों के बीच तुलना करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। दो मात्राएं मापन की वैकल्पिक विधियों को नहीं दर्शाती अपितु जो मापा गया है उसमें अन्तर को दर्शाती हैं। इन मामलों में मात्रा का अर्थ एक सा नहीं होता। सत्ता के अधिकांश अन्वेषण जहाँ तक वह सत्ता की मात्रा से संबंधित हैं वे मात्रा का प्रयोग दूसरे अर्थ में करते हैं।

एक सत्ता धारक द्वारा प्रयोग की गई सत्ता को मापने के लिए दो मुख्य मानदण्ड प्रयोग किए जा सकते हैं। किसी व्यक्ति के चुने हुए आचरण के प्रत्येक प्रकार में कितनी ही चुनी हुई प्रकारों में किए कार्यों की कुल संख्या का उनसे जिन पर नियंत्रण रखा गया है तथा इस प्रकार नियंत्रित व्यक्तियों की संख्या से अनुपात। तानाशाही की परिभाषा "एक ऐसी सरकार जहाँ प्रत्येक वस्तु जिस पर प्रतिबंध नहीं हैं–वह अनिवार्य हैं" आचरण के क्षेत्रों पर पूर्ण रूपेण सत्ता को दर्शाती है जिन पर नियंत्रण लागू किया गया है।

–स्रोत गोल्दीमर एण्ड शिल्स, 1969

एक व्यक्ति अथवा समूह की किसी एक संदर्भ में सत्ता की मात्रा और अन्य संदर्भों में उनकी सत्ता में कोई संबंध होना अनिवार्य नहीं है। एक व्यक्ति किसी एक संदर्भ में बहुत सत्ताशाली हो सकता हैं परन्तु दूसरे संदर्भ में सत्ताहीन हो सकता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपने परिवार में सत्ताशाली हो सकता है परन्तु परिवार से बाहर वह प्रत्येक की इच्छा के अधीन हो सकता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति राष्ट्रीय मामलों में सत्ताशाली हो सकता है परन्तु व्यक्तिगत संबंधों में तुलनात्मक दृष्टि से सत्ताहीन हो सकता है।

## 11.5 सारांश

सामाजिक सत्ता एक सार्वभौमिक घटना है जो सभी मानव समाजों में बढ़–चढ़कर होती है। यह दैनिक जीवन के सामाजिक संबंधों में किसी न किसी रूप में अनुभव की जाती है। सत्ता को कार्य करने की सामान्यीकृत क्षमता के रूप में व्यक्त किया जा सकता है अथवा क्षमता और कार्य करने के अधिकार–दोनों को सम्मिलित कर व्यक्त किया जा सकता है। साधारणतया सत्ता को एक व्यक्ति अथवा समूह की दूसरों को नियंत्रित करने, झुठलाने, दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की नीतियों को लागू कर अपनी इच्छाओं को पूरा करने की योग्यता के रूप में समझा जा सकता है–भले ही वे सहयोग करना चाहें अथवा नहीं।

सामाजिक सत्ता दूसरों को प्रभावित करने अथवा दूसरों के प्रभाव को रोकने की क्षमता को कहते हैं। सत्ता की अवधारणा को प्रायः निकट से जुड़ी अवधारणाओं तथा समानार्थी शब्दों जैसे प्रमुखता, प्रतिष्ठा, प्रभाव, बल इत्यादि के रूप में लिया जाता है। लेकिन ये एक ही नहीं हैं।

सत्ता को लागू करने की तीन प्रमुख विधियां हैं। वे हैं–दमनकारी अथवा उपयुक्त, क्षतिपूरक और अनुबंधित सत्ता। इन तीनों उपकरणों को दृढ़ता से अलग–अलग नहीं किया जाता। फिर सत्ता के अनेक स्रोत हैं जैसे व्यक्तित्व, लोगों की संख्या, संसाधन अथवा सम्पत्ति, कौशल योग्यताएं और ज्ञान, मीडिया, दमनकारी बल और संगठन।

सत्ता को कई संदर्भों में व्यक्त किया जाता है–चाहे वे राजनीतिक मामले हों, संस्थाओं का रूप, जीवन अवसरों को सुनिश्चित करना अथवा निजी संबंधों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। एक व्यक्ति अथवा समूह की सत्ता की मात्रा अलग–अलग संदर्भों में एक सी होना जरूरी नहीं है। एक व्यक्ति एक संदर्भ में सत्ताशाली हो सकता और दूसरे संदर्भ में सत्ताहीन हो सकता है।

## 11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

फोकाल्ट, मिखाइल. 1980. पॉवर/नॉलेज. ब्राइटनः हार्वेस्टर प्रेस.

गर्थ एच. एंड मिल्स, सी.राइट (ट्रांस. एंड एडी.). 1966 फ्रॉम मैक्स वेबरः एसेज इन सोसियोलॉजी. न्यूयार्कः फ्री प्रेस.

लेकेस, एस. 1974, पॉवरः ए रेडिकल व्यू. लंदन मैकमिलन.

पार्सन्स, टॉलकट, 1967. ऑन द कंसेप्ट ऑफ पॉलिटिकल पॉवर. इन सोसियोलॉजिकल थ्योरी एंड माडर्न सोसायटी. लंदनः फ्री प्रेस.

## संदर्भ

एटली, जॉन एंड एटली, टॉम 1922, डेमोक्रेसीः ए सोशल पॉवर एनालाइसेस. थिंक पीस (इश्यू 37138, जुलाई 24).http://www.iea-macro-economics.org/indes.html

बेर्सटेड, रॉबर्ट, 1969 (1957). एन एनालाइसेस ऑफ सोशल पॉवर, इन सोसियोलॉजिकल थ्योरीः ए बुक ऑफ रीडिंग्स. (थर्ड एडी.) एडीस. लेविस ए. कोसर एंड बनार्ड रोजेनबर्ग, लंदनः द मैकमिलन कंपनी एंड कोलेर - मैकमिलन लिमिटेड.

फोकाल्ट, मिखाइल, 1977, डिसिप्लिन एंड पनिश, लंदनः एल्लेन लेन.

फोकाल्ट, मिखाइल, 1980, पॉवर/नॉलेज, ब्रिगटनः हार्वेस्टर प्रेस.

फोकाल्ट, मिखाइल, 1988, द एथनिक ऑफ केयर फार द सेल्फ एज प्रैक्टिस ऑफ फ्रीडम, इन जे. बर्नौर एंड डी. रासमुजेन (एडी.) द फाइलन फोकाल्ट. बोस्टनःएमआईटी

गलबरेथ, जॉन केनीथ. 1984. द एनाटोमी ऑफ पॉवर, लंदनः हमिश हेमिल्टन.

गर्थ एच. एंड मिल्स, सी.राइट (ट्रांस. एंड एडी.). 1966 फ्रॉम मैक्स वेबरः एसेज इन सोसियोलॉजी. न्यूयार्कः फ्री प्रेस.

गोल्थमेर, हर्बर्ट एंड शिल्स, एडवर्ड ए. 1969. पॉवर एंड स्टेटस. इन लेविस ए. कोसर एंड बर्नार्ड रोजेनबर्ग एडीटेउ, सोसियोलॉजिकल थ्योरीः ए बुक आफ रीडिंग्स. थर्ड एडीसन. लंदनः द मैकमिलन कंपनी एंड कोलेर-मैकमिलन लिमि.

हिंडेस, बेरी, 1966. डिस्कोर्स ऑफ पॉवरः फ्रॉम हॉब्स टु फोकाल्ट. ऑक्सफोर्ड; कैम्ब्रिज (यूएसए) ब्लेकवेल पब्लिशर्स

हॉब्स, टी. 1968 (1651). लेवियाथन. लंदनः पेंगुइन.

कॉर्नबलुम, विलियम, 1988. सोसियोलॉजी इन ए चेंजिंग वर्ल्ड. न्यूयार्क एटी एलः हॉल्ट, रेनहर्ट एंड विंस्टन, इंक.

लोके, जे. 1988 (1689). टु ट्रीटीज ऑफ गवर्नमेंट. कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

लेकेस, एस. 1974, पॉवरः ए रेडिकल व्यू. लंदन मैकमिलन.

मन्न, मिखाइल 1986, द सोर्स ऑफ सोशल पॉवर, वाल्यूम 1, कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

मिल्स सी राइट, 1959 (1956), द पॉवर एलीट, न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

पार्सन्स, टॉलकट, 1967. ऑन द कंसेप्ट ऑफ पॉलिटिकल पॉवर. इन सोसियोलॉजिकल थ्योरी एंड माडर्न सोसायटी. लंदनः फ्री प्रेस.

पॉवर्स, चार्ल्स एच. 1987, विलफ्रेडो परेटो. न्यूबरी/न्यू दिल्ली एट एलः सेज पब्लिकेशंस.

स्टेवार्ट, एंगुस, 2001, थ्योरीज ऑफ पॉवर एंड डोमिनेशंस, लंदन, न्यू दिल्ली एट एलः सेज पब्लिकेशंस.

टुमिन, मेल्विन एम. 1992, सोशलं स्ट्राटिफिकेशनः द फॉर्म्स एंड फंक्शंस आफ इनइक्वालिटी, न्यू दिल्लीः प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्रो. लि.

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

# इकाई 12
# सत्ता/ज्ञान

**इकाई की रूपरेखा**


12.1 प्रस्तावना

12.2 सत्ता की परिभाषा

12.3 सत्ता, ज्ञान और वार्ता/सम्भाषण

12.4 फोकाल्ट का पुरातत्वीय लेखन

12.5 फोकाल्ट का वशांवली लेखन

12.6 सारांश

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आपः

- सत्ता की परिभाषा एवं व्याख्या कर सकेंगे;
- सत्ता/ज्ञान के संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे; और
- फोकाल्ट का पुरातत्वीय एवं वंश विषयक ज्ञान क्या है की रूप रेखा खींच पाएंगे।

## 12.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्री सत्ता को प्रायः दूसरों पर अपनी इच्छा थोपने की योग्यता को कहते हैं चाहे दूसरे इस का किसी भी प्रकार विरोध भी करें। "सत्ता का अभिप्राय सामाजिक संबंधों के भीतर वह अवसर है जो किसी को प्रतिरोध के विरुद्ध तथा यह अवसर किस आधार पर उपलब्ध है का ध्यान किए बिना अपनी इच्छा पूरी करने की अनुमति प्रदान करता है।" (मैक्स वेबर, समाजशास्त्र में मूल संकल्पनाएं)। सत्ता अपने आपको तार्किक ढंग से व्यक्त करती है। अर्थात सामाजिक संबंधों में अन्य पक्षों (दलों) को सुनिश्चित किए बिना कोई भी यह नहीं कह सकता कि एक सामाजिककर्ता के पास सत्ता है। साथ ही सत्ता अधिकांशतः पारस्परिक स्तर पर कार्य करती हैं परन्तु प्रायः परस्पर समान स्तर पर नहीं।

सत्ता को समझना और विश्लेषण करना समाजशास्त्रीय विचार के लिए आलोचनात्मक रहा है। सत्ता की प्रमुख परिभाषाओं में से एक माइकल फोकाल्ट द्वारा दी गई है। उसका लेखन सत्ता और ज्ञान के बीच संबंधों का विश्लेषण करता है। फोकाल्ट ने दर्शनशास्त्र में अपनी बौद्धिक खोज शुरू की लेकिन इसके पृथक्करण एवं निष्कपट सच्चे दावों से उसका मोह भंग हो गया और वह मनोविज्ञान एवं मनो–रोग–विज्ञान की ओर पुनः गया। इसके परिणामस्वरूप उसका प्रारंभिक लेखन "पागलपन और सभ्यता", (Madness & Civilization) "चिकित्सा केन्द्र का जन्म" (The birth of Clinic) हुआ और यहाँ से उसकी सत्ता और ज्ञान के बीच संबंधों के प्रति आजीवन रुचि भी प्रारंभ हुई।

फोकाल्ट की सोच पर मुख्य प्रभाव जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक नित्शे और मार्टिन हेडिगियर का था। नित्शे का मानना था कि सत्य, ज्ञान और सत्ता के बीच जटिल और गहरे संबंध हैं। उसका मानना था कि मानवीय व्यवहार सत्ता की इच्छा से प्रेरित होता है और पारम्परिक मूल्यों की समाज पर सत्ता समाप्त हो गई है। हेडिगियर ने "हमारी अपने अस्तित्व के प्रति प्रौद्योगिक समझ" की आलोचना की। फोकाल्ट की सोच ने समाज के भीतर सत्ता के बदलते प्रतिमानों एवं सत्ता का स्वयं के साथ संबंधों का अन्वेषण किया। उसने विभिन्न प्रकार के दावों को संचालित करने वाले परिवर्तनीय नियमों

की खोज की जिन्हें अलग–अलग समय पर इतिहास में गंभीरता से सत्य अथवा झूठ कहा जा सकता है। उसने इस बात का भी अध्ययन किया कि किस प्रकार दैनिक जीवन का व्यवहार लोगों को अपनी पहचान परिभाषित करने एवं ज्ञान को क्रमबद्ध करने योग्य बनाता है, घटनाओं की प्रकृति, मानवीय प्रयासों अथवा ईश्वर के द्वारा पैदा किया हुआ माना जा सकता है। फोकाल्ट का तर्क था कि चीज़ों को समझने के प्रत्येक तरीके के अपने लाभ एवं खतरे हैं।

## 12.2 सत्ता की परिभाषा

फोकाल्ट ने सत्ता को परिभाषित करने का प्रयास कभी नहीं किया लेकिन उसने सत्ता संबंधों को परिभाषित किया। "सत्ता का प्रयोग भागीदारों, व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच केवल संबंध नहीं है अपितु यह एक तरीक़ा है जिससे कुछ क्रियाएं दूसरों में बदलाव लाती हैं। अर्थात जिसे सत्ता कहते हैं और जिसे पूरी दुनियां में सघन अथवा विरल रूप में विद्यमान माना जाता है–होती ही नहीं।"

फोकाल्ट का आग्रह है कि ज्ञान और सत्ता का आपस में परस्पर निर्भर होना आवश्यक नहीं है। एक ऐसा क्षेत्र जहाँ सत्ता को लागू किया जाता है वह ज्ञान के उत्पादन का भी क्षेत्र होता है और ऐसा स्थान जहाँ से ज्ञान प्राप्त किया जाता है ऐसा स्थान है जहाँ सत्ता का प्रयोग किया जाता है। 'अनुशासित करो एवं दंड दो' में वह जेल को ऐसे उदाहरण के रूप में देखता है जहां सत्ता प्रयोग की जाती है और एक ऐसा स्थान जहाँ आधुनिक सामाजिक विज्ञानों के लिए आवश्यक ज्ञान तैयार होता है। इसके समान वे विचार जिनसे सामाजिक विज्ञानों का जन्म हुआ–वे ही विचार जेल के जन्म के लिए उत्तरदायी थे। फोकाल्ट का यह मानना था कि यह विश्वास कि एक वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष पर पहुंच सकता है–इस आधुनिक मानव युग का सबसे बड़ा भ्रम है।

"इस कारण आधुनिक मानववाद ज्ञान और सत्ता के बीच में रेखा खींचने की गलती करता है। ज्ञान और सत्ता परस्पर एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं और ऐसा सपना देखना व्यर्थ है कि कोई ऐसा समय आएगा जब ज्ञान का सत्ता का निर्भर रहना समाप्त हो जाएगा। यह मात्र मानववाद को सपनों की दुनिया में ले जाना होगा। सत्ता को बिना ज्ञान के प्रयोग करना असंभव है। ज्ञान का सत्ता के लिए खतरा न बनना भी असंभव है।

इसलिए सत्ता और ज्ञान के विषय में अलग–अलग बात करने के बजाय वह सत्ता/ज्ञान का योग करना चाहता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 12.1**

भाषण देने की अवधारणा फोकाल्ट के अनेक विचारों के केन्द्र में है। वह वार्ताओं अथवा भाषणों का इतिहास के विशेष क्षणों की सच्चाई और ज्ञान को पहचानने के तरीके के रूप में वर्णन करता है और इस प्रकार वास्तविकता को परिभाषित करने वाले नियमों का समुच्चय प्रदान करता है।

यह विशेष रूप से वैज्ञानिक वार्ताओं के लिए प्रासंगिक है जिन्हें तार्किक प्रतिमानों से वैधता प्राप्त होती है। भाषण/वार्ताओं को प्रतिमानों से वैधता प्राप्त होती है। भाषण/वार्ताओं में सत्ता होती है क्योंकि वे विशेष सत्य और ज्ञान को स्थापित करते हैं और उनकी सत्ता का सामाजिक नियमों के निर्माण एवं उनकी पुष्टि, व्यवहारों और परम्पराओं के माध्यम से प्रयोग होता है। फोकाल्ट के विश्लेषण के अनुसार पहले की अपनी प्रमुख वार्ता अथवा भाषण के नियंत्रण के माध्यम से सत्ता पर किसी एक विषय का एकाधिकार नहीं है अपितु इस असंगत और असंबद्ध क्षेत्र में अनेक विषय होते हैं जो विभिन्न वार्ताओं और चर्चाओं को कुछ हद तक तोड़ मरोड़ देते हैं। फोकाल्ट के लिए वार्ताओं का उद्गम मुद्दा नहीं है अपितु उनकी सत्ता के प्रभाव का असर तथा उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान के प्रकार तथा संस्थागत होना महत्वपूर्ण है। क्योंकि सत्ता वार्ताओं से उत्पन्न होती है इसलिए इसका कोई अकेला स्रोत नहीं है अपितु यह विषमांगी और बहुलवादी है जो सब ओर से आ रही है और सब जगह विद्यमान है।

## 12.3 सत्ता, ज्ञान और वार्ता/सम्भाषण

फोकाल्ट सत्ता, ज्ञान और वार्ता के बीच संबंधों का विश्लेषण करता है जो जागरूक तार्किकता से विकसित होते हैं तथा अपने आपको प्रगतिशील एवं कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत करते हैं। जागरूक तर्कसंगतता एवं इसकी संस्थाओं के आधिपत्य तथा अन्य वार्ताओं को हाशिये पर डालने से नियामक सत्ता के एक वैध ढांचे का निर्माण होता है जो व्यक्ति को सूक्ष्म स्तर पर अनुशासित एवं प्रतिबन्धों से युक्त करता है। फोकाल्ट इतिहास में विभिन्न प्रकार की तर्क संगतता के उद्भव का अध्ययन भी करता है। एक विशेष प्रकार की बुद्धिमतता के उदय से यह पूर्वानुमान हो जाता है कि ज्ञान का क्षेत्र अनुभाविक क्षेत्र के साथ मजबूती से जुड़ा हुआ है। अपने उपकरणीय प्रयोग के कारण एक प्रकार का कारण एवं ज्ञान जो सम्भावित आचरण एवं व्यवहारों को परिभाषित करता है–और इस प्रकार सत्ता का साधन अथवा उपकरण कहलाता है। अनुभाविक क्षेत्र में स्थित होने के कारण एक प्रकार के तर्क कारण का रिवाजो और व्यवहार के बाहर कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए ज्ञान का क्षेत्र सत्ता के क्षेत्र को तथा सत्ता का क्षेत्र–ज्ञान के क्षेत्र को परिभाषित करता है।

इसलिए सत्ता को तर्क का विरोधी नहीं मानना चाहिए, अपितु इसे ज्ञान निर्माण की आवश्यक शर्त मानना चाहिए। क्योंकि सत्ता से ज्ञान पैदा होता है इसलिए कुछ हद तक इसे पुरातत्व द्वारा अपनाया जा सकता है।

**सोचिये और कीजिए 12.1**

सत्ता/ज्ञान के बीच क्या संबंध है? क्या सदैव एक से दूसरे को अर्थ मिल पाता है? व्याख्या करें और अपने उत्तर को अपनी नोट बुक में लिखिये।

आधुनिक सत्ता की प्रकृति के संबंध में फोकाल्ट की व्याख्या उत्तर आधुनिक ढांचे में निहित है। उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत वह आधुनिकता और आधुनिक बुद्धिमत्ता/तार्किकता के सार्वभौमिक दावों तथा विविधता, अनिरन्तरता और विखण्डता की आलोचना करता है। फोकाल्ट 'सैद्धांतिक उत्पादन' की मांग करता है जो स्वतंत्र, स्थानीय और पारम्परिक वार्ताओं से मुक्त हों जैसे आधुनिकता की खोज में उसके अपने अलग परन्तु एक–दूसरे पर आच्छादित मनोवैज्ञानिक, चिकित्सकीय, अपराध विज्ञान और लैंगिक परिप्रेक्ष्यों को प्रयुक्त करना।

MADHYAM IAS

फोकाल्ट ने सत्ता और ज्ञान के विश्लेषण के लिए अपनाए गए दो मुख्य उपागम थे– पुरातत्वीय तथा वंश विषयक। उसका उद्देश्य वंश क्रम को स्थापित करना है कि हमारे अपने समाज में सत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है और उसने अपने विश्लेषण को असंगत रचनाओं के पुरातत्वीय ज्ञान पर आधारित किया। अतः उसके विश्लेषण का उद्देश्य अपने समाज में सत्ता के कार्य करने की विधियों की ओर है।

## 12.4 फोकाल्ट का पुरातत्वीय लेखन

फोकाल्ट का प्रारंभिक लेखन ज्ञान की पुरातत्वीय जानकारी प्रदान करता है जिसमें वह इतिहास के विशेष क्षेत्रों की अचेतन तार्किकता/बुद्धिमत्ता पर प्रहार करता है। अपने पहले प्रमुख लेखन "मैडनैस एंड सिविलाई जेशन (पागलपन और सभ्यता) में फोकाल्ट पागलपन और आधुनिक तर्क के बीच संबंध देखता है। वह ऐतिहासिक और असंगत प्रक्रिया का परीक्षण करता है जिसमें पागलपन को तर्कसंगत्ता (बुद्धिमत्ता) का विरोधी बताया गया है और इसे अलगाव और कैद करने की परम्पराओं के माध्यम से तर्क अथवा बुद्धि से क्रमबद्ध ढंग से अलग किया गया है।

**बॉक्स 12.2**

फोकाल्ट के अनुसार "वैज्ञानिक मनोचिकित्सा" (फोकाल्ट 1965 : 158) जो उन्नसवीं शताब्दी में उभर कर आई वह नैतिकता के साथ गुंथी हुई थी; पागलपन का वैज्ञानिक इलाज उसे बन्धन में रखकर होता था। फोकाल्ट के लिए सत्ता प्रक्रिया प्राचीन जकड़न से अधिक दमनकारी थी।

फोकाल्ट का पुरातत्वीय लेखन उसकी निम्न पुस्तक में अधिक विस्तृत अभिव्यक्ति के साथ मिलता है, द आर्डर आफथिंग्स (मौलिक फ्रेंच एडीशन 1966) जिसमें उसने मानव एंव समाज विज्ञानों का उदय क्रान्ति–परम्परागत एवं आधुनिक काल नियमों, परिकल्पनाओं और व्यवस्थित प्रक्रम में निहत था (बेस्ट एण्ड केलनर 1991 : 41) और मनुष्य की रचना वैज्ञानिक ज्ञान एवं जांच के परिणाम स्वरूप हुई। अपने अन्तिम पुरात्वीय लेखन "द आर्किलोलॉजी आफ नालेज" (मौलिक फ्रेंच एडीसन 1971) में फोकाल्ट ने अपनी बौद्धिक योजना का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण किया है :

एक ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक ज्ञानशास्त्रीय क्षेत्र का विकास। क्रियाओं फोकाल्ट के पुरातत्वीय लेखन की ओलचना सामाजिक संस्थानों और क्रियाओं की उपेक्षा का संभाषण पर अधिक बल देने के अलावा हुई है। किन्तु फोकाल्ट के पुरातत्वीय लेखन में सामाजिक क्रियाओं एवं संस्थानों के ऊपर सिद्धान्त और ज्ञान के विश्लेषण को स्पष्ट वरीयता मिली है। सामाजिक और राजनीतिक परिवेश पर संभाषण के प्रभाव की जांच, से भौतिक संस्थाओं के मूल्यांकन की आवश्यकता लगेगी। फोकाल्ट अपने अगले बौद्धिक चरण के निर्देशक सिद्धान्तों को सत्ता प्रभाव ओर ज्ञान से उसने सम्बन्ध पर एकाग्र करने के लिये नीत्से के वांशिक सिद्धांतों से लिए हैं।

## 12.5 फोकाल्ट का वंशावली लेखन

अनुवांशिकी फोकाल्ट के बल में एक प्रसार एवं बदलाव की ओर संकेत करती है किन्तु यह उसके आधारिक दृष्टि में परिवर्तन नहीं है। फोकाल्ट के पुरातत्वीय लेखन की भांति उसकी अनुवांशिकी अनिरंतरता की खोज करती है, और उन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों को स्पष्ट करती है जिन्हें पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुरातत्व से लेकर अनुवांशिकी संभाषण के क्षेत्र के अन्तर्गत बहुसंख्या एवं बहुलता पर बल देती है; वैकासिक इतिहास की अनिरन्तर अन्तर्धारा के परिवर्तन को छोड़ देती है; और मानव विज्ञानों की उत्पत्ति में तर्क के योग की जाँच करती है। पुरातात्विकी की तुलना में वांशिकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं एवं क्रियाओं पर फैलाव और संकुचन क्षेत्र के मध्य सम्बन्धों पर केन्द्रित होती है।

इस स्थिति के आधार पर फोकाल्ट ने 1970 वें दशक में सत्ता का अपूर्ण अनात्मी और अमानवीय संदर्भ से सैद्धान्तीकरण प्रारंभ कर दिया। उसका सत्ता की अवधारणा पूर्व के न्यायिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भ से क्रान्तिकारी रूप से भिन्न है। वह मानता है कि सत्ता को इन पैमानों से नहीं देखा जा सकता और यह कि सत्ता विस्तृत, अनिश्चित और विभिन्न रूपों में होती है जो व्यक्ति की पहचान को रूपायित करती है। इस प्रकार पूर्व के अधिकांश स्पष्टीकरणों से अलग फोकाल्ट सत्ता को बाधक और निषेधात्मक रूप में नहीं देखता, अपितु वह उसे उत्पादक और उपचारात्मक मानता है जो सामाजिक मानकों के अधिकार के द्वारा कार्य करती है।

**सोचिये और कीजिये 12.2**

फोकाल्ट की वंश विज्ञान दृष्टिकोण पर विचार कीजिये इस प्रकार के दृष्टिकोण के क्या लाभ हैं।

अपने प्रथम वंशावली लेखन (Discipline and Punish) में सत्ता की अनुशासनात्मक सीमाओं के अंतर्गत आत्मा, शरीर और विषम के निर्माण का वर्णन किया है, जो स्कूलों, अस्पतालों, फैक्ट्रियों और जेलों में लागू होते हैं। उसने आधुनिक सामाजिक संस्थाओं और तार्किक सत्ता की प्रकृति के बीच

संबंधों का परीक्षण किया है। फोकाल्ट तार्किक सत्ता की प्रकृति का विस्तृत वर्णन करता है। फोकाल्ट इस दमनकारी परिकल्पना की आलोचना यह कहकर करता है कि सत्ता ज्ञान–आनन्द के क्षेत्र में स्थित लैंगिक दमन का विचार एक ढंग हैं (फोकाल्ट 1978:11) जो लैंगिकता पर वार्ता को निर्मित एवं जीवित रखता है और शरीर को नियंत्रण का केन्द्र मान कर उस पर ध्यान केन्द्रित करता है। इस प्रकार फोकाल्ट सत्ता के सर्वव्यापक तथा कपटपूर्व गतिविधियों को उजागर करता है, तार्किकता, वैयक्तिकता और ज्ञान को समस्यात्मक बनाता है, तथा सत्ता और ज्ञान के बीच संबंधों की खोज करता है। फोकाल्ट के दृष्टिकोण को प्रायः दमनकारी माना जाता है। उसके पुरातत्वीय एवं वंश विषयक लेखन से आधुनिक तार्किकता की सत्ता का उपनिवेशीकरण तथा पूरे सामाजिक क्षेत्र में छितरी हुई उपस्थिति उजागर होती है।

सबसे बढ़कर फोकाल्ट का सैद्धांतीकरण इस विश्वास में निहित है कि ज्ञान परिवर्तनीय है। ठीक उसी समय यद्यपि वार्ताएं एवं चर्चाएं सत्ता को बलवती बनाती है और वे प्रतिरोध के लिए सक्रियता प्रदान करती हैं जिससे अधिकार से वंचित लोग विरोधी वार्ताएं प्रारंभ कर सकते हैं और सांस्थानिक श्रेणियों में जल्दी–जल्दी वैधता की मांग कर सकते हैं।

## 12.6 सारांश

यदि कोई फोकाल्ट से सहमत नहीं हो तो भी कम से कम वह मानव के अस्तित्व में सत्ता की व्यापक उपस्थिति को उजागर करता है और तार्किकता, वैयक्तिकता और ज्ञान की प्रदर्शित वैधता की आलोचना करता है। उसका विश्लेषण सत्ता के विस्तृत प्रभावों और इसकी विविध क्रियाओं का वर्णन करता है। उसका यह वर्णन तार्किक और विवेकपूर्ण संस्थाओं जैसे स्कूलों, हस्पतालों, फैक्ट्रियों, आश्रयों और जेलों से संबंधित प्रभावों एवं क्रियाओं से संबंधित है। जो वैज्ञानिक ज्ञान के उपार्जन तथा ज्ञान–मीमांसा की व्यवस्था के निर्माण से संबंधित प्रभावों एवं क्रियाओं का वर्णन करता है।

(Best & Kellner 1991 : 68-69) फोकाल्ट की अपनी स्पष्ट सीमाएं हैं। आधुनिकता संबंधी उसकी आलोचना पर एकतरफा होने का आरोप है जो केवल विवेक और तर्क के नकारात्मक प्रभाव को प्रस्तुत करता है और उसके प्रयोग को सीमित करता है। उसके विश्लेषण की निष्पक्षता अति महत्वपूर्ण है। यद्यपि फोकाल्ट कहता है कि सत्ता, ज्ञान और वार्ता / चर्चा के माध्यम से कार्य करती है वह वास्तविकता की अवहेलना करता है जिससे ज्ञान मीमांसा स्थापित होती है और एक समूह का पक्षपात कर दूसरे को बाहर करती है। विवेक और तर्क संगतता की चर्चा की विशिष्ट ऐतिहासिक जड़ें श्वेत बुद्धिजीवी पुरुषों में हैं इस प्रकार इसकी प्रमुखता के बड़े वास्तविक और विशिष्ट प्रभाव हैं। यद्यपि वह विषयपरक वार्ताओं को करने की बात करता है परन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देता कि विषय सम्भाषणों / वार्ताओं को मानव जनसंख्या के स्पष्ट पहचाने जाने वाले वर्गों में जैसे अश्वेत, अप्रभावी, गैर–पश्चिमी यूरोपियन तथा इत्तर लिंग का भी पुरुषों और महिलाओं में पाया गया है। उसके विश्लेषण के व्यावहारिक लक्ष्यों के बावजूद फोकाल्ट की उसके विरोधी उसकी सत्ता की संकल्पना अन्तर्निहित छुपे हुए नियतिवाद के कारण आलोचना करते हैं।

हालांकि फोकाल्ट ने सत्ता / ज्ञान के अध्ययन में समझ और व्याख्या के नये क्षेत्रों को खोल कर अपना अमूल्य योगदान दिया है।

## 12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

फोकाल्ट मिखाइल, 1973, बर्थ ऑफ द क्लिनिक एन. 4 पेंथेन।

फोकाल्ट मिखाइल, 1972, द आर्केलॉजी ऑफ नॉलेज एन. 4 पेंथेन।

फोकाल्ट मिखाइल, 1965, मैडनेस एंड सिविलाइजेशन एन. 4 पेंथेन।

इकाई 13

# पूंजीवाद का उद्‌गम, विकास और प्रकार्य

**इकाई की रूपरेखा**

13.1 प्रस्तावना

13.2 पूंजीवाद की ऐतिहासिक व्याख्या

13.3 पूंजीवाद का विकास एवं प्रकार्य

13.4 वस्तु उत्पादन एवं पूंजीवादी उत्पादन

13.5 बाजारों एवं उत्पादन का विस्तार

13.6 एकाधिकार, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद

13.7 सारांश

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- पूंजीवाद के उद्‌गम, विकास एवं प्रकार्यों को समझ सकेंगे; और
- ऐतिहासिक लेखन के माध्यम से पूंजीवाद पर विविध सैद्धांतिक दृष्टिकोण प्रदान कर सकेंगे।

## 13.1 प्रस्तावना

पूंजीवाद का प्रयोग अर्थशास्त्रियों द्वारा शुद्ध तकनीकी रूप में उत्पादन की विधियों का प्रयोग करने के लिए किया गया और इसका संबंध मुख्य रूप से पूंजी की प्रकृति के विशिष्ट दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। पूंजीवाद की इस परिभाषा का संबंध किसी भी तरीके से उन बातों से नहीं है जिनके अंतर्गत उत्पादन के साधनों का स्वामित्व प्राप्त किया जाता है। इससे आशय सिर्फ उनकी आर्थिक उत्पत्ति एवं उनके प्रयोग के विस्तार से है। दूसरी संकल्पना के अनुसार, पूंजीवाद को मुक्त व्यक्ति के विशेष उद्यम की पद्धति के रूप में देखा जाता है। यह ऐसी पद्धति है जहाँ आर्थिक एवं सामाजिक संबंध संविदा से बनते हैं जहाँ मनुष्य अपनी आजीविका को प्राप्ति करने में हर तरीके से स्वतंत्र है और जहाँ कानूनी अनिवार्यताएं एवं प्रतिबंध मौजूद नहीं होते, जिसके द्वारा पूंजीवाद का अर्थ मुक्त प्रतियोगिता भी है।

## 13.2 पूंजीवाद की ऐतिहासिक व्याख्या

मोटेतौर पर ऐतिहासिक शोध और ऐतिहासिक व्याख्या ने पूंजीवाद की धारणा से जुड़े तीन अलग अर्थों को प्रभावित किया है।

### क) उद्यम की आत्मा के रूप में पूंजीवाद

वर्नर सोमबार्ट की रचनाओं से यह विचार प्रसिद्ध हुआ है। उसने पूंजीवाद के सार को इसके आर्थिक ढाँचे या इसके शरीरक्रिया विज्ञान के किसी भी एक पहलू में नहीं पाया। बल्कि उसने इसे जैसा कि गिस्त (Geist) या स्पिरिट (spirit) में प्रदर्शित उसके पहलुओं की संपूर्णता में पाया है, जिसने समग्र युग के जीवन को प्रेरित किया है। यह स्पिरिट उद्यम की स्पिरिट का संश्लेषण है। यह मानते हुए कि विविध समय में विविध आर्थिक व्यवहार सदैव हावी रहे हैं और यह वह स्पिरिट है जिसने पहले अपने लिए और इससे आर्थिक संगठन के लिए उचित स्वरूप सृजित किया है। अतः वर्नर ने पूंजीवाद का मूल मन की अवस्थाओं में पाया है और इसलिए ऐसे आर्थिक स्वरूपों एवं संबंधों के अस्तित्व के लिए मानव व्यवहार सहायक हैं जो कि आधुनिक जगत की विशेषताएं हैं।

पूर्व-पूंजीवादी मनुष्य "प्राकृतिक मनुष्य" था जिसने अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए आर्थिक गतिविधि पर सोच विकसित की और पूर्व-पूंजीवादी समय में "सभी प्रयासों एवं सभी देखभाल के मध्य में जीवंत मनुष्य का अस्तित्व बना रहा", उसे हर वस्तु के गुण/दोष का पता था। इसके विपरीत पूंजीवाद ने प्राकृतिक मानव को उलटा पुलटा कर दिया, और उसने आदिम और मौलिक दृष्टिकोण तथा समस्त जीवन-मूल्य पूँजी एकत्र करना आर्थिक गतिविधि का प्रबल इच्छा बिंदु माना और एक गंभीर तर्कसंगतता की अवधारणा और सटीक परिमाणात्मक परिकलन की विधियों द्वारा इस छोर तक जीवन में हर बात को गौण समझा।

अधिक सरल शब्दों में मैक्स वेबर ने पूंजीवाद को इस तरह परिभाषित किया कि "ऐसी हर जगह पूंजीवाद मौजूद है जहाँ कहीं मानव समूह की आवश्यकताओं के लिए औद्योगिक प्रावधान है और जिसे उद्यम की विधि द्वारा लागू किया जाता है। वेबर ने पूंजीवाद की स्पिरिट का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया है कि ऐसा व्यवहार जो मुनाफा कमाने की ओर प्रवृत्त है।

### ख) वाणिज्यिक पद्धति के रूप में पूंजीवाद

यह ऐसा अर्थ है जो ऐतिहासिक सामग्री के उपचार में अक्सर अस्पष्ट पाया जाता है। यह धारणा स्पष्ट रूप से पूंजीवाद की पहचान दूरस्थ बाजार के लिए उत्पादन के संगठन से जुड़ी हुई है। हालांकि, आरंभिक शिल्पकला गिल्ड जहाँ शिल्पकार अपने उत्पादों को शहर के बाजार में फुटकर के रूप में बेचता है, उसे इस परिभाषा से बाहर रखा जाता है। पूंजीवाद वहाँ मौजूद होता है जहाँ, उत्पादन की क्रिया और फुटकर बिक्री थोक व्यापारी की मध्यस्थता से समय और स्थान के आधार पर एक दूसरे से अलग कर दी जाती है। यह व्यापारी वस्तुओं की बिक्री के लिए पेशगी के रूप में धन देता है ताकि ऐसे माल की बाद में बिक्री करके वह लाभ कमा सके। एक बड़ी सीमा तक यह धारणा जर्मन ऐतिहासिक विचारधारा द्वारा लागू विकास की योजना की श्रेणी में है आती जहाँ उसने मध्यकालीन "प्राकृतिक अर्थव्यवस्था और उसके बाद "धन अर्थव्यवस्था" के बीच मूल अंतर किया। धन अर्थव्यवस्था ने इस बात पर जोर दिया कि "बाजार" ने आधुनिक आर्थिक जगत की वृद्धि में चरणों को परिभाषित किया।

बूशर (Bucher) के शब्दों में, अनिवार्य मानदंड ऐसा संबंध है जो उत्पादन एवं वस्तुओं की उपभोग के बीच मौजूद है। अधिक सटीक शब्दों में, वस्तुओं का आगे जाने का रास्ता उत्पादक से ग्राहक तक है। इसमें पूँजीवाद की परिभाषा की झलक नहीं मिलती जो कि आर्थिक गतिविधि की ऐसी पद्धति है जो मुनाफा लक्ष्य द्वारा हावी रहती है। ऐसे लोग जो आमदनी के नजरिए से धन के निवेश में विश्वास रखते हैं और यह निवेश व्यापार से जुड़ा है या उत्पादन में सूदखोरी से, इसे पूंजीवाद की मौजूदगी कहते हैं। प्रो. नौसबाम पूंजीवाद को "विनिमय अर्थव्यवस्था की पद्धति" के रूप में परिभाषित करते हैं जिसमें मुख्य उद्देश्य असीमित मुनाफा कमाना है। इस पद्धति में उसके अनुसार स्वामी होते हैं और संपत्तिहीन कामगार।"

### ग) उत्पादन के विशिष्ट तरीके के रूप में पूंजीवाद

हमारे पास वास्तव में मार्क्स द्वारा दी गई परिभाषा है जिसने पूंजीवाद को न तो उद्यम की स्पिरिट और न ही लाभ के उद्देश्य से धन के प्रयोग में पाया बल्कि मार्क्स के अनुसार यह उत्पादन का विशिष्ट तरीका है। उत्पादन के तरीके के संदर्भ में उसका अर्थ मात्र तकनीक की स्थिति से नहीं है जिसे वह उत्पादनकारी बलों की अवस्था कहता है। बल्कि यह ऐसा तरीका है जिसमें उत्पादन के साधनों को खरीदा गया और इसका अर्थ मनुष्यों के बीच के सामाजिक संबंधों से है जो उत्पादन की क्रिया से जुड़े उनके संबंधों का परिणाम हैं। अतः पूंजीवाद सिर्फ बाजार के लिए उत्पादन की व्यवस्था नहीं है बल्कि जैसा कि मार्क्स ने कहा यह वस्तु उत्पादन की पद्धति है। इसके अलावा यह ऐसी पद्धति है जिसके अंतर्गत श्रम शक्ति स्वयं वस्तु का रूप धारण कर लेती है और जो किसी अन्य वस्तु के विनिमय की तरह बाजार में खरीदी और बेची जा सकती है।

पूंजीवाद का ऐतिहासिक पूर्वापेक्षित बिंदु था, एक वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर ध्यान केंद्रित करना। यह वर्ग ऐसा है जिसमें समाज का छोटा वर्ग ही शामिल है। इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर संपत्तिहीन वर्ग उभरता है जिसके लिए उसकी आजीविका का एक

मात्र स्रोत सिर्फ अपनी श्रम शक्ति की बिक्री करना था। इसी आधार पर कानूनी बाध्यता के बजाय मजदूरी करारनामे के आधार पर संपत्तिहीन वर्ग द्वारा उत्पादनकारी गतिविधि को पूरा किया गया। यह स्पष्ट है कि ऐसी परिभाषा स्वतंत्र हस्तकारी उत्पादन की पद्धति को इससे बाहर रखती है जहाँ शिल्पकार के उत्पादन के अपने निजी छोटे-छोटे औजार होते हैं और जो अपने सामान की बिक्री खुद करता है। कारीगर के रोजगार पर किसी भी हद तक विश्वास के अतिरिक्त यहाँ स्वामित्व एवं कार्य के बीच कोई अलगाव नहीं है मानव श्रम शक्ति के बजाय वस्तुओं का क्रम-विक्रय उसकी चिंता का प्राथमिक मुद्दा था।

व्यापार और उधार देना और व्यापारियों या पैसा लगाने वाले विशिष्ट वर्ग की मौजूदगी इस परिभाषा के प्रयोग को दूसरों से अलग बनाती है, यद्यपि ये सामर्थ्यवान लोग हैं लेकिन पूंजीवादी समाज के निर्माण में यह पर्याप्त नहीं है। हालांकि पूंजीधारी लोभी पर्याप्त नहीं हैं, उत्पादन में अधिशेष मूल्य के निर्माण के लिए उनकी पूंजी का प्रयोग श्रम को उपयोग में लाने के लिए अवश्य किया जाना चाहिए।

### घ) पूंजीवाद के उद्भव पर चिंतन

सोमबर्ट की पूंजीवादी स्पिरिट की संकल्पना और वाणिज्यिक पद्धति के रूप में पूंजीवाद की संकल्पना में कुछ सामान्य निश्चित दोष हैं।

- ये संकल्पनाएँ धन के लोभी निवेश पर केंद्रित हैं।
- ये संकल्पनाएं इतिहास के किसी भी एक युग को सीमित बनाने में अपर्याप्त हैं।
- और ये ऐसे निष्कर्ष की ओर प्रवृत्त हैं कि इतिहास के लगभग सभी काल कम से कम कुछ हद तक पूँजीवादी हैं।

इसके अलावा सोमबर्ट और वेबर एवं उनकी विचारधारा से जुड़ी कठिनाई है कि यदि पूंजीवाद आर्थिक स्वरूप के रूप में पूंजीवादी स्पिरिट की सृजना है तो पूंजीवादी स्पिरिट की उत्पत्ति सर्वप्रथम पूंजीवाद की उत्पत्ति से पहले स्पष्ट की जानी चाहिए। यदि यह पूंजीवादी स्पिरिट स्वयं एक ऐतिहासिक उत्पाद है तो किसने ऐतिहासिक मंच पर इसकी छवि को उत्पन्न किया? मस्तिष्क की विविध अवस्थाओं में ऐसी बातों के अचानक आने के अलावा इस पहेली का कोई संतोषजनक उत्तर अभी तक नहीं मिला है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 13.1: प्रोटेस्टेंटवाद एवं पूंजीवाद**

ऐसे कारण की खोज ने असंतोषजनक और परिणामहीन वाद-विवाद को जन्म दिया है कि क्या यह सही है कि (जैसा कि वेबर और ट्रोइटश का दावा है) प्रोटेस्टेंटवाद ने पूंजीवादी स्पिरिट का उदय किया है। यह कहने के बजाय जैसा कि सोमबर्ट कहते हैं कि यह मुख्यतया यहूदियों की सृजना है। यह कहने के लिए बहुत से कारक हैं कि पूंजीवाद सुधारवाद की उपज है हालांकि विचार की दृष्टि से यदि नयी आर्थिक व्यवस्था के आविर्भाव को स्पष्ट करना है तो यह विचार पहले से ही भावी पद्धति के सार में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ इतिहास में पूंजीवाद की परिभाषा का वास्तविक प्रयोग उस ओर तेजी से बढ़ा है जिसे सर्वप्रथम मार्क्स द्वारा विकसित एवं अपनाया गया।

आर्थिक गतिविधि के प्रेरक बिंदु के रूप में लाभ पर ध्यान केंद्रित करने की बजाय पूंजीवादी एवं श्रमजीवी के बीच नये किस्म के वर्ग विभेदन के आविर्भाव पर लगातार जोर दिया जा रहा है। उत्पादक और पूंजीवादी के बीच के संबंध पर ध्यान तेजी से केंद्रित किया जा रहा है जो कि 19वीं शताब्दी की पूर्ण परिपक्व औद्योगिक पद्धति में स्वामी और मजदूर के बीच के रोजगार संबंध के समान है। समग्र रूप से यह ऐसी सामग्री की वजह से है जिसे शोध ने खोजा है और जिसने आधुनिक युग के अनिवार्य विभेदन के लिए अपनी खोज में इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट करने की ओर जोर दिया है, बजाय इसके कि पहले से ही मार्क्स की रचनाओं द्वारा इस ओर प्रवृत्त किया गया है। अतः औद्योगिक क्रांति से पहले कुछ शताब्दियों में पूंजीवाद के अनिवार्य बिंदुओं के आधार पर श्री लिप्सन का कहना है कि पूंजीवाद की बुनियादी विशेषता मजदूरी पद्धति है जिसके अंतर्गत

कामगार को स्व-निर्मित सामग्री में स्वामित्व का अधिकार है। कामगार अपनी श्रम का फल नहीं बेचते बल्कि सिर्फ श्रम को ही बेचते हैं जिसका आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व है।

## 13.3 पूंजीवाद का विकास एवं प्रकार्य

### क) पूंजीवाद की अवस्थाएँ

पूंजीवाद का विकास, परिपक्वता के विविध स्तरों द्वारा विविध अवस्थाओं में वर्गीकृत है। इनमें से प्रत्येक को विशिष्ट गुणों द्वारा पहचाना जाता है जब हम अवस्थाओं का पता लगाने का प्रयास करते हैं और इनमें से किसी एक का चयन पूंजीवाद की आरंभिक अवस्था पर ध्यान केंद्रित करने के लिए किया जाता है। यदि हम उत्पादन के विशिष्ट तरीके के रूप में पूंजीवाद की बात करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि हम व्यापारी वर्ग और बड़े पैमाने की ट्रेनिंग के नजर आने के पहले संकेतों से इस पद्धति का अनुमान नहीं लगा सकते और हम मर्चेंट पूंजीवाद की विशिष्ट अवधि पर बात नहीं कर सकते। जब उत्पादन के तरीके में परिवर्तन होता है तभी हम पूंजीवादी अवधि की शुरुआत देखते हैं। मार्क्स का प्रमुख कार्य "पूँजी" शब्द में निहित है। मार्क्स ने अपने जीवन के बहुत से वर्ष पूंजीवाद के विश्लेषण पर खर्च किए क्योंकि वह इस बात से संतुष्ट था कि पूंजीवाद की व्यावहारिक समीक्षा को सुविधाजनक बनाने के लिए संपूर्ण सैद्धांतिक समझ की जरूरत थी। राजनीतिक अर्थव्यवस्था **एडम स्मिथ** और **डेविड रिकार्डो** जैसे क्लासिकी बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों द्वारा विकसित आर्थिक सिद्धांत के लिए जोर पकड़ता है। मार्क्स ने इनके सिद्धांतों का बारीकी से अध्ययन किया। उसने इनके सिद्धांतों से शुरुआत की और मूल्य, वस्तु, धन, पूंजी आदि जैसी उनकी श्रेणियों पर ध्यान देते हुए इनका गूढ़ आलोचनात्मक अध्ययन किया। मार्क्स पूंजीवाद की असल प्रकृति को उभारने की ओर अग्रसर है। इस प्रक्रिया में वह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सशक्त वैज्ञानिक वैधता को तोड़ देता है और न सिर्फ पूंजी के विश्लेषण के लिए नया वैज्ञानिक मॉडल प्रदान करता है बल्कि पूंजीवाद की संपूर्णता की बुनियादी समीक्षा के लिए आधारशिला भी बनाता है।

### ख) पूंजीवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

पूंजीवाद का अध्ययन करने और इसके विशिष्ट स्वरूप को समझने के दो तरीके हैं और पूर्ण समझ प्राप्त करने के लिए हमें दोनों तरीकों को समझना जरूरी है। पहला तरीका है, इसके इतिहास का अध्ययन करना, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई और इसका विकास कैसे हुआ, इन बातों को समझना और किन परिस्थितियों में इसे विकसित किया गया और इसका परिणाम क्या हुआ। इसके लिए न सिर्फ आर्थिक प्रगति का अध्ययन जरूरी है बल्कि समग्र **बुर्जुआ समाज** के विकास को भी समझना जरूरी है। यह एक विस्तृत क्षेत्र है क्योंकि प्रत्येक देश का इस संदर्भ में अपना एक निजी इतिहास होता है। लेकिन ऐसे अध्ययन पूंजीवाद का अध्ययन करने के दूसरे तरीके का पूंजीवादी समाज की आर्थिक संरचना के सुव्यवस्थित विश्लेषण का नाम देते हैं। ऐसे मामले में शुरुआत ऐतिहासक उत्पत्ति संबंधी बिंदुओं की बजाय समग्र रूप से पूंजीवादी पद्धति से होनी चाहिए। यह वही उपागम है जिसका अनुसरण मार्क्स "पूँजी" में करता है।

**बॉक्स 13.2 : द्वंद्वात्मक तर्क**

ऐतिहासिक रूप से कृषि एवं धरातली किराए से शुरुआत करनी चाहिए। पूंजी को आरंभिक एवं अंतिम बिंदु मानते हुए मार्क्स द्वंद्वात्मक तर्क के पथ का अनुसरण करते हैं। यह विधि पहले से पद्धति की ठोस संपूर्णता को मान कर चलती है लेकिन विश्लेषण की प्राप्ति के लिए यह एक भाग के बाद दूसरे भाग को तब तक लेती है जब तक कि यह ऐसी बातों का पता न लगा ले कि किस प्रकार सभी पहलू, सभी संबंध, सभी श्रेणियाँ, संपूर्णता के भागों के रूप में काम करते हैं। मार्क्स इसे अमूर्त से मूर्त की ओर उभरने की विधि कहते हैं। पृथक भाग वास्तविक और ठोस लग सकता है लेकिन अधिक जटिल वास्तविकता से यह अलग है। यह तो बहुत से निश्चयों एवं संबंधों की समग्र संपूर्णता है जो ठोस वास्तविकता को गठित करती है।

पूंजी इस द्वंद्वात्मक तर्क के अनुसार निर्मित होती है। खंड 1 "द प्रोसेस आफ प्रोडक्शन ऑफ कैपिटल " के विश्लेषण को अर्पित है। हम "पूंजी" विषय में मार्क्स द्वारा अग्रेषित सभी सिद्धांतों की चर्चा नहीं कर सकते और न ही पूंजीवाद के ऐतिहासिक विकास की विशिष्टताओं पर नजर डाल सकते हैं। हम सिर्फ कुछ प्रमुख सैद्धांतिक वक्तव्यों को ही उजागर कर सकते हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया के कुछ प्रमुख पहलुओं पर भी ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

## 13.4 वस्तु उत्पादन एवं पूंजीवादी उत्पादन

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की पहली विशेषता है कि यह वस्तु उत्पादन की किस्म है अर्थात बिक्री के लिए उत्पादन, बाजार के लिए उत्पादन। यही वजह है कि मार्क्स "वस्तुओं" के विश्लेषण की शुरुआत करता है। लेकिन सभी वस्तु उत्पादन से पहले से ही पूंजीवादी उत्पादन नहीं होते। वस्तु उत्पादन मानव इतिहास में हजारों वर्ष पूर्व उभरा जबकि पूंजीवाद का उदय सिर्फ कुछ सैंकड़ों वर्ष ही पुराना है। आदिम समाज में सभी उत्पादन प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए हैं। बाजार में विनिमय के लिए कोई उत्पादन नहीं है। वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय के लिए वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में धीमी गति से हुआ है। लंबे समय के लिए यह केवल अधीनस्थ भूमिका को ही निभाता है । सिर्फ पूंजीवादी समाज में वस्तु उत्पादन का पूर्णतया प्रबल स्वरूप बन जाता है। यह सामान्यीकृत बन जाता है।

**अभ्यास 13.1**

क्या वस्तु उत्पादन हाल ही की परिघटना है? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

साधारण वस्तु उत्पादन के तरीके का विश्लेषण करते समय मार्क्स उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त करता है: खरीदने के लिए बिक्री करना। खेतिहर अन्न की खरीदारी के लिए कुछ अन्न की बिक्री करना चाहता है। बुनकर अन्न की खरीदारी के लिए कुछ कपड़ा बेचना चाहता है। इस अभियान को 'सीएमसी' के रूप में दर्शाया जा सकता है अर्थात कमोडिटी-मनी-कमोडिटी। मनुष्य एक वस्तु की खरीद के लिए एक वस्तु की बिक्री करता है। धन विनिमय का साधन है ताकि लेन-देन की प्रक्रिया को आसान बनाया जा सके । सी और सी की दो वस्तुओं का मूल्य समतुल्य है। हालांकि बाजार में हम न सिर्फ खेतिहर और शिल्पकार को बल्कि व्यापारी को भी पाते हैं। वह बाजार में वस्तुओं के साथ नहीं बल्कि धन के साथ आता है। इस धन के साथ वह कुछ उत्पाद खरीदता है ताकि उसे उच्च कीमत पर बेच सके। इस अभियान को वर्धित मूल्य के साथ मनी-कमोडिटी-मनी के रूप में दर्शाया जा सकता है। ऐसा धन जो अधिशेष मूल्य के साथ बढ़ाया गया है, उसे पूंजी कहते हैं। पूंजी व्यापारिक पूंजी या सूदखोरी या साहूकार की राशि के रूप में पूंजीवाद से बहुत पहले से ही विराजमान है। इनमें अंतर इतना है कि इस किस्म की पूंजियों वस्तुओं के विनिमय में अपनी भूमिका, वितरण के क्षेत्र में बाजार में इन्हें घुमाने के रूप में अपनी भूमिका से अपना लाभ उत्पन्न करती हैं। सूदखोर एवं मर्चेंट ऐसे अधिशेष मूल्य के प्रमुख भाग को ले लेते हैं लेकिन वे उत्पादन को नियंत्रित नहीं करते।

उत्पादन का पूंजीवादी तरीका अस्तित्व में आता है जब पूंजी उत्पादन के क्षेत्र में घूमती है, जब यह उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करती है और उत्पादन पर हावी होने लगती है। यह एक दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो प्राचीन यूरोप से आरंभ हुई। इसकी बुनियादी विशेषताएं हैं -

- उत्पादक का अपने उत्पादन के साधनों से अलग हो जाना;
- बुर्जुआ (निर्धन) वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधनों का टिकना; और
- अन्य वर्ग का गठन जिसका अपनी श्रम शक्ति की बिक्री के सिवाय आजीविका निर्वाह का कोई और साधन नहीं है।

पूंजीवादी उत्पादन तब तक असंभव है जबकि उत्पादक, उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व कायम रखें या उन्हें नियंत्रित करते रहें। जब तक कि एक शिल्पकार, बुनकर या बढ़ई के पास उसके अपने औजार एवं कार्यशाला है तब तक वह स्वैच्छिक रूप से अपनी श्रम शक्ति की बिक्री नहीं करेगा और किसी भी फैक्टरी में काम नहीं करेगा। जब तक किसी कृषक के पास भूमि उपलब्ध होगी तब तक श्रमिक के रूप में देहाड़ी पर काम करने की बजाय वह अपने खेत पर काम करना पसंद करेगा। पूंजीवादी उत्पादन को ऐसे कामगारों की जरूरत पड़ती है जो अपनी श्रम शक्ति की बिक्री करते हैं। इसलिए इसे उत्पादकों और उत्पादन के साधनों को अलग करने की जरूरत है ताकि उत्पादकों को आर्थिक अनिवार्यता से अपनी श्रम शक्ति की बिक्री के लिए बाधित किया जाए।

यह पृथक्करण विविध तरीकों से हुआ है आमतौर पर अत्यंत नृशंस एवं खूनी ढंग से असल इतिहास हैवान ही है जो जीतता है, दूसरों को गुलाम बनाता है, डकैती, हत्या आदि करता है। मार्क्स ने कैपिटल I, भाग-VIII, अध्याय 26 में इस पर अपनी मुहर लगाई है जिसमें उसने "आदिम संचयन " को दर्शाते हुए कहा है कि यह और कुछ नहीं बल्कि उत्पादक और उत्पादन के साधनों को अलग करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

पृथक्करण की इस प्रक्रिया का नतीजा है, दो वर्गों का गठन जो पूंजीवादी समाज के दो छोरों को बनाती है। एक ओर हम पाते हैं बुर्जुआ स्वामियों का ऐसा वर्ग, जिसके हाथों में उत्पादन के साधन हैं। दूसरी तरफ हम श्रमजीवी वर्ग को पाते हैं जिसे अपनी श्रम शक्ति की बिक्री करके अपनी आजीविका अर्जित करनी है। मध्यस्थ वर्गों जैसे अन्य वर्ग भी हैं जो विभिन्न तालमेलों में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। लेकिन पूंजीवाद तभी संभव है जब एक तरफ स्वामियों का वर्ग हो और दूसरी तरफ गैर-स्वामियों का। दूसरा, यह उत्पादन के साधनों से जुड़ा संबंध है जो इन वर्गों, स्वामित्व/ नियंत्रण और गैर-स्वामित्व को विशेषता प्रदान करता है। यह मात्र धनी और निर्धन का प्रश्न नहीं है। सभी गरीब मनुष्य कामगार नहीं होते। वे लघु शिल्पकार, खोमचे वाले या ऐसे कृषक हो सकते हैं जिनके पास अभी भी भूमि का अपना एक टुकड़ा है। एक औद्योगिक कामगार अधिक अर्जित कर सकता है और फिर भी वह श्रमजीवी वर्ग का सदस्य है जबकि निर्धन कृषक स्वामी ऐसा नहीं हो सकता।

श्रमजीवी वर्ग सजातीय नहीं है। इसमें विभिन्न भाग होते हैं जैसे कुशल और अकुशल और देहाड़ी पर काम करने वाले या मासिक आय प्राप्त करने वाले या गरीबी रेखा से नीचे या ऊपर के लोग। इन्हें जो एकजुट करता है, वह है कि इन सभी को विविध दशाओं के अंतर्गत अपनी श्रमशक्ति को बेचने के लिए बाधित किया जाता है। श्रमजीवी वर्ग अपनी सीमा रेखा तब पार करता है जब वह अपने वेतन में से अपनी निजी दुकान खरीदने के योग्य हो जाता है या लघु साहूकार बन जाता है या घर किराए पर देने लगता है।

## 13.5 बाजारों एवं उत्पादन का विस्तार

इसके अलावा पूंजीवाद के विकास की पूर्व शर्त, बाजार का विस्तार करना है। पूर्व-पूंजीवादी, छोटे पैमाने के वस्तु उत्पादन सीमित बाजार के लिए काम करते हैं। 16वीं शताब्दी में वाणिज्यिक क्रांति ने यूरोप में अपना कदम रखा। व्यापार के नये मार्गों की खोजों ने औपनिवेशिक दशाओं के अंतर्गत विश्वव्यापी व्यापार के वास्को-डि-गामा युग का आरंभ किया। बाजार के विस्तार ने बड़े पैमाने के उत्पादन को और पूंजीवाद की वृद्धि को बढ़ावा दिया है।

पूंजीवादी उद्यमी तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब उत्पादन निश्चित स्तर तक पहुंच गया हो। गिल्ड मास्टर और उसके कारीगरों एवं प्रशिक्षुओं की सीमति संख्या इतना उत्पादन नहीं करती कि वे प्रचुर मात्रा में अपना काम करना शुरू कर दें। उद्यम के निदेशक के रूप में पूंजीवादी अधिकाधिक उत्पादन के साथ उभरता है।

### क) अधिशेष मूल्य का उत्पादन

वस्तु उत्पादन विस्तार के लिए बाजार और उत्पादन के साधनों के स्वामियों के वर्ग के हाथों में न्यूनतम पूंजी और श्रम बिक्री के लिए तैयार कामगारों की पर्याप्त संख्या के साथ पूंजीवादी उत्पादन आगे विकसित हो सकता है। एक बार सफलता की प्राप्ति करने से यह अपनी अंदरुनी गतिशीलता से आगे और आगे विकसित हो सकता है। मार्क्स इसे मुनाफा कमाने की अनंत प्रक्रिया कहते हैं। यह कैसे काम करती है? मार्क्स का इस पर मुख्य उत्तर अधिशेष मूल्य के उत्पादन के उसके सिद्धांत में निहित है।

**बॉक्स 13.3 : पूंजीवादी उद्यमी**

पूंजी गठित होती है जब धन सिर्फ विनिमय का साधन बन जाता है जो वस्तुओं के विनिमय को सुविधाजनक बनाता है और नये मूल्यों के जुड़ने के साथ जब धन बढ़ जाता है, वह आर्थिक लेन-देन का उद्देश्य बन जाता है। सूदखोर और व्यापारी इसे बाजार के दायरे में प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। पूंजीवादी उद्यमी इस उद्देश्य के लिए उत्पादन की प्रक्रिया को अधीनस्थ करके ऐसा करता है। वह कच्चा माल खरीदता है और श्रम के साधनों आदि की भी खरीद करता है और श्रम शक्ति की खरीद करता है। उत्पादन-साधनों का स्वामी इनके उत्पादों को अपना बना लेता है और इन्हें बेचने के बाद मुनाफा कमाता है। श्रमिकों को उनके श्रम के लिए मजदूरी दी जाती है। यह अतिरिक्त पूंजी कहाँ से आती है? क्या धन में ताकत है जिससे अधिक धन बनाया जा सके? क्या यह पूंजीवादी के दिमाग की उपज है? निस्संदेह कभी कभार ऐसी चालाकी से अप्रत्याशित लाभ होता है। लेकिन यह मुनाफा कमाने की सामान्य प्रक्रिया का वर्णन नहीं करता। विविध कारणों के लिए आकस्मिक रुकावटें भी आती हैं। मार्क्स एक ऐसी निश्चित वस्तु में छिपे मुनाफे को देखता है जो कि पूंजीपति बाजार से खरीदता है। वस्तु श्रम शक्ति है।

मार्क्स के लिए अदत्त अधिशेष - श्रम का निचोड़ ऐसी प्रमुख बात है जिससे समाज के विविध स्वरूपों को समझा जा सकता है और सामंतवादी समाज में भूपत्ति का अदा किराए और एशियाई समाज में राज्य को अदा करों को समझने में भी इसका ज्ञान होना जरूरी है। इस निचोड़ को लागू करने के लिए इन स्वरूपों को विविध राजनीतिक संरचनाओं के साथ जोड़ने की जरूरत है। पूंजीवादी समाज में अधिशेष मूल्य को एक नये तरीके से अपना बनाया जा सकता है। यह अब गुलामों या सर्फों की अदत्त श्रम नहीं है बल्कि श्रमिकों का अदत्त श्रम है। पूंजीवादी समाज में कामगार मजदूरी प्राप्त करते हैं। ऐसा लगता है कि इन्हें अपने काम के लिए अदाई की गई है। यह पूंजीवाद की बड़ी बहकावट है जो शोषण की प्रक्रिया को ढक लेता है। असल में इन्हें इनके काम के लिए पैसे नहीं दिए जाते बल्कि श्रम शक्ति के प्रयोग के लिए मजदूरी दी जाती है। उनकी मजदूरी की तुलना में वे जो बनाते हैं उसका अधिक महत्व है। मजदूरी सिर्फ अनिवार्य श्रम की लागत को पूरा करती है जो कि श्रमिकों के रखरखाव के लिए जरूरी है। वह जो उत्पादन करता है, उसका मूल्य कहीं अधिक है। पूंजीवादी अधिशेष को अपना बना लेता है। यह संभव है क्योंकि श्रम शक्ति ऐसी वस्तु है जिसे बाजार में खरीदा जा सकता है।

### ख) मुनाफा कमाने की न कभी खत्म होने वाली प्रक्रिया

पूंजीवादी हर समय अधिशेष मूल्य की दर को बढ़ाने का प्रयास करते हैं। अब हम प्रश्न उठाते हैं कि क्यों पूंजीवादी को मुनाफा कमाने के लिए ऐसे बेचैन ढंग से काम में शामिल करना पड़ता है। इसके पीछे असीमित लालच है जो कि पूंजीवाद द्वारा विकसित होता है। लेकिन इस लालच को शिक्षाप्रद ढंग में नहीं लेना चाहिए। लेकिन पूंजीवादियों के रूप में पूंजी संचय चलता रहेगा अन्यथा वे दिवालिया हो जाएंगे। यह दबाव निजी पूंजीपत्तियों के बीच की होड़ में उत्पन्न होता है जो कि पूंजीवाद की विशेषता है।

यदि पूंजीपति नई प्रौद्योगिकी में निवेश नहीं करता, यदि वह उत्पादन का विस्तार नहीं करता तो दूसरे इसका लाभ उठाकर आगे बढ़ जाएंगे और बाजार पर धाक जमा लेंगे और वह पीछे रह

जाएगा। वह अपनी निजी खपत के लिए मुनाफे को नहीं अपना सकता या कुछ गैर उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही इसे खर्च नहीं कर सकता। उसे इसका एक हिस्सा अवश्य पुनः निवेश के लिए अलग रखना चाहिए। यह हिस्सा नयी अतिरिक्त पूंजी बन जाता है। अतः उसे पूंजी संचित करनी पड़ती है। यह बड़े पैमाने के उत्पादन में पूंजी पर ध्यान केंद्रित करने की ओर प्रवृत्त है। यह संकेंद्रण पुनः कुछ गिने-चुने लोगों के हाथ में पूंजी के स्वामित्व एवं नियंत्रण के केंद्रीकरण के लिए आधार बन जाता है।

**अभ्यास 13.2**

पूंजीवादी उत्पादन में नई प्रौद्योगिकी की क्या भूमिका है? क्या यह पूंजी के स्वामित्व एवं नियंत्रण में बदलाव लाती है?

बाजार ऐसे जंगल की तरह है, जहाँ जो सबसे बेहतर होगा उसी का अस्तित्व बना रहेगा। इसका अर्थ है पूंजी के केंद्रीकरण के लिए छोटे लोगों का निराकरण। बड़े पूंजीपति और अधिक बड़े बन जाते हैं और उनकी संख्या गिनी-चुनी होती है। अब हम विचार करते हैं कि श्रम पर पूंजी के संचयन के नियम का क्या प्रभाव है? पूंजी संचयन का अर्थ है, श्रम शक्ति के लिए वर्धित माँग। इससे श्रम की कीमत में बढोतरी हो सकती है। संतुलित पैमाने पर मजदूरी एक समय में बढ़ सकती है । लेकिन यह श्रमिक की बुनियादी स्थिति में कोई बदलाव नहीं लाती जो कि पूर्णतया पूंजीपति पर निर्भर होता है। पूंजीवाद न सिर्फ श्रम के लिए माँग सृजित करता है बल्कि मशीनीकरण को लागू करके बेरोजगारी भी उत्पन्न करता है। इस तरीके से यह बेरोजगारों की 'औद्योगिक रिजर्व सेना ' सृजित करता है जिसका अस्तित्व पूंजीपत्तियों के लिए यह संभव बनाता है कि वे रोजगारशुदा की मजदूरी को ,नियंत्रण मे रख सकें। इस आधार पर श्रम की आपूर्ति एवं माँग का नियम पूंजी की तानाशाही व्यवस्था को पूरा करता है।

एक अन्य कारण भी है कि क्योंकि पूंजीपति को उत्पादन का असीमित विस्तार करना पड़ता है। पूंजी के संचयन की प्रक्रिया में, निरंतर (constant) पूंजी का भाग बढ़ जाता है और परिवर्तनशील पूंजी के संबंध में अधिक बड़ा हो जाता है। इसे पूंजी के जैविक संघटन में वृद्धि होना कहते हैं। मशीनीकरण की प्रक्रिया में निरंतर पूंजी बढ़ जाती है और परिवर्तनशील पूंजी बनाने वाले अधिशेष मूल्य का भाग अपेक्षाकृत निम्न हो जाता है तो मार्क्स 'पतन के लिए मुनाफे की औसत दर की प्रवृत्ति' को मान कर चलता है। पूंजीपति का जितना विस्तार होता है उसके मुनाफे की दर उतनी ही निम्न बन जाती है। उत्पादन के पैमाने को बढ़ाकर ही वह अपने फायदे को बढ़ा सकता है।

लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के निरंतर बढ़ते विस्तार से आर्थिक संकट उत्पन्न हो सकता है। यह पूंजीवाद का अन्य नियम है जिसे मार्क्स स्थापित करता है। ये संकट पूंजी और श्रम के बीच के बुनियादी वाद-विवाद का परिणाम हैं। अपनी जगह बनाए रखने के लिए पूंजी को संचित करना और उसका विस्तार करना आवश्यक है। इसके बृहद उत्पादन के विस्तार के लिए बड़े पैमाने में खरीदारों की प्राप्ति करना इसके लिए अत्यावश्यक है। ये जनता बड़ी संख्या में कामगार हैं। ये तभी खरीद सकते हैं यदि उन्हें मजदूरी काफी अधिक मिलती है। लेकिन उच्च मजदूरी पूंजीपतियों के मुनाफे की दर को घटा देती है। प्रत्येक निजी पूंजीपति, इसलिए अपने निजी कामगारों को निर्धन रखना ही पसंद करेगा और बाकी के कामगारों को उसके उत्पादन खरीदने के काबिल होने के रूप मे देखना पसंद करेगा।

## 13.6 एकाधिकार, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद

पूंजीवाद की गतिशीलता और पूंजी संचित करने के लिए स्थायी दबाव डालने से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की विशेषता में बदलाव आता है। मुक्त होड़ के युग ने उत्पादनकारी बलों और बड़े पैमाने पर उत्पादन का व्यापक विस्तार किया। लेकिन इससे पूंजी का एक साथ संकेंद्रण एवं केंद्रीकरण होता है जिससे एक नई स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें बड़ी कंपनियों की घटती संख्या या कंपनियों का समूह बाजार में एकाधिकार स्थितियों पर अपनी पकड़ कायम करने के योग्य थीं।

एकाधिकार पूंजीवाद-उत्पादक-संघ, ट्रस्ट, नियंत्रक कंपनियां और विलयन के माध्यम से विकसित हुए। पूंजीवादी, मुक्त होड़ के प्रभावों के विरुद्ध मुनाफे की दर को सुरक्षित करने की ओर बढ़े। एक बार यदि बाजार एकाधिकार के नियंत्रण में हो तो उत्पादन को बढ़ाने की बजाय उत्पादन को सीमित करके उच्च मुनाफा कमाया जा सकता है । इसी तरह प्रौद्योगिकीय सुधारों को पेश करने की बजाय इन्हें यथापूर्व स्थिति में रखने से और उत्पादों की गुणवत्ता को बढ़ाने की बजाय इसे कम करके भी मुनाफा कमाया जा सकता है। मार्क्स का पूर्वानुमान था कि एकाधिकारों का उदय, पूंजी के संकेंद्रण का परिणाम था। लेकिन मार्क्स की मृत्यु के बाद ही एकाधिकार पूंजीवाद प्रबल हुआ।

बहुत से मार्क्सवादियों ने पूंजीवाद के इस नये चरण के विश्लेषण के लिए सैद्धांतिक ढाँचा प्रदान करने का प्रयास किया। आस्ट्रियन मार्क्सवादी रूडोल्फ हिल्फर्डिंग ने 1910 में अपने अध्ययन "फाइनान्स कैपिटल - द लेटेस्ट फेज ऑफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट" को प्रकाशित किया। पोलि जर्मन मार्क्सवादी **रोजा लक्जमबर्ग** ने 1913 में अपने अध्ययन "द एक्युम्यूलेशन ऑफ कैपिटल" नामक अध्ययन को प्रकाशित किया और लेनिन ने 1916 में अपने अध्ययन "इम्पीरियलिज्म, द हाइएस्ट स्टेज आफ कैपिटलिज्म" को पूरा किया।

लेनिन ने हिलफर्डिंग और बुखारिन अर्थात दोनों के लेखन का फायदा लिया, यद्यपि कुछ बातों पर वह उनसे अलग था। जैसे, हिलफर्डिंग से वह इस बात पर सहमत नहीं था कि एकाधिकार, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को भीतर से मुक्त प्रतियोगिताओं (होड़) को समाप्त कर देगा।

**बॉक्स 13.4 : साम्राज्यवाद की बुनियादी विशेषताएँ**

- उत्पादन और पूंजी का संकेंद्रण ऐसी उच्च अवस्था तक सीमित हुआ है कि इसने एकाधिकारों को सृजित किया है जो आर्थिक जीवन में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।
- औद्योगिक पूंजी के साथ बैंक पूंजी का विलय, और वित्तीय कुलीन तंत्र की इस वित्तीय पूंजी के आधार पर निर्माण।
- पूंजी का निर्यात जो कि वस्तुओं के निर्यात से भिन्न होता है, विशेष महत्व रखता है।
- अंतरराष्ट्रीय एकाधिकारी पूंजीवादी संघों का गठन जो अपने आप में ही विश्व को बाँट लेते हैं; और
- सर्वोच्च पूंजीवादी शक्तियों के बीच समग्र विश्व के प्रादेशिक विभाजन को पूरा किया जाता है।

MAADHYAM IAS

## 13.7 सारांश

पूंजीवाद की उत्पत्ति एवं विकास का पता एवं इसकी समझ विविध मानकों के आधार पर सामाजिक चिंतकों द्वारा विकसित की गई। हालांकि पूंजीवाद पर मार्क्स की समझ ने किन्हीं अन्य सिद्धांतों की तुलना में अधिक प्रभाव छोड़ा है। मार्क्स का मुख्य तर्क है कि उत्पादन के सामंतवादी तरीके की जगह उत्पादन के पूंजीवादी तरीके ने ली है और पूंजीवाद के अंतर्गत समाज को दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभाजित किया गया है। ये हैं - पूंजीवादी वर्ग या बुर्जुआ और श्रमजीवी वर्ग। मुख्य आर्थिक नियम और उत्पादन के पूंजीवादी तरीके का उद्दीपन कामगारों के अधिशेष मूल्य की सृजना। मजदूरों का अदत्त श्रम, अधिशेष मूल्य का स्रोत है।

## 13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मौरिसस डॉब 1963, स्टडीज इन द डेवलपमेंट ऑफ कैपिटलिज्म। लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

गिड्डन्स एंथॉनी 1971. कैपिटलिज्म एंड माडर्न सोशल थ्योरी। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

मैकमिलन डेविड, 1971. द थाउट आफ कार्ल मार्क्स। मैकमिलन।

इकाई 14

# तर्कसंगतता, कार्य एवं संगठन

**इकाई की रूपरेखा**

14.1 प्रस्तावना

14.2 तर्कसंगतता

14.3 संगठन सिद्धांत और संगठनों का समाजशास्त्र

14.4 कार्य और संगठन

14.5 सारांश

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- आधुनिक पूंजीवादी समाज की तुलना में तर्कसंगतता, कार्य और संगठन की संकल्पना को समझने के योग्य बन सकेंगे; और
- संगठन के सिद्धांत और संगठनों के समाजशास्त्र के माध्यम से संगठनों की संकल्पना को समझने के योग्य बन सकेंगे।

## 14.1 प्रस्तावना

आधुनिक समाज में तर्कसंगतता, कार्य और संगठन का महत्व हमारे रोजाना के जीवन में अन्तर्निहित है। कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर एंव ईमाइल दुर्खाइम ने अपनी रचनाओं में इन संकल्पनाओं पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया है। पूंजीवाद की संरचना के विश्लेषण एवं न्याय और सामाजिक व्यवस्था के लिए इसके प्रशासन पर इनकी खोज के आधार पर इन चिंतकों ने विविध दृष्टिकोणों से इन संकल्पनाओं को स्पष्ट किया है। संगठन सिद्धांत और संगठनों का समाजशास्त्र संगठनों का व्यापक विश्लेषण प्रदान करते हैं।

## 14.2 तर्कसंगतता

वेबर बारंबार इस बात पर जोर देता है कि देवताओं ने आधुनिकता के जगत का त्याग किया है। मनुष्य ने इन्हें बाहर किया है और ऐसी बातों को विवेकपूर्ण और परिकलनीय एवं पूर्वानुमान के योग्य बनाया है जो पिछले समय में कुदरत के हाथ में होती थी अपितू भावना संवेग और समर्पण, व्यक्तिगत अपील और व्यक्तिगत भय, अनुग्रह और करिश्माई नायकों के द्वारा शासित थी। वेबर ने इस विकास को विविध संस्थागत क्षेत्रों में प्रमाणित करने का प्रयास किया है। धर्म के समाजशास्त्र में उसके अध्ययन का अर्थ ऐसे जटिल एवं उत्पीड़ित तरीकों का पता लगाना था जिसमें धार्मिक जीवन की क्रमिक "बुद्धिसंगत व्याख्या" से जादुई प्रक्रिया को हटा दिया गया जो कि ईश्वर के साथ मनुष्य के संबंध के भावुक बौद्धिकता युक्त (wertrational) वर्गीकरण पर आधारित था। उसने यह दर्शाने का प्रयास किया कि किस प्रकार अपने करिश्माई प्रभाव के साथ पैगम्बरों ने परंपरा पर आधारित पादरी की शक्तियों का प्रभाव कम कर दिया; किस प्रकार "बुक रिलीजन" के उद्भव से धार्मिक क्षेत्र का अंतिम वर्गीकरण और बुद्धिसंगत व्याख्या का आरंभ हुआ जिसने अपनी पराकाष्ठा प्रोटेस्टेंट नीतिपरकता में पाई।

विधि के क्षेत्र में वेबर ने 'काडी जस्टिस' से समान बात को प्रमाणित किया जिसका अर्थ है आधुनिक जगत की संहिताबद्ध, बुद्धिसंगत और अवैयक्तिक न्याय के लिए बुद्धिमान नेताओं या ऐसे बड़े लोगों द्वारा निजी तौर पर न्याय देना। उसने विभागाध्यक्षों को शांत करने के लिए राजाओं से प्रारम्भ होने वाले राजनीतिक प्राधिकार के विकास का पता लगाया जो आनुवंशिक करिश्माओं और करामाती शक्तियों के मालिक थे और कानूनी मार्गदर्शन और बुद्धिसंगत रूप से निर्मित कानून की कड़ी सीमाआं के भीतर काम करते थे। यहाँ तक कि अनुभव का निजी क्षेत्र जैसा कि संगीत, वेबर ने दावा किया कि वह भी पश्चिमी समाज की तर्कसंगत प्रवृत्तियों से अछूता नहीं था। संगीत के समाजशास्त्र पर उसकी रचनाओं में वेबर ने सटीक संकेतन और आधुनिक संगीत के भलीभांति संस्कारित पैमाने के बीच तुलना की अर्थात ऐसा घोर मानकीकरण और समन्वय जो एशिया या निरक्षर जनजातियों की संगीत पद्धतियों की निरंतरता और खोज के साथ आधुनिक सिम्फनी आर्केस्ट्रा को शासित करता है।

### क) धर्मनिरपेक्ष बुद्धिवाद का विस्तार

ऐसी विशेषताओं में से यूरोपियाई विकास को राज्य की एक विशिष्ट किस्म और बुद्धिसंगत विधि की मौजूदगी माना गया था। वेबर, यूरोप के उत्तरवर्ती सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए रोमन कानून की विरासत को विशेष महत्व देता है और खासकर आधुनिक राज्य के उदय के लिये। न्यायिक बुद्धिसंगतता के बिना पूर्ण राज्य का उदय उतना ही कल्पनीय है जितनी की (फ्रांसीसी) क्रांति।

इसके और बुद्धिसंगत पूंजीवाद के विकास के मध्य का संबंध हालांकि साधारण और स्पष्ट नहीं था। आधुनिक पूंजीवाद ने पहले इंग्लैंड में अपनी जड़ें जमाई लेकिन वह देश अन्य देशों की तुलना में रोमन कानून से कम प्रभावित था। बुद्धिसंगत कानून की पद्धति का पूर्व अस्तित्व कारकों के जटिल अंतर्खेल में मात्र एक प्रभाव था जिससे आधुनिक राज्य का गठन हुआ। आधुनिक राज्य के विकास की ओर की प्रवृत्ति जिसकी विशेषता वेतनभोगी अधिकारियों द्वारा लागू व्यावसायिक प्रशासन की उपस्थिति थी और जो नागरिकता की संकल्पना पर आधारित था ऐसा राज्य निश्चित रूप से पूर्णतया आर्थिक बुद्धिसंगतता का परिणाम नहीं था। फिर भी यह सत्य है कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में होने वाली उन्नति और राज्य की वृद्धि में घनिष्ठ रूप से अंतःसंबद्ध है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाजारों का विकास और स्थानीय समूहों के प्रभाव की तबाही में सहगामी तबाही, अर्थात ऐसी नातेदारी आधारित इकाइयाँ जिनकी पहले संवीदाओं को विनियमित करने में मुख्य भूमिका थी, सभी एक सार्वभौमिक शक्तिशाली संस्थान द्वारा एकाधिकार और सभी 'वैध' शक्तिशाली शक्तियों के विनियमन को प्रोत्साहित करते हैं।

**अभ्यास 14.1**

आधुनिक राज्य की विशेषताओं की चर्चा कीजिए। बुद्धिसंगतता के साथ इसके संबंध को स्पष्ट कीजिए।

### ख) आधुनिक पूंजीवादी उद्यम

वेबर के अनुसार आधुनिक पूंजीवादी उद्यम के अनिवार्य बिंदु हैं - धन की दृष्टि से लाभ और हानि के बुद्धिसंगत परिकलन की संभावना। आधुनिक पूंजीवाद पूंजी लेखाकरण के बिना अविचारणीय है। वेबर के नजरिए में बुद्धिसंगत लेखाकरण ऐसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति को गठित करता है जिससे पूंजीवादी उत्पादन की आधुनिक किस्म पूर्व किस्म की पूंजीवादी क्रिया से अलग नजर आती है जैसे सूदखोरी या जोखिमपूर्ण पूंजीवाद से जुड़ी पूंजीवादी गतिविधियाँ। ऐसी परिस्थितियाँ जो वेबर के अनुसार पूंजी लेखाकरण के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं, वह स्थिर उत्पादनकारी उद्यम हैं जो आधुनिक पूंजीवाद के बुनियादी पूर्वापेक्षित बिंदुओं के रूप में वेबर की स्वीकृति प्राप्त करते हैं और इसमें ऐसे कारकों का समावेश है जिन पर मार्क्स अधिक जोर देते हैं।

**बॉक्स 14.1: आधुनिक पूंजीवाद के पूर्वापेक्षित बिंदु**

1) बड़ी मात्रा में श्रमिकों की मौजूदगी जो न केवल मुक्त बाजार मे अपनी श्रम शक्ति की बिक्री के लिए कानूनी रूप से मुक्त हैं बल्कि वास्तव में जिन्हें अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए ऐसा करने के लिये बाधित किया जाता है।

2) बाजार में आर्थिक विनिमय पर प्रतिबंधों का न होना; विशेष रूप से उत्पादन और उपभोग पर एकाधिकार का सफाया (जैसा कि भारतीय जाति व्यवस्था में यह गहराई से मौजूद था)।

3) प्रौद्योगिकी का प्रयोग जो कि बुद्धिसंगत सिद्धांतों के आधार पर निर्मित एवं संगठित की जाती हैः मशीनीकरण इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है।

4) उत्पादनकारी उद्यम का घर से अलग होनाः हालांकि घर और कार्यस्थल का पृथक्करण और कहीं भी पाया जाता है जैसा कि बाजार में, यह सिर्फ पश्चिमी यूरोप में है जो कि काफी आगे बढ़ गया है।

लेकिन ये आर्थिक विशेषताएं आधुनिक राज्य के बुद्धिसंगत कानूनी प्रशासन के बिना मौजूद नहीं रह सकी। यह समकालीन पूंजीवादी व्यवस्था की उतनी ही विशिष्ट विशेषता है जितनी कि आर्थिक क्षेत्र में पूंजी और श्रम के बीच का वर्ग विभाजन। सामान्य शब्दों में, राजनीतिक संगठनों को उसी तरह वर्गीकृत किया जा सकता है जैसा कि आर्थिक उद्यम जैसे कि क्या "प्रशासन के साधन" प्रशासनिक स्टाफ के हैं या इनके स्वामित्व से इन्हें अलग कर दिया जाता है। शासक की स्वयं को केवल उसके प्रति जिम्मेवार संपत्तिहीन स्टाफ से जुड़ने की संभावना जितनी अधिक होगी उतना ही अधीनस्थ चुनौतियों का सामना उसे कम करना पड़ेगा। यह प्रक्रिया आधुनिक नौकरशाही राज्य में पूर्ण नजर आती है।

## 14.3 संगठन सिद्धांत और संगठनों का समाजशास्त्र

व्यावहारिकता में संगठन सिद्धांत और संगठनों के समाजशास्त्र का प्रयोग विनिमेयता में किया जाता है। यद्यपि संगठन सिद्धांत थोड़ा सा अधिक विस्तृत घटना है जबकि संगठनों का समाजशास्त्र गैर-समाजशास्त्रियों के कार्यों पर भी ध्यान केंद्रित करता है और जिसमें अन्य ऐसे लोग भी शामिल हैं जो प्रबंध को सलाह देने से संबंधित है कि किस प्रकार संगठनों की रूपरेखा बनानी चाहिए और इन्हें परिचालित किया जाना चाहिए। जैसा कि विविध किस्म के संगठन सामाजिक जीवन में व्याप्त हैं तब भी कुछ की परिभाषा के साथ कठिनाई आती है जो कि संगठनों के समाजशास्त्र की विषयवस्तु है। इस समस्या की उपयोगी चर्चा में डेविड सिल्वरमैन ने सुझाया है कि "औपचारिक संगठन" जिनके साथ समाजशास्त्र की यह शाखा जुड़ी हुई है, उसके तीन विशिष्ट लक्षण हैं -

- ये एक निर्धारित क्षण में ही उभरते हैं;
- शिल्प तथ्य के रूप में ये ऐसे सामाजिक संबंधों के पैटर्नों को देखते हैं जो गैर-औपचारिक संगठनों की तुलना में ज्यों के त्यों नहीं लिए जाते और जिन्हें संगठनात्मक सहभागी अक्सर समन्वय स्थापित करने और नियंत्रण करने के लिये ढूंढने का का प्रयास करते हैं।
- जिसके परिणामस्वरूप ऐसे सामाजिक संबंधों की प्रकृति और इनमें सुनियोजित परिवर्तनों की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है।

दो तरह की समाजशास्त्रीय और प्रबंधकीय उत्पत्ति पर ध्यान देते हुए आरंभिक संगठन सिद्धांत ने दो समांतर रास्तों को विकसित किया। 19वीं शताब्दी में औद्योगिक समाजों की वृद्धि में बड़े पैमाने के संगठनों का विस्तार शामिल था विशेष रूप से फैक्टरी और राज्य के संगठनों का। इनमें से फैक्टरी ने फ्रेडरिक विलियम टेलर से जुड़े वैज्ञानिक प्रबंधन के सिद्धांतों को उदित किया जबकि राज्य ने ऐसा आदर्श प्रदान किया जो नौकरशाही की संरचना के विशिष्ट आदर्श को विकसित करते

समय वेबर के मस्तिष्क में था। इन दोनों सिद्धांतों ने संगठनों की संरचनाओं का विश्लेषण करने पर ध्यान केंद्रित किया। जो हैं, संगठनात्मक कार्मिकों द्वारा अंगीकृत विविध स्थितियों की प्रकृति, इन स्थितियों से जुड़ी शक्तियाँ और कर्तव्य और संगठन के विचारित लक्ष्यों को लागू करने में अपेक्षित कार्य से जुड़े उनके संबंध। दोनों ने कार्य के प्रबंधकीय नियंत्रण के लिए अनिवार्य और सोपानक्रम संरचनाओं के रूप में भी संगठनों को देखा।

हालांकि 1930 और 1940 में चेस्टर बर्नार्ड के मानव संबंध अभियान और समाजशास्त्री फिलिप शेजनिक के टेनिज घाटी प्राधिकार के क्लासिक अध्ययन जैसे विविध अध्ययनों ने विश्लेषण के लिए दूसरा क्षेत्र खोल दिया अर्थात संगठनों में उत्पन्न सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और जिसमें अक्सर इस बात पर जोर दिया जाता है कि किस प्रकार अनौपचारिक, गैर सरकारी सामाजिक संबंध संगठन के सरकारी उद्देश्यों को नियंत्रित और वह भी सोपान क्रम द्वारा नियंत्रित सामाजिक संस्थानों की बजाय सहकारी जैसे संगठनों के साथ मिल कर उलट सकते हैं।

अब इनके बारे में बहुत किस्म के संगठनों के समाजशास्त्रीय अध्ययन और सिद्धांत उभरते हैं। वास्तव में समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रमुख विचारधाराओं ने इस साहित्य में अपना योगदान दिया है। स्टिवार्ट क्लेग और डेविड डकरले और उनकी पुस्तक - आर्गनाइजेशन क्लास एंड कंट्रोल (1980) विविध उपागमों में चार समूहों की पहचान करते हैं। ये हैं -

### क) संगठनों का वर्गीकरण

संगठनों के वर्गीकरण में ऐसे संगठनों को वर्गीकृत करने का प्रयास शामिल है जो कि विविध महत्वपूर्ण विशेषताओं पर आधारित हैं जैसे कि जो इनके कामों से लाभ उठाते हैं या वे किस प्रकार अपने सदस्यों से स्वीकृति प्राप्त करते हैं। इनमें पीटर ब्लाओ, अमीताई एटजिओन्गी, राबर्ट ब्लोनठ टॉम बर्नस और जी.एम. स्टाकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

### ख) सामाजिक पद्धतियों के रूप में संगठन

यह उपागम विशेष रूप से तालकोट पार्सन की क्रिया के प्रकार्यवादी सिद्धांत और फिलिप शल्जनिक और राबर्ट मर्टन के संगठनों पर आधारित कार्य पर अधिक केंद्रित है। संगठनों में ऐसी सामाजिक पद्धतियाँ शामिल हैं जो अन्य सामाजिक पद्धतियों से अंतःक्रिया करती हैं (अतः मुक्त व्यवस्था) जिनके मूल्य और लक्ष्य विस्तृत समाज की ओर उन्मुख हैं। पार्सन्स के अनुसार संगठनात्मक अनुरक्षण के लिए जरूरी अपेक्षाएं हैं (जो किसी भी संगठन के सर्वोपरि लक्ष्य के रूप में देखा जाता है।) जो सभी सामाजिक पद्धतियों पर लागू होती हैं जैसे अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और पैटर्न (या मूल्य) अनुरक्षण।

### ग) आनुभविक आकस्मिक संरचनाओं के रूप में संगठन

ऐसा उपागम जो विशेष रूप से यूके में यूनिवर्सिटी ऑफ एस्टन में की गई शोध से जुड़ा हुआ है। प्रतीकात्मक व्याख्या और सामाजिक पद्धति उपागमों को सैद्धांतिक विषयवस्तु के रूप में संगठन को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने में कठिनाई है। (क्या यह पूर्णतया वर्गीकरण विशेषताओं के समुच्च्य द्वारा परिभाषित है) या यदि यह एक खुली व्यवस्था है तो अपेक्षित पद्धति सीमाएं कहां हैं)। एस्टन कार्यक्रम मनोविज्ञान से प्राप्त अंतर्दृष्टि को सांख्यिकीय तकनीकों के साथ जोड़ कर लागू करता है जैसे संगठनात्मक संरचना के विविध आयामों के लिए संगठनात्मक निष्पादन के उपायो को जोड़ने के लिए कारक विश्लेषण। (जैसे कि कार्यों के विशिष्टीकरण की कोटि और प्राधिकार का केंद्रीकृत होना)। प्राधिकार का केंद्रीकरण तब स्वतंत्र संदर्भ संबंधी चरों से संबद्ध है जैसे कि आकार, प्रौद्योगिकी और उद्यम की अवस्थिति। अनिवार्य आनुभविक उपागम आम आलोचनाओं से जुड़े हुए हैं जो ऐसी कार्य पद्धति पर लागू होते हैं।

### घ) कार्य की संरचनाओं के रूप में संगठन

यह उपागम ऐसी परिस्थितियों पर केंद्रित है जो संगठनों में व्यक्तियों के कार्यों का निर्धारण करती हैं। इनमें हरबर्ट ए. सिमोन का योगदान अग्रणी है। उत्तरवर्ती काम, उदाहरण के तौर पर डेविड

सिल्वरमैन का है जो घटना वैज्ञानिक समाजवाद (विशेष कर मानवीय विज्ञान या प्रणाली) और अंतःक्रियावाद से प्रभावित हैं। मनुष्य की तरह संगठन संगठनात्मक लक्ष्यों व जरूरतों के संदर्भ में (मानो संगठन भी मनुष्यों की भांति ऐसी चीजों कर सकते है) को मूर्त रूप में देखने की बजाय यहाँ संगठनों का विश्लेषण ऐसे किया जाता है जो कि प्रेरित लोगों द्वारा निजी समस्याओं का निपटारे करने के परिणाम के रूप में होता है। ये सदस्यों के निजी कार्यों द्वारा सामाजिक रूप से निर्मित होते हैं जो कि एक-दूसरे की नियमित अपेक्षाओं पर आधारित होते हैं। यह उपागम शंका उत्पन्न करती है कि क्या संगठनों को संस्थान कहना सही है जो संगठनात्मक लक्ष्यों का अनुसरण करते हैं । किसी भी घटना में ऐसे बहुत से अध्ययन हैं जो उदाहरण के रूप में दर्शाते हैं कि सरकारी लक्ष्यों का असल या क्रियात्मक लक्ष्यों से किसी तरह का सारोकार नहीं करता; ऐसे संगठनों के ज्यादातर बहु और द्वंद्वात्मक लक्ष्य होते हैं और ऐसे लक्ष्य भंगता भी उत्पन्न हो सकती हैं। संगठनों के भीतर कार्य की अनौपचारिक संस्कृति निरंतर ऐसी रही है जिसका समाजशास्त्र की शिकागो विचारधारा से प्रभावित समाजिशास्त्रियों ने विस्तृत अध्ययन किया है। है। यह परंपरा विलियम एफ व्हाइट (ह्यूमन रिलेशंस इन द रेस्तारेंत इंडस्ट्री, 1948), डोनाल्ड राय ("कोटा रैस्ट्रिक्शन एंड गोल्डब्रिकिंग इन ए मशीन शाप"), अमेरिकी जर्नल ऑफ सोशयोलॉजी, 1952 और हावर्ड बैकर (ब्वायज इन व्हाइट, 1961) के कार्यों में व्याख्यायित है।

**अभ्यास 14.2**

संगठन का क्या अर्थ है? इसकी बुनियादी विशेषताओं को सूचीबद्ध कीजिए।

अपने प्रारंभिक (इस मामले में प्रबंधकीय समर्थन) पक्षपात के लिए संगठन सिद्धांत की काफी हद तक आलोचना की गई है। क्योंकि इसमें संगठनों के सदस्या का वैयक्तिक विश्लेषण किया (यानि समाज में सत्ता और नियंत्रण के संबंध संगठनों को प्रभावित करते हैं और उनसे प्रभावित होते हैं, इस जानकारी की अपेक्षा मनोवैज्ञानिकता द्वारा जानकारी लेने के लिये) अन्य शब्दों में प्रबंधकीय प्राधिकार के मुख्यतया अंदरुनी अभ्यास पर ध्यान केंद्रित करने के लिए और इसे समाप्त करने का प्रयास करने में।

## 14.4 कार्य और संगठन

### क) श्रम विभाजन पर सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

बुर्जुआ समाज के मार्क्स विश्लेषण में, दो सीधे तौर पर संबद्ध लेकिन उत्पादन के पूंजीवादी तरीके में निहित विसंबंधन के आंशिक रूप से अलग होने वाले स्रोत हैं। इनमें 3 से पहला श्रम प्रक्रिया में विसंबंधन है और जो कामगार की उत्पादनकारी गतिविधि में। दूसरा श्रमिक का उसके उत्पाद से अलग होना है अर्थात श्रम प्रक्रिया के परिणाम के नियंत्रण से बाहर। सुविधा के लिए गिड्डन पहले विसंबंधन को "प्रौद्योगिकीय विसंबंधन" और दूसरे को "बाजार विसंबंधन" कहता है । ये दोनों पूंजीवादी उत्पादन में शामिल श्रम विभाजन से उत्पन्न होते हैं। दूसरा विसंबंधन इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि उत्पादनकारी संबंधों का संगठन ऐसी वर्ग व्यवस्था गठित करता है जो एक वर्ग द्वारा दूसरे का शोषण करके उस पर वर्चस्व कायम करने पर निर्भर करता है। पहला विसंबंधन नियमित और अनावश्यक कार्यों में कार्य के विखंडन के स्रोत के रूप में व्यावसायिक विशिष्टता की पहचान करता है।

मार्क्स के लिए, दोनों किस्मों का विसंबंधन श्रम विभाजन के विस्तार में विशेष महत्व रखता है। इतिहास में वर्ग समाजों का उद्भव ऐसे कार्यों की विशिष्टता की वृद्धि पर निर्भर है जो अधिशेष उत्पादन की मौजूदगी से संभव बनता है । अतः वर्गहीन समाज का गठन श्रम विभाजन के उन्मूलन की ओर जाएगा और जो अल्प पूंजीवाद कहलाता है। बाजार और प्रौद्योगिकीय विसंबंधन पर मार्क्स की संकल्पना श्रम विभाजन से अलग नहीं है क्योंकि श्रम विभाजन कुछ और नहीं बल्कि मानव गतिविधि की एक अलग किस्म है ...

**बॉक्स 14.2 : श्रम विभाजन**

दुर्खाइम श्रम विभाजन की वृद्धि को वर्ग पद्धतियों के गठन की बजाय विशिष्टीकरण के समेकित परिणामों की दृष्टि से उभारते हैं। जिसके परिणामस्वरूप दुर्खाइम वर्ग द्वंद्व को समाज की क्रांतिकारी पुनर्संरचना के लिए आधार प्रदान करने की बजाय श्रम विभाजन के भीतर विविध व्यावसायिक समूहों के नैतिक समन्वय में कुछ विशिष्ट कमियों के संकेत के रूप में देखता है। दुर्खाइम की अभिधारणा में 'बलात' श्रम विभाजन 'एनोमिक' श्रम विभाजन से काफी अलग है और बलात श्रम विभाजन स्वयं 'अनोमिक' श्रम विभाजन से निर्मित समस्याओं से नहीं जूझता । इसके अनुसार, मार्क्स का समाजशास्त्र पूर्णतया श्रम के बलात विभाजन के विसंबंधन से संबद्ध है जिसे कि बाजार के विनियमन के माध्यम से पूरा किया जाना है अर्थात उत्पादन के समाजीकरण से इसे पूरा करना है। लेकिन दुर्खाइम के व्यक्त दृष्टिकोण में जिसका वह इस संदर्भ में खंडन करता है, पारंपरिक संस्थानों की तबाही के परिणामस्वरूप आर्थिक संबंधों का बढ़ता वर्चस्व जो कि समाज की पूर्व किस्मों का नैतिक आधार थे, सही मायने में आधुनिक 'संकट' का मुख्य कारण है।

श्रम विभाजन में उसकी विशिष्ट भूमिका में नैतिक स्वीकृति के माध्यम से ही व्यक्ति अपने प्रति सजग होता है कि वह इस रूप में उच्च कोटि की स्वायत्तता की प्राप्ति करने के योग्य है और एक तरफ समरूपी समाजों में अपेक्षित ठोस नैतिक अनुरूपता की तानाशाही और दूसरी तरफ अप्राप्य इच्छाओं की तानाशाही से बच सकता है। हालांकि मार्क्स की संकल्पना का आधार वाक्य असमान श्रम विभाजन में व्यक्ति का नैतिक एकीकरण नहीं था बल्कि मानव सामाजिक ताने-बाने के संगठनकारी सिद्धांत के रूप में श्रम विभाजन का प्रभावी समापन था।

### ख) नौकरशाही संगठन की समस्या

मार्क्स के पूंजीवादी उद्यम के गठन पर आधारित श्रम विभाजन के विस्तार के विश्लेषण में कामगार को उसके उत्पादन के साधनों से स्वामित्वहरण को महत्वपूण स्थान दिया गया है मार्क्स के नजरिए से, बुर्जुआ समाज के उद्भव के लिए यह सर्वाधिक अनिवार्य शर्त है और ऐतिहासिक आयाम के साथ यहाँ पूंजी और श्रम के बीच के वर्ग संबंध की गठन की पहचान करता है जो कि उत्पादन के पूंजीवादी तरीके में साफ झलकता है। यह श्रम विभाजन और वर्ग संरचना के बीच के संबंध की तात्विक प्रकृति है जो मार्क्स को इस निष्कर्ष तक पहुंचने में सहायता करती है कि विसंबंधन का उत्कर्ष पूंजीवाद के उन्मूलन से संभव है। न तो दुर्खाइम और न ही वेबर समाजवादी समाजों के गठन की संभावना से इंकार करता है लेकिन दोनों का दावा है कि समाजवाद को अपनाने से समाज के मौजूदा स्वरूप पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

वेबर की रचनाओं का एक महत्वपूर्ण भाग ऐसे कारकों की रूपरेखा प्रस्तुत करने से जुड़ा जो 'अर्थ के स्तर' पर तर्कसंगतता को बढ़ावा देते हैं। वेबर ने हमेशा सामाजिक संबंधों के अंतर्बंधन का पता लगाने पर जोर दिया जो दोनों तर्कसंगतता की वृद्धि को प्रभावित करते हैं और उससे प्रभावित होते हैं। अतः वेबर के लिए यह सिर्फ कोटि नहीं है बल्कि पश्चिम में तर्कसंगतता द्वारा स्वीकृत 'दिशा' है और अधिक स्पष्ट रूप से पूंजीवाद में यह अन्य प्रमुख सभ्यताओं द्वारा भिन्न है। आधुनिक पश्चिमी पूंजीवाद में ऐसे विविध क्षेत्र हैं जिनमें तर्कसंगतता एक दिशा में आगे बढ़ी है और एक हद तक दूसरी और इसका किसी को पता नहीं है।

पहला विज्ञान का विस्तार है, बुनियादी महत्व की परिघटनाः न केवल यह 'मोहभंग' की प्रक्रिया को पूरा करती है बल्कि यह उत्पादन में बुद्धिसंगत प्रौद्योगिकी के क्रमिक कार्यान्वयन को संभव बनाती है। इसके अलावा, वैज्ञानिक कार्य प्रगति की प्रक्रिया से बंधा है। प्रत्येक वैज्ञानिक 'निष्कर्ष' कुछ प्रश्नों को जन्म देता है। इसे हमेशा बदलने की बात कही जाती है। अतः विज्ञान के संस्थाकरण का आधुनिक जीवन के साथ गठबंधन नवीनता एवं बदलाव को जन्म देता है जो स्वयं 'अर्थ' प्रदान नहीं करता। आधुनिक अर्थव्यवस्था में वैज्ञानिक नवीनता के अनुप्रयोग को जब तकनीकी

जाता और साथ में जब बुद्धिसंगत परिकलन की विधियों को पेश किया जाता है तो इससे उद्यमता संबंधी गतिविधि को बढ़ावा मिलता है जो कि समकालीन पूंजीवाद में काफी विशिष्ट है। बुद्धिसंगत पूंजीवाद का आचरण सामाजिक संगठन के क्षेत्र में अनिवार्य परिणामों को उत्पन्न करता है और नौकरशाही के विस्तार में सहायता करता है।

वेबर के कार्यों के नौकरशाही विशिष्टीकरण को पूंजीवाद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप मे देखता है। अतः वेबर इस बात का खंडन करता है कि कामगार की उसके उत्पादन के साधनों से अलग करने को उद्योग के तात्कालिक क्षेत्र के रूप में सीमित किया गया है। वेबर की अभिधारणा में किसी भी किस्म का संगठन जो प्राधिकार के सोपानक्रम पर आधारित है, वह उत्पादन के साधनों की मार्क्सवादी धारणा के लिए 'संपत्तिहरण' की प्रक्रिया है। मार्क्स के उत्पादन के साधन वाली धारणा के स्थान पर वेबर, 'प्रशासन के साधनों' को प्रतिस्थापित करता है। वेबर संगठन के प्रभुत्व और अधीनीकरण के संबंधों को वह प्रमुखता देता है जो मार्क्स उत्पादन के संबंधों को प्रदान करता है। वेबर के अनुसार कोई भी राजनीतिक संघ 'एस्ट्रेट' के रूप में संगठित हो सकता है जिसमें अधिकारी स्वयं प्रशासन के साधनों का स्वामित्व प्राप्त करते हैं।

आधुनिक राज्य के उद्भव को बढ़ावा देने में ये विकास कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारके थे जिसमें श्रम विभाजन पर आधारित 'एक्सपर्ट ऑफिशियलडम' (expert officialdom) को प्रशासन के इसके साधनों के स्वामित्व से पूर्णतया अलग किया जाता है। प्रशासनिक कार्यों को समन्वित करने में अन्य किस्म के संगठनों की तुलना में नौकरशाही विशिष्टता का फैलाव मुख्यतया इसकी तकनीकी पराकाष्ठा से ऊँचा उठाया जाता है। यह आगे विशिष्ट शैक्षिक अर्हताओं के आधार पर नौकरशाही पदों को भरने पर आंशिक रूप से निर्भर करता है। पूर्ण नौकरशाही व्यवस्था का आधुनिक विकास ही तर्कसंगत विशिष्ट परीक्षाओं की पद्धति को [illegible] सकता है।

**अभ्यास 14.3**

वेबर की 'मोहभंग' की संकल्पना का वर्णन कीजिए। आर्थिक प्रगति को यह कैसे प्रभावित करता है?

नौकरशाही के विस्तार से अनिवार्य रूप से विशिष्ट शिक्षा के लिए माँग बढ़ जाती है और यह धीरे-धीरे मानववादी संस्कृति को विखंडित कर देता है जिसने पिछले समय में 'सार्विक मनुष्य' (universal man) का पूर्ण मनुष्य बना दिया और जिसकी बात दुर्खाइम करते हैं। वेबर भी इसी तरह की बात यह कह कर स्पष्ट करते हैं कि पिछले समय के सुसंस्कृत व्यक्ति की जगह अब प्रशिक्षित विशिष्ट व्यक्ति ने ले ली है। चूंकि नौकरशाही की ओर की प्रवृत्ति पूंजीवाद में अनपलट है, इसका मानना है कि प्रकार्यात्मक विशिष्टीकरण आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य सहगामी (concomitant) है।

### ग) नौकरशाही एवं लोकतंत्र

नौकरशाही राज्य की वृद्धि राजनीतिक लोकतंत्रीकरण की वृद्धि के साथ गूढ़ रूप से आगे बढ़ती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए लोकतांत्रिकों की माँग और कानून के समक्ष समानता के लिए ऐसी बातें जटिल प्रशासनिको एवं न्यायिक प्रावधानों को विशेषाधिकार को न लागू करने को अनिवार्य बनाती हैं। असल में लोकतंत्र और नौकरशाहीकरण गूढ रूप से जुड़कर आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में तनाव का एक प्रमुख स्रोत उत्पन्न करते हैं। एक क्षण के लिए समकालीन राज्य में लोकतांत्रिक अधिकारों के विस्तार की प्राप्ति, नये नौकरशाही विनियमन के सूत्रीकरण के बिना नहीं की जा सकती। लोकतंत्र और नौकरशाही के बीच बुनियादी मतभेद है।

**बॉक्स 14.3: बुद्धिसंगतता के पहलू**

यह वेबर के लिए वाद-विवाद के सर्वाधिक मार्मिक उदाहरणों में से एक है जो सामाजिक कार्य की औपचारिक एवं ठोस तर्कसंगतता के बीच मौजूद रह सकते हैं; अमूर्त कानूनी प्रक्रिया की वृद्धि जो विशेषाधिकार को दूर करने में सहायता करती है, स्वयं नये किस्म के संस्थापित एकाधिकार को पुनः पेश करती है जो कुछ नजरियो से पिछले वर्तमान की बजाय "स्वेच्छाचारी" और स्वायत्त हैं। नौकरशाही संगठनों को शैक्षिक अर्हताओं की प्राप्ति के आधार पर आबादी में से पदों के लिए लोकतांत्रिक अव्यैक्तिक चयन द्वारा ऊँचा उठाया जाता है। लेकिन यह खुद ऐसे अधिकारियों के वर्ग को उत्पन्न करता है जो विशिष्ट व्यक्तियों या समूहों के बाहरी प्रभाव से उनकी स्थितियों के पृथक्करण के कारण पहले की तुलना में प्रशासनिक शक्तियों की अधिक सम्मिलित श्रृंखला धारण करता है।

बड़े पैमाने के दलों की मौजूदगी आधुनिक राज्य में अनिवार्य है लेकिन यदि ये दल ऐसे राजनीतिक नेताओं की अगुआई में चलते हैं जिन्हें अपने काम की महत्ता पर पक्का विश्वास है तो राजनीतिक संरचना की आंशिक रूप से जाँच की जा सकती है।

### घ) नौकरशाही एवं समाजवाद

यदि आधुनिक अर्थव्यवस्था समाजवादी आधार पर नौकरशाह होती और पूंजीवाद की तुलना में वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में तकनीकी क्षमता का स्तर प्राप्त करने का प्रयास करती तो इसने पेशेवर नौकरशाहों के महत्व में जबर्दस्त बढ़ोतरी को अनिवार्य बना दिया होता। श्रम का नौकरशाही विभाजन जो कि आधुनिक अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता है, वह कार्यों के सटीक समन्वय की माँग करती है। यह एक सच्चाई है जो कि पूंजीवाद के विस्तार के साथ नौकरशाहीकरण की बढोतरी की जड़ों में निहित रही है। लेकिन समाजवादी राज्य का गठन उच्च डिग्री के नौकरशाहीकरण की माँग करता है क्योंकि यह राज्य के हाथों में प्रशासनिक कार्यों की वृहत्तर श्रृंखला को सोंपता है।

वेबर की समाजवाद पर प्राथमिक आपत्ति नौकरशाही प्रशासन पर केंद्रित है जिसकी यह मांग करती है। वे आधुनिक समाज की विशिष्ट उलझान का अन्य उदाहरण पेश करते हैं। वे जो समाजवादी समाज को स्थापित करने का प्रयास करते हैं वे ऐसी उपलब्धि को ध्यान में रखकर काम करते हैं जिसमें राजनीतिक सहभागिता और आत्म-अनुभूति पूंजीवाद में मौजूद पार्टी लोकतंत्र की सीमित छवि से परे की बात है लेकिन इस नौकरशाही के प्रति प्रचंडता का परिणाम सिर्फ उद्योग और राज्य की नौकरशाहीकरण को बढ़ावा देने की दिशा में होगा जो वास्तव में आगे विशाल आबादी की राजनीतिक स्वायत्तता को कम कर देगा।

### च) नौकरशाही की आधुनिक विशेषताएँ

यह नौकरशाही की एकल विशेषता है कि एक बार जब यह स्थापित हो जाती है तो यह वेबर के शब्दों में "पलायन मुक्त" (escape proof) है। आधुनिक नौकरशाही जो कि पुश्तैनी संगठनों की तुलना में उच्च स्तर की बुद्धिसंगत विशिष्टीकरण है, वह अपनी पकड़ से समाज को उदय करने के किसी भी प्रयास के लिए अधिक प्रतिरोधी है। ऐसा काम "क्रांति" कहलाता है जिसका अर्थ है कि प्राधिकार के अत्यंत नये संगठनों की बलात रचना करना।

आधुनिक पूंजीवाद में नौकरशाही का विस्तार कानून, राजनीति और उद्योग की बुद्धिसंगतता का कारण और परिणाम दोनों ही है। नौकरशाहीकरण, क्रिया की तर्कसंगतता की ठोस, प्रशासनिक अभिव्यक्ति है जो कला, संगीत और वास्तुकला समेत पश्चिमी संस्कृति के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो चुकी है। इसके परिणामस्वरूप वेबर के लिए नौकरशाही राज्य की वृद्धि का विश्लेषण सभी क्षेत्रों में नौकरशाहीकरण की व्याख्या के लिए प्रतिमान प्रदान करता है। मार्क्स के लिए दूसरी तरफ, राज्य के प्रशासन में सुव्यवस्थित और सोंपानक्रम आधारित श्रम विभाजन, राजनीतिक शक्ति के संकेंद्रण को दर्शाता है।

## 14.5 सारांश

मार्क्स के लिए पश्चिमी यूरोप मे पूंजीवाद के आरंभिक उत्पत्ति बिंदुओं में निहित मूल कारक हैः उत्पादकों के संपत्तिहरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया जहाँ उत्पादन के साधनों पर उनका नियंत्रण नहीं है। अतः पूंजीवाद, सार के रूप में एक वर्ग समाज है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निहित बुनियादी वाद-विवाद सीधे तौर पर इसकी विशेषता से उत्पन्न होता है जो कि विनिमय मूल्य के लिए उत्पादन आधारित पद्धति है। अनुसरण, की आवश्यकता या विस्तार के नजरिए से मुनाफे की दर, कम होने वाले मुनाफे के प्रयोजनमूलक नियम के विरुद्ध है। उत्पादक और उपभोक्ता का अलग होना ऐसा मुख्य कारक है जो ऐसे कारकों के लिए जिम्मेवार है जिसके लिए पूंजीवाद एक स्थायी विषय है और पूंजीवादी बाजार के कामकाज का तरीका इस बात पर टिका है कि श्रम शक्ति को इसके विनिमय मूल्य से अधिक कीमत पर नहीं बेचा जा सकता और यह ऐसी 'रिजर्व सेना' की भांति है जिसे गरीबी में ही रहना पड़ता है। दुर्खाइम और वेबर के लिए, वर्ग संरचना श्रम-विभाजन में क्रमिक विभेदन से नहीं जुड़ी हुई है। दोनों इस बात का खंडन करते हैं कि ये वर्ग विभाजन इसमें निहित प्रकृति को अभिव्यक्त करते हैं। दुर्खाइम की संकल्पना में श्रम का बलात विभाजन एक असामान्य किस्म है लेकिन यह सामाजिक विभेदन के विस्तार का अनिवार्य परिणाम नहीं है। यह मूल रूप से अनुचित संविदाओं को लागू करने के लिए आर्थिक शक्ति का प्रयोग है जो वर्ग द्वंद्व की उत्पत्ति की व्याख्या करती है। पारंपरिक किस्म के समाज आधुनिक किस्म के समाज से कैसे अलग है, यह इसकी विशिष्ट वर्ग विशेषता नहीं है बल्कि जैविक एकजुटता की मौजूदगी है। वेबर की संकल्पना में बुद्धिसंगत परिकलन, आधुनिक पूंजीवादी उद्यम का मूल अवयव है और सामाजिक जीवन की तर्कसंगतता, आधुनिक पश्चिमी संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्ग संबंध जिसे मार्क्स पूंजीवाद की धुरी मानता है, असल में एकमात्र ऐसा अवयव है जो व्यापक बुद्धिसंगतता से जुड़ा है जो समकालीन समाज के अधिकांश संस्थानों में कामगार को उसके उत्पादन के साधनों से स्वत्वहरण की प्रक्रिया का विस्तार करता है। पूंजीवाद में मौजूद वाद-विवाद ऐसे वाद-विवादों को निपटाने के लिए किसी ऐतिहासिक अनिवार्यता को उत्पन्न नहीं करती। इसके विपरीत, बुद्धिसंगतता में होने वाली तरक्की जो अनिवार्य रूप से अज्ञात भौतिक बहुतायत को सृजित करते हैं और जो अनिवार्य रूप से पश्चिमी सभ्यता के विशिष्ट मूल्यों (स्वायत्ता, सृजनात्मकता, निरंतरता) और 'लौह पिंजरे' (iron cage) की सच्चाइयों को जिसमें आधुनिक मनुष्य बंधा हुआ है, को एक-दूसरे से अलग करने की प्रक्रिया को उद्दीप्त करता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एच.एच.गर्थ एंड सी.राइट मिल्स, 1981. फ्रॉम मैक्स वेबर, एसेज इन सोशियोलॉजी, ओयूपी।

गिड्डंस, एंथनी, 1994. कैपिटलिज्म एंड माडर्न सोशल थ्योरी। ओयूपी।

रेमंड, एरन। मेन करेंट्स इन सोशियोलॉजिकल थाउट्स, वाल्यूम I, पेंगुइन।

इकाई 15

# उद्यमशीलता और पूंजीवाद

**इकाई की रूपरेखा**


15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्यमशीलता का अर्थ

15.3 उद्यमशीलता की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि : मैक्स वेबर और जोसफ सक्म्प्टर को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए

15.4 मैक्स वेबर का योगदान

15.5 सक्म्प्टर का योगदान

15.6 वेबर के अलावा उद्यमी पर अन्य अध्ययन

15.7 सारांश

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- उद्यमशीलता का अर्थ प्रदान कर सकेंगे;
- वेबर और सक्म्प्टर के योगदानों की चर्चा कर सकेंगे; और
- उद्यमशीलता की परिघटना का अध्ययन करने में अन्य विचारकों के अध्ययनों को स्पष्ट कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 15.1 प्रस्तावना

इस इकाई में सैद्धांतिक समझ पर सामाजिक वैज्ञानिकों के विश्लेषण के आधार पर पूंजीवाद के विकास और उद्यमशीलता की संक्षेप में चर्चा की गई है। ऐसा विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है कि सामाजिक विज्ञानी किस प्रकार पूंजीवाद के विकास और उद्यमशीलता के सिद्धांत के बारे में नये एवं ताजे विचार प्रदान कर सकते हैं। ऐसा विश्लेषण करते समय, वेबर और स्क्म्प्टर जैसे क्लासिक विचारों के सैद्धांतिक आधार की पहचान की गई है। जब अर्थशास्त्र के क्लासिकल सिद्धांत का जर्मन ऐतिहासिक विचारधारा द्वारा खंडन किया गया तो अपने सैद्धांतिक आधार पर वेबर की सैद्धांतिक अभिज्ञप्ति अर्थपूर्ण बन गई थी और अनुभाग 1.3 में इसे स्पष्ट भी किया गया है। उद्यमशीलता पर वेबर का विचार सामान्य तौर पर करिजमा के सिद्धांत के रूप में नजर आता है, ऐसा परिप्रेक्ष्य जिसके लिए यह सिद्धांत समाज की आदिम अवस्था में पूंजीवाद के विकास को दर्शाने के योग्य है, इसे उप-अनुग 1.3.1 में स्पष्ट किया गया है। इस अनुभाग में यह भी बताया गया है कि किस प्रकार प्रोटेस्टेंट लोकाचार ने ऐसी सामाजिक दशा प्रदान की है जहाँ उद्यमी ने सामाजिक स्वीकृति की प्राप्ति की है और जिससे पूंजीवाद का विकास हुआ जो कि धर्म सुधार से पहले उपलब्ध नहीं था। जहाँ उप-अनुभाग 1.3.2 उद्यमशीलता पर सक्म्प्टर के योगदान से संबंधित है वहीं आर्थिक विकास के सिद्धांत और उसके आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों की भी पहचान की गई है। दुर्खाइम के विचार किस प्रकार उद्यमशीलता को समझने के लिये उपयोगी हो सकता है, इस बात को उप-अनुभाग 1.3.3 में विकसित करने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा आधुनिक समाजशास्त्रियों के विचारों पर भी इस अनुभाग में प्रकाश डाला गया है। अंत में इस इकाई का सार भी दिया गया है।

## 15.2 उद्यमशीलता का अर्थ

उद्यमशीलता के अर्थ के साथ कुछ अनसुलझा विवाद भी जुड़ा है, जारी है। यद्यपि उद्यमशीलता के बारे में कुछ विचारकों का मत एक जैसा है जिसमें कुछ विशेष किस्म के संगठनों के विनियमन के लिए नियमन प्रक्रिया बनाने में प्रशासन का एक अंग और इसके प्रकार्य शामिल हैं। कुछ विद्वान सामरिक या नवीन निर्णयों से इस शब्द का अर्थ जोड़ते हैं जबकि अन्य व्यावसायिक संगठनों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द को ऐतिहासिक संदर्भ मे स्पष्ट किया जा सकता है। इस शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द से हुई है जिसका अर्थ बहुत पहले 'कुछ काम करने के अर्थ ' में लिया जाता था। प्रारंभिक 16वीं शताब्दी के दौरान जो सैन्य अभियानों में जुटे होते थे, उन्हें उद्यमी कहा जाता था। 1700 के बाद, इस शब्द का प्रयोग बारंबार सरकारी सड़क, पुल, बंदरगाह और मोर्चेबंदी संबंधी संविदाकारों और बाद में वास्तुकारों के लिए फांसीसियों द्वारा किया गया। 1800 में यह शब्द शैक्षिक विषय में नजर आने लगा क्योंकि इसका प्रयोग बहुत से फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों द्वारा किया जाने लगा था जिन्होंने इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट रूप से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किया जिसने उद्यमी और उद्यमशीलता को विशिष्ट अर्थ दिया था जहां भेद अधिकतर अर्थ व्यवस्था के खंडों की विशेषताओं में उभरा और जो अर्थशास्त्री सरकार में रुचि रखते थे, उन्होंने उद्यमी को संवीदाकार, कृषक और उद्योगपति के रूप में लिया जो जोखिम उठाने वाले पूंजीपति के रूप में देखे जाते थे (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस, 87-88)। हालांकि उद्यमी और उद्यमशीलता शब्दों का प्रयोग विभिन्न समय में विद्वानों द्वारा विविध संदर्भों में किया गया है।

## 15.3 उद्यमशीलता की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि : मैक्स वेबर और जोसफ सक्म्प्टर को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए

मैक्स वेबर और सक्म्प्टर यद्यपि क्रमशः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र से जुड़े हुए हैं, फिर भी समाज में उद्यमशीलता का विश्लेषण करने और पूंजीवाद के विकास में इसकी भूमिका के विश्लेषण के लिए सिद्धांत विकसित करने में इनका योगदान है। अपने विचारों एवं सिद्धांतों के आधार पर दोनों विचारकों की कुछ बातों पर सहमति और कुछ पर मतभेद है। सक्म्प्टर ने पूर्व-वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पहचान करने पर ध्यान केंद्रित किया इसलिए उसने अपने काम को आसान बनाते हुए उद्यमी को मात्र प्रबंधक वृतीय प्रवाह विकास प्रणाली के रूप में माना। जहाँ तक वेबर के विचारों का संबंध है, तो एक पहचान बनाना जटिल काम है क्योंकि उद्यमशीलता पर उसके विचार अक्सर उसकी सभी रचनाओं में व्याप्त हैं। फिर भी द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म को ऐसे बिदाई-बिंदु के रूप में पहचाना जा सकता है जहाँ पूंजीवाद को समझने एवं इसके विकास के लिए उसने कुछ सैद्धांतिक आधारों का निर्माण किया। दोनों विचारकों ने जबकि उनकी रुचि एक-दूसरे से अलग थी, ने सामाजिक सिद्धांत और आर्थिक समाजशास्त्र को सूत्रबद्ध किया जो कुछ हद तक क्षेत्र विस्तार और सैद्धांतिक परिणामों में एक जैसे हैं। बहुत सी अनुरूपता मार्क्स की रचनाओं में देखी जा सकती है और ऐसी बहुत सी रचनाएं हैं जिन्हें स्पष्ट करना बाकी है (मैक्डोनाल्ड 1971 : 71)। सक्म्प्टर ने यद्यपि उद्यमशीलता के सामाजिक पहलू का विश्लेषण करने में मार्क्स के विचारों को अंगीकृत किया और इसे पूंजीवाद के विकास से जोड़ने का प्रयास किया लेकिन उसका उपागम और निष्कर्ष बहुत अधिक गैर-माक्सवादी है। वेबर भी इस संदर्भ में एक अपवाद है जिसका सामाजिक परिघटना का उपचार सक्म्प्टर से अलग नहीं है। इतिहास की पूंजीवादी व्याख्या के मार्क्स के विचार पर प्रहार करने पर, वेबर की संकल्पना स्वायत्त वैज्ञानिक विषय के रूप में अर्थशास्त्र के लिए एक चुनौती थी। इस स्थिति को बेनडिक्स द्वारा व्यक्त किया गया जिसके अनुसार वेबर ने दर्शाया है कि ... आर्थिक आचरण इस विचार से अलग नहीं था कि मनुष्यों ने अपने आर्थिक हितों का अनुसरण किया और इन विचारों को उनकी निजी भाषा को ध्यान में रखकर ही समझा जाना चाहिए (1960 : 52)।

**अभ्यास 15.1**

क्या उद्यमियों पर वेबर और सक्म्प्टर का विश्लेषण समान है या असमान? उत्तर अपनी नोटबुक में लिखें।

इस समय पर जर्मन ऐतिहासिक विचारधारा के विद्वान बहुत समय के लिए इस बात का दावा करने में और क्लासिकी आर्थिक सिद्धांत का खंडन करने में जुटे रहे थे। नई स्थिति जो उभरी, वह सैद्धांतिक आधार पर उद्यमशीलता और पूंजीवाद के विकास पर वेबर की अभिज्ञप्ति थी। सक्म्प्टर (1980) ने बताया कि उद्यमशीलता और पूंजीवाद के विकास पर उसका प्रतिपादन स्थिर और गतिशील दोनों स्थितियों के बीच के बुनियादी फर्क पर टिका हुआ है। दोनों ने लगभग एक ही समय में सैद्धांतिक संरचना को सूत्रबद्ध किया है। स्क्म्प्टर ने आर्थिक सिद्धांत की आस्ट्रिया की परंपरा और वेबर ने जर्मन ऐतिहासिक स्कूल में प्रशिक्षण प्राप्त किया।

## 15.4 मैक्स वेबर का योगदान

उद्यमशीलता और पूंजीवाद के विकास पर वेबर के विचार मार्क्स से मेल नहीं खाते। वेबर का मार्क्स के दृष्टिकोण पर प्रहार था कि पूंजीपति, नई तकनीकों से लैस और तर्कसंगत उपलब्धि द्वारा प्रेरित हो कर सदैव पुरानी परंपरागत विधि और मनोवृत्ति को अनदेखा करते थे और इन्होंने समाज पर अपनी निजी प्रकृति और उत्पादन के विशिष्ट तरीके को थोपा। वेबर ने कभी भी इस बात को नहीं स्वीकारा और कहा कि पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया के लिए यह कभी भी यथार्थवादी स्थिति नहीं थी। यहाँ तक कि वेबर के जीवन काल में ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई थी जब नया व्यक्ति पूर्णतया अंगीकृत पारंपरिक पर्यावरण और उत्पादन के विशेष रूप से पूंजीवादी-तरीकों में बंट गया। स्पष्ट रूप से यहाँ नया आदमी न तो नये आविष्कार से लैस था और न ही वह उद्योग में क्रांति लाने के योग्य था। हालांकि उसमें नई उमंग थी। वेबर इसके बाद पूंजी वाले संगठन की पूंजीवादी किस्म, उद्यमशीलता आधारित व्यावसायिक गतिविधि और बुद्धिसंगत लेखाकरण पर जोर देते हुए एक नया रुख लेता है। फिर भी वह हर तरीके से परंपरावादी था।

**बॉक्स 15.1 : वेबर और अर्थशास्त्र**

वेबर को सदैव समाजशास्त्र के विद्वान के रूप में देखा जाता है लेकिन उसके व्यवसाय के अंतिम वर्षों में जब वह परिपक्व वेबर था, उसने लगभग एक पूरा दशक ऐसा परिप्रेक्ष्य विकसित करने में अर्पित किया जो कि निस्संदेह समाजशास्त्रीय था लेकिन अर्थशास्त्र से अछूता नहीं था (स्वेडबर्ग, 1988)। असल में वेबर विधिक इतिहास में प्रशिक्षित था, अतः ऐसा क्षेत्र जिसमें वह अधिक प्रसिद्ध हो सकता था, वह था विधि का इतिहास। उसने जर्मनी के दो जाने-माने विश्वविद्यालयों में लगभग दो वर्षों तक अर्थशास्त्र का शिक्षण भी प्रदान किया, यहाँ उसने ऐसे विषय पढ़ाए जो कि ऐतिहासिक अर्थशास्त्र और सीमांत उपयोगिता अर्थशास्त्र का मिला-जुला भाग था।

इसके अलावा वेबर ने अपने समग्र व्यावसायिक जीवन के दौरान समाजशास्त्र, आर्थिक इतिहास और राजनीतिक ज्ञान के दर्शन का प्रसार करने के लिए काम किया। ये सभी पहलू उद्यमशीलता और पूंजीवाद के विकास के बारे में उसके विचारों में देखे जा सकते हैं।

वेबर का उद्यमशीलता का सैद्धांतिक प्रसार आमतौर पर करिजमा के सिद्धांत के रूप में नजर आता है जिसे वेबर के अत्यंत अलग किस्म के मनुष्य वाले विश्लेषण में देखा जा सकता है करामाती मनुष्य जो अपने अद्भुत व्यक्तित्व से दूसरों को अपने पीछे आने के लिए प्रभावित करता है। दुर्भाग्यवश वेबर की करिजमा की धारणा को बहुत से विद्वानों ने गलत समझा। दरअसल वेबर करिजमा को समाज के आदिम चरण के बदलाव के महत्वपूर्ण अभिकर्ता के रूप में देखता है और आधुनिक पूंजीवादी समाज में इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है जहाँ उद्यम के कारण आर्थिक बदलाव उत्पन्न होते हैं जो बाजार स्थिति में मुनाफा कमाने के अवसरों को पैदा करते हैं। समाज की बुद्धिसंगतता शुरू होती है जब समाज में व्याप्त मिथक धारणाओं और धर्म की जगह विज्ञान

और विधिवाद ले लेता है। हालांकि आधुनिक समाज में पूंजीवाद के विकास में करिजमा के विस्तार की संभावना अधिक नहीं है। वेबर के उद्यमी के सिद्धांत और पूंजीवाद के विकास के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं - (1) जैसा कि उसका कहना है कि उद्यमी आर्थिक पद्धति में पाया जा सकता है, और (2) उद्यमी को साझे परिप्रेक्ष्य अर्थात उद्यम जो निश्चित रूप से व्यक्ति का आर्थिक परिचालन नहीं है, के अंतर्गत आर्थिक कार्रवाई की दिशा में काफी अधिक करना पड़ेगा। उद्यमशीलता पर उसके कार्य की प्रारंभिक अवस्था में वेबर का कहना है कि 'उद्यमशीलता का अर्थ; अर्थव्यवस्था के कुछ भाग के संगठन पर अपनी साख जमाना है जिसमें लोगों की आवश्यकताओं को मुनाफा कमाने और अपने निजी आर्थिक जोखिम के चलते विनिमय के माध्यम से संतुष्ट, किया जाता है (1898, 1990 : 57)। उसकी रचना, प्रोटेस्टेंट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म दो पहलुओं से आर्थिक विकास के सिद्धांत को समझने में विशेष महत्व रखती है। ये पहलू हैं; उद्यमशीलता के प्रति मनोवृत्ति में बदलाव लाना जो कि पश्चिमी समाज के धर्म सुधार के कारण जनित किया गया था, मनुष्य इसे स्वीकृत करने में या सक्रियता से प्रोत्साहित करने में या तो आक्रामक होगा या उसका मोहभंग हो जाएगा और (2) यह इस बात को उजागर करता है कि प्रोटेस्टेंटवाद जैसे कुछ किस्म के धार्मिक लोकाचार ने पूंजीवाद के विकास और साथ ही साथ कार्य संस्कृति के लिए अनुकूल दशा प्रदान की ताकि उद्यमियों के प्रति समाज के रवैये में विस्तृत परिवर्तन लाए जा सकें। धर्म सुधार से पहले साहूकारी, व्यापार, वाणिज्य एवं इसके साथ ही साथ उद्यमशीलता के लिए कोई सामाजिक स्वीकृति नहीं थी।

**अभ्यास 15.2**

धार्मिक विचारधारा को पुनः स्पष्ट करने में काल्विनवाद की भूमि को रेखांकित कीजिए।

न सिर्फ पश्चिम में बल्कि विश्व के सभी भागो में धार्मिक संस्वीकृति ने इन्हें स्वीकार करने की इजाजत नहीं दी। ऐसे प्रयास, दरअसल, सहन किए गए लेकिन इन्हें कभी भी कबूला नहीं गया। कैल्विनवाद की निश्चित किस्म और साथ ही साथ सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दियों के दौरान ईसाइयों के कुछ पंथों ने धार्मिक विचारधारा को पुनः स्पष्ट करके धर्म सुधार का एक मुहिम स्थापित किया जिसने व्यवसाय और उद्योग के लोकाचार में एवं इसके साथ-साथ ऐसे लोगों पर भी अपना प्रभाव छोड़ा जिन्होंने विशेष रूप से धर्म और सामान्य रूप से समाज की संशोधित नैतिकता को स्वीकारा था। ऐसे संदर्भ बिंदु पर उद्यमशीलता संबंधी कार्यों के लिए ऐसी सकारात्मक दशा उभर कर आई जिससे पूंजीवाद का विकास हुआ। इससे धर्म धीरे-धीरे समाज पर हावी होने लगा लेकिन शीघ्र ही आर्थिक गतिविधि के प्रभाव से धार्मिक पकड़ ढीली पड़ने लगी। अतः ऐसी सामाजिक दशा उभरी जहाँ पूंजी जनित करने के लिए उद्यमशीलता स्वतंत्र चर बन गई थी। इस बिंदु पर वेबर सांस्कृतिक मूल्यों एवं आस्था में बदलावों को दर्शाता है जो कि विविध सामाजिक समूहों में उनके निजी विश्व दृष्टिकोणों के साथ पूंजीवाद के विकास की कुंजी है (बैंडिक्स, 1960 : 258-62)। अपनी आरंभिक रचना में वेबर उद्यमों की कुशल दिशा के रूप में उद्यमशीलता पर काफी जोर देता है जो कि व्यक्ति विशेष उद्यमी के व्यक्तित्व के लिए बाजार स्थिति में अवसरों के अनुरूप चलती है।

**बॉक्स 15.2: उद्यमशीलता और पूंजीवाद**

यह एक दिलचस्प बात है। उद्यमशीलता और पूंजीवाद के विकास पर वेबर का योगदान जो कि 1910 के बाद उसकी राजनीतिक एवं समाजशास्त्रीय रचनाओं में उभरता है, स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि वेबर ने उद्यमशीलता पर आधारित अपने विचार को आगे नौकरशाहों की तरफ कर लिया। वेबर, इस संदर्भ में तर्क देता है कि जैसे ही समाज और अधिक बुद्धिसंगत बन जाता है, नौकरशाही उद्यम और इसके साथ-साथ राज्य पर हावी होने लगती है। यदि राजनीतिक नौकरशाही, समाजवादी किस्म की क्रांति द्वारा सभी आर्थिक गतिविधियों से निपटने में सफल हो जाती है तो पूंजीवादी विकास को हटा दिया जाएगा और तानाशाही पद्धति द्वारा लोकतांत्रिक व्यवस्था को खत्म कर दिया जाएगा।

पूंजीवादी समाज में आर्थिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र के तालमेल में काम करता है। फिर भी, अर्थव्यवस्था को ऐसी स्थिति में बदला जा सकता है जब निजी उद्यमों में नौकरशाही धारणाओं को हावी होने की अनुमति मिल जाती है। इस तरह वेबर निजी उलझन में था कि यदि यह निश्चित रूप देता है जो कि संभावित रूप से किराया है जो मुनाफे की जगह लेगा तो अर्थव्यवस्था बिखर जाएगी और समाज में दमनकाकरी राजनीतिक दशा उभर आएगी। वेबर के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में उद्यमी ही ऐसा व्यक्ति है जो नौकरशाही को उसके सही स्थान पर रखने में जोर लगा सकता है क्योंकि उद्यमी को नौकरशाहों की तुलना में व्यावसायिक संगठन का विस्तृत ज्ञान और अनुभव होता है। उपर्युक्त चर्चा प्रश्न उठाती है कि ऐसे मार्गों की पहचान कैसे करें जिससे उद्यमशीलता संबंधी समूहों को व्यावसायिक प्रयासों और समाज में पूंजीवादी विकास के प्रति मोड़ा जा सके? वेबर के अनुसार जिसका केंद्र बिंदु प्रोटेस्टेंट यूरोप था, कास्मिक प्रयासों में मनुष्य की आस्था की पुष्टि करने के लिए काल्विनवाद की धारणा ने निःसंदेह व्यवसाय के रूप में बिजनेस के चयन को सुदृढ़ किया। फिर भी इस बिंदु पर वेबर ने देखा कि प्रोटेस्टेंटवाद के प्रभाव को किस प्रकार पारंपरिक पूंजीपतियों को संतुष्ट करने के लिए नये विचारों की ओर प्रवृत्त, सर्वदा विस्तारित आधुनिक पूंजीपतियों को बदला गया।

## 15.5 सक्म्प्टर का योगदान

सक्म्प्टर ने अपने जीवन काल में विविध चरणों पर उद्यमशीलता के विविध सैद्धांतिक पहलुओं पर गौर किया था। उसने असल में मनोविज्ञान, आर्थिक सिद्धांत, आर्थिक इतिहास और समाजशास्त्र सहित विविध किस्म के उपागमों का प्रयोग किया था। यहाँ इस ओर ध्यान देना होगा कि सक्म्प्टर ने सबसे पहले आर्थिक सिद्धांत में उद्यमशीलता के सक्षम इतिहास का प्रतिपादन किया। और इस संदर्भ में आर्थिक विचारधारा का इतिहास उसके ऐसे उपागम से काफी प्रभावित है जो अभी भी शैक्षणिक क्षेत्र पर होवी है।

यद्यपि सक्म्प्टर ने बहुविज्ञता एवं बहु-विषय उपागम का अनुसरण किया फिर भी जैसा कि उसकी रचनाओं से पता चलता है उसने कभी उद्यमियों के व्यवहार के लिए कोई ठोस मार्गदर्शन का निर्माण नहीं किया जैसा कि बिजनेस स्कूल इसे सूत्रबद्ध करते आ रहे थे। यहाँ इस ओर गौर करना जरूरी है कि सक्म्प्टर ने बारंबार इस ओर इशारा किया कि जब साधारण आर्थिक व्यवहार कमोबेश स्वचालित है, उद्यमी को सदैव ऐसे अपने कार्यों पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है जिसे ऐसे लिया जाना चाहिए मानो उद्यमी को कुछ ऐसा करने में शामिल किया गया है जो कि मूल रूप से नवीन है। यह ऐसी अंतर्दृष्टि है जो काफी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है जैसे कोई ऐसा नवीन काम करता है लेकिन उसे यह नहीं पता कि आगे कैसे बढ़ना है और इसलिए उसे नवीन मार्गदर्शन की जरूरत है।

**अभ्यास 15.2**

सक्म्प्टर का उद्यमी आधारित दृष्टिकोण क्या है? अपना उत्तर अपनी नोट बुक में लिखें।

पूंजीवादी प्रक्रिया का विचार जो कि सक्म्प्टर आर्थिक सैद्धांतिक विश्लेषण में मुख्य बिंदु हैं, का अर्थ है कि वृतीय प्रवाह (सरकुलर फ्लो) जैसा कि सक्म्प्टर द्वारा विकसित किया है, इसे प्रवर्तकों एवं उनके अनुयायियों द्वारा वितरित और परिवर्तित किया जाता है। कुछ निश्चित तकनीकी आर्थिक दशाओं के आधार पर बिजनेस मुनाफा कमाना शुरू कर देता है, यहाँ तक कि जब वर्धित उत्पादन के परिणामस्वरूप बाजार कीमतें गिरने लगती हैं। यहाँ महत्वपूर्ण बात है कि समुचित वृत्ताकार प्रवाह में बंटने वाला आक्रामक उद्यमी जिसके पास धारण करने को कुछ नहीं है, वह नवाचार के विचार को सुदृढ़ करेगा, सुस्थापित फर्मों की अड़चनों को दूर करने की उसकी सफलता, उसके बल या अनुकूलन ऐसा महत्वपूर्ण बिंदु है जिस पर सक्म्प्टर अपने समग्र कैरियर के दौरान परिवर्तनशीलता के साथ अंतःक्रिया करता है। उद्यमी के सिद्धांत को विकसित करने में सक्म्प्टर का पहला प्रयास आर्थिक विकास के सिद्धांत में देखा जा सकता है। उसके अग्रणी कार्य में उसने पूर्णतया नया

आर्थिक सिद्धांत बनाने का प्रयास किया और पिछले अर्थशास्त्रियों की उपलब्धियों की ओर कम ध्यान दिया। इस संदर्भ में उसका तर्क था कि अर्थव्यवस्था में सभी महत्वपूर्ण बदलाव उद्यमी द्वारा शुरू किए जाते हैं और ये परिवर्तन तब धीरे-धीरे आर्थिक पद्धति अर्थात व्यवसायिक चक्र के माध्यम से अपने बलबूते पर काम करते हैं। सक्म्प्टर ने इस बात को भी माना कि उसके सजातीयता के विचार ने बदलाव को उत्पन्न किया जो कि ऐसे परिवर्तन से उलट था जिसे बाहरी बलों ने पेश किया था जो कि न सिर्फ आर्थिक घटनाओं बल्कि सभी सामाजिक घटनाओं पर भी लागू था और इसे दो किस्म की गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता था, एक तरफ से ये सृजनात्मक और नवीन गतिविधियाँ थीं जबकि दूसरी तरफ आवर्तक एवं मशीनी गतिविधियाँ। द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक आर्गेनाइजेशन का दूसरा संस्करण पंद्रह वर्षों के बाद प्रकाशित हुआ जिसमें सक्म्प्टर ने अपने तर्क अधिक तार्किक बनाया, इसे क्रमबद्ध किया और इसके प्रभावों को विस्तृत किया। तेरह वर्षों के बाद, उसकी अन्य रचना 'बिजनेस साइकल' (Business Cycle) सामने आई जिसमें उसने उद्यमशीलता को अधिक तकनीकी दृष्टि से स्पष्ट किया। जब हम सक्म्प्टर के उद्यमी के सिद्धांतों की बात सोचते हैं तो साधारण शब्दों में, हम उद्यमशीलता को नवीनता के रूप में लेते हैं। और शायद ऐसा बिंदु जिस पर सक्म्प्टर सीधे तौर पर उद्यमी के बिषय में बोलते हैं। उसकी रचनाओं का अधिकांश भाग बहुत से आर्थिक सिद्धांतों को विकसित करने के प्रयास को दर्शाता है। ये है - पूंजी, ऋण, मुनाफा और व्यावसायिक चक्र, जिन्हें उद्यमशीलता के सिद्धांत के साथ जोड़ा जाता है। ऐसा करके वह दावा करता है कि उद्यमशीलता को पहले से मौजूद सामग्री और बलों के नये तालमेल के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि आविष्कारों की बजाय नई बातों को करने से जुड़े बिंदु हैं और इसके साथ यह भी कि कोई भी हमेशा के लिए उद्यमी नहीं रहता केवल जब वह कोई नवीन गतिविधि कर रहा हो तभी उद्यमी होता है।

**बॉक्स 15.3: सक्म्प्टर का उद्यमी आर्थिक वर्गीकरण**

व्यावहारिक प्रभावों से संबद्ध आर्थिक विकास के सिद्धांत में उसके द्वारा प्रदत्त वर्गीकरण में पहले सिद्धांत ने उद्यमियों के व्यवहार की परिचालन संबंधी योग्यता के कारण काफी अधिक लोकप्रियता हासिल की। इन तीन वर्गीकरणों को इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है: (1) नई वस्तुओं की पेशकश; (2) उत्पादन के नये साधन की पेशकश; (3) नये बाजार की शुरुआत; (4) कच्चे माल की आपूर्ति के नये स्रोत की खोज; और (5) नये औद्योगिक संगठन का सृजन। सक्म्प्टर का दूसरा वर्गीकरण काफी अधिक प्रचलित है क्योंकि यह उद्यमी के अभिप्रेरण से जुड़ा हुआ है और ऐसे तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं जो उद्यमी को अभिप्रेरित करते हैं - (1) निजी हुकुमत की प्राप्ति का सपना और इच्छाशक्ति; (2) जीतने की इच्छा; और (3) किसी वस्तु को सृजित करने का आनंद (सक्म्प्टर 1934, 1961 : 93)।

उद्यमी को अभिप्रेरित करने में सिर्फ धन ही पर्याप्त नहीं है जैसा कि वह अभिव्यक्त करता है कि उद्यमी सैद्धांतिक नजरिए से निश्चित रूप से आर्थिक व्यक्ति नहीं होते (1946) 1991 : 408)। वह यह कहते हुए इस हद तक जाता है कि आर्थिक विकास के सिद्धांत में उद्यमी के अभिप्रेरण से संबद्ध उसका विचार आसानी से मनोविज्ञान के क्षेत्र से जुड़ा हुआ है और आर्थिक सिद्धांत में इसका क्षेत्र विस्तार नहीं किया जा सकता। उसके कैरियर के अंतिम दशक के दौरान, जैसा कि रचनाओ से नजर आता है, सक्म्प्टर का दृष्टिकोण आर्थिक सिद्धांत से समाजशास्त्र और आर्थिक इतिहास की ओर मुड़ गया। पूंजीवाद, समाजवाद, लोकतंत्र (1942) पर उसका कार्य समाजशास्त्रीय योगदान है क्योंकि उसके इस कार्य में उसकी छानबीन का बिंदु समाज की संस्थागत संरचना पर आधारित है जहाँ वह उद्यमशीलता संबंधी कार्यों का विश्लेषण करता है और अंत में कहता है कि बहुत से संस्थागत कारक उद्यमशीलता को कमजोर बनाते हैं और सामाजिक पद्धति के रूप में पूंजीवाद की प्रगतिरोध में योगदान देती है। और लोग बदलाव की ओर तुरंत बढ़ जाते हैं जिससे उद्यमशीलता को कम विरोध का सामना करना पड़ता है। नेम के रूप में बड़े उद्यम विशिष्ट टीम के माध्यम से नवीन प्रौद्योगिकी विकसित करने की शुरुआत कर रहे हैं। अतः पूंजीवाद की ऐसी धारणा है जहाँ समाज बुद्धिसंगत बनता है और उद्यमशीलता के साथ सभी रहस्यों को खोलता है।

## 15.6 वेबर के अलावा उद्यमी पर अन्य अध्ययन

उद्यमशीलता के अध्ययन के विषय विशेषज्ञों के ध्यान को बहुत अधिक आकृष्ट नहीं किया है फिर भी समय के साथ कुछ अध्ययन इस दिशा में आगे बढ़े हैं। जैसा कि यह सुस्थापित तथ्य है कि समाजशास्त्र सामाजिक परिवर्तन एवं नवीनता के सिद्धांत से काफी प्रभावित हुआ है और इसलिए समाजशास्त्रीय ढाँचे में उद्यमशीलता का विश्लेषण करने में यह सिद्धांत अर्थपूर्ण हो सकता था। समाज के परिवर्तन के बारे में दुर्खाइम की धारणा को सामान्यीकृत रूप में व्यक्त किया जा सकता है। आबादी सघनता जितनी अधिक, उतनी ही माँग भी अधिक और श्रम विभाजन भी उतना ही अधिक और इसकी माँग की पूर्ति के लिए समाज में विशिष्टीकरण उत्पन्न होता है (1912) 1965)। कार्य की विशिष्टता का क्या अर्थ है, इसका अर्थ है कि उद्यमी अपने समग्र व्यावसायिक जीवन के दौरान अपने निजी क्षेत्र में सफल होने के लिए अपने पेशे को आगे बढ़ाने के नये तरीकों की खोज करता है। इस संदर्भ में श्रम-विभाजन की विशिष्टता पर दुर्खाइम का विचार स्वयं उद्यमशीलता की सैद्धांतिक उत्पत्ति का संकेत देता है। और शायद अठारहवीं शताब्दी के दौरान इस सामाजिक दशा से फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक संकल्प की उत्पत्ति हुई जो कि यूरोपियाई समाज में पूंजीवाद के विकास का शुरुआती चरण नजर आता था। उद्यमशीलता का विश्लेषण यहाँ तक कि आधुनिक समाजशास्त्रियों की रचनाओं में भी नजर आता है। इस संदर्भ में मर्टन के कार्य का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वह कहता है कि अधिकांश खोज कार्य अचानक ही किए गए। इस संदर्भ में कारणों को स्पष्ट करना कठिन है और इसके अलावा एक अन्य लेख में वह सुझाव देता है कि उद्यमी और अपराध के बीच कोई आकस्मिक अंतःसंबंध स्थापित हो सकता है। समाज में जहाँ वांछनीय लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा पर ज्यादा जोर दिया जाता है, हालांकि लक्ष्य प्राप्ति के लिए ऐसा अवसर भी होना चाहिए। इस किस्म की सामाजिक स्थिति जैसा कि मर्टन का कहना है अपने सदस्यों को सफल होने के लिए अवसरों की खोज के प्रयास करने के लिए बाधित किया जाता है। यहाँ नवाचार अपरिहार्य घटना है लेकिन यहाँ एक अन्य स्थिति भी है अर्थात सदस्य जो लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं होते वे सफल होने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करते थे जिससे समाज में अपराध और विचलन की उत्पत्ति होती है (1968)। अन्य विषयों की तुलना में समाजशास्त्रियों ने उद्यमशीलता को तुलनात्मक ढाँचे के रूप में देखा (कार्डोसो 1967)। इस किस्म का विश्लेषण लिपसेट (1967) द्वारा किया गया है। वे पाते हैं कि आर्थिक विकास की सघनता प्रदत्त समाज में सांस्कृतिक मूल्य और उद्यमशीलता पर निर्भर करता है। वह लेटिन अमेरिका और नार्थ अमेरिका की दो संस्कृतियों की तुलना करता है। लेटिन अमेरिका में लबेरियन संस्कृति, मानव श्रम व्यवहारों, वाणिज्य और उद्योग की अनुत्साह की धारणा के माध्यम से प्रबल रूप धारण किए हुए हैं। जबकि उत्तर अमेरिका की स्थिति ऐसी है कि जहाँ प्यूरिटन मूल्यों ने व्यवसाय के रूप में कार्य और धन बनाने पर जोर दिया और यह संयुक्त राज्यों के अधिकांश भागों में काफी प्रबल थी और इससे आर्थिक विकास हुआ। लेटिन अमेरिका में जब लिबेरियन मूल्यों की जगह भूमिसंपन्न संपत्ति ने ली और यह सफलता का संकेत बन गई थी, इस समय लेटिन अमेरिका में आर्थिक विकास होना भी शुरू हो गया था।

## 15.7 सारांश

उद्यमशीलता और पूंजीवाद का सिद्धांत जैसा कि पिछले पृष्ठों पर विविध विचारकों ने अपने विचारों में प्रस्तुति के दौरान कहा है, इससे क्या प्राप्ति होती है? अब सैद्धांतिक योगदान और इसके अनुप्रयोग के प्रमुख प्रयास की समीक्षा करने का समय आ गया है। इस बात में कोई शंका नहीं है कि सैद्धांतिक नजरिए से वेबर का योगदान बहुत अधिक है लेकिन इसके व्यावहारिक निहितार्थों में यह क्षीण नजर आता है। यह सामाजिक विज्ञान को विज्ञान के रूप में दर्शाती है। इस दोष के बावजूद, वेबर के विचार को, पूंजीवादी विकास के संदर्भ में उद्यमी के व्यावहारिक विकास के संदर्भ में उद्यमी के व्यावहारिक अनुप्रयोग को विकसित करने और इसकी रूपरेखा बनाने के लिए विदाई-बिंदु के रूप में लिया जा सकता है और वेबर की उद्यमशीलता की आरंभिक परिभाषा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सक्म्प्टर की व्यक्तिवादी उद्यमशीलता को विस्तारित करने के कार्य को सुविधाजनक

बना सकती है। उद्यमशीलता की उत्तरजीविता, आधुनिक उद्यम का संगठन का विचार जो मुनाफे के अवसरों को जनित करने के योग्य हैं, की एक अनिवार्य शर्त है और जिसे उत्तरजीविता के लिए सृजनात्मक व्यक्तित्व वाले विचार के रूप में ही देखा जा सकता है। व्यवसाय के रूप में धन बनाना और वेबर का पद्धति संबंधी कार्य जैसा कि द प्रोटेस्टेंट एथिक में दर्शाया गया है, एक महत्वपूर्ण प्रश्न को जन्म देता है कि किस तरह वैश्वीकरण और उदारतावाद की मौजूदा गतिशील स्थिति में पद्धतीय कार्य और धन बनाने के मूल तत्वों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह ऐसा प्रश्न है जिसे शायद उद्यमशीलता और पूंजीवाद के सिद्धांत के संशोधन की जरूरत है।

## 15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

स्वेडबर्ग, रिचर्ड, 2000, एंटरप्रियूनरशिपः द सोशल साइंस व्यू, (एडी.), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

किल्बी, पीटर, 1971, एंटरप्रियूनरशिप एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट (एडी.) द फ्री प्रेस, न्यूयार्क।

कैसन, मार्क, 1983, द एंटरप्रियूनरशिपः एन इकोनॉमिक थ्योरी एंड एंटरप्रियून्यूरियल हिस्ट्री, इन एसेज, ट्रांजेक्शन पब्लिशर्स, बर्न्सविक।

**संदर्भ**

बेंडिक्स, आर., 1960, मैक्स वेबरः एन इंटेलेक्टुअल पोरट्रेट, गार्डन सिटी, न्यूयार्क।

दुर्खाइम, ईमाइल, 1933, डे ला डिविजन डु ट्रावेल सोशल, अल्कन, पेरिस ट्रांस बाइ जी सिम्पसन, 1933, द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी, मैक्मिलन, न्यूयार्क।

इंटरनेशन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेस, एंटरप्रियूनर, एडी. दन डेविड एच सिल्स, द मैक मिलन कंपनी एंड फ्री प्रेस, यूएसए, पीपी. 67-93.

लिपसेट, एस.एम.,1967, "वैल्यू एजुकेशन एंड एंटरप्रियूनरशिप", इन (एडी.) एसएम लिपसेट एंड सोलारी, एलीट इन लेटिन अमेरिका, न्यूयार्क।

मैक डोनॉल्ड, रोनन, 1971, "स्क्म्पटर एंड मैक्स वेबरः सेंट्रल विजन एंड सोशल थ्योरी," इन (एडी.) पीटर किल्बी, एंटरप्रियूनरशिप एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट, द फ्री प्रेस, न्यूयार्क।

मर्टन, रॉबर्ट, 1968, सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर, द फ्री प्रेस, न्यूयार्क।

स्क्म्पटर, जोसफ ए., (1946) 1991, "कम्मेंट ऑन ए प्लान फॉर द स्टडी ऑफ एंटरप्रियूनरशिप", द इकोनोमिक एंड सोसियोलॉजी ऑफ कैपिटलिज्म, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन।

..... (1950) 1976, कैपिटलिज्म, सोशियलिज्म एंड डेमोक्रेसी, हार्पर, न्यूयार्क।

..... (1934) 1961 - द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक डेवलपमेंट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क आरिजिनली अपीयर्ड 1911 बट सेकंड एडीशन केम इन 1976.

स्वेडबर्ग, रिचर्ड, 1088, मैक्स वेबर एंड आइडिया ऑफ इकोनॉमिक सोशियोलॉजी, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन।

वेबर, मार्क्स, (1988) 1990, ग्रुंडरिस जु डेन वोरलेसुंगन उबे एलेगेमेन (थिरेटिक) नेशनलोकोनोमाइस, टुबिनजेन, मोर, जेसीबी।

..... 1930, द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म, ट्रांस बाइ टालकट पार्संस, एलन एंड अनविन, लंदन।

..... 1947, द थ्योरी आफ सोशल एंड इकोनॉमिक ऑर्गेनाइजेशन, हेंडरसन एंड टालकट पार्संस, ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।

..... 1947, फॉम मैक्स वेबरः एसेज इन सोशियोलॉजी, ट्रांस. एंड एडिट बाई हंस एच. गर्थ एंड सी. राइट मिल्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।

इकाई 16

# स्वतंत्रता एवं आजादी

**इकाई की रूपरेखा**

16.1 प्रस्तावना

16.2 बर्लिन और गणतंत्रीय सिद्धांत

16.3 स्वतंत्रता का मूल्य

16.4 स्वतंत्र राज्य और स्वतंत्र नागरिक

16.5 सारांश

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- आरंभिक विचारकों की आजादी और स्वतंत्रता की संकल्पनाओं को समझने के योग्य बन सकेंगे;
- राजनीतिक मूल्य के रूप में आजादी और स्वतंत्रता पर विविध सैद्धांतिक दृष्टिकोण भी प्रदान कर सकेंगे; और
- स्वतंत्रता और आजादी पर वाद-विवाद का मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 16.1 प्रस्तावना

आजादी पर चर्चा करने से पहले इससे जुड़े कुछ अन्य शब्द - 'उदारवाद' और 'स्वेच्छातंत्रवाद' से आजादी के मूल्य को अलग से स्पष्ट करना उपयोगी होगा। उदारतावाद - ऐसे राजनीतिक विचारों के समूह को दर्शाता है, जो राजनीतिक चिंतन और राजनीतिक गतिविधि के भीतर समर्थन प्राप्त किए हुए हैं। उदारतावाद के साहित्य से जुड़े प्रमुख विचारकों में शामिल हैं - लाके, मांटेस्क्यू, संघवादी, कांस्टेंट, द ताकुविल, जे एस मिल, टी एच ग्रीन, कार्ल पापर, पी हेक और जॉन रॉल और जोसफ राज। एक बात जो शायद इस सूची के सदस्यों को एकजुट करती है, वह है कि ये सभी निजी स्वतंत्रता के ठोस मूल्य पर जोर देते हैं। कुछ के लिए उदारतावाद का सार लाके के इस दावे में निहत है कि सभी मनुष्य जन्म से मुक्त और समान हैं, बाकी के समानता संबंधी वचनबद्धता पर कॉप उठते हैं। फिर भी कुछ के लिए उदारतावाद लोकतांत्रिक संस्थानों में भाग लेने के अवसर की माँग करते है। कुछ उदारवादी इस बात पर ध्यान नहीं देते और जोर देते हैं कि लोकतंत्र एक अलग या अधीनस्थ मूल्य या किसी भी मूल्य को दर्शाता नहीं है या यह स्वतंत्रता को एक खतरा है।

प्रमुख उदारवादी विषयवस्तुओ में शामिल हैं - निजी संपत्ति का अधिकार और कानून के नियम का पक्ष समर्थन और साथ ही साथ पारंपरिक स्वतंत्रता की प्रतिरक्षा - बोलने और सृजनात्मक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, अपने मनपसंद का काम करने की स्वतंत्रता और राजनीतिक निर्णय प्रक्रियाओं में भाग लेने की स्वतंत्रता।

सामूहिक प्रतिरक्षा, नकारात्मक अधिकारों के संरक्षण, गैर-हस्तक्षेप के अधिकार और संविदाओं के प्रवर्तन के लिए स्वेच्छातंत्रवाद ऐसे व्यक्ति की सैद्धांतिक मुद्रा है जो सरकार के सामर्थ्य को कड़े शब्दों में सीमित करते हैं।

MAHAPHYAM IAS

एक तरीके से आजादी को राजनीतिक मूल्य के रूप में केंद्रित किया जा सकता है। यह भी दावा किया जाता है कि आजादी मूल्य-तटस्थ संकल्पना नहीं है। यह सदैव नियामक और सकारात्मक नैतिक उत्तरदायित्व से जुड़ी होती है। अतः उदारता के रूप में दशा को व्यक्त करने का अर्थ है इसे सकारात्मक मूल्य देना और इसके लिए मामला बनाना शुरू करना। आजादी और स्वतंत्रता के बीच का अंतर भी महत्वपूर्ण है। आजादी की तुलना में स्वतंत्रता की संकल्पना अधिक महीन है और इसका मूल्यांकन पक्ष भी महीन है। जॉन स्टूआर्ट मिल आजादी पर अपने निबंध के पहले वाक्य में अस्वीकरण के साथ कहते हौ कि इस निबंध का विषय इच्छा की आजादी नहीं है इसलिए दुर्भाग्यवश दर्शनशास्त्रीय अनिवार्यता के गलत सिद्धांत के उलट है, बल्कि यह नागरिक या सामाजिक आजादी' है।

**बॉक्स 16.1: लोकंतत्र और नागरिक स्वतंत्रता**

मिल इन दर्शनशास्त्रीय प्रश्नों को अलग करने में सही हो सकता है। उसका विशिष्ट उद्देश्य लिबर्टी की संकल्पना की पहुंच को सीमित करता है, जब इसे खुला प्रश्न होना ही है चाहे आजादी का प्रश्न समाप्त हो जाए जब हमने शक्ति की प्रकृति और इसकी सीमा की छानबीन की जो कि वैध रूप से समाज द्वारा व्यक्ति विशेष पर लागू की जा सकती है। मिल इस बाद वाले प्रतिबंध को जानबूझ कर थोपता है क्योंकि उसका मानना है कि उसके समय में लोकतंत्र नागरिक आजादी को तीखी चुनौती देता है। उसके मस्तिष्क में तानाशाही की संभावना है और लोकतंत्र की सोच जो सामाजिक सोच और व्यैक्तिक सनकी असहिष्णुता को उत्पन्न कर सकती है। वह अमेरिका में ताकविल के लोकतंत्र की रिपोर्ट में विश्वास रखता है, नगर सभा में सभी को शक्ति मान दो और समनुरूपता जल्द ही संकुचित प्राथमिकता बन जाएगी। ये खतरे वास्तविक हैं लेकिन आजादी को ऐसे लोकतांत्रिक संस्थान चाहिए ठीक उसी तरह जैसे लोकतांत्रिक संस्थानों को ठोस आजादी की आवश्यकता है।

## 16.2 बर्लिन और गणतंत्रीय सिद्धांत

अब हम आजादी और स्वतंत्रता के विश्लेषण की ओर रुख करते हैं।

### ईस्साह बर्लिनः नकारात्मक एवं सकारात्मक दर्शनशास्त्र

ईस्साह बर्लिन का उद्घाटन भाषण 'टु आस्पैक्ट्स ऑफ लिबर्टी' 20वीं शताब्दी में राजनीतिक दर्शन के संदर्भ में एक प्रारंभिक योगदान सिद्ध हुआ है। बर्लिन नकारात्मक और सकारात्मक आजादी में भेद करता है और उसकी नजर में आजादी के ये विविध नजरिए दो विभिन्न प्रश्नों के उत्तरों के रूप में नजर आते हैं।

यदि हम कहते हैं कि 'ऐसा क्षेत्र कौन सा है जिसके अंतर्गत व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को दूसरों के हस्तक्षेप के बिना वह कार्य करने की छूट दे दी जाए जो वह करने के योग्य है, तो हम अभिकर्ता की नकारात्मक आजादी को उजागर करते हैं। इस नजरिए से 'राजनीतिक उदारता' वह क्षेत्र है जिसमें मनुष्य दूसरो के हस्तक्षेप के बिना काम कर सकता है'। यदि बजाय इसके हम कहते हैं कि स्रोत या हस्तक्षेप का स्रोत क्या या कौन है तो कौन क्या करेगा इसका निर्धारण वह करेगा? हम अभिकर्ता की सकारात्मक आजादी को स्पष्ट करने पर लक्षित हैं। यह बाद में ऐसी स्वतंत्रता के रूप समन्वित में नजर आती है जिसमें मनुष्य स्वयं अपना मालिक होता है।

### नकारात्मक आजादी

नकारात्मक आजादी के सरलतम रूपांतर के स्पष्ट प्रतिपादक थॉमस हाब्स थे जिसने स्वतंत्र मनुष्य की संकल्पना को परिभाषित किया जो अपनी बुद्धिमता से वह करने के योग्य है जो वह कर सकता है। नकारात्मक आजादी अक्सर अवपीड़न के अभाव के रूप में देखी जाती है जहाँ अवपीड़न को अन्य अभिकर्ताओं के संकल्पित हस्तक्षेप के रूप में देखा जाता है। हौबेसियन की नकारात्मक

आजादी जो कि जबर्दस्त चुनौतियों और निवारण के अन्य साधनों से समझौताबद्ध नजर आती है वह अक्सर ऐसे सिद्धांतों के विरोध में है जहाँ मात्र अयोग्यताएं उदारता को दर्शाती है। इस कहावत द्वारा इस बिंदु को स्पष्ट किया जाता है कि बाज की तरह न उड़ पाना या व्हेल की तरह न तैर पाना (मनुष्यों के लिये) आजादी का अभाव नहीं है।

**अभ्यास 16.1**

"नकारात्मक" आजादी की संकल्पना को रेखांकित कीजिए। इसके दोषों की चर्चा कीजिए और अपनी डायरी में नोट कीजिए।

बर्लिन इस बात पर जोर देते हैं कि हमें (नकारात्मक) आजादी के मूल्य और इसकी शर्तों के बीच भेद करना चाहिए जो आजादी के अभ्यास को संभव बनाती है। अतः देश में प्रेस की स्वतंत्रता होनी चाहिए जहाँ के अधिकांश नागरिक निरक्षर हैं। अधिकांश रूप से, ऐसी शर्त जो पढ़ने-लिखने की स्वतंत्रता को महत्व देती है - वह प्राप्त नहीं होती। ऐसी परिस्थितियों में बर्लिन इस बात पर जोर देगा कि निरक्षरता से स्वतंत्रता की कमी का कोई सरोकार नहीं । स्पष्ट रूप से समाज में कुछ ऐसा गलत है जो अपने नागरिकों को एक स्तर तक शिक्षित करने में असमर्थ है जहाँ वे केन्द्रीय स्वतंत्रताओं का लाभ उठा सकते हैं लेकिन, यह कुछ स्वतंत्रता का अभाव नहीं हो सकता। ऐसी बुनियादी शिक्षा जिसमें साक्षरता शामिल है वह निजी रूप से अच्छी हो सकती है या यह एक मानवाधिकार हो सकती है। इसका प्रावधान कानून की बात हो सकता है और इस की मनाही अन्याय। लेकिन फिर भी जब कभी इसकी बात की जाती है तो हमें ऐसी दशाओं से स्वतंत्रता के अभाव को अलग करना चाहिए जिसके अंतर्गत औपचारिक स्वतंत्रता लागू करना मुश्किल या असंभव होता है।

ऐसा महत्वपूर्ण बिंदु जो बर्लिन हमें दिखाना चाहता है वह है कि विविध बुनियादी मूल्यों में द्वंद्व हो सकता है। नैतिक उलझन या असमाधेय (जिसका समाधान न हो) विपत्ति के हालातों के न्याय अथवा सुरक्षा की मांगों के कारण उदारता को कांटा छाटा जा सकता है या इसके विपरीत बढ़ाया जा सकता है।

**बॉक्स 16.2: बर्लिन और सकारात्मक उदारता**

बर्लिन द्वारा परिभाषित सकारात्मक उदारता इस प्रकार है: 'आजादी' शब्द का सकारात्मक नजरिया व्यक्तिविशेष की इच्छा अर्थात अपना मालिक खुद बनना की इच्छाशक्ति से उत्पन्न होता है। मैं चाहता हूँ कि मेरा जीवन और मेरे निर्णय किसी बाहरी शक्ति की बजाय मुझ पर ही निर्भर करें। मैं किसी और की बजाय अपनी मर्जी का मालिक बनना चाहता हूँ। मैं लक्ष्य बनने की बजाय स्वयं एक विषय बनना चाहता हूँ। मैं कर्ता बनना चाहता हूँ जो अपने निर्णय ले सके न कि दूसरे उसके लिए निर्णय लें। मैं पशु या दास की तरह किसी और के हाथ की कठपुतली नहीं बनना चाहता बल्कि अपने निजी लक्ष्यों और नीतियों को बनाना चाहता हूँ। और उन्हें पाना चाहता हूं। यह कम से कम उसका भाग है जो मेरा मतलब होता है जब में यह कहता हूं कि मैं बुद्धि सम्पन्न हूं और यही मेरा कारण है जो मुझे शेष विश्व से एक मनुष्य के रूप में अलग करता है। सर्वोपरि मैं अपने प्रति एक चिन्तन पूर्ण इच्छुक सक्रिय मनुष्य के रूप सजग बनना चाहता हूँ जो अपनी चुनावों की जिम्मेवारियों के भार को समझे और उन्हें अपने विचारों व उद्देश्य के संदर्भ में समझा सके। मैं तभी स्वयं को मुक्त मानूँगा जब ये सब बातें मेरी सत्य साबित होंगी और स्वयं को दास मानूंगा यदि मुझे यह अहसास दिलाया गया कि यह सत्य नहीं।

MADHYAM IAS

बर्लिन की उदारता की ऐतिहासिक रूपरेखा का वैश्लेषिक सार इस प्रकार है :

### क) आत्म-नियंत्रण् एवं आत्मसिद्धि

इसमें मेरी निजी इच्छाओं - आदेश, सुदृढ़ीकरण या इनके निराकरण पर मेरा काम करना शामिल है जो इस बात के साथ जुड़ा हुआ है कि क्या इसे करना मेरे लिए सही या अच्छा है। यह एक जटिल धारणा है जिसकी जड़ें काम की स्वतंत्रता में निहित हैं। आधुनिक समय में इस किस्म का विकास लॉक, रूसो, कांत और हेगल के माध्यम से देखा जा सकता है। यह हैरी फ्रैंकफर्ट और चार्ल्स टेलर के हाल ही के कार्य में दुबारा नजर आया है। हम इस विचार के आदी हैं कि हम आत्मनियंत्रण को दर्शाते हैं जब हम लालसा को रोकते हैं। काम की स्वतंत्रता हमारी ऐसी योग्यता में शामिल है ताकि ऐसी इच्छाओं का मूल्यांकन किया जा सके जो हमें ऐसा काम करने के लिए उकसाती है और यह फैसला करने में सहायक होती है कि क्या इसकी पूर्ति की जाए या नहीं। इस आधार पर स्वतंत्रता का प्रतिमान हमारी इच्छाओं के विरुद्ध जाता है जिन्हें हम सभी करना चाहते हैं या जिन्हें करना हम बेहतर समझते हैं। लेकिन जैसा कि हेगल ने दर्शाया, स्वतंत्रत अभिकर्ता के लिए सबसे बेहतर है जिसमें उपयुक्त सोच विचार के बाद कि हम ये समझें कि काम के लिए क्या करना बेहतर है। यह वह खोजना है जो हम सर्वाधिक चाहते हैं।

### पितृसत्तावाद

मान लीजिए मैं आत्म नियंत्रण लागू करने के योग्य नहीं हूँ। मैं विकल्पों के पूर्ण मूल्य को शायद नहीं समझता। उस बच्चे की तरह जो कड़वे-स्वाद वाली (लेकिन प्राण रक्षक) औषधि लेना पसंद नहीं करता। मुझे अपनी वास्तविक रूचियों का नहीं पता। ऐसी परिस्थितियों में समझदार अभिभावक तुनकमिजाज नहीं होगा। वह जबर्दस्ती औषधि देगा/देगी। शायद ... तुम्हारे लिए मुझ पर नियंत्रण कायम करना सही नहीं होगा कि मैं प्राप्त करने या कायम रखने के योग्य नहीं हूँ? शायद स्वतंत्रता के लिए यह जरूरी नहीं कि मेरे ऊपर आप जो नियंत्रण कर सकते हैं, वह आत्म नियंत्रण की मेरी खुद की शक्ति को कम कर देगा। यह विचार विशेष रूप से कारगर है, जहाँ आपका पितृसत्तात्मक अंतःक्षेप मेरे लिए स्वायत्त चयन की दशाएं सृजित करता है जो मेरी निजी गतिविधियों को निष्फल कर देती है।

### ग) सामाजिक आत्म नियंत्रण

लेकिन यदि मैं आत्म-नियंत्रण के माध्यम से अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करना है और यदि आप उपयुक्त पितृसत्तात्मक हस्तक्षेप द्वारा मेरी स्वतंत्रता को बढ़ावा देते हैं तो क्या शायद आगे मेरी स्वतंत्रता संस्थागत उपायों द्वारा विकसित नहीं होगी जिनका मैं समर्थन करता हूँ? रूसो के सामाजिक संविदा के गणतंत्र में नागरिक नियमों को बनाकर नैतिक और राजनीतिक उदारता की प्राप्ति करते हैं जो उन पर और उनके साथ-साथ अन्यों पर भी लागू होती है। यदि व्यक्ति के रूप में मैं ऐसी लालसा को नहीं रोग सकता जो मुझे नुकसान पहुंचा सकती है तो क्या कुछ सामाजिक तंत्र को बनाने में यह अच्छी युक्ति नहीं होगी जो मेरे संकल्प को तेज करेगी? यदि मुझे लगता है कि गलत काम की सजा मुझे सीधे रास्ते पर रखेगी जो समझदारी अकेले मुझे इसका अनुसरण नहीं करने दे सकती तो क्या मुझे ऐसे सामाजिक अवरोधों को स्वीकार कर लेना चाहिए जो मेरी निर्बाध नैतिक शक्तियों से अधिक प्रबल है? और ऐसा करने में क्या मैं अपनी निजी स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करता?

### घ) राज्य सेवा

एक अविवेकी नागरिक जो आत्मसंयम बरतने में असमर्थ है और सामाजिक बल की युक्तियां बनाने की पर्याप्त दूरदर्शिता नहीं रखता वह भी परोक्ष रूप से स्वतंत्रता की प्राप्ति कर सकता है और दूसरी ओर यदि उसके असमर्थन और सहभागिता के अभाव के बावजूद राज्य अनिवार्य नियंत्रण को प्रभावित करता है। राज्य हमारे असल हितों की सेवा में हमें नियंत्रित कर सकती है इसके द्वारा हमें स्वतंत्र बनाती है।

MADHYAM IAS

## 16.3 स्वतंत्रता का मूल्य

मार्क्स की "स्वतंत्रता" की संकल्पना दरअसल दुर्खाइम की स्वायत्त आत्म नियंत्रण की धारणा के काफी नजदीक है और इसे निश्चित तौर पर उपयोगितावादी दृष्टिकोण जैसा नहीं समझना चाहिए। "स्वतंत्र" और "बौद्धिक जितने हेगल की रचनाओं में घनिष्ठता से जुड़े हैं उतने ही मार्क्स की रचनाओं से भी जुड़े हुए हैं। उपयोगितावाद में मौजूद धारणा को हेगल हटाते हैं कि मनुष्य उस हद तक काम करने को स्वतंत्र है जो उसकी प्रवृत्ति उसे करने को कहती है। सड़कों पर मनुष्य स्वतंत्र है यदि वहाँ वह जो चाहे वह करने के लिए मुक्त हो लेकिन उसकी गूढ़ स्वेच्छाशक्ति बताती है कि वह स्वतंत्र नहीं है। स्वतंत्रता अहम् का प्रयोग नहीं है लेकिन असल में इसके उलट है। कोई भी कार्य "मुक्त" की बजाय "स्वेच्छाचारी" होता है यदि उसके विकल्प क्रिया में अयुक्तिसंगत चुनाव शामिल हों जिनमें व्यक्ति विशेष को मुक्त माना जाता है। कोई पशु जब किसी प्रतिकूल स्थिति में भागने की बजाय दुश्मन से लड़ने का निर्णय लेता है तो यह काम वह खुलकर नहीं करता। मुक्त होने का अर्थ है, स्वायत्त होना और बुद्धिसंगत नियंत्रण के परे बाहरी या आंतरिक बलों से बाधित न होना; यही कारण है कि स्वतंत्रता मनुष्य का विशेषाधिकार है क्योंकि सिर्फ मनुष्य ही है जो समाज की सदस्यता के माध्यम से न सिर्फ समाज के स्वरूप को बल्कि संकल्प शक्ति के अंश को भी नियंत्रित करने के योग्य है। हेगल के विचार में यह संभव है यदि तर्कसंगत विचार के साथ व्यक्ति की पहचान मौजूद हो। मार्क्स के लिए, यह ठोस सामाजिक पुनर्संगठन कम्युनिस्ट समाज की स्थापना को पहले से मानकर चलता है।

**बॉक्स 16.3: व्यक्ति एवं समाज**

समाज में व्यक्ति की स्थिति उससे संबंधित विशेषता के अनुरूप होगी। जैसे वैज्ञानिकों का वैज्ञानिक समुदाय से संबंधित होना। वैज्ञानिक जो ऐसे मानदंडों को स्वीकारता है जो वैज्ञानिक गतिविधि को परिभाषित करते हैं, वह उसकी तुलना में कम स्वतंत्र नहीं है जो जानबूझकर उनका खंडन करते है; इसके विपरीत वैज्ञानिक समुदाय का सदस्य होने के नाते वह ऐसे साझे उद्यम में भी भाग लेता है जो उसे आगे बढ़ने की अनुमति देते हैं और जो उसे निजी क्षमताओं को सर्जनात्मक रूप से लागू करने की अनुमति भी देते हैं। इस तरह नैतिक आवश्यक बिंदुओं की स्वीकृति बाहरी अवरोधों की स्वीकृति नहीं है बल्कि तर्कसंगत की पहचान करना है।

हम यह नहीं कहते कि मार्क्स और दुर्खाइम के नजरियों में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है जिसे "गैर-ऐतिहासिक" महत्ता के रूप में देखा जा सकता है। दुर्खाइम इस बारे में सुस्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत पूर्णतया उस समाज की विशेषताओं से प्रभावित होता है जिसमें वह रहता है और जिसमें उसका सामाजिककरण होता है। लेकिन इस संदर्भ में वह पूर्ण ऐतिहासिक सापेक्षवाद को स्वीकार नहीं करता अर्थात हर व्यक्ति चाहे वह आदिम हो या सुसंस्कृत वह समद्वैध है क्योंकि हर व्यक्ति के भीतर अहम् आवेग और नैतिक अर्थ के बीच परस्पर विरोध चलता है। मार्क्स इस किस्म के मनोवैज्ञानिक मॉडल को नहीं अपनाता। मार्क्स की संकल्पना में व्यक्ति और समाज के बीच ऐसे स्पष्ट प्रतिरोध के लिए कोई गैर-सामाजिक आधार नहीं है। मार्क्स के लिए मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है ... निजी मानव जीवन और प्रजाति जीवन कोई अलग बातें नहीं हैं। व्यक्ति और समाज के बीच अहमवादी प्रतिरोध जो कि बुर्जुआ समाज में एक विशिष्ट रूप में पाया जाता है, श्रम विभाजन के विकास का परिणाम है। दूसरी तरफ दुर्खाइम की मानव व्यक्तित्व की द्वैधता वाली पहचान ऐसी कल्पना पर आधारित है कि शिशु का अहम् जो कि जैविक बातों अर्थात जिनके साथ उसका जन्म होता है, उसे बच्चे के उत्तरवर्ती नैतिक विकास द्वारा न उलटा जा सकता है। और न ही उसका पूर्ण उन्मूलन किया जा सकता है।

मार्क्स और दुर्खाइम दोनों मानव आवश्यकताओं के अनुकूलन में ऐतिहासिक आयाम पर जोर देते हैं। दुर्खाइम के लिए अहम्वाद सिर्फ समाज के स्वरूप के संदर्भ में ही सामाजिक एकता की चुनौती बन जाता है जिसमें मानव संवेद शक्तियाँ काफी विस्तृत बन जाती हैं अर्थात "सभी साक्ष्य" सभ्यता की वृद्धि को बढ़ाने के लिए हमारे भीतर के दो मनुष्यों के बीच के संघर्ष को बढ़ाते हैं।

**अभ्यास 16.2**

मनुष्य और समाज के बीच अहम्वादी प्रतिरोध का वर्णन कीजिए। क्या इसका उन्मूलन किया जा सकता है?

जब तक हम जो चाहते हैं उसका कोई मूल्य नहीं है तब तक इसका पीछा करना व्यर्थ है। अतः विचारों की स्वतंत्रता और चर्चा उपयोगी है क्योंकि चिंतन और चर्चा उपयोगी है। स्वतंत्रता पर हाल ही में हुए सर्वाधिक प्रभावशाली कार्य में जोसफ राज का सुझाव है कि स्वतंत्रता का मूल्य होता है क्योंकि यह निजी स्वायत्तता की शर्त के रूप में परिभाषित की जाती है।

### क) कार्य की स्वतंत्रता

मुक्त रूप से काम करने के लिए मेरी इच्छाओं का ठोस कारण भी होना चाहिए। मुक्त कार्य के महत्वपूर्ण तत्व लॉक, रूसो और हेगल के अधिकार के दर्शनशास्त्र में देखे जा सकते हैं। यह स्वायत्त कार्रवाई के बारे में चिंतन के एक भाग पर पकड़ बनाते हैं - हम स्वतंत्र हैं जब हम जो करते हैं उसके नियंत्रण में होते हैं। इनके विरुद्ध वे बिंदु हैं जिन्हें घटना क्रिया की दृष्टि से हम अपनी सर्वाधिक मजबूत इच्छाएं कहते हैं; जब ये समुदायों की नैतिक माँगों या नैतिकता से जुड़ जाती हैं तो हम इस प्राधिकार के रूप में देखते हैं।

### ख) स्वायत्तता

स्वतंत्रता के मूल्य का तेजी से अनुमान लगाया जा सकता है। यह उस चीज का मूल्य है जो हम प्राप्त करना चाहते हैं या जिसे हम जैसा करना चाहते हैं, [illegible]ते हैं। अतः स्वतंत्रता का मूल्य करण कारक होता है; यह उस मूल्य के बराबर है जो हम करना चाहते हैं जिसे पाने में हमें योग्य बनाने में स्वतंत्रता सहायक होती है। यदि हम किसी तरीके से मुक्त नहीं हैं तो हम जोखिम (सामन्यतया सजा का) उठाकर अपनी इच्छा को आमतौर पर पूरा करते हैं। यह स्वतंत्रता का मूल्य सरल और स्पष्ट है। इसके अलावा यह स्वतंत्रता को उनके मूल्य के अनुसार श्रेणी देने में हमें सक्षम बनाता है। यह गतिविधियों के मूल्य का प्रकार्य है जिसकी अनुमति स्वतंत्रता देता है। इससे अधिक महत्वपूर्ण है इच्छा का उद्देश्य, इसे प्राप्त करने की स्वतंत्रता का जितना महत्व है उससे अधिक गंभीर ऐसे मामलों में प्रतिबंध है जहाँ हमें स्वतंत्र होने से रोका जाता है।

स्वतंत्रता की शर्तों के अंतर्गत हम कांत की स्वायत्तता को लागू कर सकते हैं जो अभिकर्ताओं को ऐसे अवसरों की अनुमति देती है कि यह देखा जा सके कि सही काम कौन सा है जिसे किया जा सकता है। लेकिन यदि यह स्वतंत्रता का मूल मूल्य है तो हम देख सकते हैं कि स्वतंत्रता ऐसी श्रेष्ठ परिस्थितियां नहीं दे सकती जिसमें स्वायत्तता विकसित की जा सकती है।

### ग) नैतिक स्वतंत्रता

रूसो के नजरिए से स्वतंत्रता वह है जिसकी प्राप्ति उन लोगों द्वारा की जाती है जो अपनी इच्छाओं को नियंत्रित कर सकते हैं। इसे आगे कांत की स्वायत्तता संबंधी इच्छाशक्ति में विकसित किया जाता है जो इस बात पर जोर देती है कि हम किस तरह अपनी विविध इच्छाओं के मद्देनजर तर्कसंगत विचार-विमर्श के अपने संसाधनों को वहन करते हैं। ये वे इच्छाऐं हैं जिन्हें हम (भीतरी मानवीय प्रकृति और प्रकृति (बाह्य) के अर्न्तसंबंधों के कारण सहन करने को बाध्य होते हैं।) यदि हम तर्क के मार्गदर्शन का अनुकरण करते हैं तो हम खुलकर अपनी मर्जी के कार्य कर सकेंगे जो कि कानूनी नियमों को पूरा करने पर आधारित होंगे जिसका अनुसरण करने के सभी योग्य होंगे।

नियम हमें एवं अन्य नागरिकों को यह मान्यता देते हैं कि कर्तव्य का संकीर्ण और सीधा मार्ग हमारी स्वतंत्रता को भंग नहीं करता। यह एक जोखिमपूर्ण तर्क है और यह जोखिम दो विभिन्न दिशाओं से आता है। पहला - यह स्पष्ट खतरा है कि हमारा क्या कर्त्तव्य है इसका निर्धारण दूसरे करेंगे और इसे निभाने के लिए हमें संगठित करेंगे। यह खतरा तब तक टाला जा सकता है, जब तक हम इस बात पर जोर देंगे कि नैतिक आजादी जो कि राज्य की बलपूर्वक शक्ति से प्राप्त की जाती

है वह लोकतांत्रिक संस्थाओं की राजनैतिक उदारता की देन हो। दूसरा खतरा है कि लोकतांत्रिक बहुमतता इसका गलत अर्थ ले सकती है जैसे जेल भेजना और दंड आदि देने से जुड़ी गतिविधियाँ। चूंकि लोकतांत्रिक निकायों के निर्णय स्वतः गठित नहीं करते कि नैतिक रूप से क्या स्वीकार्य है या नहीं, यह एक स्थायी संभावना है। नैतिक आजादी का लक्ष्य हमें राजनीतिक बंधनों में बाँध सकता है।

**बॉक्स 16.4: लोकंतत्र पर सीमाएँ**

इसके बहुत से पूरक उत्तर हैं ... पहला कि हमें संस्थानों की अपनी विनिर्दिष्टता का सहारा लेना चाहिए जो कुछ शर्त के साथ राजनीतिक आजादी को बढ़ावा देती है जो लोकतांत्रिक निर्णय संबंधी प्रक्रियाओं की क्षमता की सीमाओं का निर्धारण करती है। दूसरा मिल के सिद्धांत का स्पष्ट निहितार्थ सार्वजनिक मान्यता है कि गलत बातें जिन्हें निरंतर उदारता के साथ वर्जित किया जा सकता है, उसमें ऐसी गलत बातों का समावेश नहीं है जिन्हें नागरिक अकेले ही अपने लिए करते हैं... यह पितृसत्तावाद का मुद्दा है।

### घ) सहिष्णुता

यदि उदारता जैसी कोई चीज है तो वह सहिष्णुता है लेकिन जैसा कि एक टीकाकार ने कहा यह एक समय में अनिवार्य और नामुमकिन नजर आती है। सहिष्णुता अनिवार्य है क्योंकि वे लोग जो एकजुट होकर रहते हैं, उन्हें अपनी नैतिक आस्थाओं के बीच भारी फर्क नजर आ सकता है जिसे सम्मत आधारों पर तर्क से नहीं सुलझाया जा सकता। गूढ़ द्वंद्व की परिस्थितियों की वजह से यह असंभव है जो सहिष्णुता की माँग करती है और जिसे अक्सर द्वंद्वकारी पक्षों की जिद के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। ये फर्क ऐतिहासिक रूप से ऐसे रहे हैं जो हिंसक द्वंद्व को उत्पन्न करते हैं। तटस्थ प्रेक्षक के लिए यह बात कम महत्वपूर्ण हो सकती है । सहिष्णुता के लिए जरूरी है कि कोई ऐसे काम में हस्तक्षेप न करें जो किसी की नजरों में नैतिक रूप से गलत है।

उदाहरण के तौर पर ऐसे राज्य की कल्पना कीजिए जहाँ बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक धर्म मौजूद हैं। या जहाँ धर्म विभाजन है और कानून बनाने की शक्ति सिर्फ एक धार्मिक समुदाय के हाथों में है। क्या राज्य को ऐसे लोगों को सहन करना चाहिए जो अपने धर्म के आधार पर विधि नियमों को तोड़कर विधि निर्माताओं के मस्तिष्क में गलत बातें भरते हैं। संक्षेप में तर्क दिया जा सकता है कि नैतिकता का सार्वभौमिक आयाम है जो उसके द्वारा झूठा साबित किया जाता है जो इसके स्रोत को सत्तावादी धार्मिक ग्रंथ मानते हैं। निस्संदेह, मानने वाला ऐसी समझाई गई बातों के सार्वभौमिक प्राधिकार को पक्का मानता है - यह आशा नहीं की जा सकती कि ऐसी समस्याएं तुरंत निपटा ली जाएं - लेकिन उदारतावादी तर्क की दिशा आसानी से पकड़ी जा सकती है।

## 16.4 स्वतंत्र राज्य और स्वतंत्र नागरिक

रूसो का कहना है कि प्रकृति के राज्य में हमारी स्वतंत्रता हमारी मुक्त इच्छाशक्ति से उत्पन्न होती है, ऐसी क्षमता जो ऐसी इच्छाओं को रोके जो हमें मजबूर करती है इसके साथ ही जो न दूसरों की मांगों के अधीन हो और न ही अपनी चाहत की वस्तु पाने के लिये उन पर निभर हो। संवीदाकार के रूप में हम ऐसे सामाजिक राज्य से संतुष्ट होंगे जो श्रेष्ठ रूप से इस प्राकृतिक दशा के अनुरूप होगी। प्राकृतिक स्वतंत्रता खो जाती है लेकिन इसका चिंतन हमें ऐसा नैतिक अहसास देता है जिससे हमें समकालीन समाज के संस्थानों को परिचित करा सकते हैं। समाज में स्वतंत्रता के पैमाने की तीन आयामों के साथ वसूला जा सकता हैः नैतिक स्वतंत्रता (जिसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं), लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और नागरिक स्वतंत्रता।

### क) लोकतांत्रिक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता के आयाम के रूप में लोकतंत्र के लिए स्वतंत्रि का आयाम सरल है; लोकतंत्र अपने नागरिकों को निर्णयन प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर देती है जो कानून के रूप में इनके आचरण

को शामिल करती है। कांत के लिए, स्वायत्त कार्य कानून के अनुरूप जीवन यापन करने से संबंधित है जिसे व्यक्ति ने अनुसरण करने की दृष्टि से स्वयं निर्धारित किया है। लोकतंत्र इस मॉडल का मोटा राजनीतिक सादृश्य दर्शाता है : स्वतंत्रता कानून के अनुरूप जीवन यापन करने से संबंधित है जिसे कि सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू करने के लिए बनाया गया है।

बर्लिन का तर्क है कि लोकतंत्र उदारता से काफी भिन्न आदर्श है - महत्वपूर्ण निर्णय स्वतंत्रता को चुनौती दे सकते हैं जैसा कि जे.एस.मिल का तर्क है, यह तर्क चाहे कितनी भी विश्वसनीय लगे इसे निणर्यात्मक समझना गलत होगा। लोकतंत्र के अलावा कोई भी व्यवस्था नागरिकों को किसी भी महत्वपूर्ण फैसले में भाग नहीं लेने देगी। लोकतांत्रिक गतिविधि हमें इस बात का दावा करने का अवसर प्रदान करती है कि हम प्राधिकार के दावेदारों से मुक्त हैं। स्वतंत्रता के लिए लोकतंत्र अनिवार्य है लेकिन इसकी अपनी निजी विशिष्ट चुनौतियाँ भी हैं।

### ख) नागरिक स्वतंत्रता

ऐसे नागरिक जो स्वतंत्रता को महत्व देते हैं और ऐसे लोकतांत्रिक संस्थानों में अपनी सहभागिता के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करते हैं, वे कानूनी तौर पर या कम औपचारिक तंत्रों के माध्यम से अपने साथियों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। ऐसे संस्थानों को स्थापित करने पर उनकी गूढ़ चिंता जो प्रत्येक को सशक्त करते हैं, उन्हें ऐसे उपायों को पेश करने के प्रति सजग बनाते हैं जो निजी पसंद को प्रतिबंधित करते हैं। लोकतांत्रिक संस्थानों और उनकी संबद्ध स्वतंत्रता की अनिवार्यता को स्वीकार करके नागरिकों को संरचनात्मक और अनुबोधक कानूनों में अपनी अच्छे जीवन के संबंधित विविध संकल्पनाओं को मूर्त करने के अवसर प्रदान करने को महत्व देते हुये, वे स्वयं इन मूल्यों के अपने प्रतिपादन को नियंत्रित करने में हिचकिचाऐंगे। बुद्धिसंगत मनुष्य के लिए यह सोचना गलत होगा कि दूसरे तर्कसंगतता को चुनौती देते हैं। जिस तरह हम अपनी निर्ण्यन प्रक्रिया में बाहरी अवरोधों को अनुमोदित करने के लिए तैयार किए जाते हैं, तो क्या इसी तरह हमें ऐसे संस्थानों को अपनाने के लिए भी तैयार किया जाना चाहिए जो मानव की सबसे खराब गलती के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं।

## 16.5 सारांश

स्वतंत्रता पर बर्लिन के कार्य ने दर्शनशास्त्रीय परिशुद्धता के मौजूदा मानकों की उल्लेखनीय प्रस्तुति की है। उसने दर्शाया है कि एक महत्वपूर्ण नीतिपरक संकल्पना कम से कम दो और संभावित रूप से दो सौ विविध विश्लेषणों से प्रभावित हो सकती है। आजादी के बारे में विचार करने का कोई एक ठोस तरीका नहीं है। ऐसे कम से कम दो तरीके हो सकते हैं जिनमें से प्रत्येक समृद्ध परंपरा है जो पृथक घटकों में परिवर्तित हो जाती है ''जो आजादी के मूल्य के बारे में श्रेष्ठ तरीके से सोच कायम करने के लिए दूसरों को चुनौती देती है''। यदि लोकतंत्र या न्याय की तरह आजादी के बारे में विचार करने के यदि बहुत से तरीके हैं तो महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि हमें राजनीतिक मूल्य के रूप में उदारता की महत्ता के बारे में जानने के लिए किस तरीके का चयन करना चाहिए। चयन करने के तरीके जटिल हैं और इसकी मुख्य विशेषताएँ है - बुनियादी रूप से अभिकर्ता मुक्त होते हैं जब उनके अच्छा जीवन जीने के अपने लक्ष्य में कोई बाधा नहीं उत्पन्न की जाती। अवरोधों का अनुमान विस्तृत रूप से लगाया जाना है। राजनीतिक या अधिक विस्तृत रूप से सामाजिक संदर्भ में वे ऐसे नियमों को शामिल करेंगे जो सकारात्मक नैतिकता के मजबूत साधनों के साथ-साथ मंजूरी द्वारा आगे किए जाते हैं। लेकिन व्यक्ति तब परतंत्र होने का दावा कर सकते हैं जब विशेष रूप से सरकार उन्हें संतुष्ट जीवन देने में विफल हो जाती है सरकार विशेष उन्हें सन्तुष्टि के स्तर को प्राप्त करने के पर्याप्त साधन देने में असफल रहती है। सन्तुष्टि के ये स्तर उनके उस जीवन के लिये आवश्यक पूर्व दशा है जो वास्तविकता में उनका जीवन है। राजनीतिक संस्थान इस समझ पर बहुत से तरीकों से उदारता को पोषित कर कर सकता है। आजादी के ठोस सिद्धांत को विशेष रूप से आपराधिक नियम को अच्छे समझना चाहिए। स्वतंत्रता के लिये आवश्यक उन शास्तिक शक्तियों, जो अच्छे जीवन की खोज को सुरक्षित रखें की सीमाओं को सीमांकित करते हुये यह

एक संरक्षण के रूप में काम कर सकता है। सरकार और नागरिको को विशेष रूप से अपने लक्ष्यों के प्रति विनम्र होना चाहिए।

## 16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिड्डन्स, एंथनी, कैपिटलिज्म एंड मॉडर्न सोशल थ्योरी। सीयूपी, 1994

जॉन लेच (2004). फिफ्टी ग्रेट कंटेम्पोरेरी थिंकर्स - फ्रॉम स्ट्रक्चरलिज्म टु पोस्टमॉडर्निटी.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 17

# विसंबंधन

**इकाई की रूपरेखा**

17.1 प्रस्तावना

17.2 श्रम का अप-मानवीकरण

17.3 प्रक्रिया के रूप में विसंबंधन

17.4 श्रम विभाजन

17.5 सारांश

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपः

- विसंबंधन की संकल्पना को समझ सकेंगे और यह भी समझ सकेंगे कि आधुंनिक समाज का विश्लेषण करने में यह कैसे लागू की जाती है।
- वास्तवीकरण जैसे विसंबंधन के पहलुओं का वर्णन करने के योग्य बन सकेंगे।

## 17.1 प्रस्तावना

विसंबंधन की संकल्पना एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से या विशिष्ट स्थिति या प्रक्रिया से विमुख होने को दर्शाती है। कार्ल मार्क्स और मार्क्सवादी विचारधारा से संबद्ध रचनाओं में इसका विशेष महत्व है। ये तर्क के दर्शनशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक आयाम हैं। हेगल ने कांत के "इज" और "औट" के द्वैतवाद को नियंत्रित करने के दर्शनशास्त्रीय साधन प्रदान किए क्योंकि हेगल के लिए असल सदैव आदर्श बनने का प्रयत्न कर रहा था। इतिहास के माध्यम से आत्म-सृजनकारी, आत्म-ज्ञान विचार का पथ, बाहरीकरण और वास्तवीकरण के माध्यम से इसका विसंबंधन और ज्ञान के माध्यम से इसके पुनः विनियोग ने मार्क्स को उसका क्रांतिकारी अनिवार्य बिंदु प्रदान किया। हेगल पर असहमति व्यक्त करते हुए और इसके निजी विचारों को भौतिकवादी दृष्टिकोण में ढालते हुए मार्क्स ने तर्क दिया कि मानवता ऐतिहासिक युगों को वर्णित करने में खो गई है। अतः मार्क्स ने तर्क दिया कि कम्युनिज्म के आविर्भाव के साथ मनुष्यों का सामाजिक मनुष्यों के रूप में वापस आना पूर्ण रूप से संभव होगा।

शब्द का समाजशास्त्रीय आयाम इस तर्क से अधिक जुड़ा हुआ है कि विमुखता ऐसी सामाजिक संरचनाओं का परिणाम है जो लोगों को उत्पीड़ित करते हैं और उन्हें अनिवार्य मानवता से वंचित करते हैं।

## 17.2 श्रम का अप-मानवीकरण

अब हम रेखांकित करेंगे कि उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम को किस प्रकार "अप-मानवीकरण" किया जाता है।

**अधिशेष मूल्य का सिद्धांत**

एडम स्मिथ का अनुसरण करते हुए मार्क्स ने वस्तु में दो पहलुओं के बीच के अंतर को स्पष्ट कियाः उनका प्रयोग मूल्य और विनिमय मूल्य होता है। वस्तु ऐसी चीज है जो एक या अन्य मानव

आवश्यकता को संतुष्ट कर सकती है और यह प्रयोग मूल्य है। लेकिन वस्तु सिर्फ उपयोगी चीज ही नहीं है जिसे उत्पादित कर बाजार में बेचना है बल्कि अन्य वस्तुओं के साथ इसका विनिमय भी करना है। ऐसी वस्तुओं के विनिमय-मूल्य का माप कैसे करना है, जिनके प्रयोग-मूल्य अलग-अलग हैं। गेहूँ और छालटी में क्या एक जैसा है? एक को किसान द्वारा निर्मित किया जाता है और दूसरे को बुनकर द्वारा। ये विविध किस्म के उपयोगी श्रम के उत्पाद हैं। इनमें सामान्य बात यह है कि ये दोनों सामान्य रूप से मानव श्रम से बने हैं जिसे मार्क्स "अमूर्त मानव श्रम" कहते हैं। दोनों उत्पादों पर कुछ निश्चित मात्रा में मानव श्रम खर्च किया गया है। इससे इनके विनिमय-मूल्य का निर्धारण होता है। विनिमय मूल्य जो साधारण अक्षरों में प्रयोग मूल्य से अलग होता है, उसमें उत्पाद में अमूर्त श्रम का भी समावेश होता है। माप वह समय नहीं है जिसे व्यक्ति विशेष श्रमिक ने खर्च किया होगा जो कि औसत से अधिक या निम्न हो सकता है। लेकिन उत्पादकता के प्रदत्त स्तर पर अपेक्षित समय है जिसे मार्क्स "सामाजिक रूप से अनिवार्य श्रम-समय" कहते हैं। पूंजीवादी उत्पादन संभव बनता है जब अन्य वस्तुओं के साथ श्रम-शक्ति को वस्तु के रूप में खरीदा जा सकता है। किसी भी अन्य वस्तु की तरह क्रेता के लिए श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य और विक्रेता के लिए विनिमय मूल्य होता है। क्रेता (पूंजीपति) के लिए इसका प्रयोग-मूल्य होता है जो यह कर सकता है (उत्पादन)। इस उद्देश्य के लिए वह इसका प्रयोग करता है और इसका उपभोग करता है और कीमत अदा करता है जो कि मजदूरी के रूप में होती है। कामगार के लिए उसकी सिर्फ श्रम शक्ति है जिसका विनिमय-मूल्य होता है। वह अपने निजी उद्देश्यों के लिए इनका प्रयोग नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं। लेकिन जीवन-निर्वाह के लिए वह इसकी बिक्री कर सकता है। विनिमय मूल्य का निर्धारण, प्रत्येक अन्य वस्तु के मामले की तरह श्रम-समय से होता है जो कि इसके उत्पादन या पुनःउत्पादन के लिए अनिवार्य होता है; इस मामले में इसका अर्थ है कि कामगार और उसकी संतान और भावी कामगारों के रखरखाव के लिए जरूरी "जीवन निर्वाह के साधनों" का प्रयोग। विकास और अन्य कारकों के स्तर के आधार पर जीवन-निर्वाह और बुनियादी जरूरतों का स्तर एक स्थिति से दूसरी स्थिति में भिन्न होता है।

मजदूरी में सिर्फ वही शामिल है जिसकी जरूरत श्रमिक और उसके मूल्य को कायम रखने के लिए पड़ती है लेकिन वह जिसका उत्पादन करता है, वह उससे काफी अधिक है। इस अंतर को अधिशेष-मूल्य कहते हैं पूंजीवादी अधिशेष का उपयोग करता है। अधिशेष मूल्य की अवधारणा को समझने के लिये ऐतिहासिक विकास पर नजर डालना उपयोगी हो सकता है। पुराने समय में लोग सिर्फ इतना ही उत्पादन कर सकते जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए ही मुश्किल से पूरा होता था। लेकिन जैसे ही वे अपनी उत्पादिकता को बढ़ाने के योग्य बनें और अतिरिक्त उत्पादन करने लगे अर्थात शिकार की बजाय पशु पालन का काम करने लगे तो प्रश्न उठा कि इस अधिशेष का प्रयोग किस तरह किया जाएगा। समय के साथ कुछ ऐसे लोगों का वर्ग बन गया जो इनसे अलग बन गए जैसे मुखिया और पादरी। ये शासी वर्ग बन गया। इसके बाद उत्पादकों के श्रम का विश्लेषण आंशिक रूप से "अनिवार्य श्रमिक" अर्थात उनके निजी जीवन-निर्वाह के लिए श्रम और आंशिक रूप से "अधिशेष-श्रमिक" अर्थात शासी वर्ग के रखरखाव के लिए श्रम के रूप में किया जा सकता है। मध्य युग में दास हफ्ते में तीन दिन अपनी निजी गुजर-बसर के लिए अपने खुद के खेतो पर और तीन दिन सामंतो के खेतों पर बिना श्रम की माँग किए काम करते थे। इस अधिशेष श्रम के साथ वे सामाजिक अधिशेष का निर्माण करते थे जो कि शासी वर्ग के हाथों में होती थी। ऐसा संपत्तिहरण विविध स्वरूपों में नजर आता था जैसे साझी फसल या धन (किराए) के रूप में। धन के मामले में यह अधिशेष मूल्य है।

पूंजीपति अधिशेष मूल्य की दर बढ़ाने का प्रयास करता है जिसे दो तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है। ये हैं; पूर्ण और सापेक्षिक अधिशेष मूल्य। पूर्ण अधिशेष मूल्य "कार्य दिवसों को लंबा करके" उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसे दीर्घीकरण से अधिशेष-श्रमिकों के समय का विस्तार किया जाता है। यह विधि विशेष रूप से पूंजीवाद के प्रारम्भिक चरणों में लागू की गई थी। मौजूदा समय मे भी भारत में उद्योग के असंगठित क्षेत्र में यह अभी भी मौजूद है।

**बॉक्स 17.1: सापेक्षिक अधिशेष**

सापेक्षिक अधिशेष अनिवार्य 'श्रम-समय के संक्षेपण' से उत्पन्न होता है, अन्य शब्दों में यह उत्पादकता की बढ़ोतरी से उत्पन्न होता है। यदि कामगार एक घंटे में पहले की तुलना में अधिक उत्पादन करता है तो उसके जीवन-निर्वाह के साधनों (अनिवार्य श्रम-समय) की आपूर्ति को पूरा करने के अपेक्षित समय को घटा दिया जाता है। उत्पादकता की इस बढ़ोतरी को पर्यवेक्षण एवं अनुशासन, उजरत-दर मजदूरी और सभी प्रौद्योगिकीय नवाचारों को बढ़ाने समेत बहुत से तरीकों से देखा जा सकता है। सापेक्षिक अधिशेष मूल्य पूर्ण विकसित पूंजीवाद में प्रबल बन जाता है। यह पूंजी संग्रहण को पहले से मान कर चलता है जो कि उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने और भावी मशीनीकरण के लिए जरूरी है।

पूंजीवाद के प्रारंभिक चरणों में हम प्रभावशाली प्रौद्योगिकीय क्रांति के बिना अधिशेष मूल्य के निष्कर्ष को प्राप्त करते हैं जो कि पूंजीवादी विकास के उत्तरवर्ती चरण की विशिष्टता है। पूंजीवाद पूर्व समाज की तरह इस चरण के दौरान भी प्रौद्योगिकी का स्तर कमोबेश एक जैसा ही था। समाज के अधिकांश अन्य पहलू भी ज्यों के त्यों हैं या काफी धीमी गति से बदल रहे हैं। लेकिन एक सुनिश्चित बात में बदलाव आया है कि श्रम प्रक्रिया पूंजी के अधीन है। श्रमिक अब स्वतंत्र उत्पादक या कृषक नहीं हैं जो धरती से बंधा हुआ है। वह एक या अन्य तरीके से पूंजीपति के नियंत्रण में है। मार्क्स इसे 'पूंजी के अधीन श्रम का औपचारिक सन्निवेशन कहते हैं। एक बार पूँजी ने अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और पर्याप्त ढंग से संग्रहण कर लिया तो यह 'श्रम के वास्तविक सन्निवेशन' की ओर अग्रसर हो जाती है जब यह श्रम की प्रक्रिया को बदलने लगती है, इसे पुनर्गठित करती है और इसे नये प्रौद्योगिकीय स्तर तक लाती है।

यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि भारत में उत्पादन के प्रबल तरीके के बारे में फिलहाल चल रहे वाद विवाद के बारे में यह विशिष्टता प्रासंगिक है। जबकि पंजाब में पूंजीपति किसान छोटे विमानों से अपनी फसलों की कीटनाशक औषधियों का छिड़काव कराते हैं। भारत के अन्य भागों में ऐसे बटाईदार हैं जो किसी न किसी तरीके से मुश्किल से अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और जो समाज में पूर्व पूंजीपति के रूप में प्रतीत होते हैं। लेकिन उनकी छवि भ्रामक हो सकती है। यहाँ तक कि जहाँ कोई प्रौद्योगिकीय परिवर्तन नहीं हुए हैं और जहाँ प्राचीन समाज सांस्कृतिक और सैद्धांतिक रूप से अभी भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, वहाँ पूंजी, श्रम की औपचारिक कल्पना और पूर्ण अधिशेष मूल्य के सन्निवेशन के माध्यम से शायद पहले से ही आर्थिक रूप से प्रबल हो।

**अभ्यास 17.1**

भारतीय समाज में प्रयुक्त उत्पादन का तरीका क्या है? अपनी डायरी में इस पर नोट बनाइए।

पूंजीवाद पर मार्क्स की समीक्षा का मूलाधार उसका बेशी-मूल्य (surplus value) का सिद्धांत है जो बताता है कि किस प्रकार जीवंत श्रम के उपभोग से पूंजी बढ़ती है। चूंकि सिर्फ श्रम शक्ति बेशी मूल्य को बनाती है, इसलिए इसका शोषण पूंजीवादी व्यवस्था का आधार है। लेकिन श्रम शक्ति सिर्फ एक आर्थिक कारक नहीं है जैसा कि यह पूंजीपतियों की गणना में नजर आता है। श्रम सिर्फ 'परिवर्ती पूंजी' नहीं है। श्रम शक्ति जीवंत मनुष्यों द्वारा प्रदान की जाती है जिनकी अपनी निजी आवश्यकताएं एवं आकांक्षाएं होती हैं। पूंजीवाद ने श्रम और मानव आकांक्षाओं की तुष्टि को अलग कर दिया है। श्रम-शक्ति को ऐसी वस्तु के रूप में देखा जाता है जिसके बदले कामगार अपनी सर्वाधिक कुछ तत्काल आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। लेकिन मार्क्स के लिए श्रम खुद मानव जीवन की सर्वाधिक अनिवार्य विशेषता है। जिसके बिना मनुष्य न तो जीवित रह सकता है और न ही यहाँ तक कि मनुष्य बन सकता है। मानव श्रम कल्पनात्मक है और यह सजग है और स्वाभाविक किस्म की नहीं है। हम पहले से ही श्रम को ऐसा मान लेते हैं जो इसे पूर्णतया मनुष्य

का ठप्पा देती है। मकड़ी का काम ऐसा होता है जो कि बुनकर के काम से मिलता-जुलता है। इसी तरह मधुमक्खी की कारीगरी वास्तुकार को भी पीछे छोड़ देती है। लेकिन मधुमक्खी के बेहतरीन कार्य से एक खराब वास्तुकार के काम में जो फर्क लाता है वह कि वास्तुकार असलियत में निर्माण से पहले कल्पना में अपनी संरचना को बुनता है। प्रत्येक श्रम प्रक्रिया के अंत में जो परिणाम हम पाते हैं वह पहले से ही श्रमिक परिकल्पना में मौजूद होता है।

मानव श्रम सामाजिक है। दूसरों के लिए और दूसरों के साथ उत्पादन के माध्यम से यह आत्मसिद्धि है। अलग-थलग व्यक्ति अपने बूते पर कायम नहीं रह सकते । प्रकृति से उत्पादनकारी अंतःक्रिया करने के लिए सहयोग, श्रम-विभाजन और विनिमय की जरूरत है। इस प्रक्रिया में मनुष्यों को यह बात खुद महसूस होती है। यह भी कहा जा सकता है कि श्रम का अर्थ मानव प्रजातियों की आत्मसिद्धि में निहित है। सामाजिक प्रक्रिया के रूप में मानव श्रम अपने विविध स्वरूप में समाज को सृजित करता है। लेकिन अपने विभिन्न स्वरूपो में समाज द्वारा इसे ठीक भी किया जाता है। इतिहास मे वर्ग समाजों का विकास श्रम की मानव गुणवत्ता को चुनौती देता है। इस चुनौती का चरम बिंदु पूंजीवाद में पहुँच जाता है जो कि मार्क्स की समीक्षा का मुख्य लक्ष्य है।

**बॉक्स 17.2: विसंबंधन की संकल्पना**

उत्पादन के पूंजीवादी तरीके ने काफी विस्तृत पैमाने पर मानव श्रम की उत्पादकता को बढ़ा दिया है। लेकिन ऐसा उत्पादकों को उत्पीड़ित करके किया गया है। उन्हें पूंजीपतियों को अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री के लिए बाधित किया जाता है। उसकी सभी उत्पादक गतिविधि का अर्थ क्रिया से नहीं बल्कि उस मजदूरी से जुड़ा है जो वह दिन के अंत में प्राप्त करता है। जीवन चुस्त, सृजनात्मक और उत्पादनकारी है। लेकिन कामगारों की गतिविधि उनके संबंधित न होकर पूंजीपति से जुड़ी होती है। उसका जीवन शुरू होता है जब उसका काम पूरा हो जाता है। वह जीवन के लिए नहीं बल्कि जीवन के साधनो की प्राप्ति के लिए कार्य करता है। इसे मार्क्स विसंबंधन कहते हैं।

## वर्गों का आविर्भाव

जब मनुष्य ने सर्वप्रथम आग को बनाया तो ऊष्मा को गति में वापस डालने में वर्षों का समय लगा। इसी तरह की प्रक्रिया वर्गों के विकास में भी देखी जा सकती है। जब मनुष्यों ने स्वयं को उत्पादन के संबंधों के अनुरूप (श्रम विभाजन), संगठित करना शुरू किया तो विविध पदों को ध्यान मे रखकर और मनुष्यों को प्राप्त भूमिकाओं के आधार पर समाज में वर्गों का निर्माण हुआ। जो समाज कभी थोड़ी वर्ग रचना या इसके बिना अर्थात जनजातीय या खानाबदोश समाज, एक ऐसा समाज बना जो ऐसे विविध वर्गों में बंट गया या विभाजित हो गया जो उत्पादक भूमिकाओं की विस्तृत परिधि को पूरा करता था।

प्रकृति की गति, बोली, उसी तरह वर्ग विकास में लागू होती है जैसे कि यह सभी चीजों पर लागू होती है। जैसे कि मनुष्यों के उत्पादनकारी बल बढ़े और वर्ग विशिष्टताएं गहरी होती गईं और आगे बंट गईं तो उत्पादक बल तुरंत ऐसी ऊँचाइयों को छूने लगे कि अब ऐसे विशिष्ट वर्गों की मौजूदगी जरूरी नहीं थी। छोटे शिल्पकारों और दुकानदारों को ऐसे आधुनिक उद्योगों की प्रगति के फलस्वरूप दरकिनार कर दिया गया जो अपेक्षाकृत काफी कम लागत पर बहुत अधिक परिमात्रा में उत्पादन कर सकते थे।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजल औद्योगिक क्रांति द्वारा प्रस्तुत बदलाव की प्रक्रियाओं को विशिष्ट दिशा में व्याप्त होने की मात्रा शुरुआत के रूप में व्यक्त करते हैं।

"आधुनिक उद्योग ने पितृसत्तात्मक मुखिया की छोटी सी कार्यशाला को औद्योगिक पूंजीपति की बड़ी फैक्टरी में परिवर्तित कर दिया है। फैक्टरी में भरे ढेर सारे श्रमिकों को सैनिकों की तरह संगठित किया जाता है। औद्योगिक सेना के भाग के रूप में इन्हें अधिकारियों और सर्जेन्टों के पूर्ण

सोपान क्रम की कमान के अधीन रखा जाता है। न केवल ये बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ राज्य के गुलाम हैं बल्कि ये मशीनों के भी नियमित और घंटेवार गुलाम हैं जिनकी उपेक्षा की जाती है। अधिक आक्रामक शब्दो में इस तानाशाही का मुख्य उद्देश्य सिर्फ लाभ कमाना है।

मशीनों में दिन-प्रतिदिन होने वाले नवीन सुधार श्रमिकों की आजीविका को अधिकाधिक जोखिमपूर्ण बनाते हैं। निजी कारीगरों और निजी बुर्जुआ के बीच की भिड़ंत दो वर्गों के बीच के टकराव का रूप धारण कर लेती है। जिससे कामगार बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध मजदूर संघ बनाने शुरू कर देते हैं। मजदूरी की दर को बढ़ाने के लिए वे एकजुट हो जाते हैं। कई बार इससे आकस्मिक प्रतिघात की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है जिससे इनके संघ स्थायी रूप धारण कर लेते हैं। कई बार ऐसी स्थितियों से दंगे भी हो जाते हैं।

अब और तब कामगार कुछ पलों के लिए विजेता बन गए। उनकी जंग का असल फल तत्काल परिणाम में निहित नहीं है बल्कि कामगारों की निरंतर बढ़ती एकता में है। यह संघ संप्रेषण के संवर्धित साधनों द्वारा विकसित की जाती है जिन्हें कि आधुनिक उद्योग में सृजित किया है और जो विविध अवस्थितियों के कामगारों को एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने में सहायता करता है। यह वही संपर्क था जो कि अनेक स्थानीय संघर्षों को केंद्रीकृत करने के लिए जरूरी था, जिससे एक ही तरह के विविध वर्गों में बंटे लोगों को एक ही किस्म के राष्ट्रीय संघर्ष में जोड़ा जा सके (मार्क्सः इकोनॉमिक एंड फिलोसफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स)।

इस "विसंबंधन" (निजी संपत्ति द्वारा उत्पन्न) को निस्संदेह दो व्यावहारिक आधार बिंदुओं के सहारे ही दूर किया जा सकता है। इसे "असहनीय" शक्ति अर्थात ऐसी शक्ति जिसके विरुद्ध मनुष्य क्रांति को जन्म देते हैं, बनने के लिए इसने अवश्य ही मानव़ता के वृहद समुदाय को संपत्तिहीन बनाया होगा। और उसी समय तत्कालीन सम्पत्ति और संस्कृति के मौजूदा जगत के विरोध को पैदा किया होगा। ये दोनों शर्तें पहले से उत्पादक शक्ति में बढ़ोतरी और इसके उच्च विकास को मानकर चलती हैं।

## 17.3 प्रक्रिया के रूप में विसंबंधन

1844 में प्रकाशित इसकी आर्थिक एवं दर्शनशास्त्रीय पांडुलिपि (ईपीएस) में मॉर्क्स विसंबंधन के विविध पहलुओं का विश्लेषण करता है।

1) पहला, कामगार को उसके श्रम के उत्पाद से विमुख किया जाता है। ऐसा उत्पाद जो उसकी मेहनत की अभिव्यक्ति है, वह उसका नहीं है। पूंजीपतियों द्वारा इसका हरण कर लिया जाता है और बाजार में बेच दिया जाता है। बेशी मूल्य की प्राप्ति से पूंजी बढ़ती है और पूंजी के साथ विमुख करने की शक्ति जो कामगार के जीवन को नियंत्रित करती है और उस पर हावी रहती है। वह जितना अधिक काम करता है, उतना ही बेहतर ढंग से उत्पादन को बनाएगा और उतनी ही पूंजी की यह विमुख करने की शक्ति सुदृढ़ बनेगी।

2) पूंजीवादी दशाओं के अंतर्गत कामगार को इसे स्वयं उत्पन्न करने की क्रिया से अलग कर दिया जाता है। अधिकांश मानव गतिविधि अधिक समय तक उत्पादक से ही नहीं जुड़ी रहती । यह ऐसी वस्तु बन गई है जिसे बाजार में खरीदा या बेचा जा सकता है। यह श्रम शक्ति का उत्पाद है। इस वस्तु का क्रेता अर्थात पूंजीपति यह निर्धारित करता है कि कामगार क्या करता है और उसे इसे कैसे करना है।

3) पूंजीवादी उत्पादन कामगार को मानव प्रजाति का सदस्य होने और उसे मानव के रूप में अन्य मानवों से अलग कर देता है। उसकी सामाजिक गतिविधि, उत्पादन, उसके निजी अस्तित्व अर्थात मजदूरी कमाने का साधन बन जाती है। इसका अर्थ है, अन्य ऐसे मनुष्यों से उसका विसंबंधन जिनके साथ वह दुर्लभ रोजगार की प्राप्ति के लिए होड़ लगाता है।

**बॉक्स 17.3: मजदूरी कीमत और मुनाफा**

**मार्क्स** विस्तार से बताते हो कि किस प्रकार पूर्ण बेशी-मूल्य के सार और सापेक्षिक बेशी-मूल्य के संक्षेपण अर्थात दोनों को और कार्य दिवसों को लंबा खींचकर और श्रम के तकनीकी विभाजन और पूंजी द्वारा मशीनीकरण जैसी बातों के फलस्वरूप, विसंबंधन उत्पन्न होता है। समय मानव विकास का कक्ष है जैसा कि मार्क्स 'मजदूरी, कीमत और मुनाफे' के मद्देनजर इसे व्यक्त करता है। अपनी श्रम शक्ति की बिक्री के लिए बाधित कामगार के पास स्वयं को मनुष्य के रूप में बनने या विकसित होने का समय नहीं होता।

### क) विसंवंधन की विशेषताएँ

मार्क्स की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली और इसके भावी कार्यों का इसके मानवविज्ञानी विचारों और इसके इतिहास के दर्शनशास्त्र से अलग करके, इनका अध्ययन नहीं किया जा सकता। इसका सिद्धांत ऐसा सामान्य है जो समग्र मानव गतिविधि को इसके विविध [illegible] जोड़ता है। पूंजी से संबद्ध इसकी क्रमिक रचनाएँ इस समान चिंतन का विस्तृत [illegible] इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है।

'हम ऐसे युग में रहते हैं जिसमें मनुष्य का अप-मानवीकरण अर्थात उसके और उसके निजी कार्यों के बीच का विसंबंधन ऐसे चरम बिंदु पर आगे बढ़ रहा है जिसकी समाप्ति क्रांतिकारी महापरिवर्तन के रूप में ही होनी चाहिए, यह वर्ग के विशिष्ट हित से शुरू होगा जो कि अप-मानवीकरण से सर्वाधिक पीड़ित हुआ है लेकिन इसका प्रभाव सभी मानव जाति की [illegible] को बहाल करना होगा।

पूंजी की बुनियादी नवीनता दो बिंदुओं से जुड़ी है जो क्लासिकी अर्थशास्त्रियों की [illegible] पूंजीवाद समाज के पूर्णतया एक अलग नजरिए की माँग करती है।

क) कामगार जो बेचता है वह उसका श्रम नहीं बल्कि उसकी श्रम शक्ति है और श्रम के दो पहलू हैं - अमूर्त और ठोस। शोषण, कामगार के उसकी श्रम शक्ति की बिक्री करने में निहित है और जिससे वह अपने निजी अस्तित्व से वंचित हो जाता है, श्रम प्रक्रिया और इसके परिणाम द्वेषी और बिसंबंधी बन जाते हैं और मानवता से परिपूर्ण होगी बजाय मानवता से वंचित हो जाते हैं, विमुख हो जाते हैं।

ख) श्रम की दोहरी प्रकृति को खोजन पर जैसा कि विनिमय मूल्य और प्रयोग के बीच के विरोध में अभिव्यक्त किया गया है, इस आधार पर मार्क्स पूंजीवाद को ऐसी पद्धति के रूप में परिभाषित करते हैं जिसमें उत्पादन का एकमात्र उद्देश्य बिना सीमा निर्धारित किए विनिमय मूल्य को बढ़ाना है। समग्र मानव गतिविधि गैर-मानव उद्देश्य के अधीन है जो कि [illegible] है जिसे मनुष्य सिर्फ प्रयोग मूल्य के लिए अपना नहीं सकता। इस तरह समय समाज [illegible] अपने उत्पादों और पृथक्करण का गुलाम बन जाता है जो स्वयं को एक [illegible] के रूप में दर्शाते हैं। चेतना की विरूपता और राजनीतिक महा संरचना का [illegible] श्रम के बुनियादी विसंबंधन का परिणाम हैं जो कि इतिहास की तरफ से एक 'गलती' नहीं है बल्कि स्वतंत्र मनुष्यों के भावी समाज की अनिवार्य पूर्व शर्त है जो कि उनके अपने जीवन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के नियंत्रण में है।

इस तरह पूँजी को मार्क्स के पिछले दृष्टिकोणों की तार्किक निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है:

1. विसंबंधन कुछ और नहीं बल्कि ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य जो असल में है, उससे अपनी मानवता से अपने को अलग कर लेता है।

2. हेगल की तुलना में मार्क्स विसंबंधन को बाह्य स्वरूप जैसा नहीं समझता अर्थात वह श्रम प्रक्रिया की पहचान उस रूप में नहीं करता जिससे मानव शक्ति और कौशल को नये उत्पादों

में तब्दील किया जाता है। इस तरीके से विसंबंधन को हटाने पर बोलना निरर्थक होगा क्योंकि सभी कल्पनाशील परिस्थितियों में मनुष्यों को ऐसी चीजों को बनाने पर ऊर्जा को खर्च करना पड़ेगा जिनकी उन्हें जरूरत है। हेगल ने विसंबंधन को बाह्य करण के साथ जोड़ा और इसलिए उसने विश्व से मनुष्य के अंतिम सामंजस्य की बात पर वस्तु की वस्तुनिष्ठता को हटाकर विचार किया।

**अभ्यास 17.2**

उत्पादन प्रक्रिया में विसंबंधन की परिघटना का वर्णन कीजिए। क्या इसे सीमित या दूर किया जा सकता है? सोचिए और अपनी डायरी में इस पर टिप्पणी कीजिए।

मार्क्स के लिए हालांकि यह तथ्य कि लोग अपनी शक्तियों को "विषयनिष्ठ" बनाते हैं, का यह अर्थ नहीं है कि वे जो भी बनाते हैं उससे और अधिक निर्धन बन जाते हैं, बल्कि इसके विपरीत श्रम स्वयं एक अभिपुष्टि है और मनुष्य की आत्म-रचना की अनंत प्रक्रिया का मुख्य स्वरूप होने पर मानवता से विमुख होना नहीं है। यह सिर्फ निजी संपत्ति और श्रम विभाजन द्वारा शासित ऐसे समाज में है जहाँ उत्पादनकारी गतिविधि दुख-तकलीफ और अप-मानवीकरण का स्रोत है और श्रम कामगार को अधिक समृद्ध बनाने की बजाय तबाह कर देता है। जब विमुख श्रम को अलग कर दिया जाता है तो लोग अपनी शक्ति को 'विषयनिष्ठ' और मूर्त रूप देना जारी रखेंगे लेकिन वे अपनी सामूहिक योग्यता की अभिव्यक्ति के रूप में अपने हाथों के काम को एक छवि प्रदान करने के योग्य होंगे।

## 17.4 श्रम विभाजन

विसंबंधन का अन्य पहलू स्वयं श्रम का अपमानवीकरण करना है। ऐसा पूंजीवाद द्वारा प्रेरित श्रम के नये विभाजन के दौरान होता है। श्रम विभाजन की खोज पूंजीवाद से नहीं हुई है। यह इतिहास के आरंभिक चरण पर विकसित हुआ। साथ ही साथ यह भौतिक और सांस्कृतिक प्रगति और मानव विसंबंधन का स्रोत भी है। यह मानव श्रम की उत्पादकता को बढ़ाता है। यह अधिशेष बनाने में इसकी सहायता करता है जो कि पुनः संस्कृति, कला, राजनीति और धर्म के विकास के लिए अनिवार्य शर्त है। दर्शनशास्त्रियों और कलाकारों, पादरियों और नृपों का अस्तित्व, श्रम विभाजन के इस बुनियादी सिद्धांत पर ही संभव है। लेकिन संस्कृति का क्रमिक विकास प्रत्यक्ष उत्पादकों की वजह से होता है। उनके अनुभव या ज्ञान की सीमा संकरी हो जाती है, वे विषय विशिष्ट बन जाते हैं और संपूर्ण रूप से प्रक्रिया से अलग हो जाते हैं। वही दर्शनशास्त्री, पादरी और नृप संपूर्ण रूप से समाज पर अपना एकाधिकार कायम कर लेते हैं । वे स्वतंत्रता का आनन्द उठाते हैं जो कि संपूर्ण प्रक्रिया की समझ और नियंत्रण पर आधारित है। अन्य इस आजादी को खो बैठते हैं । वे अब जनजाति के जिम्मेवार सदस्य नहीं रहे बल्कि विशाल विरासत के एकाकी ग्रामीण या सामंतवादी ढाँचे में बिना अधिकार वाले गुलाम या कृषक हैं। उनके जीवन पर दिन-प्रतिदिन बाहरी बलों का कब्जा होने लगता है जो कि उनके नियंत्रण से परे की बात है। इस प्रकार श्रम विभाजन से विसंबधन पैदा होता है।

**बॉक्स 17.4: उत्पादन का पूंजीवादी तरीका**

पूंजीवाद पूर्व के समाजों और पूंजीवाद द्वारा विकसित समाज के नये स्वरूपों में श्रम विभाजन के बीच बुनियादी अंतर है। पूर्व-पूंजीवादी समाजों में हम श्रम के सामाजिक विभाजन की बात कर सकते हैं। विविध सामाजिक और आर्थिक गतिविधियाँ विविध शिल्पों में बंटी हुई हैं। यह सामाजिक उत्पादन को विशिष्ट बनाता है ताकि विविध शिल्प विविध वस्तुओं का उत्पादन कर सकें। लेकिन उत्पादन का पूंजीवादी तरीका श्रम के सामाजिक विभाजन को प्रबल करते हुए श्रम के तकनीकी विभाजन को भी पेश करता है जो किसी एक विशिष्ट शिल्प और किसी वस्तु के उत्पादन को यथासंभव और लाभप्रद ढंग से विविध गौण प्रकार्यों में बांटता है। पुरानी

निर्मित विविध वस्तुओं के बुनकर, बढ़ई। पूंजीवादी में औद्योगिक कामगार गौण श्रमिक बन गए हैं जो निजी तौर पर अब वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते बल्कि साझे रूप में मशीनों और कामगारों के संपूर्ण संघ का मात्र एक भाग हैं। यह प्रक्रिया एक स्वामी -पूंजीवादी के नियंत्रण के अंतर्गत एक कार्यशाला में निजी कारीगर के सहयोग से शुरू हुई। ये अभी भी समग्र समुदाय का निर्माण करते हुए पहले की तरह काम कर रहे थे। लेकिन यह निदेश, नियंत्रण और प्रबंधन की शुरुआत थी।

विनिर्माण के अगले चरण मे श्रम का तकनीकी विभाजन शुरू होता है। प्रत्येक कामगार को कुछ विशेष कार्य सौंपे जाते हैं जिनका वह विशेषज्ञ बन जाता है। इससे श्रम शक्ति का सोपानक्रम विकसित होता है जो सर्वाधिक कुशल से अकुशल की ओर उन्मुख होता है। प्रबंधन का महत्व पहली से अधिक हो जाता है। नियंत्रण के अलावा यह कार्य की संकल्पना बनाने और योजना बनाने के कार्य भी अपने हाथों में ले लेता है। कामगारों को जो कार्य सौंपा जाता है, वह उन्हें व्यावहारिक रूप से पूरा करना पड़ता है। लेकिन जब तक वे अपने काम में कुशल बने रहते हैं तब तक उन्हें अपने काम की सीमाओं में आजादी और नियंत्रण की छूट मिली रहती है।

अतः 16वीं शताब्दी के इस समय में उत्पादनकारी कार्य की विशेषता मे तीन बुनियादी परिवर्तन हुए:

1. पूंजीवाद प्रबंधन तानाशाही तरीके से श्रम पर कड़ा अनुशासन लागू करता है। पुराने कारीगरो को अपनी लय और काम की अपनी शैली का चयन करने का अधिकर था। कर्मशाला और विनिर्माण में एक बार धकेले जाने के बाद उन्हें शासी पूंजीपतियों की इच्छा के सामने घुटने टेकने पड़े। सही ढंग से नियंत्रित करने का अर्थ है, घोड़े को अपनी गति से दौड़ाना और उसे प्रबंधक के कार्य पूरे करने के लिए बाधित करना और नियंत्रण सभी प्रबंधन कार्यों की प्रमुख संकल्पना है।
2. पूंजीपति प्रबंधन के अंतर्गत बुनियादी विभाजन भी विकसित होता है जो कार्य की संकल्पना शक्ति और निष्पादन शक्ति को अलग करता है। यह शक्ति गौण कामगारो के विकास से प्रदान की जाती है जो कि अब उत्पादन की समग्र प्रक्रिया से संबद्ध नहीं है।
3. लाभ के लिये पूंजीवादी प्रवृत्ति सर्वप्रथम अकुशल श्रम को सृजित कर मुनाफे की ओर पहला कदम रखते हैं अर्थात ऐसे कामगारों को बनाना जो जीवन भर सस्ता अकुशल श्रम करने के लिए बाधित कर दिए गए हैं।

श्रम के सामाजिक विभाजन में, उत्पादको को शायद समग्र समाज से अलग कर दिया गया हो लेकिन फिर भी कार्य में अर्थपूर्ण आत्मसिद्धि की संभावना अभी भी बनी हुई है। श्रम के तकनीकी विभाजन में विसंबंधन में स्वयं श्रम की प्रक्रिया शामिल होती है, सामाजिक श्रम विभाजन समाज को उपविभाजित करता है जबकि तकनीकी श्रम विभाजन मनुष्यों को उप-विभाजित करता है।

ब्रेवरमैन दर्शाता है कि यह पूंजीवाद है जो सबसे पहले कौशलों की इस दुर्लभता को उत्पन्न करता है:

श्रम प्रक्रिया में प्रत्येक चरण को यथासंभव विशिष्ट ज्ञान और प्रशिक्षण से अलग करके साधारण श्रम तक सीमित कर दिया जाता है। इसी बीच कुछ ऐसे लोग जिनके लिए विशिष्ट ज्ञान और प्रशिक्षण को आरक्षित किया जाता है उन्हें जहाँ तक संभव है साधारण श्रम के दायित्वों से मुक्त कर दिया जाता है। इस तरह सभी श्रम प्रक्रमों को एक संरचना दी जाती है जो इसके चरम बिंदु के रूप में उनको ध्रुवित करती है जिनका समय हमेशा मूल्यवान है और उन्हें भी जिनका समय कोई विशेष महत्व नहीं रखता। यह शायद पूंजीवादी श्रम विभाजन का सामान्य नियम कहलाएगा।

### क) वास्तवीकरण (Objectification)

मार्क्स पूंजी 1 के अध्याय XV में श्रम पर मशीनरी और आधुनिक उद्योग के प्रभाव का विश्लेषण करता है। वह दर्शाता है कि किस तरह पूंजीवाद के अंतर्गत प्रौद्योगिकी का विकास बेशी मूल्य के

अधिकतम उत्पादन की ओर उन्मुख है और किस तरह यह पूंजीवादी श्रम विभाजन के आधार पर कामगार को जीवनहीन तंत्र के जीवित उपांग मे परिवर्तित करता है।

शिल्पकला और विनिर्माण में, कामगार साधन का प्रयोग करता है जबकि फैक्टरी में मशीन उसका प्रयोग करती है। शिल्पकला में श्रम के यंत्र की गति उससे आगे बढ़ती है जबकि फैक्टरी में उसे मशीन की गति का अनुसरण करना ही पड़ता है। विनिर्माण के क्षेत्र में कामगार जीवंत तंत्र के भाग हैं। फैक्टरी में जीवनहीन तंत्र होता है जो कामगार के नियंत्रण से परे की बात है। कामगार केवल इसका एक जीवित उपांग बन जाता है।

मशीनरी की बुनियादी विशेषता है कि यह कामगार के हाथों से औजार को हटा कर तंत्र में फिट कर देती है जो कि फिर कामगार के नियंत्रण के बिना स्वतः काम करना शुरू कर देता है। यह शोषण के लिए नये रास्तों को खोल देता है और सबसे महत्वपूर्ण है कि इससे कामगार का और अधिक अवक्रमण होता है क्योंकि इससे उत्पादन की बौद्धिक शक्तियाँ मानव श्रम से अलग होती हैं और यह शक्तियाँ श्रम पर पूंजी की ताकत को हावी कर देती हैं। अतः मशीनरी तब बन जाती है:

अधिकांशः कामकाजी आबादी के लिए, स्वतंत्रता का स्रोत न होकर गुलामी की जंजीर बन जाती है जिससे श्रमिक इस पर हावी नहीं हो सकता बल्कि मददहीन बन जाता है। इससे श्रमिक का अनुभव विस्तृत नहीं होता बल्कि ऐसे अंधे चक्र में घूमता है जिसमें मशीन विज्ञान का वरदान है और कामगार की कोई अहमियत नहीं।

**अभ्यास 17.3**

'वास्तवीकरण' की प्रक्रिया की चर्चा कीजिए। उत्पादन प्रक्रिया पर यह क्या प्रभाव छोड़ता है? सोचिए और अपनी डायरी में इसका उत्तर लिखिए।

तकनीकी भाषा में यह कौशल आधारित प्रक्रमों से श्रम का विज्ञान आधारित प्रक्रमों की ओर रुख बदलना है। इससे कामगारों की स्थिति बदतर बनती है और यह विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास का अनिवार्य परिणाम है लेकिन यह पूंजी के उद्देश्य के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अधीनीकरण का परिणाम है। मार्क्स बारंबार कामगार के विसंबंधन पर ध्यान केंद्रित करता है जो आधुनिक पूंजीपति, उद्योग की विशाल मशीनरी का सामना करता है और इसके सामने स्वयं को शक्तिहीन अनुभव करता है। क्योंकि निर्जीव श्रम जीवित श्रम पर राज करता है। कामगार का मशीनरी को देखने का अलग नजरिया है। वह मशीनरी को संपदा का प्रतिनिधि समझता है और जहाँ पूंजीपति की पूंजी और वैज्ञानिकों की उत्कृष्ट समझबूझ की तुलना में वह खुद को दुर्बल और बेसमझ समझता है,

जिसका सामना उसे करना पड़ता है वह दरअसल 'विशिष्ट श्रम' है अर्थात पिछले श्रम का परिणाम। पूर्व-पूंजीपति समाज में उत्पादक, उत्पादन के ऐसे साधनों से नहीं जूझता था जो उस पर हावी हों या बाहरी शक्ति के रूप में उसे चुनौती दें।

अतः कामगार पर पूंजीपति का शासन ऐसा है जैसे मनुष्य पर वस्तुओं का शासन, निर्जीव श्रम का जीवित पर उत्पादन का उत्पादक पर शासन। हम यहाँ जिस बात से जूझ रहे हैं वह मनुष्य का अपने खुद के श्रम से अलग हो जाना या विमुख हो जाना है। उस हद तक कामगार पूंजीवादी के आरंभिक बिंदु से उच्चतर स्थान पर है, क्योंकि पूंजीपति की जड़ें विसंबंधन की प्रक्रिया में हैं और उसे इसमें पूर्ण तुष्टि मिलती है। जबकि शुरुआत से कामगार वह पीड़ित व्यक्ति है जो एक विद्रोही के रूप में इससे जूझता है और गुलामी की प्रक्रिया के रूप में इसका अनुभव करता है।

**बॉक्स 17.5: मार्क्स का कार्यनीतिशस्त्र**

मार्क्स के अनुसार कार्य मनुष्य और उसकी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति होना चाहिए। काम ऐसा हो जिससे वह प्रेम करे और इसे करने में उसे आनंद महसूस हो। उत्पादन के पूंजीवादी तरीके ने इस कार्य के अर्थ और प्रकृति को विकृत कर दिया है। कार्य अब अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि एसी गुलामी है जिसके अधीन रहकर श्रमिक उत्पीड़ित रहता है। मनुष्य को वस्तु की तुलना में निम्न और तुच्छ माना जाता है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधन द्वारा अर्जित संपदा पर एक ही वर्ग अर्थात भूपति और पूंजी का अधिकार होता है। अतः पूंजीवाद के विकास होने के साथ-साथ कामगार का महत्व भी धीरे-धीरे कम होने लगता है। इससे वस्तुवीकरण का जन्म होता है जहाँ कामगार की वस्तु की तुलना में कोई अहमियत नहीं होती और इसके फलस्वरूप वह अपनी निजी पहचान खो बैठता है। मार्क्स निम्नलिखित शब्दों में श्रम के विसंबधन का सार प्रस्तुत करता है:

पहला कि श्रम कामगार से अलग है अथात यह उसका अपना अनिवार्य भाग नहीं है। अर्थात वह अपने काय से संतुष्ट नहीं है बल्कि नाखुश है, अपनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा को स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं करता बल्कि अपने शरीर को तो वश में रखता है लेकिन अपने मस्तिष्क को तबाह करता है। कामगार इसलिए हमेशा खुद को अपने काम से अलग महसूस करता है और अपने काम में विमुख रहता है। वह चैन महसूस करता है जब काम नहीं कर रहा होता और जब काम करता है तब चैन महसूस नहीं करता। उसका श्रम इसलिए स्वैच्छिक नहीं है बल्कि बलात् श्रम है। यह इसलिए उसकी आवश्यकता की तुष्टि नहीं है, यह मात्र उसकी बाहरी जरूरतों की तुष्टी का साधन है। इसका विसंबंधन चरित्र इस बात में स्पष्ट रूप से मिल जाता है कि जैसे ही कोई शारीरिक या दूसरी मजबूरी नहीं रहती श्रम को परे कर दिया जाता है। बाह्य श्रम जिसमें मनुष्य स्वयं को विमुख करता है, वह आत्म-बलिदान का श्रम है। अंत में, कामगार के लिए श्रम की बाहरी विशेषता का अर्थ है कि यह उसका अपना नहीं है बल्कि किसी और का है। उसमें वह स्वयं से संबंधित नहीं है बल्कि किसी और से जुड़ा हुआ है। जैसे धर्म में मानव कल्पना मानव मस्तिष्क और मानव हृदय की स्वाभाविक गतिविधि अलग ही होती है, वह व्यक्ति के नियंत्रण में काम नहीं करती, उसी तरह कामगार की गतिविधि उसकी स्वैच्छिक गतिविधि नहीं है। यह किसी और से जुड़ी हुई है, यह मनुष्य का आत्म-हनन है।

आधुनिक समाज में विसंबंधन अपरिहार्य है क्योंकि बेहतर प्रौद्योगिकी की माँग और बढ़ते उपभोक्तावाद के साथ मनुष्य एक या अन्य किस्म में निरंतर विमुख होते रहेंगे। श्रम के बढ़ते विभाजन और विशेषज्ञो के उद्भव ने मनुष्य को उत्पाद पर निर्भर बना दिया है और ऐसा न हीं है कि विसंबंधन की यह परिघटना गतिहीन या पीछे हटने वाली बन जाए।

## 17.5 सारांश

विसंबधन पूंजीवाद के सामाजिक और आर्थिक बंदोबस्त में निहित वस्तुनिष्ठ दशा/शर्त है। श्रम विभाजन निजी संपत्ति संबंधों के उद्भव और द्वंद्वकारी वर्गों के आविर्भाव पर मार्क्स की विस्तृत समाजशास्त्रीय चर्चा से उसके विसंबंधन संबंधी विचारों को मुक्त करना असंभव है। मार्क्सवादी शब्दावली में विसंबंधन वस्तुगत दृष्टि से प्रमाणनीय परिस्थिति है जो कि पूंजीवादी उत्पादन के विशिष्ट सामाजिक संबंधों में निहित है। मार्क्स के लिए, मानव इतिहास मात्र वर्ग संघर्ष का इतिहास ही नहीं है बल्कि मनुष्य का वर्धित विसंबंधन भी है।

## 17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हरबर्ट मर्कस, 1967. रीजन एंड रिवोल्यूशन. लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल.

मार्क्स, कार्ल, 1977. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844. प्रोग्रेस पब्लिशर्स

रेमंड, एरॉन. मेन करेंट्स इन सोसियोलॉजिकल थाउट्स, वाल्यूम 1, पेंगुइन।

इकाई 18

# संप्रभुता

**इकाई की रूपरेखा**

18.1 प्रस्तावना

18.2 संप्रभु राज्यों का उदय

18.3 संप्रभुता की संकल्पनाएं

18.4 कानूनी और राजनीतिक संप्रभुता

18.5 आंतरिक संप्रभुता

18.6 बाह्य संप्रभुता

18.7 सारांश

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद; आपः

- संप्रभु राज्य के उदय का वर्णन कर सकेंगे;
- कानूनी और राजनीतिक संप्रभुता का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- आंतरिक और बाह्य संप्रभुता का अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 18.1 प्रस्तावना

संप्रभुता, राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है जो राज्य को समाज में इसी प्रकार की अन्य राजनीतिक संगठनों तथा अंतरराष्ट्रीय समाज इकाइयों से भिन्न बनाती है। संप्रभुता के विचार का उद्‌गम और इतिहास आधुनिक समय के क्षेत्रीय राज्यों के उद्‌गम और विकास से अंतरंग रूप से जुड़ा हुआ है। इसी कारण संप्रभुता के अर्थ में इतिहास के साथ बदलाव आया है। इस सिद्धांत के अनेक अर्थ होने के बावजूद संप्रभुता का एक गहन अर्थ है। प्रख्यात राजनीतिक विज्ञानी हिन्सले ने संप्रभुता के गहन अर्थ को पकड़ा है जब वह कहता है कि 'संप्रभुता का अभिप्राय है कि राजनीतिक समुदाय में अंतिम और पूर्णरूपेण राजनीतिक सत्ता निहित है और इसके अतिरिक्त कहीं कोई अंतिम तथा पूर्ण सत्ता अस्तित्व में नहीं है। अतः संप्रभुता, सत्ता से संबंधित मान्यता है। हम कह सकते हैं कि घरेलू और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आधुनिक राजनीतिक जीवन की सत्ता ही संप्रभुता है। सत्ता, शासन करने का अधिकार है। संप्रभुता की मान्यता है कि किसी राज्य की सरकार सर्वोच्च एवं स्वतंत्र होती है। यह अपने अधिकार क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति से सर्वोच्च एवं अन्य शासक शक्तियों से स्वतंत्र होती है।

शैक्षिक क्षेत्र में संप्रभुता का सिद्धांत विवादित रहा है। यह स्वतंत्रता और स्वायतत्ता के संदर्भ में इसके परस्पर विरोधी ढंग से प्रयोग के कारण ही है। स्वतंत्रता सत्ता और अधिकार की सूचक है तो स्वायत्तता शक्ति और क्षमता की सूचक है। जहाँ इतिहासकार, अंतरराष्ट्रीय विधिवेता और राजनीतिक विचारक पहले सिद्धांत (स्वतंत्रता) का प्रयोग करते हैं वहीं राजनीतिक अर्थशास्त्री समाजशास्त्री दूसरे (स्वायतत्ता) का प्रयोग करते हैं। राजनीतिक विचार में मूल सिद्धांतों का विश्लेषण करते समय यह ध्यान में रहना चाहिए कि संप्रभुता

के प्रति दो बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण हैं। इस प्रारंभ बिंदु से यह इकाई आधुनिक क्षेत्रीय राज्यों के उदय का परीक्षण करती है जिसके साथ यह सिद्धांत जुड़ा हुआ है। इसके बाद हम यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार संप्रभुता का सिद्धांत जो मूलतः शासकों से जुड़ा हुआ था, वह शासितों अथवा लोगों से जुड़ गया। राजनीति विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय संबंधों में इस सिद्धांत का प्रयोग करने के दो परस्पर विरोधी तरीकों की भी हम जाँच करेंगे।

## 18.2 संप्रभु राज्यों का उदय

संप्रभुता, राजनीतिक जीवन का संवैधानिक प्रबंध है। इस प्रकार यह कृत्रिम और ऐतिहासिक है। वास्तव में संप्रभुता का विचार 15वीं शताब्दी के बीच यूरोप में आधुनिक क्षेत्रीय राज्यों के उदय से पूर्व अस्तित्व में नहीं था। संप्रभुता का विचार प्राचीन ग्रीक दुनिया का अंग भी नहीं था। वहाँ नगर राज्य अथवा पोलिस "राज्य" और "समाज शासित" के बीच भेद नहीं करते क्योंकि यहां शासक नागरिक थे। नागरिक, राज्य सत्ता के आधीन भी थे और सार्वजनिक कानून और नियम बनाने वाले भी थे।

रोमन साम्राज्य ने ग्रीक नगर राज्यों को धूमिल कर दिया और एक नए प्रकार के शासन की स्थापना की जिसमें एकल केंद्रीय सत्ता का शासन था। सम्राट की पसंद के पीछे कानून की शक्ति होती थी। संप्रभुता के विचार को कानून बनाने वाली एक अलग शक्ति के रूप में स्थापित किया गया परंतु यह रोमन साम्राज्य तक ही सीमित रहा।

जब रोम साम्राज्य के बाद सामन्तवादी व्यवस्था के पूरी तरह विकेंद्रीकृत रूप का आगमन हुआ तब संप्रभुता का विचार क्रमशः ईसाई धर्म के उदय एवं विकास के साथ उसमें विलीन होता गया। इस अवधि में ईसाई धर्म धीरे-धीरे दो धार्मिक शक्तियों (i) पोप, (ii) पवित्र रोमन साम्राज्य पर निर्भर हो गया था। सत्ता और विवेक का स्रोत इस दुनिया से उस दुनिया के प्रतिनिधियों के पास स्थानांतरित हो गया। ईसाई धर्म के दृष्टिकोण के मूल में यह विश्वास निहित था कि भगवान की इच्छा को स्वीकार करने में ही भलाई है। प्रकृति और धर्म के नियमों को राज्य के नियमों से बेहतर माना जाने लगा। जैसा कि बेन और पीटर ने कहा है कि "सामन्तवादी दुनिया में मूल सिद्धांत राज्य नहीं अपितु कानून है। ऐसा कानून जिसे राजनीतिज्ञों ने नहीं बनाया अपितु जो इस सार्वभौमिक व्यवस्था का एक अंग है और जिसे रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के अध्ययन से खोजना है। सम्राट, परिषदों और न्यायाधीशों ने इसे खोजा और रूप दिया है लेकिन वे इसे बना नहीं सकते क्योंकि नया कानून बनाने का अर्थ होगा अपनी इच्छा से एक नया दायित्व लादना और यह काम केवल ईश्वर (भगवान) ही कर सकता है।

**बॉक्स 18.1: आधुनिक युग**

मध्यकालीन व्यवस्था को दो आंदोलनों, नवजागरण और पुनर्निर्माण ने कमजोर किया जिससे आधुनिक युग का प्रारंभ हुआ। जबकि नवजागरण मानववाद तथा रोमन कानूनों के आधार एवं सिद्धांतों की पुनः खोज की ओर ले गया तो पुनर्निर्माण ने पूरे यूरोप में पोप के शक्ति एवं अधिकार क्षेत्र को चुनौती दी। चर्च और रोमन साम्राज्य की घटती शक्ति का लाभ राजकुमारों ने उठाया और उन्होंने सामन्तवादी रईसों और सामन्तों पर अपना अधिकार और शक्ति जताई और केंद्रीकृत साम्राज्यों को स्थापित किया। इंग्लैण्ड में यह ट्यूडर वंश के नेतृत्व में हुआ, फ्रांस में बार्बन्स के तथा स्पेन में हब्सबर्ग्स के नेतृत्व में किया गया। पहली बार धर्मनिरपेक्ष शासक सर्वोच्च सत्ता प्रयोग करने का दावा करने योग्य हुए और उन्होंने यह सब संप्रभुता की नई भाषा के अनुरूप किया।

यूरोप में धीरे-धीरे क्षेत्रीय राज्य बढ़ते जा रहे थे जिसके परिणामस्वरूप पूरे विश्व में यह व्यवस्था फैल गई तथा समकालीन विचारकों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया और इसे

वैध बताया। यूरोप में क्षेत्रीय राज्यों के निर्माण के प्रारंभिक वर्षों में दो समकालीन दार्शनिकों मैक्यावली तथा मार्टिन लूथर ने क्षेत्रीय राज्यों की संप्रभुता के विचार को वैधता प्रदान की। यद्यपि उन्होंने संप्रभुता के विषय में कुछ विशेष अथवा विस्तार से नहीं लिखा है परंतु उनके विचारों का इस सिद्धांत (संप्रभुता) के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मैक्यावाली (1469-1527) ने नवजागरण काल के दौरान अपने देश इटली में नगर राज्यों की राजनीति को देखते हुए वर्णन किया कि किसी उभरते हुए गणतंत्र के विकास के लिए एक राजकुमार को क्या-क्या करना चाहिए, जिसने उसे अपनी सीमा क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता प्रदान की है। उसका कहना था कि शासक को प्राकृतिक कानून, कैनन कानून, ईश्वरीय सिद्धांतों और ईसाइयत को प्रसन्न करने वाले नियमों अथवा शक्तियों के बंधन से मुक्त होना चाहिए। इसके स्थान पर शासक को अच्छाई न करने और बुराई करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा इसलिए नहीं कि बुराई अब बुराई नहीं रही अपितु इसलिए कि कभी-कभी सशक्त और सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना के लिए ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। शासक का उत्तरदायित्व ही उसका उद्देश्य है: (raison d'etat) शासक अपने राज्य की सीमा क्षेत्र में सर्वोच्च है और इस अकेली इकाई की भलाई के लिए उत्तरदायी है।

संप्रभुता के विषय में मार्टिन लूथर का दृष्टिकोण अलग है। पुनर्निर्माण संबंधी उसका (लूथर) धर्मज्ञान कैथोलिक चर्च को उसकी कई शक्तियों, न केवल धर्म संबंधी अपितु सांसारिक शक्तियों से भी विमुक्त करना चाहता था। लूथर का मानना था कि ईश्वरीय सत्ता के आधीन दो प्रकार की सरकारों वाली दो व्यवस्थाएं होती हैं। ईश्वरीय भावना का क्षेत्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें ईसा-मसीह श्रद्धालुओं (विश्वासकर्ता) की आत्मा से जुड़े रहते हैं। 'विश्व' धर्मनिरपेक्ष समाज की ऐसी व्यवस्था है जहां सरकारी अधिकारी सरकारी संस्थाओं को कानून और दंड के सहारे चलाते हैं। दोनों ही क्षेत्र विश्वासकर्ताओं का भला करते हैं यद्यपि दोनों का भाव क्षेत्र अलग-अलग है। लूथर का तर्क था, इन दोनों क्षेत्रों को अलग-अलग ढंग से संगठित एवं व्यवस्थित किया जाना चाहिए। चर्च के नेतृत्व को आध्यात्मिक कार्य करने चाहिए और धर्मनिरपेक्ष शासकों, राजकुमारों, राजाओं और न्यायाधीशों को सांसारिक कार्यों को करना चाहिए। इस प्रकार संप्रभुता पर चर्चा किए बिना लूथर और उसके अनुयाइयों ने शासकों के लिए इससे संबंधित सब कुछ निश्चित कर दिया था।

## 18.3 संप्रभुता की संकल्पनाएं

फ्रांस के दार्शनिक और विचारक जोन बोदिन (1529-96) संप्रभुता के विचार को विस्तृत रूप से प्रचारित करने वाले पहले विद्वान थे। जिस समय फ्रांस धार्मिक और सामाजिक विवादों से घिरा हुआ था, उस समय मैक्यावली की भांति बोदिन ने यह विश्वास व्यक्त किया कि इस प्रकार के सभी विवादों को तब सुलझाया जा सकता है जब एक असीमित उच्च सत्ता को स्थापित करना संभव हो जो सभी धार्मिक एवं परम्परागत सत्ता केंद्रों को नकारने में सक्षम हो। तब उसने इस सिद्धांत और विचार को विकसित किया जिसे संप्रभुता के आधुनिक सिद्धांत का उत्कृष्ट वर्णन माना जाता है। उसका कहना था कि प्रत्येक राजनीतिक समुदाय अथवा राज्य में एक दृढ़ संकल्प संप्रभु सत्ता (शक्ति) होनी चाहिए जिसकी शक्तियां निर्णायक हों और जिसकी सत्ता को बोदिन ने 'सिक्स बुक्स ऑफ ए कॉमनवेल्थ' (1576) में कानून बनाने वाली दृढ़ और अविभाजित शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। उसके अनुसार कानून उच्चतम सत्ता (संप्रभु शक्ति) की संप्रभु शक्ति के प्रयोग के अंतर्गत दिए गए आदेश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संप्रभु शक्ति दूसरों के आधीन नहीं हो सकती क्योंकि संप्रभु शक्ति ही अपनी प्रजा के लिए कानून बनाती है।

यद्यपि बोदिन ने निरंकुश शासन की वकालत नहीं की और न ही इसे न्यायोचित ठहराया अपितु यह दावा किया कि संप्रभु शासक प्राकृतिक कानून अथवा ईश्वरीय इच्छा के रूप

में उच्चतर सत्ता के समक्ष बाध्य है। इस प्रकार सांसारिक शासकों की सत्ता ईश्वरीय सत्ता के आधीन है।

बोदिन का मानना था कि संप्रभु शक्ति तभी ठीक प्रकार से स्थापित की जा सकती है जब राजनीतिक व्यवस्था को शासक और शासित, दोनों से मिलकर बना हुआ माना जाए जिन्हें पिछले विश्वास और राजनीति एकजुट करने में विफल रही है। (हिन्सले, 86)

सम्राट की संप्रभुता की अनिवार्यता को स्थापित करने में पहले से ही व्यस्त बोदिन का ध्यान शासक और शासित दोनों के मेल से संप्रभु शक्ति स्थापित करने में अंतर्निहित कठिनाइयों की ओर नहीं गया। सामाजिक समझौते (करार) के सिद्धांत को सोशल कॉंट्रेक्ट मानने वाले तीन प्रमुख विचारकों — हाब्स, लॉक और रूसो ने इस विषय पर काम तो किया परंतु वे संप्रभु शक्ति की प्रकृति (स्वभाव) तथा सरकार और राज्य की वैधता के आधार मानदंडों पर सहमत नहीं थे। राज्य की संप्रभुता के विषय में उत्कृष्ट विचार रखने वाले हॉब्स एक छोर पर थे तो दूसरे पर रूसो थे, जिसने संप्रभुता के सिद्धांत को विकसित किया।

इंग्लैण्ड में गृह युद्ध और राजनीतिक अस्थिरता के काल में लिखते हुए थाम्स हॉब्स ने बोदिन की भांति एक सर्व शक्ति सम्पन्न संप्रभु सत्ता की अनिवार्यता को स्थापित करने का प्रयास किया जो शांति एवं सुविधापूर्ण जीवन की शर्तों को पूरा कर सके। परंतु उसने संप्रभु और प्रजा के बीच सत्ता के अद्वितीय संबंध तथा एक अद्वितीय राजनीतिक शक्ति को इस तर्क पर स्थापित किया कि सर्वशक्ति संपन्न संप्रभुता तभी स्थापित हो सकती है जब लोग सभी चीजों पर अपने अधिकार का त्याग कर दें। हाब्स के अनुसार संप्रभुता समुदाय के प्रत्येक सदस्य का प्रत्येक दूसरे सदस्य के साथ अपने सभी अधिकारों एवं शक्तियों को एक व्यक्ति अथवा एक संस्था के हाथों सौंपने के पारस्परिक समझौते पर आधारित थी। क्योंकि संप्रभु शक्ति इस समझौते में शामिल नहीं है इसलिए समझौता करने वाले और संप्रभु शक्ति को बनाने वाले संप्रभुता को मिटा नहीं सकते। इससे अधिक इस संप्रभु सत्ता का एकाधिकार था तथा इसे दमनकारी शक्ति प्रयोग करने का अधिकार भी था क्योंकि मनुष्य की आकांक्षाएं, लोभ, क्रोध और अन्य भावावेश इतने प्रबल हैं कि बिना शक्ति के सभी समझौते मात्र शब्द ही हैं और एक व्यक्ति को आबद्ध रखने की शक्ति नहीं रखते। इसलिए संप्रभु सत्ता की शक्ति स्थायी, अविभाजित और असीमित होती है। इस प्रकार संप्रभुता के विषय में हॉब्स की अवधारणा ने राज्य शक्ति के लिए एक मजबूत न्यायसंगत आधार प्रदान किया।

यदि हॉब्स ने संप्रभुता राज्य और शासकों को स्थानान्तरित की तो रूसो (1712 - 78) ने संप्रभुता को लोगों के लिए रखने का आग्रह किया। रूसो के विचार में संप्रभुता लोगों के बीच से पैदा होती है। नागरिकों को कानूनों और नियमों की केवल उस व्यवस्था के अनुपालन के लिए बाध्य किया जा सकता है जो उन्होंने सार्वजनिक भलाई को ध्यान में रखकर अपने लिए बनाए हैं। संप्रभु सत्ता लोग ही हैं जो अपने लिए नियम बनाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में शासित ही शासक होना चाहिए से राज्य के कार्य जन-साधारण के कार्यों से जुड़े होने चाहिए।

रूसो लोकतांत्रिक बहुमत के निर्णयों पर कोई सीमा लागू नहीं करते। जैसा कि बर्लिन (1969) ने कहा है कि समुदाय व्यक्ति की स्वतंत्रता को आसानी से नष्ट कर सकता है। इस प्रकार जहाँ हाब्स ने समाज और समुदाय की तुलना में राज्य को शक्तिशाली स्थान प्रदान किया वहीं रूसो ने समुदाय (बहुमत) को नागरिकों पर पूर्ण प्रभुत्व जमाने की स्थिति में रखा।

जॉन लॉक (1672 - 1704) ने राजनीतिक व्यवस्था के समग्र रूप में संप्रभुता की स्थिति पर पुनर्विश्वास व्यक्त करके शासक और शासित, राज्य और समाज को अलग-अलग

मानने की स्थिति का अतिक्रमण किया। संप्रभुता की इस अवधारणा में समुदाय, संप्रभुता का स्रोत है और राज्य इसे प्रयोग करने का साधन अथवा यंत्र है। लॉक के विचारानुसार राज्य का गठन जनता के सारे अधिकार राज्य को स्थानांतरित करने का सूचक नहीं है। जनता (प्रजा) कानून बनाने और लागू करने का अधिकार राज्य को सौंपती है परंतु यह सारी प्रक्रिया इस शर्त पर आधारित है कि राज्य अपने अनिवार्य कार्य "जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति" की रक्षा करता रहेगा। सर्वोच्च शक्ति अंततः लोगों (जनता) के पास रहती है जिनके पास शासकों और उस समय के शासन के रूप और प्रकार को बदलने तक का अधिकार होता है।

**अभ्यास 18.1**

संप्रभुता के संबंध में रूसो और लॉक के विचारों पर अपनी टिप्पणी दीजिए। अपने विचार एक कार्य पुस्तिका (कापी) में लिखिए।

रूसो और लॉक के विचारों की यूरोप में राजघरानों के शासन को समाप्त कर प्रतिनिध्यात्मक सरकारों के प्रचलन में महत्वपूर्ण एवं सशक्त भूमिका थी जो बाद में पूरे विश्व में होने लगा। यद्यपि संप्रभुता की अवधारणा का बाद का इतिहास विवाद और जटिलता से भरपूर है परंतु मोटे तौर पर यह सहमति है कि संप्रभुता किसी समुदाय की कानून बनाने और निर्णय लेने की सर्वोच्च शक्ति है, कि संप्रभुता का अंतिम स्रोत जनता है, कि संप्रभुता आवश्यक रूप से जनता द्वारा राज्य को सौंपी जाती है और जनता के नाम पर सरकार द्वारा प्रयोग की जाती है तथा इस राजनीतिक तंत्र की सुरक्षा के लिए संवैधानिक प्रबंध आवश्यक हैं (हेल्ड पृष्ठ-84)।

संप्रभुता की अवधारणाओं के वर्णन से स्पष्ट है कि एक दृढ़-संकल्प-शक्ति की आवश्यकता पर सहमति है, परन्तु सर्वोच्च शक्ति की प्रकृति (स्वभाव) के संबंध में मतभेद हैं कि क्या संप्रभुता एक वैधानिक शक्ति है अथवा चुनौतीरहित राजनीतिक शक्ति है। इस पर भी मतभेद है कि क्या यह राज्य में निहित है अथवा लोगों में। अगले खंडों में हम बाहरी संप्रभुता अथवा अंतरराष्ट्रीय संबंधों में संप्रभु राज्य की स्वतंत्रता और स्वायत्त स्थिति पर जाने से पूर्व उपरोक्त सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 18.4 कानूनी और राजनीतिक संप्रभुता

जैसा कि हमने देखा कि बोदिन संप्रभु उसे कहते हैं जो कानून बनाते हैं परंतु स्वयं उन कानूनों से ऊपर हैं। बोदिन के अनुसार कानून उच्चतम के आदेश से थोड़ा अधिक है और प्रजा को केवल उनका पालन ही करना है। दूसरी ओर हाब्स ने संप्रभुता को सत्ता के बजाय शक्ति के रूप में वर्णित किया है। उसने संप्रभुता को दमनकारी शक्तियों पर एकाधिकार के रूप में परिभाषित किया है और इस बात की वकालत की है कि यह शक्ति या तो एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की एक संस्था के हाथ में निहित होनी चाहिए। सत्ता और शक्ति पर बल देने में अंतर के कारण दो प्रकार की संप्रभुता — वैधानिक और राजनीतिक — का विकास हुआ।

वैधानिक संप्रभुता इस विश्वास पर आधारित है कि राज्य के कानून में ही अंतिम शक्ति निहित है। यह वैधानिक संप्रभुता है जिसमें सर्वोच्च शक्ति को वैधानिक सत्ता के रूप में परिभाषित किया जाता है। इसके विपरीत राजनीतिक संप्रभुता किसी भी रूप में वैधानिक सत्ता पर दावे पर आधारित नहीं है अपितु यह शक्ति के वास्तविक वितरण से संबंधित है जिसे यथार्थ संप्रभुता कहते हैं। इसलिए राजनीतिक संप्रभुता सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति से सम्बन्धित है जिसमें आज्ञा अनुपालन की योग्यता है क्योंकि दमनकारी शक्ति पर इसका एकाधिकार होता है।

इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि विश्लेषण करने पर दोनों अवधारणाओं में अंतर किया जा सकता है परंतु व्यवहार में दोनों परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हैं। अपने आप में कोई भी संप्रभुता का स्वतंत्र रूप नहीं है।

एक प्रकार से संप्रभुता में सदैव वैधानिक सत्ता प्रयोग करना सम्मिलित होता है अर्थात शक्ति को न केवल बल के कारण अपितु अधिकार के रूप में प्रयोग करने का अधिकार। संप्रभुता पर सभी प्रकार के प्रभावी दावों में वैधानिक पक्ष महत्वपूर्ण होता है। कभी भी कानून अपने आप अपना अनुपालन नहीं करवा सकता। समाज में हमेशा ऐसे लोग अथवा समूह होंगे जो राज्य के कानूनों की अवहेलना करेंगे और अपराध करेंगे। इसलिए राज्य के पास अनुपालन करवाने की योग्यता होनी चाहिए। वैधानिक सत्ता को शक्ति के प्रयोग से जोड़ा जाता है।

**बॉक्स 18.2: संप्रभुता की राजनीतिक अवधारणा**

सभी राज्य दमनकारी शक्तियों पर एकाधिकार चाहते हैं और अपने नागरिकों को इस अधिकार तक पहुंच पाने से रोकते हैं अथवा सीमित कर देते हैं। लेकिन बहुत ही कम शासक केवल बल प्रयोग के माध्यम से शासन करते हैं। लगभग सभी राज्य अपने नागरिकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि उन्हें शासन करने का अधिकार है। वैधानिक संप्रभुता प्राप्त करने के ऐसे प्रयासों ने कुछ हद तक संवैधानिक और लोकतांत्रिक सरकारें बनाने में योगदान दिया है। कुछ राज्य जैसे नाज़ी जर्मनी और पोल पाट के कोलम्बिया विशिष्ट प्रकार की राजनीतिक संप्रभुता स्थापित करने के बहुत करीब आए। उन्होंने अधिकांशतः अपना शासन दमन, जोड़-तोड़ और डराने-धमकाने की योग्यता के आधार पर किया। लेकिन वे अधिक समय तक नहीं चले। इन राज्यों ने भी वैधानिक सत्ता प्राप्त करने के लिए कई वैचारिक तंत्र खंड़ा करने के प्रयास किए।

इस प्रकार व्यवहार में संप्रभुता का अर्थ वैधानिक और राजनीतिक सत्ता, दोनों का होना है।

MADHYAM IAS

**संप्रभुता के लक्षण या विशेषताएं**

संप्रभुता के बाह्य पक्ष का परीक्षण करने से पहले संप्रभुता की अवधारणाओं से निकले संप्रभुता की विशेषताओं को सूचीबद्ध करना उपयोगी होगा। संप्रभुता की महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन नीचे किया गया है।

**निरपेक्षता**

संप्रभु की सत्ता समाज में अन्य संस्थाओं की तुलना में निरपेक्ष एवं असीमित है। यह किसी प्रकार के कानूनी अथवा अन्य बंधनों से मुक्त होने के कारण निरपेक्ष है। संप्रभु शक्ति द्वारा पारित कानून और निर्णय (राजाज्ञा) सभी नागरिकों के लिए बाध्य है। सामाजिक समूह तथा संगठन जैसे परिवार, ग्राम, परिषदें, क्लब, मजदूर संघ, व्यापार इत्यादि अपने नियम बना सकते हैं जिनमें अधिकार एवं शक्ति हो, परंतु वे यह सब केवल कानून द्वारा परिभाषित सीमा के भीतर ही किया जा सकता है। यदि संप्रभु इकाई पर किसी अन्य शक्ति का आंतरिक अथवा बाह्य नियंत्रण हो तो वह इकाई अथवा संस्था संप्रभु नहीं रहती।

**विशिष्टता**

राज्य की संप्रभु शक्ति विशिष्ट है क्योंकि कोई भी संगठन इससे मुकाबला करने की स्थिति में नहीं होता। एक राज्य में केवल एक ही संप्रभु शक्ति हो सकती है जो आज्ञापालन करवा सकती है। संप्रभुता राज्य की सीमाओं के भीतर अपने विरुद्ध अथवा समानांतर किसी शक्ति को स्वीकार नहीं करती।

**स्थायित्व**

संप्रभुता स्वयं स्थिर रहती है। जब तक राज्य है तब तक यह सत्ता का सर्वोच्च रूप है। सरकारों के परिवर्तन के बावजूद संप्रभुता बनी रहती है। एक बार संप्रभुता समाप्त हो जाए तो राज्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

**सार्वभौमिकता**

संप्रभु राज्य अपने अधिकार क्षेत्र में सभी व्यक्तियों और लोगों के समूहों पर अपनी अधिकार शक्ति का प्रयोग करता है। कोई भी व्यक्ति अथवा समूह कानूनी अधिकार के रूप में इस अधिकार क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

**अहस्तांतरणीय**

राज्य की संप्रभुता को हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। क्योंकि संप्रभुता राज्य के आवश्यक व्यक्तित्व का निर्माण करती है इसलिए संप्रभुता को राज्य से दूर करते ही राज्य नष्ट हो जाएगा। जैसा कि लायबर ने कहा है, 'संप्रभुता को उसी प्रकार राज्य से अलग नहीं किया जा सकता जैसे एक वृक्ष से अंकुरित होने का अधिकार छीन लेना या एक आदमी द्वारा अपने जीवन अथवा व्यक्तित्व को किसी अन्य को स्थानांतरित करना आत्म-हत्या के बिना संभव नहीं है।

**अविभाज्य**

एक राज्य में केवल एक ही संप्रभु शक्ति हो सकती है। संप्रभुता को विभाजित किए जाने का अर्थ है कि एक से अधिक राज्य अस्तित्व में हैं। यदि संप्रभु शक्ति को सरकारी मशीनरी की अलग-अलग शाखाओं द्वारा संयुक्त रूप से प्रयोग किया जाता है तो भी संप्रभुता समाज की अन्य संस्थाओं अथवा संगठनों पर दमनकारी शक्ति प्रयोग करने के रूप में अविभाज्य है। सरकार की एजेंसियां केवल संप्रभुता की वाहक हैं।

जैसा कि हमने इस इकाई के प्रारंभ में नोट किया था कि संप्रभुता के सिद्धांत को दो विरोधी तरीकों से प्रयोग किया गया है। आंतरिक संप्रभुता के रूप में इसका अभिप्राय है — राज्य के भीतर सत्ता का बँटवारा (वितरण) जिससे सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता और राजनीतिक व्यवथा में इसकी स्थिति को लेकर कई प्रश्न पैदा होते हैं। बाह्य संप्रभुता के रूप में यह अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में राज्य की भूमिका तथा अंतरराष्ट्रीय मंच पर स्वतंत्र और स्वायत्त रूप में इसमें कार्य करने की क्षमता है या नहीं से संबंधित है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ये दोनों, दो अलग प्रकार की संप्रभुता का वर्णन नहीं करते अपितु संप्रभुता के अलग पहलुओं का वर्णन करते हैं जो सदैव साथ-साथ और सर्वत्र होते हैं। संप्रभु शक्ति का राज्य की सीमा के भीतर तो प्रयोग किया ही जाता है लेकिन परिभाषा के अनुसार उन सब के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है जो इसकी स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं।

## 18.5 आंतरिक संप्रभुता

संप्रभुता के सिद्धांत पर इससे पूर्व भी चर्चा अधिकांशतः आंतरिक संप्रभुता की चर्चा ही थी। जैसाकि हमने देखा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का अधिकांशतः यह उचित निर्णय लेने का प्रयास रहा है कि संप्रभुता किस में निहित होनी चाहिए। प्रारंभिक राजनीतिक विचारक जैसे मैक्यावली, बोदिन और हॉब्स एक व्यक्ति अर्थात सम्राट के हाथों में संप्रभुता निहित होने में विश्वास रखते थे। एक व्यक्ति अथवा एक हाथ में संप्रभुता निहित होने का सबसे बड़ा गुण यह था कि तब संप्रभुता अविभाज्य होगी, यह एक आवाज में अभिव्यक्त होगी जिसे अंतिम अधिकार प्राप्त होंगे। लॉक, रूसो और बाद के विचारक संप्रभुता के इस विचार से सहमत नहीं थे। उन्होंने लोकप्रिय संप्रभुता के पक्ष में सम्राट की संप्रभुता को नकार दिया । उनका विश्वास था कि अंतिम सत्ता लोगों के बीच ही निहित होती है।

लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत को प्रायः आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का आधार माना जाता है।

यद्यपि ये विचारक संप्रभु कौन हो और क्या हो, के विषय पर एकमत नहीं थे तो भी इस बात पर सहमत थे कि संप्रभुता एक दृढ़ संकल्प निकाय में ही निहित होनी चाहिए और हो सकती है। यह संप्रभुता का परम्परागत सिद्धांत है जिसे संप्रभुता का एकात्मक सिद्धांत भी कहते हैं। लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत को स्वीकार करने वाले रूसो ने भी यह स्वीकार किया कि लोगों की इच्छा अविभाज्य है जिसे एक व्यक्ति द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है जिसे उसने विधायक का नाम दिया।

अनेकतावादी और लोकतांत्रिक सरकारों के युग में संप्रभुता के परम्परागत सिद्धांत की खूब आलोचना हुई है। जॉन फ्रिग्गस, हेरॉल्ड लास्की एवं अन्य अनेकतावादी विचारकों का कहना है कि एकात्मकवादी सिद्धांत निरंकुश अतीत से अंतः सम्बद्ध है इसलिए अवांछनीय है। वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी समाज में राजनीतिक शक्ति उस समाज में राज्य के अतिरिक्त कई समूहों और संस्थानों द्वारा संयुक्त रूप से निहित होती है। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कई समूह एवं संस्थान संयुक्त रूप से करते हैं। इससे अधिक वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि आज की आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में, जो नियंत्रण और संतुलन के आधार पर काम करती है, यह नियम लागू नहीं होता। अनेकतावादियों के लिए स्वतंत्र लोकतांत्रिक सिद्धांत, संप्रभुता के सिद्धांत के प्रखर विरोधी और विपरीत हैं।

यद्यपि अनेकतावादी "निर्वाचित" और "बहुमत" के खतरों के विरुद्ध सचेत करते है तथा संप्रभु शक्ति के प्रयोग को सीमित एवं प्रभावित करने का आह्वान भी करते हैं, परंतु उसी समय यह भूल जाते हैं कि एकात्मक स्थिति संप्रभुता का "कानूनी सिद्धांत" है। अर्थात केवल राज्य का ही अपने क्षेत्र में अनिवार्य और सार्वभौमिक अधिकार क्षेत्र है। केवल राज्य ही कानून तोड़ने वालों के विरुद्ध दमनकारी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। राज्य के अधिकार को सभी नागरिक मान्यता देते हैं। अन्य संगठन भी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं परंतु उनके अधिकार को सभी लोग स्वीकार नहीं भी कर सकते। लोग उनके कृत्यों के विरुद्ध उच्चाधिकारियों को अपील कर सकते हैं और राज्य ही उच्चतम शक्ति है। राज्य की संप्रभु शक्ति के विरुद्ध कहीं कोई अपील नहीं हो सकती।

1688 और 1789 की अंग्रेजी क्रांति और फ्रांसीसी क्रांति के बाद पहले पश्चिम में और बाद में विश्व के अन्य भागों में स्थापित प्रतिनिध्यात्मक और संवैधानिक सरकारों ने अलग-अलग रूप धारण कर लिए। प्रतिनिध्यात्मक सरकारों में संप्रभुता का स्रोत ढूंढ़ पाना विशेष रूप से कठिन है। जनता अथवा राज्य के नाम पर ब्रिटेन में संप्रभुता का प्रयोग कौन करता है — की खोज करते हुए अंग्रेज न्यायविद जान ऑस्टिन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह न तो ताज में निहित है और न ही जनता में अपितु यह संसद में निहित है। यह सर्वोच्च अंग है जो प्रत्येक के लिए बाध्य कानून बनाती है और स्वयं इससे (कानून से) मुक्त है और अपनी इच्छा से कानून को बदल भी सकती है। यह हम बाद में देखेंगे कि विधायी अथवा संसदीय सर्वोच्चता का यह विचार 19वीं सदी में ब्रिटेन में चल रही एक विशेष प्रकार की शासन व्यवस्था में सटीक बैठता था।

विधायी सर्वोच्चता का विचार संघीय राज्यों जैसे संयुक्त राज्य, कनाडा, आस्ट्रेलिया और भारत में उचित नहीं ठहरता क्योंकि यहां सरकारें दो स्तर पर बंटी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक कई स्वायत्त शक्तियों का प्रयोग करती हैं। संघात्मक शासन में प्रायः इन दो स्तरों — केंद्र और इसके राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन होता है। सांझा अथवा विभाजित संप्रभुता के विचार को विकसित करने में संघीय ढांचा एक अकेली और अविभाज्य संप्रभु शक्ति के सिद्धांत पर विश्वास से दूर हटता है। यह कहा जा सकता है कि सरकार के किसी स्तर को संप्रभु नहीं कह सकते क्योंकि संप्रभुता तो उस दस्तावेजी संविधान में निहित है जो प्रत्येक स्तर की शक्तियां निश्चित करता है। परंतु संविधान की व्याख्या करने का अधिकार

उच्चतम न्यायालय के पास है इसलिए यह तर्क भी दिया जा सकता है कि संप्रभुता उच्चतम न्यायालय के पास है। लेकिन उच्चतम न्यायालय को संविधान का एकमात्र उच्चतम निर्णायक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके द्वारा संविधान की की गई व्याख्या को मूल संविधान में संशोधन करके पलटा जा सकता है। इस दृष्टि से संप्रभुता उस संस्थान में निहित कही जा सकती है जिसे संविधान में संशोधन करने का अधिकार है। अमरीका के मामले में यह अधिकार कांग्रेस के दोनों सदनों के दो तिहाई बहुमत और अमरीका के राज्यों की विधायिका के तीन चौथाई बहुमत में निहित है। भारत के मामले में दोनों सदनों के दो तिहाई बहुमत और आधे से अधिक राज्यों के समर्थन में निहित है। विषय को और अधिक जटिल बनाने की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भारत में संप्रभुता अंततः भारतीय लोगों में ही निहित है। यह भारत के संविधान की प्रस्तावना में भी दर्ज है जिसके प्रारंभिक शब्द हैं — "हम भारत के लोग ..."। इन जटिलताओं के दृष्टिगत संघीय राज्यों में संप्रभुता के सिद्धांत ने बहुकोणीय रूप ले लिया है।

लम्बे समय से यह तर्क दिया जाता रहा है कि ब्रिटेन में वेस्टमिनिस्टर संसद के रूप में एक अकेली चुनौती रहित वैधानिक सत्ता अस्तित्व में है। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में संसद एक पुरुष को महिला में बदलने के अतिरिक्त सब कुछ कर सकती है। एकात्मक सरकार होने के नाते संसद की सत्ता को चुनौती देने के लिए वहाँ कोई विरोधी विधायिका नहीं है। सभी विधायी कार्य एक ही सरकार से होते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वास्तव में ब्रिटेन की संसद के पास न तो कानूनी और न ही राजनीतिक संप्रभुता है। इसकी कानूनी संप्रभुता को यूरोपियन यूनियन (संघ) की सदस्यता ने निपटा दिया है। यूरोपियन यूनियन का सदस्य होने के नाते यूरोपियन कानून के अनुरूप कानून बनाने के लिए तथा लक्समबर्ग स्थित यूरोपियन कोर्ट ऑफ जस्टिस के अधिकार क्षेत्र में होना ब्रिटेन की विवशता है। वास्तव में 1991 में यूरोपियन कोर्ट ने 1988 में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट को अवैध घोषित कर दिया था क्योंकि यह यूरोपियन कानून के अंतर्गत यूरोपीय समुदाय में वस्तुओं और व्यक्तियों के स्वतंत्र आवागमन के कानून के विरुद्ध था यदि इस स्थिति में भी ब्रिटिश संसद को वैधानिक संप्रभु कहा जा सकता है तो केवल इसलिए कि संसद के पास यूरोपियन समुदाय से अलग होने का अधिकार है। राजनीतिक दृष्टि से भी संसद ने कभी संप्रभुता का सुख नहीं पाया कि वह अपनी पसंद और इच्छा के अनुरूप कार्य कर सके। इसका व्यवहार अनेक संस्थानों जैसे मतदाता, संगठित हित समूहों विशेषकर जिनके पास वित्तीय एवं आर्थिक ताकत है, बड़े व्यापारिक साझीदारों, राष्ट्रीय संगठनों, अंतरराष्ट्रीय समझौतों और अन्य कई संस्थाओं से बाधित होता रहा है।

**अभ्यास 18.2**

क्या संप्रभुता राज्य में निहत है अथवा राजनीतिक समुदाय में? अन्य छात्रों और मित्रों के साथ चर्चा कीजिए।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि संप्रभुता किसी राज्य अथवा पूरे राजनीतिक समुदाय में निहित होती है। लोकतांत्रिक राज्यों में जटिल नियंत्रण और संतुलन के चलते तथा इन राज्यों पर आंतरिक और बाह्य व्यवधानों के कारण संप्रभुता की अवस्थापना का प्रश्न महत्वहीन हो गया है। केवल बाह्य संप्रभुता का मुद्दा अर्थात अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में, अन्य राज्यों के समक्ष स्वतंत्रता अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। हमें बाह्य संप्रभुता के इसी पक्ष पर केंद्रित होना चाहिए।

## 18.6 बाह्य संप्रभुता

यदि एक राज्य के अंदर से देखा जाए तो संप्रभुता सर्वोच्च सत्ता है और यदि बाहर से देखा जाए तो संप्रभुता स्वशासी सत्ता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य संप्रभुता का अभिप्राय

अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में राज्य के स्थान से है और इसलिए अन्य राज्यों से संबंध के विषय में स्वतंत्रता को संप्रभुता कहते हैं।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों में संप्रभुता और राज्य सत्ता एकाकार और पर्याय हो गए हैं। बाह्य संप्रभुता को संवैधानिक स्वतंत्रता के रूप में ग्रहण करना लाभदायक होगा। राज्य का अपना संविधान होता है — लिखित अथवा अलिखित, लोकतांत्रिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार का — जो इसे अन्य राज्यों से स्वतंत्र करता है। संवैधानिक स्वतंत्रता की दृष्टि से राज्य संप्रभुता का अर्थ अपने जैसी अन्य इकाइयों से स्वतंत्र होना होता है। जिस क्षण एक राज्य किसी अन्य राज्य से संवैधानिक संबंध बनाता है, उसी क्षण वह अपनी संप्रभुता खो देता है क्योंकि यह सब एक विस्तृत व्यवस्था के अंतर्गत होता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य पर कोई उच्चतर सत्ता नहीं है। संप्रभु राज्य का अपने क्षेत्र, अपने निवासियों, संसाधनों और उस क्षेत्र में घटने वाली घटनाओं पर पूर्णरूपेण अधिकार होता है।

**बॉक्स 18.3 : वेस्टफालियन अंतरराष्ट्रीय समाज**

वेस्टफालियन अंतरराष्ट्रीय समाज दो सिद्धांतों पर आधारित था। पहला सिद्धांत था कि राजा अपने राज्य क्षेत्र में सम्राट है। इस नियम के अनुसार संप्रभु किस अन्य उच्चतर सत्ता के आधीन नहीं होते। प्रत्येक राजा प्रत्येक अन्य राजा के समान है और स्वतंत्रता है। दूसरा सिद्धांत था कि राजा अपने राज्य क्षेत्र का धर्म निश्चित करता है। इस नियम के अनुसार बाहरी लोगों को धर्म के आधार पर संप्रभु अधिकार क्षेत्र में दखल देने का कोई हक नहीं है।

समकालीन राज्य व्यवस्था में संप्रभुता का आधार प्रायः वेस्टफालिया की शांति में खोजा जाता है अर्थात 1648 में तीस वर्षों के युद्ध को समाप्त करने वाली संधियों और समझौतों में तलाशा जाता है। यद्यपि यह सदियों में विकसित हुई जटिल प्रक्रिया का सरलीकरण है। 17वीं शताब्दी तक राज्य व्यवस्था की कुछ विशेषताएं ठोस रूप ले चुकी थीं।

संप्रभु राज्यों की व्यवस्था वेस्टफालिया में दो विस्तृत प्रकार से विजयी रही। पहले तो यूरोप में राज्य, संवैधानिक सत्ता की अनोखी प्रकार के रूप में प्रकट हुए और दूसरे इसने धार्मिक क्षेत्र में दखलान्दाजी को समाप्त कर दिया जो तब तक संप्रभु अधिकारों के उल्लंघन के रूप में प्रायः प्रयोग होता रहा था।

अपने क्षेत्र के लोगों और संसाधनों पर एकनिष्ट अधिकार के सिद्धांत को कई समझौतों और संधियों के माध्यम से नियमबद्ध किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 2 (4) में दर्ज है कि सदस्य राज्यों को अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों में किसी अन्य राज्य की राजनीतिक स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता के विरुद्ध बल प्रयोग अथवा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों से अलग किसी अन्य ढंग के प्रयोग से बचना चाहिए।

बाह्य संप्रभुता, अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मूल शर्त अराजकता — अर्थात राज्यों पर किसी उच्चतर सत्ता के न होने को निर्धारित करती है। अंतरराष्ट्रीय व्यवहार में कानून बनाने और उन्हें लागू करने वाली कोई संस्था नहीं है। अराजकता अथवा राज्यों पर उच्चतर राजनीतिक सत्ता के अभाव का अर्थ अव्यवस्था होना नहीं है। जब कि वास्तव में कोई अंतरराष्ट्रीय सरकार नहीं है तो भी अंतरराष्ट्रीय संबंधों में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए स्वीकृत नियम अवश्य हैं। एक-दूसरे के प्रति दायित्व से मुक्त राज्यों ने औपचारिक और अनौपचारिक पूरी नियमावली जैसी अंतरराष्ट्रीय कानून, कूटनीतिज्ञता और प्रभाव क्षेत्रों को मान्यता देने के नियमों को स्वीकार किया हुआ है।

राज्यों द्वारा स्वीकृत कई औपचारिक कानून कई क्षेत्रों और गतिविधियों में राज्यों की सक्रियता को सीमित करते हैं। राज्यों को शक्ति के असमान वितरण के कारण शक्तिशाली

राज्यों को कमजोर राज्यों की तुलना में कार्य करने की अधिक स्वतंत्रता होती है। इस कारण कुछ विद्वान संप्रभुता के नाश अथवा केवल महाशक्तियों के पास संप्रभुता होने की बात करते हैं। परंतु इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि संप्रभुता का अर्थ स्वायतत्ता अथवा कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं अपितु संवैधानिक स्वतंत्रता है। राजनीतिक और कानूनी संप्रभुता के बीच अंतर ही स्वायतता और स्वतंत्रता के बीच का अंतर है। हो सकता है कि राज्य जो करना चाहते हैं, उसे कर पाने की योग्यता को खो रहे हों परंतु उसे कर पाने का अधिकार सुरक्षित रहता है। यदि संप्रभुता को राजनीतिक शब्दावली की दृष्टि से समझा जाए तो यह कहा जा सकता है कि राज्य व्यवस्था के प्रारंभ से ही राज्यों को कार्य करने की आर्थिक स्वतंत्रता नहीं थी। परंतु यदि संप्रभुता को अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के मूल संगठनात्मक सिद्धांतों अर्थात संप्रभु राज्यों के इर्द-गिर्द गठित व्यवस्था के रूप में देखा जाए तो कुछ अधिक बदलाव नहीं आया है। राज्य की घरेलू नीतियों पर प्रतिबंध लगाने वाली अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धता वह होती है जिन्हें संप्रभु इकाई होने के कारण राज्य स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अधिकांश आधारभूत नियम, सिद्धांत और व्यवहार निरंतर राज्य संप्रभुता पर आधारित चले आ रहे हैं।

यद्यपि बाह्य संप्रभुता के सिद्धांत को बहुधा अंतरराष्ट्रीय कानून के मूल सिद्धांत के रूप में स्वीकार एवं प्रयुक्त किया जाता है, तो भी इसके बहुत से आलोचक हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जो राज्यों द्वारा अपने क्षेत्र, अपने लोगों और संसाधनों पर एकनिष्ठ अधिकार देने के कुपरिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। मानव अधिकारों की वकालत करने वाले समूह राज्यों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग, आतंकित करने और अपने ही लोगों को तहस-नहस करने के पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर राज्यों में दखलांदाजी की बात करते हैं। इनका आग्रह होता है कि राज्यों को मानवाधिकारों के सिद्धांत में अभिव्यक्त उच्चतर नैतिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। ऐसे सिद्धांतों को अंतरराष्ट्रीय कानूनों, विशेषतः संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार घोषणा पत्र 1948 में समाहित करने के प्रयास किए गए हैं। कुछ ऐसे आलोचक हैं जो संप्रभुता के तर्क को राष्ट्रीय संप्रभुता से बढ़कर आगे ले जाना चाहते हैं। बोडिन और हाब्स जैसे विचारक इस बात पर बल देते हैं कि अव्यवस्था और अराजकता का एकमात्र बदल संप्रभुता ही है। राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धांत का कठोर अनुपालन इसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भी ले आएगा। जिस प्रकार आंतरिक संप्रभुता की अनुपस्थिति से अंतरव्यक्तित्व और अंतरसामाजिक संबधों में क्रूरता और अन्याय का प्रवेश होता है, ठीक उसी प्रकार उच्चतम अंतरराष्ट्रीय सत्ता की अनुपस्थिति से शक्तिशाली राज्यों द्वारा विवादों में गैर कानूनी दखलांदाजी और राज्यों के बीच सशस्त्र संघर्ष और युद्ध होते हैं। इस प्रकार संप्रभुता के सिद्धांत को विश्व सरकार के पक्ष में एक तर्क के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

## 18.7 सारांश

घरेलू और अंतरराष्ट्रीय संबंधों में संप्रभुता एक विरोधी सिद्धांत है। जैसा कि हमने देखा कि यह सिद्धांत आधुनिक क्षेत्रीय राज्यों के निर्माण में सामन्ती शक्तियों पर शाही (साम्राज्ञी) शक्तियों के अभिवचन के रूप में विकसित हुआ है। मैक्यावली से लेकर रूसो तक सभी राजनीतिक विचारकों का विश्वास है कि अस्थिरता और अव्यवस्था स्थिर समाज के मार्ग की बाधाएं हैं, जिन पर सशक्त सरकारें, जो अपने क्षेत्र और जनता पर मजबूती से संप्रभुता स्थापित कर सकें, काबू पा सकती हैं। यद्यपि राजनीतिक विचारक संप्रभुता के केंद्र और इससे प्रभावित सरकारों के रूप के संबंध में एकमत नहीं थे तो भी वे इस बात पर सहमत थे कि केवल एक दृढ़ सत्ता ही व्यवस्था बनाए रखने की क्षमता रखती है। इसके बाद संप्रभुता के सिद्धांत को एक लंबी अवधि के बाद पनपी विचारधारा के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय संबंधों से जोड़ दिया गया जिसकी स्थापना वेस्टफालिया में धर्मनिरपेक्ष शासकों पर चर्च के नैतिक अधिकार और सत्ता की समाप्ति के साथ हुई। यद्यपि संप्रभु

राज्यों की अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं तथा राज्यों की बढ़ती स्वतंत्रता के फलस्वरूप बाह्य संप्रभुता में बड़े परिवर्तन हुए हैं लेकिन फिर भी मूल अंतरराष्ट्रीय नियम, सिद्धांत और व्यवहार राज्य संप्रभुता पर आधारित रहे अर्थात राज्यों की संवैधानिक स्वतंत्रता पर आधारित रहे।

## 18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


बरटेल्सन, जे. (1995). *ए जेनेलॉजी ऑफ सोवरनिटी।* कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

बेन्न एस.आई एंड पीटर्स आर.एस. (1959). *सोशल प्रिंसिपल्स एंड द डेमोक्रेटिक स्टेट।* लंदनः एलन अनविन।

फोलर, एम.आर., एंड जे.एम. बंक (1995). *लॉ, पॉवर एंड द सोवर्न स्टेट।* यूनिवर्सिटी पार्कः पेन्न स्टेट प्रेस।

हेल्ड डेविड. (1984). *पॉलिटिकल थ्योरी एंड द माडर्न स्टेटः एसेज ऑन स्टेट, पॉवर एंड डेमोक्रेसी* (इंडियन एडीशन) न्यू दिल्लीः माया पॉलिटी।

हेंस्ले, एफ.एच. (1986). *सोवर्निटी।* सेकंड एडीसन। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

जेम्स, ए. (1999). द प्रैक्टिस ऑफ सोवर्न स्टेटहुड इन कंटेम्पोरेरी इंटरनेशनल सोसायटी। *पॉलिटिकल स्टडीज* 47 (3) - 460-2

डे जरनेवल, बी. (1957). *सोवर्निटीः एन एनक्वायरी इनटु द पॉलिटिकल गुड।* शिकागो, आईएलः यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस।

क्रासनेर, एस.डी. (1999). *सोवर्निटीः आर्गेनाइज्ड हाइपोक्रसी।* प्रिंस्टन, एनजे प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।

फिलिपॉट, डी. (2001). *रिवोल्यूशन इन सोवर्निटीः हाउ डज आइडियाज शेप्ड माडर्न इंटरनेशनल रिलेशंस।* प्रिंस्टन, एनजेः प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।

स्प्रुट, एच. (1994). *द सोवर्न स्टेट एंड इटस कम्पीटिटर्स।* प्रिंस्टन, एनजेः प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।


MADHYAMIC

इकाई 19

# राज्यः मार्क्स, वेबर, पार्सन्स तथा अन्य विचारकों की दृष्टि में "सत्ता"

**इकाई की रूपरेखा**


19.1 प्रस्तावना

19.2 राज्य की अवधारणा

19.3 राज्य और मार्क्स

19.4 राज्य और वेबर

19.5 राज्य और दुर्खाइम

19.6 सत्ता की अवधारणा

19.7 मार्क्स और सत्ता

19.8 वेबर और सत्ता

19.9 पार्सन्स और सत्ता

19.10 राज्य एवं सत्ता के अन्य प्रारूप

19.11 सारांश

19.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.13 संदर्भ ग्रंथावली


MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद, आपः

- राज्य एवं सत्ता तथा उनके अंतर्संबंध, को व्यक्त कर सकेंगे;
- मार्क्स, वेबर और दुर्खाइम द्वारा राज्य की संकल्पना पर प्रकाश डाल सकेंगे; तथा
- मार्क्स, वेबर और पार्सन्स द्वारा राज्य और समाज के संदर्भ में सत्ता की संकल्पना को उजागर कर सकेंगे।

## 19.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर एवं अन्य विचारकों द्वारा वर्णित राज्य और सत्ता की अवधारणाओं का अध्ययन करेंगे। विभिन्न विचारकों द्वारा वर्णित राज्य और सत्ता के अवयवों तथा परिभाषाओं को समझेंगे। उन्होंने इन अवधारणाओं की व्याख्या अपने समय की राजनीतिक एवं ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुसार की है। उन्होंने राज्य और सत्ता की सार्वभौमिक अवधारणा की व्याख्या करने के लिए अलग-अलग तरीकों और सोच का प्रयोग किया है। कार्ल मार्क्स और मार्क्स वेबर दो ऐसे प्रमुख समाज चिंतक हैं जिन्होंने आधुनिक राज्य एवं राज्य और समाज के संदर्भ में सत्ता के लक्षणों और विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया है। राज्य और सत्ता के कई सैद्धांतिक प्रारूपों का भी वर्णन किया है जिनमें से अधिकांश राज्य तथा केंद्रीय सरकार द्वारा सत्ता प्रयोग करने

के ढंग पर मार्क्स और वेबर के सिद्धांतों पर प्रतिक्रियाएं हैं। सत्ता के संबंधों को साधारणतया एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के समूह द्वारा दूसरों के क्रियाकलापों को समझाने के लिए अपनाए अनिश्चित कारकों के संदर्भ में वर्णित किया जाता है और सत्ता का सरकार और राज्य सत्ता के संदर्भ में वर्णन किया जाता है। इस इकाई के प्रथम अर्द्धांश में मार्क्स और वेबर तथा अन्य विचारकों के राज्य के एक संस्था के रूप में प्रारूपों का परीक्षण किया गया है और दूसरे अर्द्धांश में राज्य और समाज के संदर्भ में सत्ता की अवधारणा का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

## 19.2 राज्य की अवधारणा

'राज्य' शब्द का प्रयोग प्रायः राष्ट्र, सरकार, समाज अथवा देश के पर्याय के रूप में किया जाता है। राज्य के लिए संप्रभु शक्ति का होना पहली शर्त है, जिसका अभिप्राय है उच्चतम सत्ता अथवा शक्ति। अरस्तू ने राज्य को ऐसे परिवारों और गाँवों के संघ के रूप में परिभाषित किया है जिसका अपने लिए पर्याप्त एवं स्वावलम्बी जीवन है अर्थात सुखद और सम्मानजनक जीवन होता है। मैक आईवर के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जो सरकार द्वारा लागू किए गए दमनकारी शक्ति से संपन्न कानूनों के माध्यम से एक चिह्नित क्षेत्र में पूरे समुदाय के लिए सामाजिक व्यवस्था की सार्वभौमिक बाह्य शर्तों की पूर्ति करता है। इसे दूसरे ढंग से कहा जा सकता है कि जब लोगों का एक समूह किसी क्षेत्र विशेष में स्थायी रूप से बस जाता है और किसी भी प्रकार के बाहरी नियंत्रण से मुक्त उसकी अपनी एक सरकार होती है तो वे एक राज्य की रचना करते हैं जिसकी अपने लोगों पर संप्रभु शक्ति होती है (दास एंड चौधरी - 1999)। राज्य, समाज को आपस में बांधे रखने के लिए शक्तियों का प्रयोग करता है। राज्य — विधायी, न्यायिक, सैनिक और नियोजन कार्यों के माध्यम से शक्तियों का प्रयोग करता है। विधायी कार्यों के माध्यम से यह समाज के नियमों को लागू करता है। न्यायिक कार्य, नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। सैनिक कार्य, अन्य समाजों से संबंध स्थापित करने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं तो नियोजन कार्यों का संबंध कमी वाली वस्तुओं और संसाधनों को वितरित करने से है। आइए, अब हम राज्य की अवधारणा का भिन्न-भिन्न वैचारिक प्रारूपों के अन्तर्गत परीक्षण करें।

MADHYAM IAS

## 19.3 राज्य और मार्क्स

यद्यपि मार्क्स के पास "राज्य" के संबंध में कोई पूर्ण विकसित विचारधारा नहीं है तो भी उसने अपने लेखन में इसका वर्णन कई प्रकार से किया है। मार्क्स राज्य के विकास को समाज में श्रम के विभाजन के रूप में देखता है। प्राचीन समाज कम जटिल और सरल थे और उनमें श्रम विभाजन न्यूनतम था। जब समाज का विकास प्राचीन से पूँजीवादी के रूप में हुआ तो यह अधिक से अधिक जटिल होता गया तथा इसे नियंत्रित करने के लिए एक केंद्रीय संगठित एजेंसी का उदय हुआ। जिससे अंततः राज्य का गठन हुआ। उसके राज्य संबंधी विचारों का समाज के वर्गीकरण से निकट का संबंध है। उसके लिए राज्य का आधार बल है और राज्य उच्च वर्ग के हितों की रक्षा के लिए तथा पूंजीवादी समाज में सर्वहारा कहलाने वाले कमजोर वर्गों के दमन एवं शोषण के लिए शक्ति और सत्ता का प्रयोग करते हैं। उसके विचार में "राज्य" प्राकृतिक संस्था नहीं अपितु मानव निर्मित संस्था है। मार्क्सवादी राज्य को वर्ग संघर्ष का परिणाम और वर्ग शासन का साधन मानते हैं। इस प्रकार मार्क्स के लिए राज्य अनिवार्य रूप से एक वर्ग संरचना है — एक वर्ग का संगठन जो दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व रखता है। उसका विचार है कि मानवता के इतिहास में आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में राज्य का उद्भव हुआ, जब समाज सम्पन्न और विपन्न लोगों के दो वर्गों के बीच बंटा हुआ था।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मानव की सबसे महत्वपूर्ण गतिविधि आर्थिक गतिविधि है। उसके अनुसार किसी समाज द्वारा उत्पादन को व्यवस्थित और संगठित करने की प्रक्रिया को समझना उस समाज की पूरी सामाजिक संरचना को समझने का सूत्र है। उसका विचार है कि जीविकोपार्जन के साधनों का उत्पादन ही वह आधार तैयार करता है जिस पर विभिन्न संस्थाएं, वैधानिक सिद्धांत, कला और लोगों के धार्मिक विचार पनपते हैं। मार्क्स आर्थिक उत्पादन को किसी समाज की संरचना की महत्वपूर्ण विशेषता मानता है तथा जिस प्रकार से समाज अपने उत्पादन को व्यवस्थित करता है, उसे समाज की संरचना मानता है। इसके शेष सामाजिक संगठन — इसकी गैर आर्थिक गतिविधियों जैसे विचार, विश्वास, दर्शन, कानूनी सहायता, राज्य इत्यादि को वह ऊपरी ढाँचा मानता है।

प्रत्येक प्रकार के समाज के ऊपरी ढाँचे को इसका आंतरिक ढांचा—जैसे इसकी आर्थिक गतिविधियाँ प्रभावित करती हैं। मार्क्स के अनुसार राज्य एक गैर-आर्थिक संस्था है इसलिए ऊपरी ढाँचे का एक भाग है। इसलिए राज्य का गठन तथा उसकी गतिविधियां समाज द्वारा आर्थिक उत्पादन को संगठित करने के ढंग पर निर्भर करती हैं। मार्क्स ने समाज में वस्तुओं के उत्पादन के विभिन्न तरीकों को उत्पादन के प्रकार कहा है। मार्क्स ने मानवता के विकास के इतिहास के पांच युगों का उत्पादन के प्रकारों के आधार पर विभेद किया है। कालक्रम के अनुसार ये हैं — आदिम, साम्यवादी, प्राचीन, सामन्तवादी, पूँजीवादी और साम्यवादी। प्रत्येक अपने प्रकार के विशिष्ट राज्य और समाज को दर्शाते हैं। उत्पादन के प्रथम और अंतिम प्रकार के अतिरिक्त अर्थात प्राचीन साम्यवाद और साम्यवाद के अतिरिक्त उत्पादन के प्रत्येक प्रकार में कुछ विशिष्ट विशेषताएं एक सी हैं। उनमें से प्रत्येक, वर्ग के आधार पर वस्तुओं का उत्पादन करता है। प्रत्येक ऐतिहासिक युग मे दो वर्ग हैं — एक तो अल्पसंख्यक प्रभुतासंपन्न वर्ग जिसके पास उत्पादन के साधन हैं और दूसरा बहुसंख्यक अधीन वर्ग जिसके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं अथवा शोषित वर्ग जो उत्पादक कार्य करता है।

जिनके हाथों में उत्पादन के साधन हैं वे राज्य का नियंत्रण करते हैं। जब भी समाज में उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है तो साथ-साथ सरकार में भी परिवर्तन होते हैं। समाज का चाहे जो भी रूप हो, भले ही प्राचीन, सामंतवादी अथवा पूँजीवादी, मार्क्स के अनुसार राज्य हर हाल में प्रभुतासंपन्न वर्ग के हाथों में शोषण का एक साधन है। एक संस्था के रूप में राज्य के संबध में मार्क्स के विचार मुख्यतः समाज के पूंजीवादी रूप पर आधारित हैं। उसके लिए राज्य एक केंद्रीकृत संगठनात्मक एजेंसी है जो आवश्यक रूप से एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर प्रभुता में भागीदार होती है। पूंजीवादी समाज के संदर्भ में मार्क्स जिन दो प्रमुख वर्गों के विषय में चर्चा करता है वे हैं — बुर्जआ वर्ग और सर्वहारा। मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद अपने आप में एक स्वतः विकसित होने वाली व्यवस्था है और इस व्यवस्था में शिखर पर रहने वाला वर्ग को (बुर्जुआ) किसी प्रयास अथवा सचेत गतिविधियों के कारण राजनीतिक शक्ति प्राप्त नहीं होती अपितु समाज के विकास का ढंग इस प्रकार का है कि उन्हें राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। मार्क्स का यह विश्वास था कि राज्य मजदूर वर्ग के विरुद्ध एक षड़यंत्र है अथवा बुर्जुआ वर्ग की दौलत को यह सुनिश्चित करने के लिए प्रयोग किया जा सकता था कि जो भी सत्ता में रहे वह उस वर्ग के हितों का ध्यान रखे (मिलर - 1991)। मार्क्स के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए राज्य के सरोकार को संपत्ति धारकों (बुर्जुआ) के अधिकार को सम्पत्तिविहीन (कामगारों) के विरुद्ध प्रयोग करने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है जबकि कामगारों में केवल इतनी शक्ति थी कि वे संयुक्त कार्यवाही के लिए साथ रहे। व्यापार संघ के अधिकारों के लिए संघर्ष सर्वहारा की संयुक्त कार्यवाही का उदाहरण है।

**बाक्स 19.1: द्वंद्वात्मक भौतिकवाद**

मार्क्स के अनुसार पूरे इतिहास का वाद और प्रतिवाद की दो विरोधी शक्तियों के बीच संघर्ष के रूप में वर्णन किया जा सकता है। इतिहास की प्रत्येक अवस्था जो पूर्णता को

प्राप्त नहीं कर सकी, उसमें अपने ही नाश के बीज होते हैं। वर्गविहीन समाज के पथ की प्रत्येक अवस्था वाद और प्रतिवाद के बीच संघर्ष है और इन दोनों के संघर्ष से नया वाद उत्पन्न होगा और यह सब वर्गविहीन समाज के प्राप्त होने तक चलता रहेगा। विरोधी पक्षों के बीच संघर्ष से उत्पन्न परिवर्तन की अपरिहार्यता तथा विचारों से अधिक वास्तविकताओं द्वारा निर्धारित दर्शन को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। यह साम्यवाद का मूल दर्शन है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में विकास का अभिप्राय पदार्थ के भीतर से विकास है जिसके विकास में वातावरण भले ही सहायक हो अथवा बाधक परंतु न तो यह विकास क्रिया को प्रारंभ करने और न ही इसे अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने से रोकने में समर्थ होता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद को हटाना अनिवार्य था क्योंकि समाज की संस्थाओं का विकास प्राकृतिक और इतिहास की अपरिहार्य प्रक्रिया है। पूंजीवाद स्वयं में सामंतवादी समाज में अमीर और दास लोगों के बीच संघर्ष का परिणाम है। किसी अन्य प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवाद का उदय मशीनों तथा कारखानों के आने के कारण हुआ। इस संश्लेषण से दो नई संघर्षशील शक्तियों का उदय हुआ। एक तो पूँजीवादी अथवा बुर्जुआ वर्ग जिसके पास उत्पादन के साधनों का नियंत्रण था और दूसरे दिहाड़ी मजदूर अथवा सर्वहारा वर्ग जिसे अपने अस्तित्व के लिए अपने श्रम को बेचना पड़ता था।

मार्क्स के लेखों में मुख्य रूप से राज्य के तीन रूपों का अध्ययन कर सकते हैं — उदारवादी, मध्यस्थ और क्रियावादी।

उसके प्रारंभिक लेखन में स्पष्ट है कि बुर्जआ वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए शासन करता हैं अथवा राज्य मशीनरी का प्रयोग करता है। मार्क्स के शब्दों में यूं कहा जा सकता है 'राज्य केवल सारे बुर्जुआ वर्ग के कार्यों का प्रबंध करने के लिए एक कमेटी मात्र है (मार्क्स एंड एजेंलस 1968)। इस प्रारूप के अनुसार, आर्थिक शक्ति को बड़ी सरलता से राजनीतिक शक्ति में बदला जा सकता है जिसके माध्यम से प्रमुख बुर्जुआ उदारवादी राज्य के माध्यम से आधीन वर्गों पर शासन करते हैं।

अपने बाद के लेखों में मार्क्स ने अपने इन प्रारंभिक विचारों में कई सुधार किए हैं। बाद के लेखों में, जो अधिकांशतः अनुभव पर आधारित थे, उसने बुर्जुआ के विभिन्न वर्गों के विषय में चर्चा और विचार किया है जो राज्य के माध्यम से अथवा राज्य के लिए राजनीतिक संघर्ष में लगे हुए थे। यहाँ मार्क्स ने राज्य का एक अलग प्रारूप दिया जिसे अर्बिटर प्रारूप कहा गया।

'एटींथ ब्रुमेर ऑफ लुइस बोनापार्ट' पुस्तक में मार्क्स आधुनिक राज्य को इस प्रकार चित्रित करते हैं जिससे बुर्जुआओं के हितों से परे राज्य की स्वायतता स्पष्ट होती है। अपवाद के उन क्षणों को छोड़कर, जब बुर्जुआ वर्ग अन्य वर्गों, जिनके विरुद्ध उन्हें संघर्ष करना चाहिए, पर अपनी पूर्ण प्रभुता स्थापित नहीं कर सकते, आधुनिक राज्य इतना सशक्त हो गया है कि वह प्रतिद्वंद्वी हितों के लिए संघर्ष क्षेत्र, एक प्रत्यक्ष मध्यस्थ और यहाँ तक कि बुर्जुआ वर्ग की शक्ति को सीमित करने के लिए स्वतंत्र कार्यवाही भी कर सकता है (नाश - 2000)। उदाहरण के लिए, 1840 के दशक में इंग्लैण्ड में फैक्टरी कानूनों तथा कोर्न कानूनों पर बहस को औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग और कृषि बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। वह राज्य पर ऐसे लोगों के नियंत्रण की चर्चा भी करता है जो प्रभुता प्राप्त वर्ग से संबंध नहीं रखता परंतु फिर भी प्रभुतासंपन्न वर्ग के हित में शक्ति का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में इग्लैण्ड में केंद्रीय सरकार में जमींदार वर्ग का वर्चस्व था परंतु उन्होंने औद्योगिक बुर्जुआ के हित में अपनी शक्ति का प्रयोग किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवादी समाज में चाहे जो भी सत्ता

में आए, वह प्रभुतासंपन्न वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कारण यह है कि समाजों के विकास के लिए प्रभुतासंपन्न वर्ग के हितों की रक्षा करना जरूरी होता है।

अपने बाद के लेखों में मार्क्स ने राज्य का एक तीसरा प्रारूप 'क्रियाशील प्रारूप' सुझाया। कैपीटल पुस्तक के खंड 3 में वह राज्य को अलौकिक दर्शाता है जिसका निर्धारण पूरी तरह से समाज में आर्थिक आधार में बदलावों से होता है। वह स्पष्ट करता है कि पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए प्रासंगिक औद्योगिक विकास के स्तर पर कार्य करने के लिए एक स्तर पर शिक्षित एवं स्वस्थ कार्यबल आवश्यक है और इसके लिए आने वाली पीढ़ी को किसी भी आवश्यक स्तर के लिए तैयारी सुनिश्चित करना भी आवश्यक है। राज्य इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकसित होता है। मार्क्स के विचार में वर्गों में बंटे समाज के लिए उपरि ढाँचा अनिवार्य और अपरिहार्य है। यह समाज के सांस्कृतिक लक्षणों और इन लक्षणों को बढ़ावा देने वाली संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसका आंतरिक ढाँचा और इसका वर्ग के आधार पर उत्पादन का ढंग तब तक अस्तित्व में रहता है जब तक समाज का वर्ग चरित्र पहचान में नहीं आता अथवा जब तक इसके अधीन लोग इसे वैध मानते हैं। ऊपरि ढांचा (राज्य, एक प्रमुख संस्था के रूप में) इस घटनाक्रम को सुनिश्चित करता है। इसका अर्थ है कि राज्य अनिवार्य रूप से व्यवस्था को एकीकृत एवं संगठित करने का काम करता है। मार्क्स की दृष्टि में राज्य, शासन करने वाले वर्ग के हित में काम करता है क्योंकि यह शासन करने वाले वर्ग के अनुकूल आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के पुनर्जन्म के लिए काम कर रहा है। मार्क्स के विचार में किसी भी राज्य में प्रमुख वर्ग, अन्य वर्गों के हितों की अपेक्षा अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिए काम करता है और कानून बनाता है। अतः राज्य का उद्देश्य निजी संपत्ति की रक्षा करना और संपन्न वर्ग के हित में विपन्न वर्ग का शोषण करना है। राज्य का कोई भी रूप हो, भले ही लोकतंत्र, गणतंत्र अथवा राजतंत्र हो — इसका प्रयोग एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण के लिए किया जाता है। राजनीतिक स्तर पर केवल वर्ग हितों का ही प्रतिनिधित्व होता है और अंततः आर्थिक शक्ति ही यह निर्धारित करती है कि राज्य शक्ति का प्रयोग किस प्रकार हो।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**अभ्यास 19.1**

कार्ल मार्क्स द्वारा वर्णित राज्य के विभिन्न प्रारूपों को स्पष्ट कीजिए।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद में व्यवस्था के एकीकरण को वर्ग संघर्ष से निरंतर खतरा बना रहता है और राज्य तथा शासकीय विचारधारा का इसको समर्थन एवं सहयोग प्राप्त होता है। वह भविष्यवाणी करता है कि पूंजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष से सर्वहारा की तानाशाही आती है और सर्वहारा की तानाशाही के माध्यम से क्रांतिकारी परिवर्तन से सभी वर्ग समाप्त होकर वर्गविहीन समाज अर्थात साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। जब वर्गविहीन समाज स्थापित हो जाएगा और राज्य के पास शोषण का कोई कार्य नहीं होगा तो राज्य केवल आर्थिक कार्य ही करेगा। वर्ग भेदों के मिटने से राज्य के राजनीतिक दायित्वों के निर्वाह तथा समाजवादी जीवन के नियमों के पालन की आदत हो जाएगी। इस अवस्था में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी और मार्क्स के अनुसार राज्य नष्ट हो जाएगा।

**बॉक्स 19.2: मार्क्सवाद**

एक सैद्धांतिक व्यवस्था के रूप में मार्क्सवाद ने कार्ल मार्क्स के लेखों से प्रेरणा प्राप्त की और विकसित हुआ। यद्यपि एक नियमबद्ध सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद, मार्क्स की मृत्यु के उपरांत ही अस्तित्व में आया। वस्तुतः यह मार्क्स के विचारों और सिद्धांतों को निरंतर बढ़ रहे समाजवादी आंदोलन की आवश्यकता के अनुरूप विश्व दृष्टि देने के लिए बाद के मार्क्सवादियों के प्रयासों का ही परिणाम था। यद्यपि कई प्रकार की

मार्क्सवादी परम्पराओं को देखा जा सकता है जिनमें शास्त्रीय मार्क्सवाद (मार्क्स का मार्क्सवाद), रूढ़िवादी मार्क्सवाद अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद का मशीनी रूप जिसने सोवियत मार्क्सवाद के आधार के रूप में कार्य किया, और पाश्चात्य, आधुनिक अथवा नव मार्क्सवाद जो मार्क्सवाद को मानवीय दर्शन के रूप में देखता है और इसके वैज्ञानिक तथा निर्धारक तत्वों के प्रति अस्पष्ट है। मार्क्सवाद के दर्शन का आधार एंजेल्स के अनुसार "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या" थी । यह आर्थिक जीवन तथा उन स्थितियों को उजागर करता है जिनके अंतर्गत लोग अपने अस्तित्व के लिए जीवन के साधनों का उत्पादन तथा पुनः उत्पादन करते हैं जो इस विश्वास में परिलक्षित होता है आर्थिक आधार'(जिसमें अनिवार्य रूप से उत्पादन का ढंग सम्मिलित है) अथवा आर्थिक व्यवस्था और स्थितियां ही वैचारिक और राजनीतिक उपरिढाँचे का निर्धारण करती हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास की व्याख्या भौतिक और वर्ग भेद के आधार पर करती है। मार्क्स द्वारा इतिहास की उद्देश्यपरक मीमांसा ही मार्क्सवादी परम्परा का आधार है जिसके मतानुसार इतिहास द्वंद्व की प्रक्रिया से ही आगे बढ़ता है और इसमें उत्पादन के प्रत्येक ढंग में अंतर्निहित विरोधाभास वर्ग शत्रुता के रूप में दिखाई देता है। अतः वर्ग समाजों में पूंजीवाद ही प्रौद्योगिकी में सबसे अधिक उन्नत है और जिसके भाग्य में सर्वहारा क्रांति से नष्ट होना लिखा है, जिसके बाद वर्गहीन साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। मार्क्सवाद का बौद्धिक आकर्षण यह है कि इसकी दृष्टि बड़ी विस्तृत है जो समाज और राजनीतिक अस्तित्व के लगभग पहलुओं को समझने और व्याख्या करने के साथ-साथ परम्परागत सिद्धांतों में छोड़ दी जाने वाली प्रक्रियाओं के महत्व को उजागर करने का अवसर प्रदान करता है। राजनीतिक दृष्टि से यह शोषण और दमन पर प्रहार करता है और विशेष रूप से क्षतिग्रस्त समूहों और लोगों का दृढ़ता से पक्ष लेता है। सोवियत रूस और यूरोप के कुछ पूर्वी देशों में साम्यवाद के समाप्त हो जाने से कुछ शिक्षाविदों ने मार्क्सवाद और साम्यवाद की प्रासंगिकता समाप्त होने की बहस शुरू कर दी है। यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि इन देशों में प्रचलित साम्यवाद के रूप लोगों की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सके और व्यवस्था अनेक कारणों से असफल हो गई। इसका मार्क्सवाद के सिद्धांत से कुछ लेना-देना नहीं है। मार्क्सवाद आज भी वर्ग, शक्ति, राज्य और समाज के संबंध में एक सर्वोत्तम सिद्धांत है।

## 19.4 राज्य और वेबर

मैक्स वेबर ने "पॉलिटिक्स एज़ ए वोकेशन" में लिखा है कि राज्य एक मानव समुदाय है अथवा एक विशेष प्रकार की संस्था है जो एक दिए हुए क्षेत्र में शारीरिक बल प्रयोग करने के एकाधिकार का दावा करती है (वेबर 1948)। इससे उसका अभिप्राय राज्य द्वारा अपने नागरिकों से अपनी आज्ञा मनवाने मात्र को सुनिश्चित करना ही नहीं था अपितु राज्य के इस अधिकार को स्वीकृति देना था। इस प्रकार वैध हिंसा पर एकाधिकार राज्य की संप्रभुता को व्यवहार में प्रकट करता है। वह आधुनिक समाज में राज्य को एक अत्यधिक शक्तिशाली संस्था के रूप में देखता है क्योंकि इसे एक निश्चित क्षेत्र पर वैध ढंग से बल प्रयोग करने का एकाधिकार प्राप्त है (वेबर 1948)।

वह आधुनिक राज्य की चार विशेषताओं का विस्तार से वर्णन करता है। पहला तो यह कि राज्य की कानूनी और प्रशासनिक व्यवस्था होती है जिसे केवल विधायी तरीकों से न कि किसी लार्ड अथवा करिश्माई नेता के इशारे पर बदला जा सकता है। दूसरे इसका अपना प्रशासन होता है जो कानून के अनुसार चलता है। इसका अर्थ है कि प्रशासनिक अधिकारी और न्यायपालिका अपने कानून को लागू करते हैं। तीसरे राज्य का अपने सभी सदस्यों तथा अपने क्षेत्र में होने वाले कार्यों पर बाध्यकारी अधिकार होता है और प्रायः जन्म से ही

सदस्यता प्रदान की जाती है। अंत में राज्य बल प्रयोग कर सकता है यदि यह कानूनी तौर पर मान्य एवं स्वीकृत हो।

वेबर के लिए राजनीतिक समाज वह समाज है जिसकी व्यवस्था और अस्तित्व की एक निश्चित क्षेत्र में, रक्षा, प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा बल प्रयोग अथवा बल प्रयोग की धमकी से की जाती है। एक राजनीतिक संगठन तब राज्य बन जाता है जब वह अपने निश्चित क्षेत्र में सफलतापूर्वक बल प्रयोग करने का वैध एकाधिकार प्राप्त कर लेता है। वेबर के अनुसार, कानूनी, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा उनके अंतर्संबंधों का आर्थिक संरचना और आर्थिक संस्थाओं पर निर्णायक महत्व होता है न कि इससे उलट — जैसा कि मार्क्स ने बताया था। वेबर मार्क्स के आर्थिक निर्धारण का विरोध करता है। वह प्रशासन के साधनों के संकेंद्रण को राष्ट्र-राज्य का महत्वपूर्ण तत्व मानता है।

यह देखा जा सकता है कि राज्य और सत्ता के संबंध में वेबर के सिद्धांत परस्पर सम्बद्ध हैं। क्रमशः इनका उसके प्रभुता के सिद्धांत से निकट का संबंध है। वेबर तीन प्रकार की प्रभुता की चर्चा करता हैः चमत्कारिक, परम्परागत और कानूनी-विवेक सम्मत। उसके अनुसार ये तीनों तरह की प्रभुता किसी भी स्थिति में साथ-साथ रहती हैं परंतु यह सम्भव है कि कोई एक प्रखर हो। वेबर का कहना है कि आधुनिक राज्य में कानूनी-विवेक सम्मत प्रभुता अधिक प्रखर है।

वेबर के अनुसार आधुनिक राज्य वैध है यदि लोग इसकी वैधता में विश्वास करें। तीन प्रकार की प्रभुता में से कोई एक आधुनिक राज्य में हो सकती है। हम तीनों में से किसी एक को विवेक के आधार पर नहीं चुन सकते, अपितु प्रत्येक को अपने आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है। प्रत्येक व्यवस्था अपने आपको न्यायोचित सिद्ध करती है, परम्परागत प्रभुता को परम्परा न्यायोचित ठहराती है, चमत्कारिक प्रभुता को चमत्कार और कानूनी विवेक सम्मत प्रभुता में कानून तभी वैध होते हैं जब उन्हें कानून द्वारा लागू किया गया हो। ऐसे कोई सर्वश्रेष्ठ मूल्य नहीं है जिनके द्वारा हम बेहतर अथवा बदतर व्यवस्था चुनते हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

वेबर का विश्वास कि आधुनिक राज्य में किसी भी नियम को इस आशा के साथ कानून के रूप में लागू किया जा सकता है कि इसका पालन किया जाएगा। सरकार और सरकारी तंत्र इन कानूनों से निर्मित निरपेक्ष व्यवस्था से बंधे हुए हैं और इन कानूनों का प्रयोग ही न्याय है। शासन की ऐसी व्यवस्था में सत्ता, लोगों के पास होती है। ऐसा उनके अस्थायी अधिकारी होने के कारण होता है न कि व्यक्तिगत सत्ता के कारण। और लोग कानूनों की पालना करते हैं न कि वे अधिकारी जिन्होंने इन्हें लागू करवाया। राष्ट्रीय कानूनी सत्ता प्राप्त राज्य विधिवत निर्वाचित प्रतिनिधियों की सहमति के बिना लोगों के व्यक्तिगत कानूनों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

**अभ्यास 19.2**

वेबर के अनुसार राज्य की क्या विशेषताएं हैं? राज्य के संबंध में मार्क्स और वेबर के विचारों की तुलना करके अंतर स्पष्ट कीजिए।

वेबर के अनुसार नौकरशाही आधुनिक राज्य का संगठनात्मक उपकरण है और आधुनिक पूंजीवादी राज्य अपने निरंतर अस्तित्व के लिए पूरी तरह से नौकरशाही पर निर्भर हैं। वेबर राज्य को आधुनिकता में प्रशासन के सारे साधनों को सम्राट के हाथों में सौंप कर शक्ति प्राप्त करने वाला बताता है। उदाहरण के लिए, नौकरशाही व्यवस्था का विकास प्राचीन मिस्र में हुआ जब सम्राट को हथियारों और सैनिक सामान की आपूर्ति के लिए स्थायी सेना की आवश्यकता थी। वेबर के अनुसार ये घटनाएं आधुनिक राज्य के अभ्युदय की महत्वपूर्ण कारक थीं जिसमें श्रम विभाजन पर आधारित अफसरशाही को प्रशासन के साधनों पर

स्वामित्व से बिल्कुल अलग करती हैं। आधुनिक विवेकशील नौकरशाही में अफसरों का अपने कार्यों पर न्यूनतम अथवा कोई नियंत्रण नहीं होता क्योंकि नौकरशाही के नियम और तौर-तरीकों का अपना अस्तित्व होता है जो इसमें काम करने वाले अधिकारियों की गतिविधियों को उनके पदों के कर्त्तव्यों तक सीमित कर देते हैं। आधुनिक राज्य में नौकरशाही स्टील की तरह मजबूत है (नौकरशाही के आदर्श रूप के लिए बाक्स 2 देखिए)।

अफसरों की फौज रखने वाले विवेकशील राज्य, का यह विकास पूरी तरह आर्थिक तर्कसंगतता से निर्मित नहीं है परंतु कुछ हद तक पूंजीवाद के विकास से पहले की घटना है जिसने अपने अभ्युदय के लिए स्थितियाँ पैदा कीं। कानूनी सत्ता अथवा अफसरशाही व्यवस्था का मुखिया राज्य का मुखिया होता है और वह अपने पद पर अधिकार, चुनाव अथवा उत्तराधिकारी के रूप में बने रह सकता है। परंतु फिर भी उसकी शक्तियाँ कानूनी रूप से सीमित होती हैं।

**बॉक्स 19.3: आदर्शात्मक प्रकार की नौकरशाही (आदर्शात्मक नौकरशाही)**

वेबर के अनुसार आदर्श प्रकार की नौकरशाही की विशेषताएं इस प्रकार हैं —

1) नियमानुसार सरकारी गतिविधियों का निरंतर संचालन।

2) निपुणता का एक विशिष्ट क्षेत्र जिसमें सम्मिलित हैं :

   क) व्यवस्थित श्रम विभाजन के अंग के रूप में नकारे गये — कार्यों को करने के दायित्व का क्षेत्र।

   ख) इन कार्यों को करने के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त पदाधिकारियों का प्रावधान।

   ग) अनिवार्यता के आवश्यक साधन सुपरिभाषित हैं और उनका प्रयोग विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

3) कार्यालयों का संगठन पदानुक्रम के सिद्धांत पर चलता है अर्थात प्रत्येक छोटा पद किसी बड़े के नियंत्रण एवं निरीक्षण के आधीन होता है। निम्न को उच्चाधिकारी से अपील तथा शिकायत करने का अधिकार होता है। पदानुक्रम में इस विषय पर भेद है कि क्या और किन मामलों में शिकायतों पर उच्चाधिकारियों द्वारा निर्णय लिए जा सकते हैं और क्या फैसले उच्चाधिकारियों द्वारा निचले अधिकारियों पर थोपे जाते हैं अथवा इस प्रकार के परिवर्तन का दायित्व उन निचले अधिकारियों पर छोड़ दिया जाता है जिनका व्यवहार ही शिकायत का विषय था।

4) किसी कार्यालय के व्यवहार को नियमित करने वाले नियम तकनीकी नियम हो सकते हैं। ऐसे मामले में यदि उनको लागू करने को पूरी तरह तर्कसंगत बनाना हो तो विशेष प्रकार की ट्रेनिंग आवश्यक है। सामान्यतः यही सच है कि केवल वही व्यक्ति ऐसे संगठित समूह के प्रशासनिक स्टाफ का सदस्य होने के योग्य है जिसने पर्याप्त तकनीकी प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) प्राप्त किया हो। अतः केवल ऐसे व्यक्ति ही सरकारी पदों पर नियुक्त होने के योग्य होते हैं।

5) विवेकपूर्ण मामलों में यह सिद्धांत की बात है कि प्रशासनिक स्टाफ के सदस्यों को उत्पादन और प्रशासन के साधनों के स्वामित्व से बिल्कुल अलग रखा जाए। प्रशासनिक स्टाफ से सम्बद्ध अधिकारी, कर्मचारी और मजदूरों के पास उत्पादन और प्रशासन के गैर-मानवीय साधनों का स्वामित्व नहीं होता। अपितु ये साधन वस्तु अथवा धन के रूप में प्रयोग के लिए उपलब्ध करवाए जाते हैं और अधिकारी को

उनके प्रयोग का हिसाब किताब रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सिद्धांत रूप में संगठन अथवा संस्था की संपत्ति, जिसका नियंत्रण संस्था के ही लोगों के हाथों में होता है तथा उसके निजी प्रयोग के लिए उसकी अपनी संपत्ति दोनों पूरी तरह अलग-अलग होती हैं। इसके अनुसार ही सरकारी कार्यों को करने वाले स्थान अथवा आवासीय मकानों में भी अंतर होता है।

6) विवेकपूर्ण मामलों में पदाधिकारी द्वारा अपने पद का दुरुपयोग बिल्कुल नहीं किया जाता। जहाँ भी किसी पद के साथ अधिकार जुडे हैं, जैसे — न्यायाधीशों के मामले में और गत दिनों से निरंतर बढ़ रहे अधिकारियों और मजदूरों तक के भी मामलों में सामान्यतया अधिकारों का दुरुपयोग नहीं होता अपितु इनका प्रयोग विशुद्ध रूप से पद के स्वतंत्र व्यवहार के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया जाता है ताकि वह सामान्य नियमों के अनुरूप हो।

7) लिखित एवं निर्मित प्रशासनिक कानून, निर्णय एवं नियम तथा ऐसे मामले जहाँ मौखिक विचार-विमर्श ही नियम हों — वहां इन सबका पालन करना अनिवार्य है। यह प्रारंभिक विचार-विमर्श और प्रस्तावों के साथ-साथ अंतिम निर्णयों तक के लिए लागू होता है। लिखित दस्तावेजों और सरकारी कामों की निरंतर व्यवस्था से पद बनता है जो सभी प्रकार के आधुनिक कार्यों का केंद्र है (स्रोतः क्रेब, 1997)।

वेबर के अनुसार यद्यपि विवेकशीलता समाज के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन इत्यादि में दिखाई देती है परंतु सिद्धांत रूप में यह प्रशासन के आधुनिक संस्थानों और विशेषतः नौकरशाही में दिखाई पड़ती है। वह कहता है कि न तो उदारवाद से जुड़ा पूंजीवाद और न ही सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध समाजवाद प्रशासनिक प्रभुत्व के साधनों को अपनाने की अवहेलना कर सकता है। नौकरशाही की अमूर्तता और उसकी गणनात्मक क्षमता को न केवल बाध्यकारी अपितु प्रभुता के ढाँचे में लोगों से प्रभावशाली ढंग से स्वैच्छिक अनुपालन करवाने वाली संस्था के रूप में देखा जाता है। वेबर के पास आधुनिक प्रकार की विशिष्ट वैध प्रभुता द्वारा पहले से प्रभुता प्राप्त वैधता प्रदान करने वाले सिद्धांत की परम्परागत अपील का स्थान लेने का महत्वपूर्ण उदाहरण है।

MAABHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 19.5 राज्य और दुर्खाइम

दुर्खाइम अपनी पुस्तक 'प्रोफेशन एथिक्स एंड सिविल मॉरल्स (1957) में राज्य की प्रकृति और विशेषताओं का वर्णन करता है। उसके अनुसार, राजनीतिक जीवन में शासित और शासक के बीच विरोध प्रमुख है। राज्य के प्रति उसके विचार अधिकाधिक उसके श्रम विभाजन की व्याख्या तथा समेकता से सम्बद्ध हैं। दुर्खाइम राज्य के विकास को समाज में हुए श्रम विभाजन पर आधारित मानता है जैसे-जैसे समाज जटिल होते गए तो शासित और शासक के बीच भेद होता गया जिसके परिणामस्वरूप राज्य का गठन हुआ। दुर्खाइम के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न हितों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा विशेष रूप से व्यक्ति को छोटे समूहों की शक्ति से बचाना होता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति की रक्षा करता है और हित समूहों को संतुलित करता है।

यांत्रिक समेकता अल्प विकसित अथवा आदि समाजों की पहचान है जहां श्रम विभाजन न के बराबर है। जबकि श्रम विभाजन के क्षेत्र में अधिक विकसित समाज जैविक समेकता से परस्पर जुड़े रहते हैं। दुर्खाइम के अनुसार आदिम समाजों में कोई राजनीति अथवा राज्य नहीं था क्योंकि तब श्रम विभाजन नहीं था अथवा न्यूनतम था और इसलिए शासित और शासक जैसे समूह भी नहीं थे।

इसके साथ ही उसका विचार है कि समाज का शासित और शासक में विभाजन केवल राज्य में ही नहीं होता अपितु पितृतत्रात्मक परिवारों में भी होता है। दुर्खाइम ने राज्य और ऐसी संस्थाओं के बीच अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एक निश्चित क्षेत्र का आकार और नियंत्रण ऐसी संस्थाओं को राज्य से विलग करता है। लेकिन दुर्खाइम के मतानुसार राज्य के महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में अधिक लोगों पर नियंत्रण होना अनिवार्य नहीं है अपितु विभिन्न गौण सामाजिक समूहों पर नियंत्रण होना आवश्यक है। इन गौण सामाजिक समूहों पर शासन करने वाले अधिकारियों के संगठन को राज्य कहते हैं। यह पूरे समाज का मूर्त रूप नहीं है अपितु एक विशेष संस्थान है।

इसके बाद दुर्खाइम राज्य और व्यक्ति के संबंधों पर चर्चा करता है। दुर्खाइम के अनुसार यांत्रिक समूकता वाले राज्यों में यह कोई मुद्दा नहीं था जहाँ व्यक्ति पूरे समाज में ही समाहित था लेकिन जब जैविक समेकता में वृद्धि होती है तो राज्य की शक्तियों में भी वृद्धि होती है और व्यक्ति के अधिकारों में भी वृद्धि होती है। राज्य की उन्नति और विकास से व्यक्ति के अधिकारों को कोई खतरा नहीं है अपितु व्यक्ति के अधिकार बढ़ते हैं।

**अभ्यास 19.3**

मार्क्स और दुर्खाइम की राज्य की अवधारणा की तुलना कीजिए।

दुर्खाइम राज्य और समाज के बीच स्पष्ट भेद करता है। प्रत्येक समाज निरंकुश होता है, कम से कम तब तो अवश्य ही होता है जब समाज के अंदर से ही इस निरंकुशता को रोकने के लिए कोई दखल नहीं दिया जाता। जैसे-जैसे समाज अधिक विवश होता जाता है तब व्यक्ति को एक समूह से दूसरे समूह में जाने की और गौण समूहों द्वारा अपने सदस्यों पर निरंकुश नियंत्रण को रोकने की जरूरत होती है और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस जरूरत को पूरा करे। दुर्खाइम का यह तर्क था कि यदि समाज का कोई सदस्य समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता अनुभव करता है तो राज्य को ऐसी परिस्थितियाँ बनानी चाहिए कि व्यक्ति अपने इस दायित्व का निर्वाह कर सके।

MADHYAM IAS

दुर्खाइम के लिए समाज अद्वितीय (sui generis) है। उसकी दृष्टि में समाज प्रत्येक चीज से अधिक महत्वपूर्ण है। समाज का अस्तित्व व्यक्ति से कहीं अधिक है और यह व्यक्तियों पर अपनी अपार शक्ति का प्रयोग करता है। समाज के संबंध में उसके विचार राज्य के प्रति उसके विचारों में झलकते हैं। दुर्खाइम के अनुसार राज्य आवश्यक रूप से गौण समूहों के बीच वैसे ही मध्यस्थ है। गौण समूह समाज में विकसित होते हैं क्योंकि आधुनिक समाजों में विभाजन अधिक भ्रामक और कुतर्कपूर्ण हैं। ये गौण समूह व्यक्ति और समाज के बीच मध्यस्थ होते हैं जैसे राज्य व्यक्ति और गौण समूहों के बीच मध्यस्थता करता है।

## 19.6 सत्ता की अवधारणा

यद्यपि सत्ता का मानवीय व्यवहार और सामाजिक संबंधों में सार्वभौमिक सिद्धांत है, परंतु इस सिद्धांत में कोई समरूपता नहीं पाई जाती। मानव समाज और संस्कृति में रचा-बसा यह सिद्धांत अति अमूर्त और गहरे अध्ययन का विषय रहा है। समाज विज्ञान में सत्ता पर आधारित विस्तृत साहित्य बिखरा हुआ और विषमांगी है। इस प्रकार के साहित्य में सत्ता को व्यक्ति की विशेषता के रूप में, शक्ति को व्यक्तियों के बीच निर्मित रूप में, सत्ता एक वस्तु के रूप में, सत्ता एक आक्समिक एवं एक दार्शनिक निर्माण के रूप में सैद्धांतिक ढाँचे के अंतर्गत वर्णित किया गया है। प्रत्येक ढाँचा सत्ता के सिद्धांत के अद्वितीय आयामों को प्रस्तुत करता है (काकाबडसे 1984)। इस साहित्य में प्रायः सत्ता के सिद्धांत को प्राप्त परिणामों को एक इच्छा के रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता के रूप में व्यक्त किया गया है। सत्ता प्रयोग का सामाजिक महत्व यह है कि यह व्यक्ति के चयन के क्षेत्र को सीमित कर देता है। समाजशास्त्री प्रायः शक्ति के दो रूपों सत्तात्मक और दमनात्मक के बीच भेद

करते हैं। इस इकाई में सत्ता को समाज और राज्य के संदर्भ में स्पष्ट करने पर बल दिया गया है।

## 19.7 मार्क्स और सत्ता

मार्क्स सत्ता की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं देते। उसके लिए सत्ता का अर्थ है दमन। मार्क्स के विचार में सत्ता, समाज के एक विशेष समूह द्वारा शेष समाज की कीमत पर शक्ति रखना होता है। उसके अनुसार समाज में सत्ता का स्रोत आर्थिक संरचना में तथा उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करने वालों में निहित होता है। प्रभुता संपन्न समूह शक्ति का प्रयोग अपने हितों को साधनों में करता है जिसके फलस्वरूप सत्ता के आधीन लोगों का शोषण होता है। मार्क्स तर्क देता है कि यद्यपि समय-समय पर प्रभुता संपन्न वर्ग को अपनी सत्ता और सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए बल का सीधा प्रयोग करना पड़ता है परंतु इस प्रकार के बल प्रयोग की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि शोषण नहीं हो रहा। स्पष्ट दमन के अभाव को दमन में कमी अथवा इसकी कम जरूरत के रूप में नहीं समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि प्रभुता संपन्न समूह को अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं होता तथा जिन सिद्धांतों और विचारधारा के बीच उसका समाजीकरण हुआ है, उसकी प्रभावशीलता का यह परिणाम भी होता है।

प्रभुता संपन्न वर्ग की प्रभुत्व पूर्ण शक्तियों से संबंधित इन प्रभुतापूर्ण विचारों तथा अधीनस्थ वर्गों के शोषण को आमतौर पर मान्यता कैसे प्राप्त होती है। मार्क्स का तर्क है कि समाजीकरण की विभिन्न एजेंसियों के माध्यम से विशिष्ट और विशेष विचार व्याप्त होते हैं। सामान्य रूप से स्वीकृत विचारों, विश्वासों और मूल्यों को बढ़ावा देने में परिवार, शिक्षा व्यवस्था और जन संचार के साधन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मार्क्सवादियों के मतानुसार समाजीकरण की इन संस्थानों के माध्यम से समाज में वर्गों के वास्तविक चरित्र को न्यायोचित ठहराया जाता है और यह असमानता और प्रभुता को सुनिश्चित करते हैं जिससे समाज में शक्ति संरचना को स्वीकृति मिलती है। यह मार्क्सवादी विचारधारा की उपरि-ढाँचे, समाज के गैर-आर्थिक संस्थानों तथा उसके द्वारा प्रसारित विचारों और विश्वासों का महत्वपूर्ण तत्व है। मान्यता यह है कि ये संस्थान, वर्ग आधारित उत्पादन को बढ़ाने के लिए अस्तित्व में हैं। अतः आर्थिक संरचना में असंतुलन ऊपरी ढाँचे में परिलक्षित होता है।

### प्रभुता और आधीनता

मार्क्सवादी विचारकों का विचार है कि शिक्षा, राज्य और जन संचार जैसी संस्थाएं वर्ग स्थिति से सम्बद्ध श्रेष्ठता और हीनता की परम्परागत छवि को न्यायोचित ठहराती है। अतः मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार आंतरिक ढाँचे में प्रभुता और हीनता के सम्बन्धों को उपरि ढाँचा उचित और कानूनी रूप प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज में मालिकों और कर्मचारियों के बीच असमानता पूर्ण संबंध कानूनी व्यवस्था में वैध बनाए जाते हैं। कानूनी स्थितियों की एक श्रेणी सम्पत्ति धारकों के अधिकारों की रक्षा करती है और विशेष रूप से कर्मचारियों द्वारा पैदा की गई सम्पत्ति पर अधिकार की रक्षा करती है। मार्क्सवादियों का मत है कि आंतरिक ढाँचे और ऊपरी ढाँचे के बीच संबंधों का इस प्रकार का विश्लेषण वर्ग आधारित समाज में शक्ति के विषय को विस्तार से वर्णित करता है। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज की आंतरिक संरचना एक विशेष प्रकार के राज्य, शिक्षा व्यवस्था, पारिवारिक ढाँचे इत्यादि एवं ऊपरी ढाँचे के सभी संस्थाओं को जन्म देती है जो वर्ग संघर्ष की प्रमुखता को परिलक्षित करती हैं तथा समाज में शासक वर्ग की शक्ति एवं विशेषाधिकार को प्रबलता प्रदान करती है।

मार्क्स के अनुसार शक्ति, समाज में एक विशेष वर्ग (प्रभुत्व संपन्न) द्वारा समाज के शेष

भाग (आधीन वर्ग) की कीमत पर प्रभुता बनाए रखना है। यह सत्ता का एक स्थायी सिद्धांत है क्योंकि प्रभुता संपन्न समूह की शक्ति में वृद्धि दूसरे समाज की शक्ति में हानि को प्रदर्शित करती है। प्रभुता संपन्न समूह अपने हितों के लिए शक्ति का प्रयोग करता है और इन हितों का उनके अधीनस्थों के हितों के साथ सीधा संघर्ष होता है।

मार्क्स के अनुसार समाज में शक्ति का स्रोत इसकी आर्थिक संरचना में निहित होता है। प्रभुता अथवा शक्ति का आधार उत्पादन की ताकत पर स्वामित्व होता है। उत्पादन की ताकतों पर स्वामित्व रखने वाला शासक वर्ग सभी समाजों में अपने आधीनों के दमन एवं शोषण के लिए सत्ता का प्रयोग करता है। दूसरों के शोषण के मामले को मार्क्स ने दमन के रूप में परिभाषित किया। इसे सत्ता का अवैध प्रयोग माना जाता है क्योंकि यह आधीन वर्ग को उसके हितों के विरुद्ध की स्थिति को स्वीकार करने के लिए विवश करता है।

लोगों को शक्ति लौटाने का एकमात्र तरीका उत्पादन के साधनों का साम्यवादी स्वामित्व है। क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन की ताकत से एक समान संबंध होगा। इसलिए समाज के सभी सदस्यों द्वारा सत्ता का उपभोग किया जाएगा। यहाँ पर मार्क्स के मिथ्या चेतना और वर्ग चेतना के सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। जब आधीन वर्ग प्रभुता संपन्न विचारधारा को स्वीकार कर लेता है तो उनकी दृष्टि से वर्ग समाज की वास्तविक प्रकृति ओझल हो जाती है और तब दुनियां की तस्वीर और इसमें उनकी स्थिति झूठी होती है। जब शोषित वर्ग अपनी शोषण भरी स्थिति महसूस करता है और स्वयं को उसी वर्ग से संबंध रखने वाला मानता है तब उनमें वर्ग चेतना जागृत होती है। वे अपने और अपनी स्थिति पर निजी राय की वस्तुनिष्ठ वास्तविकता से तुलना करना प्रारंभ करते हैं। किसी अधीन वर्ग में वर्ग चेतना का अभ्युदय वह चाबी है जिससे कांति का ताला खुलता है जो अवस्थित शक्ति संरचना को उखाड़ फेंकती है और ऐसी व्यवस्था स्थापित करती है जो नए आर्थिक प्रबंधों के अनुकूल होती है।

## 19.8 वेबर और सत्ता

वेबर मूल रूप से सत्ता का समाज और राज्य के संदर्भ में वर्णन करता है। वेबर, सत्ता को एक कार्यकर्ता द्वारा दूसरों के विरोध के विरुद्ध अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सक्षम होने की संभावना के रूप में परिभाषित करता है जिनके साथ उसके सामाजिक संबंध हैं (वेबर 1994)। यह एक विस्तृत परिभाषा है। उसकी प्रभुता की परिभाषा अधिक सटीक है। यह शक्ति प्रयोग के केवल उन मामलों का जिक्र करता हैं जहां एक कार्यकर्ता दूसरे द्वारा जारी किए गए आदेश का अनुपालन करता है। सत्ता और प्रभुता के बीच भेद करते हुए वेबर ने व्यवस्था की समस्या को हल करने के लिए दो प्रकार के समाधान प्रस्तुत किए। सत्ता उस कार्रवाई को कहते हैं जो लोगों के विरोध और प्रतिरोध के बावजूद सफल हो सकती है जिन पर इसे लागू किया गया हो। यह समाधान विशेष प्रकार से युद्ध और वर्ग संघर्ष में पाया जाता है परंतु इसमें व्यवस्था के दीर्घजीवी समाधान के रूप में अस्थिर होने की कमजोरी निहित है। इसके विपरीत वैध प्रभुता में उन लोगों के स्वैच्छिक अनुपालन का तत्व होता है जिन पर इसे लागू किया गया हो और इस प्रकार यह अर्थपूर्ण कार्रवाई हो जाती है। लागू किए गए कानून और चमत्कार में समाहित विभिन्न सिद्धांतों जैसे परम्परा और राष्ट्रीय विधिक के प्रति निवेदन के रूप में प्रभुता को वैधता प्रदान की जा सकती है।

वेबर के वर्ग, स्थिति और दल के साथ-साथ राज्य और नौकरशाही के विश्लेषण, उसके सत्ता सिद्धांत का केंद्र हैं। प्रत्येक समूह, संघर्ष के स्वतंत्र बिंदु के रूप में शक्ति के इर्द-गिर्द केंद्रित अथवा इससे प्रभावित होता है। प्रत्येक समूह सत्ता के आधार और इसके पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। आइए, हम इन सब पर विस्तार से चर्चा करें।

वर्ग, हैसियत और पार्टी पर वेबर का वर्णन समाज में स्तरीकरण के तीन पक्ष हैं जिनमें से प्रत्येक सिद्धांत दूसरों से अलग है और यह निश्चित करता है कि अनुभव और प्रयोग के स्तर पर प्रत्येक, प्रत्येक दूसरे को अनायास प्रभावित कर सके। वेबर सत्ता के आर्थिक स्रोतों की अवहेलना नहीं करता और इन्हें अधिक महत्वपूर्ण स्रोत मानता है, विशेषतः पूंजीवाद में। लेकिन मार्क्स के विपरीत उसका दावा था कि शक्ति का अभ्युदय केवल आर्थिक स्रोतों से नहीं होता और वह निश्चित रूप से शक्ति को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व तक सीमित नहीं रहता। सत्ता, हैसियत अथवा पार्टी (शक्ति प्राप्त करने वाली संस्थाओं) से भी प्राप्त हो सकती है अथवा सत्ता के लिए ही प्रयास किए जा सकते हैं। सत्ता इन भिन्न-भिन्न प्रकारों में एक दूसरे पर प्रभाव और असर होता है ताकि इन क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र में प्राप्त सत्ता दूसरे क्षेत्र में शक्ति अथवा स्थिति में परिवर्तन की ओर ले जा सकती है।

वेबर के लिए वर्ग एक आर्थिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति है अथवा इसका निर्धारण व्यक्ति की बाजार में स्थिति के आधार पर होता है। यहां एक वर्ग का अभिप्राय समाज में एक समान वर्ग स्थिति के लोगों के कुल जमा योग से है। बाजार स्थिति के आधार पर वर्ग स्थिति की पहचान करने पर उतने ही वर्ग भेद हो सकते हैं जितने आर्थिक आधार पर सूक्ष्म वर्गीकरण हो सकते हैं। लेकिन मार्क्स के अनुरूप ही वेबर मानता है कि सम्पत्ति का स्वामी होना अथवा न होना प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में वर्ग भेद का महत्वपूर्ण आधार है। वेबर दो प्रकार के वर्गों के बीच भेद करता है — पहला वर्ग तो विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग है और दूसरा व्यापारी वर्ग अथवा अधिग्रहित वर्ग। वह मध्यम वर्ग की पहचान भी करता है जिसे इन दोनों के बीच रखा जा सकता है। उसके लिए सभी वर्ग स्थितियों के लिए सम्पत्ति का होना अथवा न होना सभी वर्ग स्थितियों का आधार है। वह एक सामाजिक वर्ग की पहचान भी करता है जो वर्ग हैसियत की अनेकताओं से निर्मित है तथा जिसमें व्यक्तिगत आधार पर अथवा उन्नति के दौरान लोगों की अदला-बदली भी संभव है। वेबर के अनुसार, शक्ति का संबंध सम्पत्ति वाले वर्ग से है क्योंकि वे समाज में अच्छी हैसियत और विशेषाधिकारों का सुख भोगते हैं। अधिग्रहित वर्ग ऋणात्मक विशेषाधिकारों की स्थिति में हैं और वे विभिन्न प्रकार के मजदूर हैं। वे समाज में कम शक्ति रखते हैं। समाज में विभिन्न वर्गों और स्तरों के बीच गतिशीलता संभव है। लेकिन वेबर के अनुसार यह गतिशीलता एक सीमित स्तर तक ही संभव है। वह कहता है कि हैसियत के विस्तृत क्षेत्र में जाने को विभिन्न वर्गों के बीच शक्ति के विभेदक रोकते हैं।

**बॉक्स 19.4: प्रतिष्ठा समूहों की विशेषताएँ**

क्योंकि वेबर मानव आदर्शों की प्रकृति को निर्धारित करने के आर्थिक तथ्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता और ऐसी अवधारणाओं के बीच वर्ग हितों से स्वतंत्र रहकर विभेद करता है और इस प्रकार प्रतिष्ठा समूहों और वर्ग समूहों में भेद करता है। प्रतिष्ठा से वेबर का अभिप्राय किसी व्यक्ति की समाज में वह हैसियत है जिसमें लोग उस व्यक्ति को देखते और रखते हैं। यह ऋणात्मक भी हो सकती है और धनात्मक भी। किसी व्यक्ति की हैसियत का संबंध उस मूल्यांकन से है जो दूसरे लोग उस व्यक्ति के संबंध में करते हैं तथा समाज में उसे एक दर्जा अथवा सम्मान प्रदान करते हैं। प्रतिष्ठा समूह ऐसे लोगों का समूह है जो एक जैसी हैसियत के होते हैं। प्रायः वे अपनी अलग पहचान को एक विशेष जीवन शैली अपनाकर अथवा दूसरों पर अपने से पारस्परिक व्यवहार करने पर पाबंदियां लगाकर जताते हैं। यह स्तरीकरण की व्यवस्था है जो कभी-कभी पक्के वर्गों में बंट कर जड़ हो जाती है यद्यपि उनमें स्पष्ट भेद होते हैं। प्रतिष्ठा समूह अस्थायी होते हैं। सामाजिक सम्मान के अतिरिक्त एक विशिष्ट जीवन शैली और पाबंदियाँ किसी विशेष वर्ग समूह की पहचान बन जाती हैं। वेबर के विचार में वर्ग भेद और प्रतिष्ठा भेद को विश्लेषण और तथ्यों के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है परंतु वे एक दूसरे से संबंधित हैं तथा वे एक दूसरे के क्षेत्र में प्रतिदर्शात्मक रूप से प्रविष्ट करते हैं।

वेबर प्रतिष्ठा और वर्ग समूह की सदस्यता को सामाजिक शक्ति का आधार मानता है। लेकिन राजनीतिक दल के निर्माण का शक्ति पर अधिक प्रभाव होता है। वेबर के अनुसार पार्टी (दल) का अभिप्राय एक स्वैच्छिक संस्था से है जिसका उद्देश्य किसी संगठन में निदेशात्मक नियंत्रण प्राप्त करना होता है ताकि उस संगठन में वे अपनी कुछ निश्चित नीतियों को लागू कर सकें। दल संस्थाएं होती हैं न कि समुदाय अथवा समूह और वे नियोजित ढंग से लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। वेबर यह नोट करता है कि वर्ग आर्थिक व्यवस्था में होते हैं, प्रतिष्ठा समूह सामाजिक व्यवस्था में तथा पार्टियां (दल) शक्ति के क्षेत्र में होती हैं। एक तरफ पार्टियों के बीच में अंतर और दूसरी तरफ प्रतिष्ठा समूहों और वर्गों के बीच अंतर विश्लेषण के तल में हैं। पार्टियां संस्थाएं होती हैं जबकि वर्ग और प्रतिष्ठा समूह लोगों के समूह हैं। यदि प्रतिष्ठा समूह अथवा वर्ग सुसंगठित हो जाएं तो वे पार्टियां बना सकते हैं अथवा उनकी पार्टियाँ वर्ग अथवा प्रतिष्ठा समूह के संगठनात्मक पक्ष बन सकते हैं। व्यापारिक संघ, व्यवसायिक संस्थाएं जातीय संस्थाएं और धार्मिक संस्थान इसके उदाहरण हैं। बड़े स्तर पर पार्टियाँ शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। बड़े स्तर पर शक्ति के संबंध में उसकी अवधारणा के अनुसार शक्ति और प्रभुता में गहरा संबंध है। वह तीन प्रकार की प्रभुता — चमत्कारिक, पारंपरिक और कानूनी — विवेकपूर्ण भेद करता है।

चमत्कारिक नेतृत्व में शक्ति का आधार नेता का चमत्कार होता है। चमत्कार शब्द का प्रयोग किसी के व्यक्तित्व के ऐसे गुण के लिए किया जाता है जिसके कारण वह सामान्य लोगों से अलग होता है तथा अलौकिक शक्ति अथवा विशिष्ट रूप से असाधारण शक्तियों और विशेषताओं से संपन्न होता है। पारम्परिक प्रभुता में युगों पुरानी परंपराए शक्ति का आधार होती हैं। पितृतंत्र पारंपरिक प्रभुता का अच्छा उदाहरण है। कानूनी-तार्किक प्रभुता में शक्ति का आधार वैध कानून होते हैं। वेबर के लिए वर्ग, प्रतिष्ठा और पार्टी तीनों ही शक्ति के स्रोत हैं। अतः शक्ति पर उसके विचार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मानदण्डों के आर-पार जाते हैं।

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

## 19.9 पार्सन्स और सत्ता

पार्सन्स सत्ता को पूरे समाज द्वारा प्राप्त वस्तु मानता है। इस प्रकार समाज में सत्ता एक सामान्य सुविधा अथवा संसाधन है। जन साधारण से किए गए वायदों के अनुसार लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समाज के संसाधनों का उपयोग करने की क्षमता को सत्ता कहते हैं। इस दृष्टि से समाज में सत्ता की मात्रा को सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के स्तर से मापते हैं। अतः किसी सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने की कार्यकुशलता जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक शक्ति समाज में होगी। इस विचार को शक्ति का परिवर्तनीय सिद्धांत कहा जाता है (वेबर और मार्क्स के शक्ति के अचर सिद्धांत से भिन्न) क्योंकि समाज में सत्ता स्थिर दिखाई नहीं देती। अपितु यह परिवर्तनशील है क्योंकि यह घट या बढ़ सकती है (हरलम्बोस 1980, टर्नर 1996)।

सत्ता पर पार्सन्स के विचारों को उसके 'समाज के सामान्य सिद्धांत' से विकसित किया गया है। उसका विश्वास है कि समाज में व्यवस्था, स्थायित्व और सहयोग का आधार मूल्यों के प्रति समाज की चिन्ता है अर्थात यह समाज के लोगों द्वारा एक सामान्य सहमति है कि समाज के लिए क्या अच्छा और उपयोगी है। उसका मानना है कि मूल्यों पर इस प्रकार की सहमति समाज व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। संयुक्त मूल्यों से संयुक्त लक्ष्य उत्पन्न होते हैं जो पूरे समाज के लक्ष्य होत हैं। उदाहरण के लिए यदि भौतिकवाद पश्चिमी औद्योगिक समाज का प्रमुख मूल्य है तो सामूहिक लक्ष्य जैसे आर्थिक विस्तार और उच्च जीवन स्तर उस प्रमुख मूल्य की उत्पत्ति कहा जा सकता है। अधिक सक्षम पश्चिमी समाजों को भी इन लक्ष्यों को प्राप्त करना है। आर्थिक विकास और धीरे-धीरे ऊंचा उठता जीवन स्तर पूरे समाज में बढ़ती शक्ति का सूचक है।

समाज के भीतर सत्ता विभेदक संबंधी पार्सन्स के विचार भी उसके समाज व्यवस्था के सामान्य सिद्धांत से विकसित किए गए हैं। उसका मत है कि क्योंकि समाज के सभी लोगों के लक्ष्य सांझे हैं, इसलिए उन सांझे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ही सामान्यतः सत्ता का प्रयोग किया जाएगा। अतः पार्सन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में सत्ता का पक्ष सम्पूर्णात्मक है जैसे समाज का स्तरीकरण। पार्सन्स का मत है कि मूल्यों पर सहमति सभी समाजों का एक अनिवार्य तत्व है। उसके आधार पर ही संयुक्त मूल्यों के आधार पर व्यक्तियों को श्रेणीबद्ध करने से एक प्रकार का स्तरीकरण हो जाता है। अतः जो समाज में सफलतापूर्वक निर्वाह करते हैं वे मूल्यों को महत्व देते हैं और उन्हें उच्च सम्मान और शक्ति प्रदान की जाती है। अतः क्रियावादी पार्सन्स का विश्वास है कि समाज के विभिन्न स्तरों के बीच शक्ति और प्रतिष्ठा का यह वितरण न्यायोचित है क्योंकि मूलतः वे संयुक्त मूल्यों की अभिव्यक्ति हैं।

पार्सन्स सामाजिक समूहों के बीच संबंधों को विवाद और संघर्ष के स्थान पर सहयोग और परस्पर निर्भरता का मानता है। जटिल औद्योगिक समाजों में भिन्न-भिन्न समूह किसी गतिविधि में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। कोई भी समूह आत्मनिर्भर नहीं होता अतः वह समूह अपने सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता और इस लिए प्रत्येक समूह अन्य समूहों के साथ वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान के साथ आपसी व्यवहार प्रारंभ करता है जिससे भिन्न सामाजिक समूहों के बीच संबंध लेन-देन के होते हैं। यह संबंध स्तरीकरण व्यवस्था में ऊपर के स्तर तक होते हैं। अलग समाजों में, जहां उच्च विशेषज्ञता के आधार पर श्रम विभाजन दिखाई देता है,वहाँ कुछ सदस्य संगठन और योजना के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं (शासक वर्ग) और अन्य उनका अनुकरण करते है। (शासित वर्ग)। पार्सन्स कहता है कि इसके आधार पर शक्ति और प्रतिष्ठा की दृष्टि से असमानता पैदा होती है।

**बॉक्स 19.5: सत्ता और प्रतिष्ठा**

पार्सन्स का मत है कि शक्ति में असमानता संयुक्त मूल्यों पर आधारित है। सत्ता वैध शक्ति है और इसमें समाज के सभी सदस्य संयुक्त रूप से इसे ठीक और न्यायोचित मानते हैं। इसे इसी रूप में स्वीकार किया जाता है क्योंकि सत्ता के पद अपनी शक्ति का प्रयोग उन सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं जो समाज के केंद्रीय मूल्यों से निरूपित किए जाते हैं। पार्सन्स का विचार है कि समाज के स्तरीकरण से जुड़े शक्ति और प्रतिष्ठा के विभेदक समाज के लिए अपरिहार्य और व्यावहारिक हैं। यह अपरिहार्य है क्योंकि यह संयुक्त मूल्यों से निरूपित है जो सभी सामाजिक व्यवस्थाओं का आवश्यक भाग है। यह व्यवहारिक है क्योंकि यह कई सामाजिक समूहों को एकीकृत करने का काम करते हैं।

पार्सन्स ने सत्ता के संबध में अपने बाद के लेखन में अपने विचारों में काफी सुधार किया है (गिड्डन 1995)। अपने बाद के लेखन में सी.डब्ल्यू मिल्स के शक्ति सिद्धांत की आलोचना करते हुए पार्सन्स "सत्ता" को सामाजिक व्यवस्था की उपजं मानते हैं, ठीक वैसे ही जैसे उत्पादक अर्थव्यवस्था में धन-सम्पदा को पैदा किया जाता है। पार्सन्स ने शक्ति और धन के बीच जो समानता विकसित की वह इस विचार पर आधारित थी कि उनमें से प्रत्येक की पार्सन्स द्वारा विकसित सामाजिक व्यवस्था की उपव्यवस्थाओं की चार गतिविधियों में से दो में समान भूमिका थी।

पार्सन्स शक्ति को सत्ता से निकला हुआ मानता है और उसके लिए सत्ता संस्थागत वैधता थी जिसके अंतर्गत शक्ति निहित है और इसको नेताओं द्वारा समाज समूह से सहयोग की अपेक्षा अधिकार के रूप में परिभाषित किया गया (पार्सन्स1960)। बाध्यकारी दायित्वों के विषय में बोलकर पार्सन्स ने जानबूझ कर शक्ति की परिभाषा में वैधता को सम्मिलित किया क्योंकि उसके लिए अवैध शक्ति जैसी कोई चीज नहीं थी (गिड्डनस 1995)।

**अभ्यास 19.5**

राज्य और सत्ता के विषय में पार्सन्स के विचारों को रेखांकित कीजिए।

पार्सन्स ने इस बात पर बल दिया कि शक्ति प्रयोग बहुत से साधनों में से एक साधन है जिससे एक पक्ष दूसरे पक्ष से अपेक्षित कार्यविधि की अनुपालना प्राप्त कर सके। पार्सन्स कहता है कि पुरस्कार अथवा दमन जैसे तरीके अपनाकर अनुपालना प्राप्त की जा सकती है। लेकिन अधिकांश मामलों में जब शक्ति प्रयोग की जा रही थी तो उसमें कहीं कोई प्रत्यक्ष आज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया था। पार्सन्स का यह मत था कि शक्ति के अधिकार और प्रयोग का बल प्रयोग के साथ दिखाई न दिए जाने पर बल देना विशेष रूप से जरूरी है।

## 19.10 राज्य एवं सत्ता के अन्य प्रारूप

राज्य और सत्ता के दोनों सिद्धांत आवश्यक रूप से विवादित सिद्धांत हैं। राज्य और सत्ता के अनेक सामाजिक सिद्धांत और प्रारूप हैं जो इनके उद्गम, विकास और प्रभाव के भिन्न-भिन्न विवरण प्रस्तुत करते हैं। उदारवादी सिद्धांत, अनेकतावादी सिद्धांत, इलीट सिद्धांत नव मार्क्सवादी और अराजकतवादी सिद्धांत कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जिनका नीचे संक्षेप में वर्णन किया गया है।

राज्य का उदारवादी सिद्धांत हाब्स और लॉक्स जैसे विचारकों के सामाजिक अनुबंधन सिद्धांतों के समय का है। इन विचारकों का मत था कि राज्य का अभ्युदय व्यक्तियों द्वारा स्वैच्छिक समझौते अथवा सामाजिक अनुबंधन से हुआ है जिसमें लोगों की मान्यता है कि एक संप्रभु शक्ति की स्थापना ही उन्हें असुरक्षा, अव्यवस्था अथवा प्रकृति की क्रूरता से बचा सकती है। यहां राज्य समाज में प्रतिस्पर्धी समूहों और व्यक्तियों के बीच एक तटस्थ मध्यस्थ है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने साथियों के अतिक्रमण से बचाने में सक्षम है। इस लिए राज्य एक तटस्थ इकाई है जो सामान्य भलाई अथवा जन हित के प्रतिनिधि के रूप में सब के हित में काम कर रही है।

MAADHYAM IAS

आधुनिक लेखकों ने उदारवादी सिद्धांत को राज्य के अनेकतावादी सिद्धांत के रूप में विस्तार दिया है। अनेकतावादी सिद्धांत का तर्क है कि सत्ता शासक वर्ग के किसी संभ्रात समूह के बजाय अनेक प्रकार के सामाजिक समूहों में फैली होती है। यह विकेंद्रीकृत, बहुत लोगों में विभक्त, विसरित और खंडित होती है, जो कई स्रोतों से निकलती है। आरनल्ड रोज, पीटर बेटले, रोबर्ट डहल, टेलकॉट पार्सन्स तथा नील स्मेलसर कुछ मुख्य अनेकतावादी विचारक हैं। इस सिद्धांत के प्रवक्ता रोबर्ट डहल ने कई लोगों के शासन को बहुशासित राज्य कहा। अनेकतावादियों के परिप्रेक्ष्य में दो या अधिक राजनीतिक दलों के बीच प्रतिस्पर्धा प्रतिनिध्यात्मक सरकार का आवश्यक लक्षण है । अनेकतावादियों के अनुसार विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले हित समूह और दबाव समूह राज्य की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। अनेकतावादियों का मानना है कि संगठित समूहों और हितों में एक मोटी सी समानता यह होती है कि प्रत्येक की सरकार तक कुछ न कुछ पहुंच होती है और सरकार सबको बिना पक्षपात के सुनने को तैयार होती है। उनका दावा है कि राजनीतिक दलों में पद के लिए प्रतिस्पर्धा होने से मतदाताओं को अपने नेता चुनने और सरकारी नीतियों को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त होता है। अनेकतावादी सिद्धांत उदारवादी, लोकतांत्रिक राज्य के अभ्युदय को स्पष्ट करता है। अनेकतावादियों के लिए राज्य संस्थागत शक्ति एवं सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है और यह आधुनिक समाज में प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र का सर्वोच्च रक्षक है। राज्य का प्राथिमक कार्य बहुत से प्रतियोगी समूहों के हितों के बीच संतुलन स्थापित करना, पूरे समाज के हितों का प्रतिनिधित्व करना तथा अन्य प्रमुख संस्थाओं से सहयोग करना है। वे राज्य को प्रतियोगी एवं संघर्षरत संस्थाओं का समुच्चय मानते हैं न कि एक अखंडित इकाई, जो

शेष समाज पर अपनी शक्ति का प्रयोग करती है (स्मिथ 1995)। उनका मत है कि शक्ति केवल प्रत्यक्ष संघर्ष में अवस्थित होती है और लोगों के हित साधारणतया इन प्रत्यक्ष प्राथमिकताओं में स्पष्ट होते हैं। राज्य का एक वैकल्पिक नव-अनेकतावादी सिद्धांत जे.के.गालब्रेथ और चार्ल्स लिन्डब्लोम जैसे लेखकों ने विकसित किया। उनका मत है कि आधुनिक औद्योगिक राज्य अधिक जटिल हैं और जन दबाव के समक्ष शास्त्रीय अनेकतवादी प्रारूप की तुलना में कम उत्तरदायी हैं। उनके अनुसार लोकतंत्र का अर्थ प्रत्यक्ष लोकप्रिय शासन से बदलकर राज्य का नियंत्रण पाने के लिए संभ्रांत वर्ग के बीच प्रतियोगिता हो गया है। उनका तर्क है कि संभ्रात जन कोई एक संगठित समूह नहीं है अपितु ये राजनीतिक शक्ति के अनेक केंद्र हैं। नव-अनेकतावादी संभ्रात लोगों और विशेषतः निगम संबंधित संभ्रात लोगों को सरकार और राज्य की नीतियों पर अधिक प्रभावकारी मानते हैं और ये अन्य हित समूहों के प्रभाव को बाधित कर सकते हैं।

राज्य का संभ्रातवादी सिद्धांत कहता है कि सभी समाज दो मुख्य समूहों — शासक और शासित में बंटे होते हैं। शास्त्रीय संभ्रातवादी विचारकों जैसे कि विल्फ्रेडो पारेटो, गैटनो मोस्का और रोबर्ट माईकल का तर्क था कि राजनीतिक शक्ति सदैव छोटे विशिष्ट समूह के हाथों में होती है और समाजवाद (मार्क्सवादी सिद्धांत) तथा लोकतंत्र (अनेकतवादी सिद्धांत) एक कोरी कल्पना हैं। संभ्रातवादी विचारकों को यह प्रश्न परेशान करता है कि ऐसा क्यों और कैसे होता है कि अल्पमत सदैव बहुमत पर शासन करता है। यह एक ऐसा तथ्य है जो किसी भी समाज में अपरिहार्य है। उनके अनुसार सामाजिक शक्ति विशिष्ट समूहों में केंद्रित होती है जो प्रमुख सामाजिक संस्थाओं के संसाधनों को नियंत्रित करते हैं और कोई समाज चाहे कितना भी लोकतांत्रिक हो, संभ्रात जन ही अधिकांश शक्ति रखते हैं, सभी अथवा अनेक शक्ति साधनों का प्रयोग करते हैं और शक्ति स्वयं में साध्य हो जाती है।

पारेटो संभ्रात जन के शासन के आधार के रूप में मनोवैज्ञानिक लक्षणों पर विशेष जोर देता है। उसका विचार है कि दो प्रमुख प्रकार के विशिष्ट जन होते हैं जिन्हें उसने शेर और लोमड़ी कहा। शेर सीधी और निर्णायक कार्रवाई करने की क्षमता के कारण शक्ति प्राप्त करते हैं और वे बलपूर्वक शासन करने का प्रयत्न करते हैं। सैनिक तानाशाही इस प्रकार के शासक विशिष्टजन का उदाहरण है जबकि (फोक्सिज़) लोमड़ियाँ चालाकी, कपट तथा कूटनीतिक चालबाजी और मक्कारी से शासन करती हैं।

समाज में तब प्रमुख परिवर्तन होता है जब एक संभ्रात समूह दूसरे को हटाता है और पारेटो इस क्रिया को संभ्रात जनों का परिचक्र कहता है और उसका विश्वास है कि इतिहास संभ्रात जनों के परिचक्रण का कभी न समाप्त होने वाला चक्र है। उसके लिए राज्य, शासक विशिष्टजन के हाथ में एक हथियार है। वह आधुनिक लोकतंत्रों को विशिष्टजनों की प्रभुता का एक अन्य रूप मानता है।

**बॉक्स 19.6: अल्पमत का शासन**

गैटनों मोस्का का विश्वास था कि अल्पमत द्वारा शासन सामाजिक जीवन का एक अपरिहार्य लक्षण है। वह दावा करता है कि प्रत्येक समाज में लोगों के दो वर्ग दिखाई देते हैं — एक वर्ग जो शासन करता है और दूसरा जिस पर शासन किया जाता है। पहला वर्ग, जो सदैव गिनती में कम होता है, सभी राजनीतिक कार्यों को करता है और शक्ति तथा शक्ति के साथ आने वाले लाभों पर एकाधिकार जमाता है जबकि दूसरा वर्ग, जो संख्या में अधिक होता है, पहले द्वारा निदेशित एवं शासित होता है। उसका मत है कि लोकतंत्रों एवं शासन के अन्य रूपों के बीच कई महत्वपूर्ण अंतर हैं। समान व्यवस्थाओं के बीच जैसे जाति और सामन्तवादी समाजों के बीच तुलना करने पर लोकतांत्रिक समाजों में शासक संभ्रात जन स्वतंत्र हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि के विस्तृत क्षेत्र से किसी एक संभ्रात वर्ग के आने की संभावना अधिक होती है। परिणामस्वरूप

विभिन्न समाज समूहों के हितों को संभ्रात जनों द्वारा लिए गए निर्णयों में दर्शाया जा सकता है । इसलिए बहुमत का सरकार पर कुछ नियंत्रण हो सकता है।

सी.राईट मिल्स संभ्रात शासन को संस्थाओं की शब्दावली में वर्णित करता है। वह अपने शक्ति के प्रारूप में वर्णन करता है कि संस्थाओं की संरचना इस प्रकार की होती है कि संस्थाओं के शिखर पदों पर बैठे लोग शक्ति पर एकाधिकार जमा लेते हैं। उसके अनुसार अमरीका की राजनीति में बड़े औद्योगिक और सैनिकों का प्रभुत्व था जिसे आमतौर पर सैनिक औद्योगिक गठजोड़ कहा जाता था और जो सरकारी नीतियों को तय करते थे। उसका दावा था कि अमरीका की एक लोकतांत्रिक बहुलतावादी समाज की तस्वीर झूठी थी जिसमें निर्णय लेने की प्रक्रिया विकेंद्रीकृत और शक्ति का विभेदीकरण था। वास्तव में, संविधान के पर्दे के नीचे एक एकीकृत शक्तिशाली संभ्रात वर्ग था जो सभी महत्वपूर्ण निर्णयों में अपनी इच्छा चलाता था। इस संभ्रात वर्ग में अमरीकी समाज के तीन परस्पर जुड़े वर्गों व्यापार, राजनीति और सेना से जुड़े लोग होते थे। मिशैल ने जटिल संस्थाओं के कारण शक्ति का एक संभ्रात वर्ग के हाथों में केंद्रीकृत होना आवश्यक माना। उसका कुलीनतंत्र का दृढ़ नियम स्पष्ट करता है कि आधुनिक समाजों में पार्टियों का अत्यधिक संगठित होना जरूरी है और इस प्रकार वे अपरिहार्य रूप से कुलीनतंत्रवादी हो जाती हैं जिन्हें पार्टी के नेताओं द्वारा चलाया जाता है और अधिकांश सदस्यों को निर्णय लेने की प्रक्रिया से बाहर कर दिया जाता है (मिशेल 1962)।

पुराने मार्क्सवादी राज्य दमनकारी भूमिका पर बल देते हैं। लेकिन नव-मार्क्सवादी बुर्जआ राज्य की वैधता का, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और दमनकारी राज्य के विकास की उपलब्धियों के आधार पर वर्णन करते हैं। एंटोनियो ग्रेमसी और लुइस एल्थुसर ने नव मार्क्सवाद को काफी हद तक प्रभावित किया। एंटोनियो ग्रेमसी के अनुसार आधुनिक परिस्थितियों में राजनीतिक दल ही राज्य का निर्माण करते हैं। वह राज्य के मध्यस्थवादी सिद्धांत का प्रवक्ता था। उसने इस बात पर बल दिया कि शासक वर्ग द्वारा प्रभुता प्राप्त करना केवल दमन पर ही नहीं अपितु सहमति बनाने पर भी निर्भर करता है। उसका मानना था कि सैद्धांतिक और राजनीतिक ढांचे उपरि ढांचे की तुलना में अधिक स्वायत्त होते हैं। उसकी मान्यता थी कि बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा वर्ग पर अपना आधिपत्य, सैद्धांतिक नेतृत्व और प्रभुता स्थापित कर ली थी और इस काम में राज्य की मुख्य भूमिका थी। ग्रेमसी (Gramsci) द्वारा प्रयुक्त शब्द "आधिपत्य" से उसका अभिप्राय ऐसे ढंग से था जिसके माध्यम से प्रभुता प्राप्त वर्ग अपने शासन के लिए समझौतों और अन्य वर्गों के कुछ बिखरे लोगों से गठजोड़ कर स्वीकृति और सहमति प्राप्त करता है तथा उस तरीके से भी जिससे यह स्थापित किया जाता है कि शासन एक स्थायी सामाजिक रचना है। उसके अनुसार नागरिक समाज में आधिपत्य सबसे पहले वहाँ प्राप्त होता है जहां विचारधारा जीवन के साम्प्रदायिक रूपों में इस प्रकार गुत्थी हुई होती है कि इसे लोगों का सामान्य ज्ञान माना जाता है। उसके अनुसार नागरिक समाज के सभी संबंधों में न केवल वर्ग संबंध अपितु शक्ति और संघर्ष के मुद्दे भी सम्मिलित होते हैं। फ्रांसीसी मार्क्सवादी विचारक लुईस अल्थुसर राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत की कार्यात्मक विवेचना करता है। वह तुलनात्मक दृष्टि से राज्य को आर्थिक आधार से मुक्त मानता है परंतु उसके लिए राज्य उत्पादन के नए ढंग पैदा करने हेतु कार्य करता है। वह आगे कहता है कि उत्पादन के पूंजीवादी ढंग के लिए आवश्यक है कि राज्य अपने अस्तित्व के लिए परिस्थितियां पैदा करे तथा आर्थिक और राजनीतिक स्तरों के बीच परस्पर विरोधी निर्धारण होता है (अल्थुसर 1971)।

**अभ्यास 19.6**

परीक्षण कीजिए कि अनेकतावादी और संभ्रातवादियों की राज्य और शक्ति के विषय पर सोच में अंतर है।

यद्यपि नव मार्क्सवादी अवधारणा में राज्य को एक मध्यस्थ के रूप में देखने से उदारवाद की झलक मिलती है परंतु फिर भी, यह आधुनिक राज्य के वर्ग चरित्र पर इस संकेत के साथ बल देती है कि राज्य पूंजीवाद के दूरगामी लाभ के लिए कार्य करता है और इसलिए असमान वर्ग शक्ति की स्थापना करता है।

अराजकतावादी राज्य शक्ति की निन्दा करते हैं और उनका विश्वास है कि राज्य तथा राजनीतिक सत्ता के सभी रूप बुरे और अनावश्यक हैं। वे राज्य को दमन का बड़ा केंद्र मानते हैं जो केवल सत्तासीन लोगों की अपने लाभ के लिए दूसरों को आधीन बनाने की इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

## 19.11 सारांश

इस इकाई ने कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर एवं अन्य विचारकों द्वारा राज्य और सत्ता की सैद्धांतिक प्रक्रिया से परिचित करवाया है। मार्क्स ने राज्य और सत्ता की अवधारणा को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के आधार पर समझाया। राज्य और सत्ता को समझाने के लिए आर्थिक गतिविधियां जैसे उत्पादन के प्रकार, उत्पादन एवं वितरण के साधन मार्क्स के विचार के मुख्य आधार थे। मार्क्स ने आर्थिक शक्ति की भूमिका पर बल दिया और कहा कि जिनके पास आर्थिक शक्ति का नियंत्रण है वे ही समाज के उपरि ढांचे पर अधिकार रखते हैं। वेबर ने राज्य को मानव समुदाय के रूप में परिभाषित किया जो एक निश्चित क्षेत्र में शारीरिक बल प्रयोग की वैधता का दावा करता है। उसने वर्णन किया है कि राज्य ने किस प्रकार शक्ति को प्रयोग करने की वैधता प्राप्त की। उसने राज्य के मामलों में निर्णय लेने के लिए नौकरशाही को प्राथमिकता दी और राज्य के भीतर सत्ता के वैध प्रयोग हेतु विवेकशीलता पर जोर दिया। वेबर ने शक्ति और वैधता के बीच निकट का संबंध बताया। उसके लिए वर्ग, प्रतिष्ठा और पार्टी समाज में स्तरीकरण के तीन आयाम हैं। वेबर ने मार्क्स की भांति आर्थिक सिद्धांत पर अधिक बल नहीं दिया। उसने प्रभुता के तीन प्रकारों — चमत्कारिक, परम्परागत और विधि विवेकसंगत — में भेद किया।

इस इकाई में, राज्य और सत्ता के सिद्धांतों को क्रियावादियों तथा अन्य सैद्धांतिक प्रारूपों जैसे उदारवाद, अनेकतावाद, नव मार्क्सवाद एवं संभ्रातवाद में किस प्रकार वर्णित किया गया है, पर भी दृष्टिपात किया गया है।

## 19.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**हेमिल्टन पीटर 1983.** *टालकॉट पार्सन्स*। टविस्टॉक पब्लिकेशंसः लंदन।

**इयान, क्रेब 1997.** *क्लासिकल सोशल थ्योरी, एन इंट्रोडक्शन टु मार्क्स, वेबर ऐंड सिमिल।* **ऑक्सफोर्ड** यूनिवर्सिटी प्रेसः ग्रेट ब्रिटेन।

**रेनहर्ड, बेंडिक्स 1977.** *मैक्स वेबरः एन इंटेलेक्टुअल पोरट्रेट*। यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया **प्रेसःयूके।**

**वेबर, मैक्स 1994.** *वेबरःपॉलिटिकल राइटिंग्स।* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसः यूके।

## 19.13 संदर्भ ग्रंथावली

**दास, हरिहर एंड चौधरी 1999.** *पॉलिटिकल थ्योरीः ट्रेडिशनल एंड माडर्न थ्योरी।* नेशनल **पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली।**

**गिडंस, ए. 1995. पॉलिटिक्स,** सोसियोलॉजी एंड सोसल थ्योरीः एनकाउंटर विद **क्लासिकल एंड कंटेम्पोरेरी सोसल** थाउट्स। पॉलिटी प्रेसः ऑक्सफोर्ड, यूके।

**गोवर्डे, हेनरी एट एल (एडी.) 2000.** पॉवर इन कंटेम्पोरेरी पॉलिटिक्सः थ्योरीज, **प्रैक्टिसेस** एंड ग्लोबेलाइजेशन। सेज पब्लिकेशंसः लंदन।

हेमिल्टन पीटर 1983. टलकॉट पार्संस, टविस्टॉक पब्लिकेशंसः लंदन।

हरलम्बोस, एम. 1980. सोसियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स। यूनिवर्सिटी टयूटोरियल प्रेस लि. कैम्ब्रिज।

हेवुड, एंड्रयू 1994. पॉलिटिकल थ्योरीः एन इनट्रोडक्शन, पालग्रेव, न्यूयार्क।

इयान, क्रेब 1997. क्लासिकल सोशल थ्योरी, एन इंट्रोडक्शन टु मार्क्स, वेबर ऐंड सिमिल। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः ग्रेट ब्रिटेन।

जॉन पी डिगिंस 1999. मैक्स वेबरः पॉलिटिक्स एंड स्प्रिट ऑफ ट्रेजडी। बेसिक बुक्सः यूके।

जौन्स, फिलिप. लिप 1991. थ्योरी एंड मैथड इन सोसियोलॉजी। बिलिंग एंड संस लि. लंदन।

ककाबादसे. ए एंड सी. पार्कर (एडी.) पॉवर, पॉलिटिक्स एंड आर्गेनाइजेशनंसः ए बिहैवोरियल साइंस व्यू। न्यूयार्कःजॉन विली एंड संस।

केट, नाश 2000. कंटेम्पोरेरी पॉलिटिकल सोसियोलॉजीः ग्लोबेलाइजेशन, पॉलिटिक्स एंड पॉवर। ब्लेकविल पब्लिशर्स, यूके।

लसमेन पीटर 2000. द रूल ऑफ मेन ओवर मेनः पॉलिटिक्स, पॉवर एंड लेजिटिमेशन। इन

मार्क्स, के. 1990. कैपिटलः वाल्यूम 1 (बी.फोक्स [illegible])। न्यूयॉर्कःपेंगुइन।

मार्क्स के एंड फ्रेडरिक एंगल्स, 1968, द जर्मन आइडियोलॉजी, मास्कोःप्रोगेस पब्लिशर्स।

मिलर, रिचर्ड, एनालाइजिंग मार्क्स, प्रिंसटन एनजेः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984.

पार्संस टी. 1960. ऑन द कंसेप्ट ऑफ पॉलिटिकल पॉवर। इन टर्नर, ब्रायन.एस. 1999. द टालकट पार्संस रीडर। ब्लेकविलः यूके।

पार्संस टी. 1960. द डिस्ट्रीब्यूसन ऑफ पॉवर इन अमेरिकल सोसायटी। इन टर्नर, ब्रायन.एस. 1999. द टालकट पार्संस रीडर। ब्लेकविलः यूके।

रेनहर्ड, बेंडिक्स 1977. मैक्स वेबरः एन इंटेलेक्टुअल पोरट्रेट। यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया प्रेसःयूके।

रॉबर्ट एलन जौंस 1986. एमाइल दुर्खाइमः एन इंट्रोडक्शन टु फोर मेजर वर्क्स। सेज पब्लिकेशंसः लंदन।

रॉबर्टसन, रोलेंड एंड ब्रायन. एस. टर्नर (एडी.) 1991. टालकट पार्संसः थ्योरिस्ट ऑफ मार्डर्निटी। सेज पब्लिकेशंसः लंदन।

सिंगर, पीटर, मार्क्सः ए वेरी शॉर्ट इंट्रोक्शन, ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000.

टर्नर ब्रायन (एडी.) 1996. सोसल थ्योरी। ब्लेकवेल पब्लिशर्स, यूके।

टर्नर ब्रायन (एडी.) 1999. द टॉलकट पार्संस रीडर। ब्लेकवेल पब्लिशर्स, यूके।

टर्नर, स्टीफन (एडी.) द कैम्ब्रिज कम्पेनियन टु वेबर। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसः कैम्ब्रिज।

वेबर, मैक्स 1994. वेबरः पॉलिटिकल रांइटिंग्स। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसः कैम्ब्रिज।

वेथरली, पॉल। 1998. ए कैपिटलिस्ट स्टेट? मार्क्स एम्बिगस लीगेसी। इन कॉलिंग मार्क (एडी.) द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टोः न्यू इंटरप्रीटेशंस। एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी प्रेसः एडेनबर्ग।

वोल्फ, जॉनथन 2002. व्हाई रीड मार्क्स टुडे? ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः ऑक्सफोर्ड।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 20

# नागरिकता

**इकाई की रूपरेखा**


20.1 प्रस्तावना

20.2 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

20.3 परिभाषा

20.4 वैश्विक नागरिकता

20.5 दोहरी नागरिकता

20.6 राज्य और नागरिक

20.7 राष्ट्र-राज्य और नागरिकता

20.8 नागरिकता से जुड़े अधिकार और कर्त्तव्य

20.9 नागरिक समाज

20.10 बहुसंस्कृतिवाद और नागरिकता

20.11 सारांश

20.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आपः

- वैश्विक और दोहरी नागरिकता को परिभाषित कर सकेंगे;
- नागरिक के अधिकारों और कर्त्तव्यों को जान सकेंगे; और
- नागरिक स्वतंत्रता का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

## 20.1 प्रस्तावना

नागरिकता, किसी भी लोकतंत्र में सर्वाधिक प्रयोग होने वाला शब्द है। इस शब्द का प्रयोग राजनीति के सभी स्तरों, औपचारिक कानूनी दस्तावेजों, कानूनों, संविधानों, पार्टी घोषणापत्रों तथा भाषणों में होता है। लेकिन नागरिकता क्या है? अथवा नागरिक कौन है? एक राष्ट्र राज्य में रहने वाला कोई भी व्यक्ति नागरिक नहीं होता। एक राष्ट्र-राज्य में रहने वालों में नागरिक और विदेशी होते हैं। एक नागरिक केवल निवासी ही नहीं होता। वह राज्य के सीमा क्षेत्र में केवल रहता ही नहीं है। एक नागरिक वह होता है जो राज्य की प्रक्रियाओं में भाग लेता है। एक लोकतांत्रिक समाज में नागरिकों और सरकार में आदान-प्रदान का संबंध होना चाहिए। सभी सरकारें अपने नागरिकों से कुछ कर्त्तव्यों का निर्वहण मांगती है। लेकिन इसके बदले में सरकार को भी अपने पर कुछ कर्त्तव्य अवश्य लेने चाहिए। इन्हें अधिकार कहते हैं। एक नागरिक को राजनीतिक अधिकार अवश्य मिलने चाहिए। कानूनों द्वारा शासित व्यक्ति को यदि राजनीतिक अधिकार नहीं मिलते तो वह नागरिक नहीं है।

सभी प्रकार की सरकारों के अंतर्गत नागरिकों का होना संभव नहीं है। गैर लोकतांत्रिक सरकारों के पास नागरिक नहीं हो सकते। वहां केवल शासक और शासित होते हैं। गैर-लोकतांत्रिक सरकारों में रहने वाले लोगों के सरकार के प्रति दायित्व तो होते हैं परंतु अधिकार नहीं होते। सरकार उनसे कर्त्तव्य पालन, टैक्स देना, कानून मानना और वह सब

करने की अपेक्षा करती है जो वह उनसे करवाने की इच्छा रखती है। लेकिन वे अपने शासक से प्रश्न नहीं कर सकते और न ही उनके क्रियाकलापों के विषय में कुछ पूछ सकते हैं। ऐसे समाजों में राजनीति की केवल एक दिशा होती है । सरकार लोगों को बताती है कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं परंतु उनको सुनती नहीं है। केवल शासकों के पास ही अधिकार होते हैं। शासकों द्वारा शासितों के लिए कर्त्तव्य निश्चित किए जाते हैं। ऐसी गैर-लोकतांत्रिक सरकारें, लोकतांत्रिक सरकारों से अधिक देखी जाती हैं। सामन्ती राज्य बुरी तरह से गैर लोकतांत्रिक थे। आज के युग में भी पूरी तरह गैर लोकतांत्रिक सरकारें रही हैं। नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली क्रूर सर्वसत्तात्मक राज्य के उदाहरण हैं। इसी प्रकार के औपनिवेशिक राज्य थे। लोकतांत्रिक सरकारें जरूरी नहीं कि पश्चिम के औद्योगिक रूप से उन्नत समाज से जुड़ी हों। ब्रिटिश, शासन की लोकतांत्रिक विधि के लिए प्रख्यात थे लेकिन उन्होंने अपने उपनिवेशों में निकृष्ट प्रकार का निरंकुश शासन रखा। फ्रांस एक लोकतांत्रिक देश है लेकिन उसने अलजीरिया में वहशी औपनिवेशिक युद्ध किया। बहुत से औपनिवेशक राज्य घर पर तो लोकतंत्र का व्यवहार करते थे परंतु बाहर सत्तात्मकवाद का। औद्योगिक राज्य जर्मनी और इटली ने अपने युद्धकाल में सर्वाधिक क्रूर फासिस्ट सरकारें पैदा कीं। इतिहास के आधार पर नागिरक शब्द का संबंध लोकतंत्र के अभ्युदय से जुड़ा हुआ है। लोकतांत्रिक सरकारों की मांग सबसे पहले पश्चिमी समाजों — इंग्लैण्ड, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका में उठी।

लोकतंत्र का अर्थ है कि प्रत्येक के पास राजनीतिक अधिकार होने चाहिए। जब किसी व्यक्ति के पास राजनीतिक अधिकार होते हैं, मत देने का अधिकार होता है और वह अपने समाज के समक्ष उठी समस्याओं के प्रति निर्णय लेने में भागीदार होता है तब वह नागरिक होता है। सार्वभौमिक मताधिकार नया विचार और सिद्धांत है। लोकतंत्र के विचार लोगों को अधिकारों के लिए संघर्ष करने को प्रेरित करते हैं। लोकतंत्र को बनाने वाले अनेक विचारों को महान क्रांतियों के बाद स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए क्रांति के बाद फ्रांस गणतंत्र बन गया। सभी नागरिकों को समान माना गया और उन्हें समान अधिकार दिए गए। क्रांतिकारियों ने मनुष्य के अधिकारों का घोषणा पत्र प्रकाशित किया। यह यूरोप में लोकतांत्रिक क्रांति का प्रतीक बन गया। प्रारंभ में बहुत कम लोगों को मत देने का अधिकार अथवा चुनाव लड़ने का अधिकार था। लेकिन लोगों ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के लिए संघर्ष किया । अंत में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया गया और प्रत्येक को मताधिकार प्राप्त हुआ।

नागरिक शब्द 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद लोकप्रिय हुआ। बाद में जहां कहीं और जब भी लोकतांत्रिक सरकारों का गठन हुआ तब इस शब्द का प्रयोग किया गया। वर्तमान में यह सामान्य है कि लोकतंत्र में लोगों को नागरिक के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसका अर्थ है कि अपनी सरकार के संदर्भ में व्यक्ति सक्रिय होता है न कि निष्क्रिय। वह केवल सरकार की वाणी को सुनता और आज्ञा पालन ही नहीं करता। अपितु सरकार को भी उसे सुनना चाहिए। उसे अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता, सरकार को परामर्श देने एवं देश की राजनीति में सम्मिलित होने का अधिकार है। नागरिकों के पास केवल अधिकार ही नहीं होते; उनके अपने देश, समाज और साथी नागरिकों के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं। वह व्यक्ति नागरिक होता है जिसके पास संविधान द्वारा दिए गए अधिकार होते हैं और यह अधिकार उस पर कुछ कर्त्तव्य भी लादते हैं। एक अच्छा नागरिक वही होता है जो अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहता है।

एक लोकतांत्रिक राज्य के लिए अनिवार्य है कि उसके नागरिक सरकारी कार्यों में भागीदारी करें। लोकतंत्र की गुणवत्ता में तब सुधार होता है जब जीवन के हर क्षेत्र के लोग इसकी गतिविधियों में भाग ले सकें और यदि वे अपने समाज के लिए महत्वपूर्ण निर्णय लेने की मूल प्रक्रियाओं में भी रुचि लें। लोकतंत्र का अर्थ है कि पूरे समाज को प्रभावित करने वाले निर्णय यथासंभव पूरे समाज द्वारा ही किए जाएं। साधारण नागरिकों की

प्रतिभागिता सरकार को अधिक उत्तरदायी और नागरिकों को जिम्मेदार बनाती है। नागरिकों की भागीदारी सरकार को उत्तरदायी, सीमित और संवैधानिक सरकार बनाने का आधार है।

**बॉक्स 20.1: नागरिकता का विचार**

नागरिकता के विचार का अर्थ है कि न केवल सरकार का नागरिकों पर अधिकार है अपितु नागरिक भी सरकार पर कुछ अधिकार रखते हैं। सरकार भी समाज में अन्य संस्थाओं की भांति एक संस्था है। परंतु यह एक विशेष प्रकार की संस्था है जो साधारण रूप से उदासीन अथवा बच कर नहीं रह सकती। लोकतंत्रवादियों का यह सोचना ठीक है कि क्योंकि सरकार नागरिकों पर नियंत्रण रखती है, इसलिए लोगों का भी सरकार पर कुछ न कुछ नियंत्रण होना चाहिए। सबसे अच्छी सरकार वही है जिसमें अधिकाधिक लोग पूरे समाज के लिए निर्णय लेने में भागीदारी करें। साधारण लोगों की इस भागीदारी को ही नागरिकता कहते हैं। नागरिकता का विचार सरकार में लोगों की भागीदारी से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार लोकतंत्र और नागरिकता के प्रति विचार परस्पर एक दूसरे से जुडे हुए हैं।

## 20.2 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

आधुनिक काल में तीन मुख्य मुद्दे पूरी दुनिया में प्रमुख हैं। पहला, राष्ट्र-राज्य में चर्च अथवा अनेक धर्मों का स्थान। दूसरा, निचले तबके विशेषतः मजदूरों को सार्वभौमिक मताधिकार के माध्यम से पूरे राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के साथ सामूहिक सौदेबाजी के अधिकार को स्वीकार करना, और तीसरा, राष्ट्रीय आय का लोगों में न्यायसंगत समान वितरण। अधिकांश देशों में समाज में चर्च के स्थान पर विवाद को खूब संघर्ष के बाद 18वीं और 19वीं शताब्दी में सुलझा लिया गया था। नागरिकता के मुद्दे को भी कई प्रकार से सुलझा लिया गया था। अमरीका और ब्रिटेन ने 19वीं सदी में मजदूरों को मताधिकार दे दिया था। स्वीडन जैसे देशों में जहां बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में यह अधिकार देने में आनाकानी की वहां नागरिकता के लिए संघर्ष समाजवाद के साथ जुड़ कर एक राजनीतिक आंदोलन बन गया जिसके परिणामस्वरूप क्रांतिकारी समाजवाद का जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में, जहां मजदूरों को आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया गया था, वहाँ उनका आय और प्रतिष्ठा के पुनर्वितरण के लिए संघर्ष एक क्रांतिकारी विचारधारा पर हावी हो गया। आर्थिक और हैसियत के लिए संघर्ष का विकास इस संदर्भ से हटकर हुआ लेकिन इससे जुड़ी विचारधारा धीमे सुधार से सम्बद्ध थी। उदाहरण के लिए, रूस में लोगों को 1918 की क्रांति तक स्वतंत्र और समान मताधिकार नहीं दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने क्रांतिकारी मार्क्सवाद को गले लगा लिया। दक्षिणी जर्मनी में, जहां 19वीं सदी के अंत में नागरिक अधिकार प्रदान किए गए वहां सुधारवादी, लोकतांत्रिक और गैर क्रांतिकारी समाजवाद का वर्चस्व था। फ्रांस में मजदूरों को मताधिकार तो प्रदान किया गया परंतु दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद तक उन्हें मूल आर्थिक अधिकार नहीं दिए गए। मजदूरों ने पश्चिमी राष्ट्र-राज्यों में अपनी पूर्ण नागरिकता की लड़ाई में विजय प्राप्त कर ली है।

निचले स्तर के प्रतिनिधि अब शासकीय समूहों के अंग हैं। औद्योगिक क्रांति का मूल राजनीतिक मुद्दा, जो मजदूरों को वैध राजनीति में सम्मिलित करने का था, हल हो चुका है। आजकल का मुख्य घरेलू मुद्दा कल्याणकारी राज्य के ढांचे में कुल उत्पादन के वितरण पर उभरे मतभेदों पर सौदेबाजी करने का है।

एशिया और अफ्रीका के नये स्वतंत्र हुए देशों में स्थिति पश्चिमी राष्ट्र-राज्यों से कुछ भिन्न है। पश्चिमी देशों में मजदूरों के सामने प्रभुतासंपन्न अभिजात्य और व्यापारी वर्ग से

नागरिकता प्राप्त करने की समस्या थी। एशिया और अफ्रीका में लम्बे समय तक रहे औपनिवेशिक शासकों ने रूढ़िवादी विचारधारा को अपना लिया था तथा अधिक संपन्न लोगों ने उपनिवेशवाद की आधीनता को स्वीकार कर लिया था तो वाम विचारधारा ने राष्ट्रवाद को अपनी पहचान बना लिया था। एशिया और अफ्रीका के व्यापार संघ तथा मजदूर दल लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रारंभ से ही राजनीतिक प्रक्रिया के वैध अंग रहे हैं।

## 20.3 परिभाषा

प्राचीन काल से ही नागरिकता को एक राजनीतिक समुदाय की वैध सदस्यता के रूप में परिभाषित किया गया है। रोम की न्याय व्यवस्था के अंतर्गत नागरिकता का अर्थ कानून के अनुसार व्यवहार करने की स्वतंत्रता तथा कानून से सुरक्षा मांगने और अपेक्षा करने की स्वतंत्रता था। यह कानूनी हैसियत व्यक्ति और राजनीतिक समुदाय के बीच विशेष संबंधों के महत्व को दर्शाती है। आमतौर पर यह नागरिकों को उन सब विशेषाधिकारों और दायित्वों का अधिकारी बनाती थी जो सदस्यों को मिले हुए थे। आधुनिक राज्य के निर्माण से ही नागरिकता समुदाय के सदस्यों के बीच अधिकारों और कर्त्तव्यों की निश्चित समानता के महत्व को दर्शाती है। आधुनिक राज्य ने नागरिकता प्रदान करना शुरू किया, यह सुनिश्चित करता है कि नागरिकता किसे प्रदान की जाएगी, इससे जुड़े हुए लाभ क्या हैं? और इसके साथ जुड़े अधिकार और सुविधाएं क्या हैं? कानूनी स्तर पर नागरिकता, व्यक्ति और राजनीतिक समुदाय के बीच अद्वितीय, आपसी आदान-प्रदान और गैर मध्यस्थतापूर्ण संबंधों का दूसरा नाम है। संक्षेप में नागरिकता अधिकार मांगने के अधिकार से कम नहीं है।

किसी क्षेत्रीय राज्य की सहभागितापूर्ण सदस्यता ही नागरिकता है। इस शब्द का सार्वभौमिक आधार है — या तो सभी व्यस्क अथवा उनमें से कोई सामान्य/साधारण श्रेणी उदाहरण के लिए जैसे पुरुष अथवा सम्पत्तिधारक नागरिक हैं। ग्रीक और रोम से जन्मी तथा मध्य युग में नगर-राज्यों में प्रचलित और 19वीं तथा 20वीं सदी में पूंजीवादी समाजों में तेजी से फैली यह विचारधारा प्रारंभ से ही पश्चिमी विचारधारा है।

ब्रिटिश समाजशास्त्री टी.एच. मार्शल ने अपनी पुस्तक "सिटीजन एन्ड सोशल क्लास" में आधुनिक राज्यों में **वर्ग संघर्ष** के विकास की विवेचना को केंद्रीय स्थान दिया है, जो कि मार्क्स और वेबर की **सोच का मिश्रण है।** पूंजीवाद ने आधुनिक समाजों में **वर्ग संघर्ष** को घुसने के अवसर को **बढ़ाया है। क्षेत्रीय** राज्यों में नागरिकता इसके विलोप को नहीं अपितु इसके संस्थागत होने **तथा राष्ट्रीय के राष्ट्र**-राज्य में परिवर्तित होने को दर्शाती है। ब्रिटेन में यह तीन सोपानों में हुआ। **पहला सोपान** 18वीं शताब्दी में; शहरी नागरिकताः अर्थात कानून के समक्ष समानता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, भाषण-विचार और धर्म की स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति रखने और ठेके लेने का अधिकार। दूसरा सोपान 19वीं शताब्दी में राजनीतिक नागरिकता — चुनावी और पद ग्रहण करने के अधिकार तीसरा सोपान था। 20वीं सदी में सामाजिक नागरिकता, आर्थिक और सामाजिक कल्याण का आधारभूत स्तर, कल्याणकारी राज्य और राष्ट्रीय संस्कृति में भरपूर सहभागिता (भागीदारी)। इसके बाद के शोध ने इस प्रारूप को विकसित पूंजीवादी राष्ट्र-राज्यों में अपनाने की उपयोगिता का समर्थन किया, यद्यपि तब इसके साथ कई विशेष योग्यताओं को जोड़ दिया गया। वेंडिक्स ने अपनी पुस्तक "नेशन बिल्डिंग एन्ड सिटीजनशिप" में इस प्रारूप को तीसरी दुनिया के देशों में प्रयुक्त करने का प्रयास किया।

राजनीतिक और कानूनी सिद्धांतों के अनुसार नागरिकता का अभिप्राय किसी राष्ट्र राज्य अथवा नगर के सदस्य के अधिकारों एवं कर्त्तव्य से है। कुछ ऐतिहासिक संदर्भों में एक नागरिक किसी शहर अथवा शहरी आबादी का एक सदस्य था जो तुलनात्मक दृष्टि से राज्य और सम्राट की मांगों से मुक्त था। पुराने यूनान में नागरिकता केवल स्वतंत्र पुरुषों तक सीमित थी जिन्हें राजनीतिक बहस में हिस्सा लेने का अधिकार था क्योंकि वे प्रायः

सैन्य सेवा के माध्यम से नगर राज्य के सीधे सहयोग एवं समर्थन में अपना योगदान देते थे। इतिहासकारों का विचार है कि लोकतंत्र के विस्तार के साथ नागरिकता का विस्तार हुआ है और अब नागरिकता की लिंग, आयु और जातीयता के भेदभाव से रहित वृहद् परिभाषा है। आधुनिक राज्यों के संदर्भ में इस सिद्धांत को फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांति के मध्य पुनर्जीवित किया गया जो धीरे-धीरे दायित्वों से अधिक अधिकारों से जुड़ गया। आधुनिक युग में नागरिकता का संबंध परम्परागत ढंग से उन संस्थाओं से है जो कल्याणकारी राज्य में इन अधिकारों को सांस्थानिक बनाती हैं।

समाजशास्त्र में नागरिकता का सिद्धांत टी.एच. मार्शल की विचारधारा से प्रेरित है जिसने नागरिकता को ऐसी हैसियत के रूप में परिभाषित किया है जिसे किसी समुदाय का पूर्ण सदस्य प्राप्त करता है। नागरिकता के तीन अंग होते हैं — नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक। नागरिक अधिकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य है और जो कानूनी अदालतों में संस्थागत है। राजनीतिक नागरिकता समाज में वोट डालने के द्वारा अथवा राजनीतिक पद ग्रहण करने के माध्यम से राजनीतिक शक्ति प्रयोग करने में भागीदार बनने की गारंटी प्रदान करती है। सामाजिक नागरिकता एक समुचित जीवन स्तर में भागीदार होने का अधिकार है और यह अधिकार आधुनिक समाजों के कल्याणकारी और शैक्षणिक व्यवस्था में समा चुका है। मार्शल की विचारधारा की महत्वपूर्ण विशेषता उसका यह विचार था कि पूंजीवादी बाजार और नागरिकता के सिद्धांतों के बीच स्थायी तनाव और विरोधाभास है। पूंजीवाद अपरिहार्य रूप से सामाजिक वर्गों के बीच असमानताओं से संबध रखता है जबकि नागरिकता में अधिकारों के फलस्वरूप सबके द्वारा समान रूप से प्रयुक्त संयुक्त संसाधनों के पुनर्वितरण सम्मिलित होता है।

मार्शल की विचारधारा ने कई विवादों को जन्म दिया है। आलोचकों का मत है कि यह केवल अंग्रेजों के अनुभव का विवरण मात्र है और यह नागरिकता का तुलनात्मक विश्लेषण नहीं है। नागरिकता के अपरिहार्य विस्तार के संबंध में इसका विकासवादी और उद्देश्यपरक दृष्टिकोण है और यह उन सामाजिक प्रक्रियाओं का परीक्षण नहीं करता जो नागरिकता को हानि पहुंचाती हैं। यह नागरिकता के क्षेत्र में लिंग भेद का ध्यान नहीं रखता। यह अन्य प्रकार की नागरिकता जैसे आर्थिक नागरिकता के विषय में कुछ नहीं कहता और नागरिकता के विस्तार के कारणों के प्रति भी स्पष्ट नहीं है। कुछ समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि मार्शल के तर्कों को इस आलोचना से बचाया जा सकता है यदि वास्तविक सिद्धांत में सुधार कर लिया जाए।

भिन्न-भिन्न समाजों में नागरिकता की भिन्न-भिन्न परंपराए हैं। सामाजिक संघर्ष से प्राप्त अधिकारों पर आधारित सक्रिय नागरिकता, निष्क्रिय नागरिकता से बिल्कुल भिन्न है, जो राज्य द्वारा ऊपर से नीचे प्रदान की जाती है। नागरिकता की अवधारणा में सार्वजनिक और निजी सत्ता को समझने के कई बिल्कुल अलग ढंग हैं। कुछ समाजशास्त्रियों जैसे — पैल्कर, पार्सन्स के लिए नागरिकता का विकास समाज के आधुनिकीकरण का मापदंड है क्योंकि यह सार्वभौमिकता और उपलब्धियों पर आधारित है। यह अलग-अलग सैद्धांतिक परम्पराएं मूलतः नागरिकता के संबंध में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का परिणाम है। इसको या तो बुर्जुआ उदारवाद के एक पक्ष के रूप में देखा जाता है जिसमें सामाजिक भागीदारी का रूढ़िवादी विचार सम्मिलित है अथवा इसे उग्र लोकतांत्रिक राजनीति की विशेषता के रूप में लिया जाता है। इसे या तो पूंजीवाद के मात्र सुधार के रूप में नकारा जाता है अथवा इसे लोकतंत्र का सार माना जाता है। कुछ समय पूर्व से समाजशास्त्री लोकतंत्र, उदारवाद और नागरिक समाज की इन पारम्परिक परिभाषाओं से आगे जाकर एक ऐसी दुनिया के व्यक्तियों, समुदायों और राज्यों की बदलते दुनिया के व्यक्तियों, समुदायों और राज्यों के बदलते संबंधों के विषय में प्रश्न पूछने के लिए आगे बढ़े हैं, जहाँ राष्ट्र राज्यों पर राज्योत्तर संस्थाओं का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। क्या भूमंडलीकरण मानव अधिकारों की सच्ची सार्वभौमिक अवधारणा के साथ राज्य नागरिकता का स्थान ले पाएगा।

## 20.4 वैश्विक नागरिकता

नागरिकता एक पुरानी अवधारणा है क्योंकि इसका कारण, राष्ट्र राज्य स्वयं पुराना पड़ता जा रहा है। भूमंडलीकरण विश्व में, जहां प्रौद्योगिकी और व्यापार राष्ट्रीयता से परे के समुदाय बना रहा है वहाँ वैश्विक नागरिकता उस प्रक्रिया का प्रारंभ है जो मिट्टी और खून से जुड़ी पहचान को विलुप्त कर देगी। यह हमारी चेतना को न केवल विश्व नागरिक के रूप में विस्तृत करेगी अपितु जातीय और राष्ट्रीय इतिहासों से उत्पन्न तनावों पर काबू पाने में भी सहायता देगी। राष्ट्र-राज्यों में अतीत के झगड़ों और शत्रुता को जिन्दा रखकर इतिहास के विकास को प्रभावित करने की प्रवृत्ति होती है। इतिहास की ऐसी उतेजनाओं के कारण बहुत खून-खराबा होता है। नाज़ियों की शुद्ध जातीय आधार पर राष्ट्रीय पहचान बनाने की लालसा के परिणामस्वरूप विध्वंस हुआ। इसी प्रकार बालकन्स और अफ्रीका में 20वीं सदी में राज्य द्वारा प्रेरित नर संहार हुए। सारी दुनिया में लम्बे समय से चल रहे युद्ध और सीमा विवादों जैसे फिलिस्तीन, काश्मीर, रवांडा, चेचेन्या का कारण क्षेत्रवाद, धर्म और जातीयता की बुराई पर काबू पाने में हमारी अक्षमता है। नागरिकता इस प्रकार की हिंसक घटनाओं में भागीदार होने का पासपोर्ट बन गई है। नागरिकता किसी को पहचान चुनने का अवसर नहीं देती अपितु उस पर एक पहचान लाद देती है जिसके साथ इतिहास के पूर्वाग्रह और हिंसा जुड़ी होती है। संकुचित राष्ट्रीय पहचान को कमजोर करने के किसी भी प्रयास का स्वागत है।

**बॉक्स 20.2: सूचना युग**

1960 में मार्शल मकलुहन ने विश्व गांव की भविष्यवाणी की। आज वह वास्तविकता है। मैन्युअल कैसल्स जैसे समाजशास्त्री कहते हैं कि आज हम सूचना युग में जी रहे हैं। लोगों और पूंजी के प्रवाह की सहायता से नए सामाजिक ढाँचों का उदय हो रहा है। यह सीमाओं से मुक्त विश्व की कल्पना करते हैं। ऐसी दुनिया प्रत्यक्ष रूप से सर्वदेशीय है जिसमें राष्ट्रीयता की संकुचित दृष्टि के लिए कोई स्थान नहीं होगा। आज बहुआयामी नागरिकता वाली पहचान को बिना कोई श्रेणी बनाए, जानने और पहचानने की आवश्यकता है। वैश्विक नागरिकता इस दृष्टिकोण को पुष्ट करती है। यह लोगों को भविष्य में एक से अधिक देश और संस्कृति का दावेदार होने की छूट देती है। यह उपनिषदों के "वसुधैव कुटुम्बकम" के दृष्टिकोण के बहुत निकट है।

## 20.5 दोहरी नागरिकता

किसी प्रवासी समुदाय का किसी अन्य अपनाने वाले समुदाय से आत्मसात होने का अभिप्राय अपनी जातीय अथवा सांस्कृतिक पहचान को छोड़ना नहीं है। आत्मसात होने का अर्थ है कि मेजबान देश के लोगों का आपके साथ और आपका उनके साथ आपसी लाभ के लिए सुखदायी होना। दोहरी नागरिकता की अवधारणा आज के भूमंडलीकृत विश्व में मात्र काल भ्रम है। यह प्रवासी समुदाय के मेजबान (स्वीकार करने वाले) समुदाय में आत्मसात होने की प्रक्रिया के विपरीत है। इस प्रकार की इच्छा रखने वाले संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। इस प्रकार की सोच मुख्यधारा में सम्मिलित होने में बाधक है और इसका परिणाम सामाजिक और सांस्कृतिक टोलों में विभाजित होना होता है। विचारणीय बात यह है कि इसकी मेजबान देश के स्थानीय लोगों द्वारा विरोध की सम्भावना होगी जिसके फलस्वरूप बदले की भावना पैदा हो सकती है।

दोहरी नागरिकता से स्थानीय लोगों में जलन की भावना पैदा हो सकती है जिन्हें यह महसूस हो सकता है कि प्रवासियों को खुशहाली के लिए अपना देश छोड़ कर आने के लिए पुरस्कृत किया जा रहा है। भारत के संदर्भ में दोहरी नागरिकता से उत्प्रवासियों को गलत लाभ मिल रहा है। बाहर जाने वाले भारतीयों को बाहर जाने पर होने वाले नुकसान

को स्वीकार करना चाहिए। विशेष रूप से जिन्होंने स्वतंत्रता उपरांत भारत को छोड़ दिया और भारत सरकार की दोहरी सदस्यता की नीति से मुख्य लाभ उठा रहे हैं। करारनामे से बंधे मजदूरों की तरह उन्हें बाहर जाने (प्रवास) के लिए विवश नहीं किया गया था। वे सुशिक्षित थे, अच्छे भले व्यवसायी थे और जो अधिक सुविधाओं के लिये और लालचवश कहीं और चले गए थे। यदि वे व्यापार में ही रुचि रखते थे तो अन्य विदेशियों की तरह यहाँ निवेश और व्यापार क्यों नहीं कर सकते। सच्चाई यह है कि दोहरी नागरिकता केवल भौतिक लाभ और सुविधा के लिए है। इससे प्रवासी भारतीयों को यात्रा, शिक्षा, काम और भारत में कहीं भी संपत्ति खरीदने का अधिकार और योग्यता मिलती है। इसमें मातृभूमि से प्यार और जुड़ाव की कोई भावना नहीं है।

## 20.6 राज्य और नागरिक

राज्य एक महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्था है जो समाज के भीतर अस्तित्व में है। यद्यपि यह कोई अकेली सामाजिक संस्था नहीं है। अन्य कई संस्थाएं समाज में होती हैं, जैसे — परिवार, धर्म, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं अन्य संस्थाएं। इन सब संस्थाओं को कुछ सुपरिभाषित उद्देश्यों अर्थात सीमित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए स्थापित किया जाता है। अतः राज्य के उद्देश्य वे सारे उद्देश्य नहीं होते जिन्हें व्यक्ति समाज में पूरा करना चाहता है। सभी संस्थाएं अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न ढंग से काम करती हैं। राज्य अपने उद्देश्यों के लिए कानून और दमन की शक्ति से काम करता है। लेकिन यह मनुष्य द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य के प्राप्त करने के तरीकों में से केवल एक है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं है कि राज्य लोगों के जीवन में अति महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाता है। इसके विस्तृत प्रभाव का मुख्य कारण इसकी सार्वभौमिकता है। किसी क्षेत्रीय समाज के सभी लोग राज्य के क्षेत्राधिकार में आते हैं। राज्य के साथ संबंध के रूप में उन्हें नागरिक कहा जाता है। नागरिकों के जीवन में राज्य की प्रमुख भूमिका का एक अन्य कारण इसकी गतिविधियों के क्षेत्र का बढ़ना है। इसका एक अन्य कारण दमनकारी बल है जो केवल राज्य ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग कर सकता है। पुलिस और रक्षा बल राज्य के दमनकारी ढाँचे हैं। इसके अतिरिक्त नौकरशाही अर्थात सरकारी अफसरों की एक सुगठित फौज जो नागरिकों के साथ व्यवहार में सता के अंग के रूप में कार्य करती है।

अपनी सार्वभौमिकता के कारण राज्य का अपने नागरिकों के साथ व्यवहार पूर्णतः अवैयक्तिक होता है जैसा कि नौकरशाही में व्यक्त किया गया है। क्योंकि राज्य में सभी लोग सम्मिलित होते हैं, इसलिए इसके नियम, मूल्यों और भिन्न हितों के आधार पर कोई अंतर किए बिना सब पर लागू होते हैं। एक ही कानून सब पर लागू होता है। अतः कोई सरकार चाहे किसी भी नीति पर चले, अनेक नागरिक और नागरिकों के समूह उस समय के कानून और नीतियों का विरोध करेंगे क्योंकि वे मानते हैं कि किसी कानून विशेष अथवा नीति से उनका हित नहीं हो रहा है जबकि दूसरे को उससे लाभ मिल रहा है।

कभी-कभी कोई कानून एक व्यक्ति को कुछ ऐसा करने पर विवश कर सकता है जो उसकी आत्मा न करना चाहती हो अथवा इसके विपरीत अर्थात वह न कर सके जो उसकी आत्मा करना चाहती हो। क्योंकि कानून दमनकारी शक्ति द्वारा लागू किया जाता है, इसलिए नागरिकों को यह अनुभव हो सकता है कि राज्य अथवा सरकार एक बाहरी शक्ति है जो उनकी स्वतंत्रता को छीनती है, जिसका वह बड़ा आदर करते हैं।

राज्य के नियमों और कानूनों के विरुद्ध नैतिकता, निजी भावनाओं, उच्च सामाजिक मूल्यों अथवा पूर्णरूपेण मानवीय हितों के मुद्दे हो सकते हैं। जब राज्य सामाजिक जीवन के अनछुऐ क्षेत्रों तक अपनी गतिविधियों के क्षेत्र को बढ़ाता है, तो इसे अधिकार छीनने का प्रयास माना जा सकता है और इसलिए इसके प्रति नाराजगी और विरोध होता है। इसलिए राज्य और नागरिक के बीच संबंधों के मुद्दे वास्तविक चिंता और अनंत विवाद के मुद्दे रहे हैं।

MADHAM IAS

**सोचिए और कीजिए : 20.1**

राज्य और नागरिक में भेद कीजिए। किस प्रकार ये एक-दूसरे का प्रतिरूप है?

## 20.7 राष्ट्र-राज्य और नागरिकता

कालांतर में जातीय, धार्मिक पहचान एक प्रमुख वैश्विक सच्चाई के रूप में उभरी है। इसने राष्ट्र-राज्य के मूल प्रस्तावना पर ही प्रश्न खड़े किए हैं जिसको सामूहिक जीवन और पूरे राजनीतिक समुदाय की अधिकृत अभिव्यक्ति माना गया था। समानता प्राप्त करने, स्वतंत्रता की रक्षा और लोगों के बीच भाई चारा बढ़ाने के माध्यम के रूप में राष्ट्र राज्य और नागरिक के विचार के प्रति दृढ़ विश्वास रखने वालों का विश्वास टूट गया। राज्य की निष्पक्षता और राज्य तथा जातीयता के बीच संबंध का न होना अब प्रश्नों के घेरे में है। राष्ट्र राज्य के योजक सिद्धांत की मूल मान्यता को उभरती हुई जातीय धार्मिक आंदोलनों की सच्चाई, अपने अधिकारों और पहचान के लिए अल्पसंख्यकों की दावेदारी, पहचान की दृढ़ राजनीति और प्रतिनिधित्व की राजनीति से मुकाबला करना पड़ रहा है। अब अल्पसंख्यक और क्षतिग्रस्त लोग सरकार के ढाँचे में अपना स्थान मांग रहे हैं। विश्व में नए सामाजिक आंदोलनों का मुख्य कार्यक्रम स्वायत्तता और स्व-शासन का अधिकार है। इससे दुनिया के विभिन्न भागों में जटिल जातीय संघर्ष पैदा हुआ है।

राष्ट्र राज्य यूरोप केंद्रित रचना है और कई स्थितियों और परिस्थियों में उन्होंने अपने सैद्धांतीकरण में राज्य और राष्ट्र को मिलाकर एक किया है। राज्य और राष्ट्र के एक होने से राज्य के अपने जातीय समूहों और अल्पसंख्यकों के प्रति कई गलत नीतियों का जन्म हुआ है। जातीय हिंसा की घटनाएं विभिन्न जातीय संगठनों के प्रति राज्य के दृष्टिकोण से अछूती नहीं हैं। यह समस्या केवल उन विकासशील देशों तक ही सीमित नहीं है जिन्होंने अपने राज्य और समाज के ढाँचे को बनाने के लिए पश्चिम के प्रारूप को अपनाने की कोशिश की अपितु यह समस्या विश्व के विकसित देशों में भी है जिन्हें राष्ट्र राज्य की धारणा का मजबूत किला माना जाता है। पहचान और जातीयता की राजनीति बहुत बलवती होकर उभरी है। राष्ट्र और राज्य के सिद्धांत आधुनिकता के मुख्य चर्चा बिंदु रहे हैं। परिणामस्वरूप तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र और राज्य बनाने का कार्य यूरोपीय अनुभव के अनुरूप नहीं था क्योंकि इन देशों के समाज पारम्परिक और अनेकता से भरपूर थे। आस्थाओं में अनेकता और पश्चिमी सोच के राष्ट्र राज्य के प्रति वफादारी के बीच तालमेल नहीं बैठ रहा था।

भाषा और क्षेत्र राष्ट्र निर्माण के मुख्य आधार हैं। राज्य को राष्ट्र और राज्य निर्माण को राष्ट्र निर्माण से मिलाने की दृढ प्रवृत्तियां रही हैं। इस मिलावट ने जातीय समूहों के प्रति राज्य के कार्यक्रमों और नीतियों में अनेक एवं जटिल समस्याएं उत्पन्न की हैं। धर्म, राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीय पहचान का अधिकृत आधार प्रदान नहीं कर सकता। अतः धार्मिक विशिष्टता के नाम पर राष्ट्रीयता जगाने का प्रयास न केवल अलगाव पैदा करता है अपितु अपने आप में अलग भी है। ऐसा कोई भी प्रयास न तो पहले कभी सफल हुआ है और न ही भविष्य में होगा।

## 20.8 नागरिकता से जुड़े अधिकार और कर्त्तव्य

हेराल्ड जे. लॉस्की दावा करता है कि प्रत्येक राज्य अपने अधिकारों द्वारा पहचाना जाता है। राज्य केवल संप्रभु संस्था मात्र नहीं है जो नागरिकों की निष्ठा की अधिकारी हैं और जिसके पास अपनी आज्ञा का पालन करवाने की शक्ति है। नागरिकों में निष्ठा होती है और वह राज्य के प्रति निष्ठा रखते हैं और उसकी आज्ञा पालन करते हैं। लेकिन नागरिक राज्य के प्रति अपनी निष्ठा और आज्ञा पालन केवल अपने कारण ही नहीं करते। इसके विपरीत वह ऐसा इस विश्वास के आधार पर करता है कि राज्य संयुक्त कल्याण के लिए

कार्य करता है और अस्तित्व में रहता है जिसमें उसका अपना भला भी सम्मिलित है। नागरिक के अपने राज्य के प्रति दायित्व हैं। ठीक उसी समय राज्य के भी अपने नागरिकों के प्रति कुछ दायित्व होते हैं। जैसे उन परिस्थितियों एवं अवसरों को उपलब्ध करवाना तथा बनाए रखना जो उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक गुणों के पूरे विकास में सहायता कर सकें । एक नागरिक को इन परिस्थितियों और अवसरों पर अधिकार है। दूसरे शब्दों में यह उसके अधिकार हैं।

अधिकार का कर्त्तव्यों से बहुत निकट का संबंध है। अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । अधिकार एक मनुष्य के समाज पर दावे को दर्शाते हैं तो कर्त्तव्य इस बात के सूचक हैं कि उसने समाज को क्या देना है जिससे कि वह अपने अधिकारों का आनन्द प्राप्त कर सके। इस प्रकार जहाँ समाज नागरिक की सुरक्षा और कल्याण की गारंटी देता है वहीं नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह पूरे समाज के कल्याण एवं सुरक्षा के लिए अपना योगदान दे। दूसरे शब्दों में एक नागरिक को समाज उतना ही देता होता है जितना वह उससे मांगता है। उसके अधिकार समाज से अलग नहीं हैं। वह असामाजिक ढंग से व्यवहार नहीं कर सकता।

अधिकार और कर्त्तव्यों के बीच दोतरफा संबंध है। पहला तो प्रत्येक अधिकार के साथ क्रमशः एक कर्त्तव्य है। किसी एक का अधिकार दूसरो पर यह कर्त्तव्य लादता है कि वह उसके अधिकार का सम्मान करें। इसलिए उसका अधिकार उनका कर्त्तव्य है। दूसरे कोई अधिकार किसी व्यक्ति के निजी विकास का साधन नहीं है अपितु यह सामान्य कल्याण का भी एक साधन है। एक नागरिक का अधिकार भी इस कर्त्तव्य से जुड़ा है कि उसे इस अधिकार को सांझे कल्याण के लिए प्रयोग करना चाहिए। बहुमूल्य और अपरिहार्य अधिकार निरपेक्ष अथवा असीमित नहीं हैं। अधिकार और कर्त्तव्यों में अंतरसंबंध है। एक नागरिक होने के नाते मनुष्य के अपने साथी नागरिकों और समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं, जिन्हें पूरी दुनिया मानती है। अधिकारों के मामलों के अनुरूप ही नागरिकों के दायित्व भी सब पर समान रूप से लागू होते हैं।

## 20.9 नागरिक समाज

'नागरिक समाज' शब्द का प्रयोग लॉक एवं रूसो जैसे लेखकों ने नागरिक सरकार को प्राकृतिक समाज अथवा प्रकृति को राज्य से अलग वर्णन करने के लिए किया था। हेगल ने मार्क्सवादी सिद्धांत दिया। हेगल के अनुसार, लोगों का परिमंडल जो नागरिक समाज अथवा बुर्जुआ समाज की आर्थिक प्रतिस्पर्धा में शामिल होने के लिए अपने परिवार की एकता को छोड़कर आया है, उसका राज्य अथवा राजनीतिक समाज से अंतर किया जाता है। हेगल के अनुसार केवल राज्य के माध्यम से ही सार्वभौमिक हित सुरक्षित रह सकते हैं क्योंकि वह लॉक, रूसो और एडम स्मिथ के इस विचार से सहमत नहीं था कि नागरिक समाज में कोई आंतरिक विवेक होता है जो सबकी भलाई की दिशा में काम करता है। मार्क्स नागरिक समाज की अवधारणा का हेगल की आलोचना के लिए प्रयोग करता है। मार्क्स अपने प्रारंभिक लेखन में नागरिक समाज का प्रयोग सामन्तवादी समाज से बुर्जुआ समाज में बदलाव के मापदंड के रूप में करता है। मार्क्स का आग्रह है कि मध्यकालीन समाज के नष्ट होने से नागरिक समाज का उद्भव हुआ। इससे पहले लोग कई अलग-अलग समाजों जैसे गिल्ड अथवा रियासतों के सदस्य थे जिनकी अपनी एक राजनीतिक भूमिका थी और कोई अलग नागरिक परिमंडल नहीं था। जब ये अपूर्ण समाज बिखर कर टूट गए तब नागरिक समाज उभर कर आया जिसमें व्यक्ति सबसे महत्वपूर्ण हो गया। सुविधा के पुराने बंधनों का स्थान समुदाय और एक दूसरे से अलग हुए व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण आवश्यकताओं ने ले लिया था। अब लोगों के बीच मात्र कानूनी संबंध हैं जो उनकी इच्छा से नहीं जन्में और उनके स्वभाव के भी अनुरूप नहीं हैं, लेकिन दंड के डर के कारण मानवीय संबंधों में प्रमुखता बनाए हुए हैं। विखंडित और संघर्षशील स्वभाव वाले

नागरिक समाज के सम्पत्ति से संबंधों के कारण एक प्रकार की राजनीति आवश्यक हो जाती है जो इस संघर्ष को नहीं दर्शाती अपितु इससे निरपेक्ष और जुदा होती है। नागरिक समाज की विशेषताएं आधुनिक राज्य को अनिवार्य और साथ-साथ सीमित बनाती हैं। नागरिक समाज का बिखराव, टूटन और पीड़ा राज्य नियंत्रण में नहीं आते, जो औपचारिक तथा नकारात्मक गतिविधियों तक सीमित है और आर्थिक जीवन का सार संघर्ष इसे नपुंसक बना देता है। आधुनिक समाज में लोगों की नागरिक के रूप में राजनीतिक पहचान को उनकी सामाजिक पहचान — उत्पादन के क्षेत्र में एक व्यापारी, दिहाड़ी मजदूर अथवा भू-स्वामी के रूप में उनके कार्यों तथा गतिविधियों से पृथक रखा जाता है।

**बॉक्स 20.3: राज्य का आदर्श**

मार्क्स के विश्लेषण में दो विभाजन साथ-साथ बढते हैं — अपनी निजता में बंधे लोगों तथा सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के बीच अथवा राज्य और समाज के बीच। मार्क्स आधुनिक राज्य के सार्वभौमिक हितों के आदर्शवाद और अपने तुच्छ हितों से परे जाने के कारण नैतिक हुए नागरिक की निरपेक्षता की तुलना नागरिक समाज में वास्तविक और संवेदनशील व्यक्ति के भौतिकवाद से करता है। मार्क्स के अनुसार मुसीबत यह है कि आधुनिक समाज में राज्य के आदर्श में निहित सर्वाधिक सार्वभौमिक, नैतिक तथा सामाजिक उद्देश्य आर्थिक आवश्यकता की आंशिक तथा व्यक्ति की अहंकारपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति हेतु मानवीय सेवा के लिए है। इस भावना के अनुसार आधुनिक राज्य के सार को नागरिक समाज के आर्थिक सन्दर्भों में खोजना है। नागरिक समाज के संघर्ष पर काबू पाने के लिए तथा मानव की पूरी क्षमता को प्राप्त करने के लिए, नागरिक समाज तथा इससे जन्मे राजनीतिक समाज; दोनों को मिटा देना चाहिए जिससे मानवता को मुक्त एवं स्वतंत्र करवाने के लिए एक सामाजिक और राजनीतिक क्रांति आवश्यक हो जाए।

यद्यपि ग्रेम्सी नागरिक समाज का प्रयोग निजी अथवा अर्थव्यवस्था सहित गैर-राज्यीय कार्यों के लिए करता रहा है लेकिन नागरिक समाज की ग्रेमसी द्वारा प्रस्तुत की गई तस्वीर मार्क्स से अलग थी। यह केवल व्यक्ति की आवश्यकताओं का क्षेत्र नहीं है अपितु यह संस्थाओं तक विस्तृत है और इसमें विवेकपूर्ण स्व-नियमन तथा स्वतंत्रता की क्षमता है। ग्रेम्सी इसकी जटिल संरचना पर बल देता है जो निजी अस्तित्व रखने वाले प्राणियों का समूह है और इसमें मुख्य शासकीय और स्वैच्छिक सहमति की व्यवस्था होती है। उसका मत है कि नागरिक समाज और राज्य में अंतर केवल विधिसंगत है क्योंकि अहस्तक्षेप जैसी नीति भी राज्य द्वारा ही स्थापित की जाती है। राज्य और नागरिक समाज के बीच निश्चित संबंधों का वर्णन करने के लिए वह जिन रूपकों और लक्षणों का प्रयोग करता है — वे भी बदलते रहते हैं। पूर्ण रूप से विकसित समाज को दुर्ग व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है जो आर्थिक संकट का प्रतिरोध करने तथा राज्य की रक्षा करने में सक्षम है। मार्क्स तो राज्य और नागरिक समाज के बीच अंतर रखने का आग्रह रखता है तो ग्रेम्सी दोनों के बीच अंतरसंबंधों पर बल देता है। राज्य, जिसे सीमित अर्थ में सरकार माना जाता है, की रक्षा नागरिक समाज में से गठित शासकीय वर्ग द्वारा की जाती है जबकि दमनकारी राज्य तंत्र उच्च वर्ग की शासकीय प्रभुता की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त समाज का एक नैतिक कार्य भी है क्योंकि यह जनमत को शिक्षित करने तथा आर्थिक क्षेत्र को प्रभावित करने का प्रयास भी करता है। ग्रेम्सी का कहना है कि इसके बदले कानून की पूरी अवधारणा को विस्तार देना चाहिए क्योंकि रीति-रिवाज और आदतें बिना किसी दबाव और बाध्यता के समाज को अनुरूप बनाने का संयुक्त दबाव डाल सकते हैं।

किसी भी वास्तविक स्थिति में नागरिक समाज और राज्य के बीच अंतर धुंधला सकता है लेकिन ग्रेम्सी का कहना है कि दोनों को समान अथवा एक समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। यद्यपि वह नागरिक समाज के विकास के लिए राज्य की भूमिका को स्वीकार करता है परंतु वह राज्य की पूजा अथवा राज्य की राज्यशक्ति लादने के विरुद्ध

सचेत करता है। ग्रेम्सी नागरिक समाज के पूर्ण विकास द्वारा स्व-नियमन और आत्मअनुशासन के गुणों के आधार पर राज्य के स्वतः नष्ट होने को नये ढंग से परिभाषित करता है। मार्क्स के लेखन में नागरिक समाज को व्यक्तिगत आत्मसम्मान के क्षेत्र के रूप में चित्रित किया गया है। ग्रेम्सी, हेगल द्वारा चर्चित रियासतों और निगमों का वर्णन व्यवस्थापक तत्व के रूप में करता है जो, नागरिक समाज में निगम के हितों का सामूहिक रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं और नौकरशाही एवं कानूनी व्यवस्था की भूमिका का वर्णन नागरिक समाज को नियमित करने एवं राज्य से जोड़ने वाले कारक के रूप में करता है। नागरिक समाज के संबंध में मार्क्स और गैर-मार्क्सवादी विचारकों की अवधारणा का अध्ययन करने पर राजनीति की अवधारणा का परीक्षण करने और समझने की प्रेरणा मिलती है। इसमें व्यक्तियों के बीच संबंध, लोगों और समुदायों के बीच संबंध, एक संगठित अथवा असंगठित समाज का विचार, सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का रेखांकन सम्मिलित है।

**सोचिए और कीजिये 20.2**

सामाजिक संस्कृति में बहुसंस्कृतिवाद और अनेकतावाद में अंतर कीजिए।

## 20.10 बहुसंस्कृतिवाद और नागरिकता

बहुसंस्कृतिवाद के साथ तालमेल बिठाने की समस्या विश्व स्तर पर राजनीतिक कार्यक्रमों में सबसे ऊपर है। तालमेल बिठाने का अभिप्राय, विशिष्ट समूहों के व्यवहार और तौर तरीकों को सुविधा प्रदान करने हेतु राज्य द्वारा किए गए अनेक उपाय हैं। प्राचीन शासन की विरासत के रूप में नागरिकता के मानक सिद्धांतों के विरोध के कारण आमतौर पर व्यक्तिगत अधिकारों को उप-राष्ट्रीय समूहों से संबद्धता पर आधारित कानूनी अधिकारों के दावों पर प्राथमिकता दी जाती है। इस प्रकार उदारवादी, नागरिक गणतंत्रात्मक और जातीय सांस्कृतिक सदस्यता के प्रारूप नागरिक सिद्धांत के अवयव के रूप में विशिष्ट समूहों के प्रति अविश्वास की संयुक्त भावना रखते हैं। यहाँ "विशिष्ट समूह" से अभिप्राय ऐसे सांस्कृतिक, धार्मिक अथवा जातीय समूह से है जो अपने नाम के कारण से ही पहचाने जाते हैं। विशिष्ट समूहों को एक निश्चित इतिहास और सामूहिक स्मृति, एक अलग संस्कृति और सामाजिक नियमों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं और शायद मुख्यधारा के समाज के दुर्व्यवहार के अनुभव के आधार पर अलग पहचाना जा सकता है। नागरिकता को बहुसंस्कृति के आधार पर समझने के प्रणेता विशिष्ट समूहों को राज्य और उच्च वर्ग की शक्ति द्वारा उखाड़ फेंकने के प्रति चिन्तित हैं। यह सजगता और चिंता एक दार्शनिक स्थिति से उत्पन्न होती है जो व्यक्ति में यह समझ पैदा करती है कि वे कौन हैं और मानव के रूप में उनकी विशेषताओं को परिभाषित करते हुए उनके मूल को समझने में संस्कृति की भूमिका पर बल देती है। चार्ल्स टेलर अपने प्रसिद्ध निबंध "द पॉलिटिक्स ऑफ रिकगनिशन" (पहचान की राजनीति) में लिखता है कि हम अपनी पहचान और सिद्धांत कुछ निश्चित सांस्कृतिक पुस्तकों का प्रयोग करके तथा समान और स्वतंत्र ढंग से वार्ताओं के माध्यम से बनाते हैं। इस विचार के अंतर्गत संस्कृति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसका प्रयोग हम विश्व को समझने और मूल्यांकन के लिए करते हैं, अपितु संस्कृति हमारा एक अंग है। एक विशिष्ट समूह की सदस्यता और खून के रिश्तों के बंधन से जुदा इसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति ने सक्रिय भागीदारी, व्यक्ति को चयन का बुद्धिमतापूर्ण संदर्भ तथा संबंध और पहचान की सुरक्षित भावना प्रदान कर सकती है। संस्कृति, पहचान और समूह सदस्यता के बीच अंतः संबंधों पर बल नागरिकता की नई बहुसांस्कृतिक समझ की तलाश के मूल में स्थित है। इस नई समझ के अंतर्गत लोग अपनी अलग पहचान के बल पर अपनी विशिष्ट पहचान को त्यागे बिना सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदारी करते हैं। यह प्रवृत्ति विभिन्न आदर्शों एवं उद्देश्यों के प्रति आँख मूंद लेने से हटकर विशिष्ट समूहों को विशेष और भिन्न अधिकारों के हकदार के रूप में पहचानने की कानूनी और दार्शनिक विवेकशीलता पर आधारित है। इसलिए नागरिकता की बहुसांस्कृतिक समझ लोगों को मात्र एक बड़े राजनीतिक समुदाय का सदस्य समझने की सोच से अलग हटकर है। अपितु

यह उन्हें व्यक्ति के नाते समान अधिकार प्राप्त होने के साथ-साथ विशिष्ट समूहों का सदस्य होने के नाते अलग अधिकारों के योग्य मानती है। अतः कानूनी भाषा में एक बहुसांस्कृतिक नागरिकता के प्रारूप की ओर जाने से तीन अवयवों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। ये अवयव हैं — विशिष्ट समूह, राज्य और व्यक्ति।

## 20.11 सारांश

इस इकाई में हमने नागरिकता के विभिन्न पक्षों पर चर्चा की है। नागरिकता के सिद्धांत को कानूनी और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। इसके विकास को यूनान के नगर राज्यों से लेकर आधुनिक राष्ट्र राज्यों तक रेखांकित किया है। पहले यह कुछ ही लोगों का विशेषाधिकार था परंतु अब यह राज्य कहलाने वाले एक निश्चित भूखंड में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य का कानूनी राजनीतिक अधिकार है। नागरिकता का अभिप्राय राज्य और व्यक्ति के बीच संबंधों से है। नागरिकता कुछ कानूनी और राजनीतिक अधिकार प्रदान करती है और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इन अधिकारों को लागू करे एवं इनकी रक्षा करे। राज्यों का ही नहीं अपितु नागरिकों के भी अपने साथियों, समाज और राज्य के प्रति कुछ निश्चित कर्त्तव्य हैं। नागरिकता की अवधारणा का राज्य की अवधारणा से निकट का संबंध है। गैर-लोकतांत्रिक देशों में हमें नागरिक नहीं गुलाम मिलते हैं। नागरिकता का अर्थ है लोगों की निर्णय लेने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी तथा शासन करने की प्रक्रिया। वैश्वीकरण (भूमंडलीकरण) के उद्‌भव से राष्ट्र राज्य की अवधारणा और इसके साथ नागरिकता की अवधारणा धूमिल पड़ गई है । अब राज्य की नागरिकता के स्थान पर वैश्विक नागरिकता की बात होती है। उपनिषदों की वाणी "वसुधैव कुटुम्बकम" सत्य होती प्रतीत होती है। एक देश से दूसरे में प्रवास करने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि के कारण दोहरी नागरिकता की मांग बढ़ रही है। पिछले दिनों ही भारत ने दूसरे देशों में रहने वाले भारतीय मूल के लोगों को दोहरी नागरिकता प्रदान की है।

मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी विचारकों ने आधुनिक समाज को नागरिक अथवा बुर्जुआ समाज कहा है। नागरिक समाज से अभिप्राय व्यक्ति के निजी क्षेत्र से है। आर्थिक प्रतिस्पर्धा और स्वतंत्रता नागरिक समाज की विशेषताएं हैं। नागरिक समाज में पारिवारिक एकता और अन्य मध्यकालीन संस्थाएं देखने को नहीं मिलतीं। नागरिक समाज मध्यकालीन समाज के नष्ट होने से बना है। गैर-मार्क्सवादी विचारक सामाजिक कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए इसे विवेकशील समाज मानते हैं, जबकि मार्क्सवादी विचारक इस विचार से सहमत नहीं हैं।

आज का समाज विभिन्न सांस्कृतिक, जातीय, धार्मिक और भाषायी समूहों से निर्मित बहु-सांस्कृतिक समाज है। बहुसंस्कृतिवाद का लक्ष्य विभिन्न विशिष्ट समूहों को, उनकी अलग पहचान मिटाए बिना समांगी समाज में समाहित करना है। बहु-संस्कृतिवाद अनेकता में एकता को प्रोत्साहित करता है और भिन्न-भिन्न विशिष्ट समूहों के एकत्रीकरण का विरोध करता है। इसमें संस्कृति, विशिष्टता और समूह की सदस्यता के बीच संबंध होता है। यह नागरिकता के प्रति नई बहु-संस्कृति आधारित समाज की खोज के मूल में निहित है।

## 20.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें


टी.एच. मार्शल, *सिटीजन एंड सोसल क्लास* (1950)

आर. बेंडिक्स, *नेशन बुल्डिंग एंड सिटीज़नशिप* (1964)

जैस बारबेल्ट, *सिटीजनशिप* (1988)

ब्रायन एस. टर्नर (एडी.), *सिटीजनशिप एंड सोशल थ्योरी* (1993)

एम. बुल्मर एंड ए.एम. रीस (एडी.), *सिटीजनशिप टुडेः द कंटेम्पोरेरी रिलीवेंस ऑफ टी.एच. मार्शल* (1996)

चार्ल्स टेलर, "द पॉलिटिक्स ऑफ रिकगनिशन", इन एमी गुटमन एडी. *मल्टीकल्चरलिज्मः एक्जामिनिंग द पॉलिटिक्स ऑफ रिकगनिशन* (1994)

इकाई 21

# नागरिक समाज और लोकतंत्र

**इकाई की रूपरेखा**


21.1 प्रस्तावना

21.2 नागरिक समाजः एक पुनरावलोकन

21.3 लोकतंत्रः एक सार्वभौमिक मांग

21.4 नागरिक समाज का क्षेत्र

21.5 नागरिक समाज और लोकतंत्र में संबंध

21.6 लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक समाज के कार्य

21.7 लोकतंत्र के प्रवर्तक के रूप में नागरिक समाज

21.8 नागरिक समाज के लोकतांत्रिक खतरे

21.9 सारांश

21.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद, आपः

- 'नागरिक समाज क्या है' को स्पष्ट कर सकेंगे;
- नागरिक समाज और लोकतंत्र के बीच संबंध को रेखांकित कर सकेंगे; और
- नागरिक समाज के खतरों का लोकतंत्रीकरण कर सकेंगे।


MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'


## 21.1 प्रस्तावना

पिछले कुछ वर्षों में नागरिक समाज की अवधारणा और लोकतंत्र के प्रति चिंता ने शैक्षणिक चर्चाओं, बहस और लेखन में पूरे विश्व में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। विचार की दुनिया में नागरिक समाज का मुद्दा गर्म है। इस अवधारणा की चर्चा के बिना गृह अथवा विदेश नीति पर कोई एक लेख भी मिल पाना असम्भव है। यद्यपि नागरिक समाज और लोकतंत्र की शब्दावली उतनी ही पुरानी है जितना समाजशास्त्र की, परंतु फिर भी इसके अर्थ और सार में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। इन अवधारणाओं को समझने के लिए इन अवधारणाओं के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर एक नजर डालना अच्छा रहेगा जहां भिन्न-भिन्न बुद्धिजीवियों ने इस दिशा में अपने विचार रखे हैं।

## 21.2 नागरिक समाजः एक पुनरावलोकन

नागरिक समाज की लोकप्रियता का मुख्य कारण लैटिन अमरीका, अफ्रीका और पूर्व साम्यवादी विश्व के प्रतिरोधी समूहों द्वारा अत्याचार के विरुद्ध किया गया संघर्ष है। 1980 और 1990 के काल ने विश्व स्तर पर अप्रत्याशित लोकतांत्रिक क्रांति का दौर देखा जब विभिन्न संघों, महिला संस्थाओं, छात्र समूहों और अन्य प्रकार की लोकप्रिय सक्रियता ने विद्रोही और पुनर्जीवित समाजों को कई प्रकार की तानाशाही समाप्त करने का बल प्रदान किया। इन घटनाओं ने इस जटिल विचार को प्रोत्साहित किया कि यदि एक पुनर्जीवित

नागरिक समाज लोकतांत्रिक परिवर्तन ला सकता है.तो वह इसे पुष्ट भी कर सकता है।

'नागरिक समाज' शब्द को सिसरो तथा अन्य रोमन से लेकर यूनानी दार्शनिकों के लेखन में ढूँढा जा सकता है। अपने शास्त्रीय प्रयोग में इस शब्द को राज्य के समान अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। नागरिक समाज के आधुनिक विचार को 18वीं सदी के अंतिम वर्षों में स्काटिश और महाद्वीपीय जागरण में अभिव्यक्ति मिली। यहाँ राजनैतिक दार्शनिकों की एक लम्बी श्रृंखला, थॉमस पेयन से लेकर जॉर्ज हीगल तक ने नागरिक समाज के विचार को राज्य के समान्तर परंतु राज्य से भिन्न विकसित किया, जिसमें नागरिक अपनी इच्छा और हितों के अनुसार जुड़ते हैं। नागरिक समाज की अलाभकारी समकालीन अवधारणाओं के विपरीत हीगल के उन्नीसवीं सदी के नागरिक समाज में बाजार सम्मिलित था। इस नई परिभाषा ने बदलती आर्थिक सच्चाइयों — निजी सम्पत्ति में वृद्धि, बाजारी प्रतिस्पर्धा और बुर्जुआवाद को उजागर किया। इसका परिणाम अमरीकी, इंग्लिश और फ्रांसीसी क्रांतियों में व्यक्त स्वतंत्रता की बढ़ती माँग के रूप में हुआ।

इस शब्द ने 19वीं सदी के मध्य में अपनी सार्थकता खो दी क्योंकि तब राजनीतिक दार्शनिकों और समाज विज्ञानियों का ध्यान औद्योगिक क्रांति के सामाजिक और राजनीतिक परिणामों की ओर मुड़ गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पुनः यह शब्द लौटकर आया जब मार्क्सवादी विचारक एन्टोनियो ग्रेम्सी ने नागरिक समाज को स्वतंत्र राजनीतिक गतिविधियों के केंद्र, अत्याचार के विरुद्ध महत्वपूर्ण संघर्ष के क्षेत्र के रूप में दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया। यद्यपि ग्रेम्सी के लिए दक्षिणपंथियों की तानाशाही चिन्ता का विषय थी परंतु उसकी पुस्तकें 1970 और 1980 के दशक में पूर्वी यूरोप और लातीनी अमरीका में सभी राजनीतिक रंगों की तानाशाही के विरुद्ध लड़ने वाले लागा में लोकप्रिय थीं। चेक, हंगरी और पोलैण्ड के क्रांतिकारियों ने अपने आप को नागरिक समाज के झंडे के नीचे एकत्र कर लिया और बर्लिन की दीवार गिरने पर इसे वीरता के गुण से सम्मानित किया।

इस अवधारणा का महत्व देखते हुए डेविड हैल्ड ने नागरिक समाज की अवधारणा को सामाजिक परिभाषा के माध्यम से एक रूप देने का प्रयास किया। उसके शब्दों में, 'नागरिक समाज का अपना इस हद तक एक विलग चरित्र है कि यह सामाजिक जीवन और घरेलू दुनिया के क्षेत्रों से निर्मित है जिसमें राज्य के सीधे नियंत्रण से बाहर व्यक्तियों और समूहों की बीच निजी और स्वैच्छिक प्रबंध में व्यवस्थित आर्थिक क्षेत्र, सांस्कृतिक गतिविधियां और राजनीतिक व्यवहार एवं अंतर्संबंध सम्मिलित हैं।

1990 के दशक में यकायक नागरिक समाज राष्ट्राध्यक्षों से लेकर राजनीतिक विज्ञानियों तक, सबके लिए एक मंत्र बन गया। लोकतंत्र के प्रति वैश्विक झुकाव ने पूरी दुनिया के पूर्व तानाशाही देशों में नागरिक समाज के लिए स्थान बनाया। संयुक्त राज्य और पश्चिमी यूरोप में थकी हारी दलीय व्यवस्था में ग्रस्त और त्रस्त लोगों में सामाजिक नवीनीकरण के माध्यम के रूप में नागरिक समाज में रुचि को जागृत किया। विशेषतः विकासशील देशों में निजीकरण एवं अन्य बाजार सुधारों ने नागरिक समाज को वहां कदम रखने का अवसर प्रदान किया जहां से सरकार पीछे हट चुकी थीं। और सूचना क्रांति ने नागरिकों के सशक्तिकरण तथा संबंधों के निर्माण के लिए नए साधन प्रदान किए। शीत युद्ध के बाद की स्थिति में नागरिक समाज एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया है।

## 21.3 लोकतंत्रः एक सार्वभौमिक मांग

नागरिक समाज की भांति लोकतंत्र भी अलग-अलग स्थानों और समय पर एक तरल अवधारणा रही है। पुरातन एथेन्स के लोकतंत्र और आधुनिक उदार लोकतंत्र, प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र तथा वाद-विवादयुक्त लोकतंत्र, राष्ट्रीय लोकतंत्र तथा सर्वदेशीय लोकतंत्र में तीव्र विरोधाभास देखा जा सकता है।

इसके बावजूद भी लोकतंत्र की इन सभी अवधारणाओं में यह संयुक्त उद्देश्य निहित है कि लोकतंत्र ऐसी परिस्थिति है जहां एक समाज संयुक्त रूप से आत्म निर्णय करता है। लोकतंत्र के माध्यम से एक जन समूह के सदस्य संयुक्त निर्णय लेते हैं जो उनके भाग्य को बनाता है, जिसमें वाद-विवाद पर बिना किसी रोक के समान अधिकार और भागीदारी के अवसर मिलते हैं। स्थान की कमी को देखते हुए यह कहना पर्याप्त रहेगा कि लोकतंत्र अवश्य ही सहभागिता, विचार-विमर्श, पारदर्शिता और जनता के प्रति जवाबदेही से युक्त है। एक तरीके से या दूसरे तरीके से लोकतांत्रिक शासन, शासित की सहमति पर निर्भर करता है। बल देते हुए कहा जा सकता है कि लोकतंत्र का निर्माण संदर्भ के आधार पर होता है और यदि संदर्भ बदल जाए तो इसका पुनर्निर्माण करना चाहिए। समकालीन भूमंडलीकरण (वैश्वीकरण) इस प्रकार से स्थिति परिवर्तन कर रहा है कि जिसमें लोकतंत्र के प्रति नई प्रवृत्तियों की आवश्यकता है।

स्मिटर और कार्ल के अनुसार स्पष्टता और निरंतरता के लिए आधुनिक राजनीतिक लोकतंत्र को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है - "शासन की एक ऐसी प्रणाली जिसमें शासक जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के सहयोग से किए गए कार्यों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से जनता की अदालत में जवाबदेह होता है।"

इससे पहले कि हम नागरिक समाज और लोकतंत्र के बीच संबंधों का परीक्षण करें कि वे कहां तक एक दूसरे को बढ़ाने में एक दूसरे के पूरक हैं, हमें नागरिक समाज की गुमराह करने वाली अवधारणा पर विचार कर लेना चाहिए।

## 21.4 नागरिक समाज का क्षेत्र

नागरिक समाज के प्रति वर्तमान उत्साह का अधिकांश भाग इसके गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रति, विशेष रूप से जनहित से जुड़े समर्थक समूह तथा पर्यावरण, मानवाधिकार, महिलाओं की समस्याओं, विकलांगों के अधिकार, चुनाव पर निगरानी, भ्रष्टाचार विरोधी संस्थाओं के प्रति आकर्षण के कारण है। ऐसे समूहों की गिनती में पिछले वर्षों में वृद्धि हुई है और विशेष रूप से उन देशों में जो अभी लोकतांत्रिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं। यद्यपि नागरिक समाज की मात्र गैर-सरकारी संस्थाओं से बराबरी करना गलत होगा। नागरिक समाज की अवधारणा काफी विस्तृत है जिसमें राज्य के बाहर की सभी संगठन और संस्थाएं जिनमें राजनीतिक दल तथा बाजारोन्मुख संगठन सम्मिलित हैं तथा इसमें वे सभी संस्थाएं भी शामिल हैं जिन्हें राजनीतिक विज्ञानी हित समूह तथा दबाव समूह कहते हैं। गैर-सरकारी संस्थाओं से अतिरिक्त मजदूर संघ, व्यवसायिक संस्थाएं (डॉक्टर तथा वकीलों की) चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स, जातीय संस्थाएं इत्यादि शामिल होती हैं। यह सूची बहुत विस्तृत है । इसमें कई अन्य संस्थाएं जो कुछ विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य काम कर रही हैं जैसे धार्मिक संगठन, छात्र समूह, सांस्कृतिक संस्थाएं, खेल क्लब और अनौपचारिक समुदायिक समूह इत्यादि भी सम्मिलित हैं।

गैर-सरकारी संस्थाएं विकसित एवं विकासशील देशों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वे नीति निर्माण में सरकारों पर दबाव डालकर तथा नीति निर्माताओं को तकनीकी सहायता प्रदान कर नीति निर्माण में सहायता करती हैं। वे राजनीतिक सहभागिता एवं नागरिक शिक्षा को प्रवृत्त करती हैं। वे ऐसे नवयुवकों को नेतृत्व का प्रशिक्षण देती हैं जो समाज में कुछ करना चाहते हैं पर जिन्हें राजनीति में कोई रुचि नहीं होती।

धर्म आधारित एवं तानाशाही देशों में परम्परागत नागरिक समाज गैर-सरकारी संस्थाओं को अधिक महत्व देता है। धार्मिक, सांस्कृतिक संस्थाएं एवं अन्य समूहों का प्रायः जनता में विस्तृत आधार होता है और वे अपने लिए आवश्यक निधि के घरेलू साधन प्राप्त कर लेते हैं। यहां वकालत करने वाले समूहों को प्रायः घरेलू धन की कमी रहती है।

ऐसे देशों में नई-नई गैर-सरकारी संस्थाओं में प्रायः विशिष्ट वर्ग का प्रभुत्व होता है और उनका जन साधारण के साथ क़मजोर सा रिश्ता होता है और वे अपनी गतिविधियों के लिए अधिकतर अंतरराष्ट्रीय निधि देने वालों पर निर्भर रहते हैं। और वे अपना खर्च घरेलू साधनों से पूरा नहीं कर सकते।

यहाँ यह संकेत देना ठीक होगा कि नागरिक समाज निर्माण की इस सकारात्मक रूपरेखा के अतिरिक्त माफिया और लड़ाकू समूह भी नागरिक समाज के उतने ही अंग हैं जितनी अन्य मानवीय संस्थाएं हैं। कुछ उत्साही नागरिक समाज के समर्थकों ने केवल एक तरफा रवैये को ही प्रचारित किया है कि नागरिक समाज में केवल श्रेष्ठ उद्देश्य और लोक कल्याण के कार्यक्रम सम्मिलित होते हैं। लेकिन फिर भी समाज अच्छे, बुरे और जंगली लोगों का मिश्रण है। इन्टरनेट पर वेब पेजिज़ की सर्फिंग से यह भाव स्पष्ट होता है कि नागरिक समाज के वास्तविक क्षेत्र में विभिन्नता होती है। यदि नागरिक समाज को उच्च मानवीय उद्देश्यों को मानने वालों तक सीमित कर दिया जाए तो यह अवधारणा केवल अध्यात्मवादी धारणा बन जाएगी न कि राजनीतिक अथवा सामाजिक, जो समाज के विचार पर ही प्रहार होगा।

## 21.5 नागरिक समाज और लोकतंत्र में संबंध

यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि कुछ परिस्थितियों में नागरिक समाज सत्तावादी शासन को लोकतांत्रिक बनाने में सहायक हो सकता है और एक बार लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था स्थापित हो जाए तो उसे जीवित रखने में भी सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए, पूर्वी यूरोपीय देशों, दक्षिण अफ्रीका, सर्बिया, फिलिपीन और पिछले दिनों जार्जिया में नागरिकों ने नागरिक समाज की संस्थाओं का प्रयोग राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए लाखों साथी नागरिकों को दमनकारी शासनों के विरुद्ध लामबंद कर संघर्ष किया। लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक समाज की संस्थाएं नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में संयुक्त हितों को प्राप्त करने के लिए आधार प्रदान करती हैं, यहाँ लोग स्वतंत्र, सामूहिक और शांतिपूर्ण ढंग से भागीदारी करते हैं। सामाजिक संस्थाओं में शामिल होने से नागरिकों को सहभागिता और संयुक्त कार्यवाही के मूल लोकतांत्रिक मूल्यों की शिक्षा मिलती है जिन्हें वे आगे जाकर अपने समुदाय के लोगों के बीच प्रसारित करते हैं। नागरिकों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले नागरिक समाज के आन्दोलन, सरकारी नीति और सामाजिक प्रवृत्ति को काफी हद तक प्रभावित कर सकते हैं। नागरिक समाज की स्वतंत्र गतिविधियां, राज्य शक्ति के बराबर खड़ी हो सकती हैं।

**बॉक्स 21.1: जनता की शक्ति**

कई पश्चिमी दिमागों में नागरिक समाज का विचार तानाशाहों को खदेड़ बाहर निकालने के जन शक्ति आंदोलनों से जुड़ा हुआ है। सफल पश्चिमी लोकतंत्र द्वारा दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में नागरिक समाज को मजबूत करने का कार्यक्रम अमरीका और पूर्वी देशों का मानक कार्यक्रम बन गया है। इसे लोकतंत्र वृद्धि के यंत्रों की किट भी कहते हैं । थॉमस कैरोथर्स और मैरीना औटावे ने लोकतंत्र को मजबूत करने में अंतरराष्ट्रीय समुदाय और नागरिक समाज की सक्रिय सामूहिक भूमिका की चर्चा में दो रोचक योगदान दिए हैं। 'एडिंग डेमोक्रेसी अब्राड' अमरीकी लोकंत्र के विस्तार की वर्तमान क्रियाकलापों पर एक वृहद और महत्वपूर्ण प्रकाशित पुस्तक है। कैरोथर्स अंतरराष्ट्रीय संबंधों में जाए बिना 'लोकतंत्र विस्तार को एक रणनीति' के रूप में चर्चा करता है जो यथार्थवादी सुरक्षा हितों अथवा आदर्शवादी, मानवीय प्रेरणा के अनुरूप है। वह यह दावा करता है कि लोकतंत्र दोनों का मिश्रण है।

अपने दृष्टिकोण को ठीक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उसने लोकतंत्र के लिए सहायता (डेमोक्रेसी एड) के तीन केंद्रीय पक्षों का वर्णन किया — चुनावी सहायता, संस्थात्मक सुधार और नागरिक समाज सहायता। वह इसे स्पष्ट करने के लिए अमरीका से विभिन्न प्रकार की सहायता प्राप्त करने वाले देशों — गुएटमाला, नेपाल, जाम्बिया और रोमानिया के मामलों के अध्ययन का विस्तृत वर्णन करता है।

कैरोथर्स के विचार में लोकतंत्र सहायता (डेमोक्रेसी एड) लोकतंत्रीकरण की उपज है न कि इसके उलट। लोकतांत्रिक होते राज्यों से बने वातावरण और परिस्थितियों ने इन देशों में लोकतंत्र को बढ़ाने में अंतरराष्ट्रीय सहायता के योगदान को सम्भव बनाया है। निष्कर्ष निकालते हुए वह यह टिप्पणी करता है कि स्थानीय संदर्भों में अंतर होने के बावजूद लोकतंत्र को बढ़ाने के लिए अमरीका की गतिविधियां सब के लिए एक ही नीति का प्रयोग करती हैं, जो कोई स्वस्थ तरीका नही है। लोकतंत्र की सहायता का यह तरीका शैक्षणिक सिद्धांतों के सतर्क प्रयोग से नहीं अपितु व्यवहार के दौरान विकसित हुआ है।

विश्व के अलग-अलग भागों में नागरिक समाज को मजबूत करने की प्रक्रिया को वाशिंगटन में व्याप्त इस प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि किस प्रकार अरब के देशों को लोकतांत्रिक किया जा सकता है और अमरीका को वहां लोकतंत्र की सहायता के लिए क्या करना चाहिए।

यद्यपि अन्य देशों के आंतरिक मामलों में अमरीका के दखल देने का समर्थन नहीं किया जा सकता तथापि विद्वानों में यह सहमति है कि लोकतंत्र को स्थापित करने में नागरिक समाज का सबसे पहला स्थान है। जॉन केन अपने इस कथन के माध्यम से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है — "जहाँ कोई नागरिक समाज नहीं है वहाँ एक राजनीतिक कानूनी ढाँचे के अंतर्गत अपनी विशिष्टता, अधिकार और कर्त्तव्यों को चुनने योग्य नागरिक नहीं हो सकते"।

## 21.6 लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक समाज के कार्य

लोकतांत्रिक राजनीति को आगे बढ़ाने में नागरिक समाज के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए लारी डायमंड अपने लेख "रिथिंकिंग सिविल सोसायटी (1996)" में कहता है "नागरिक समाज लोकतंत्र का स्थापित करने और मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है"। उसका विचार है कि लोकतांत्रिक नागरिक समाज में यह संभावनाएं अधिक हैं कि लोकतंत्र का उदय होगा और वह स्थायी होगा।" डायमंड के विचारानुसार नागरिक समाज अधोलिखित महत्वपूर्ण कार्य करता है:

1) राज्य के राजनीतिक दुर्व्यवहार और कानूनी उल्लंघन को रोक कर तथा जनता द्वारा इसकी छानबीन कर राज्य शक्ति को सीमित करना। डायमंड का यह दृढ़ मत है कि नागरिक समाज लोकतंत्र की शुरुआत करने से अधिक लोकतंत्र को बनाए रखने व मजबूत करने के लिए आवश्यक है।

2) लोकतंत्र नागरिकता के अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति उत्साह में वृद्धि करके तथा लोकतांत्रिक नागरिकों की राजनीतिक कुशलता एवं कौशल में वृद्धि के माध्यम से नागरिकों को सशक्त करना।

3) नागरिकों में लोकतांत्रिक गुणों, जैसे — सहनशीलता, विनम्रता, समझौते करने की इच्छा तथा विरोधी विचारों का सम्मान करना — को पैदा करना एवं विस्तार देना। डायमंड के अनुसार यह एक महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि यह परम्परागत रूप से विलग किए गए समूहों जैसे महिलाओं, जातीय और वंशानुगत अल्पसंख्यकों को सत्ता तक पहुंचने का अवसर प्रदान करता है जिनसे उन्हें औपचारिक राजनीति के उच्च गलियारों द्वारा वंचित रखा गया है।

4) राजनीतिक दलों एवं अन्य संस्थाओं को अपने हितों को प्रस्तुत करने के लिए मुखर एवं एकत्र होने के अवसर प्रदान करना। इससे लोकतंत्र की गुणवत्ता में वृद्धि होती है क्योंकि यह प्रशासन के हर स्तर पर प्रतिभागिता और प्रभावित करने के अवसर पैदा करता है और स्थानीय शासन में भी ऐसे अवसर उत्पन्न होते हैं।

5) भर्ती करने, सूचना और नेतृत्व पैदा करने वाली एजेंसी के रूप में कार्य करना — विशेषतः आर्थिक रूप से विकसित उन देशों में जहाँ कभी-कभी आर्थिक सुधार आवश्यक तो होते हैं परंतु कर पाना कठिन होता है क्योंकि इससे निहित आर्थिक स्वार्थों को खतरा होने लगता है। इंडोनेशिया में आर्थिक व्यवस्था के ढह जाने से बड़े पैमाने पर असंतोष फैल गया जिससे अचानक ही राष्ट्रपति सुहार्तो संदेह के घेरे में आ गए। इससे वातावरण में बदलाव आया जिसने नागरिक समाजों और विपक्षी दलों को अप्रत्याशित ढंग से लामबंद होने की छूट दी।

6) एक सुदृढ़ आधार वाला नागरिक समाज झटके सहन करने में सक्षम होता है जहाँ हितों की एक लम्बी श्रृंखला एक दूसरे को लांघ कर राजनीतिक विवाद को शांत करती हों।

7) सफल आर्थिक एवं राजनीतिक सुधारों को प्रारम्भ करना, जिसके लिए समाज और विधायिका में गठबंधनों के सहयोग की जरूरत होती है।

8) एक मजबूत आधार वाला नागरिक समाज नए राजनीतिक नेतृत्व की पहचान एवं उसे प्रशिक्षित करता है । इस प्रकार से यह सीमित और पुराने ढंग से दलीय प्रभुता वाले नेताओं को भर्ती करने के तौर-तरीकों में नई ऊर्जा भरने में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

9) चुनावों की निगरानीः अनेक गैर-राजनीतिक संस्थाएं देश-विदेश में चुनाव निगरानी का काम करती हैं। डायमंड कहते हैं कि इस प्रकार के प्रयास धोखाधड़ी को पकड़ने, मतदाताओं का विश्वास बढ़ाने, चुनावी परिणामों की वैधता को स्वीकार करने तथा सरकार की धोखाधड़ी के बावजूद विपक्ष की जीत दर्ज कराने में — फिलीपाईन्स और 1989 में पानामा को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

   क) नागरिकों की राज्य की ओर प्रवृत्ति को मजबूती प्रदान करने से राजनीतिक व्यवस्था की जवाबदेही, जिम्मेवारी, सम्भागिता, प्रभावशीलता और वैधता बढ़ जाती है। इस प्रकार से यह नागरिकों के मन में राज्य के प्रति आदर और इसमें सकारात्मक प्रतिभागिता पैदा करती है। यहाँ नागरिक समाज स्थायी, गुणवत्तापूर्ण और संवेदनशील लोकतंत्र के विकास और अस्तित्व के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

10) इसके साथ ही अन्य विचारकों ने भी इस विषय पर अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। लोकतंत्र पर रॉबर्ट डहल के शास्त्रीय कार्य से प्रेरणा लेते हुए अल्फर्ड स्टेपन ने अपनी कृति 'प्रोब्लम ऑफ डेमोक्रेटिक ट्रांजिशन एंड कंसोलिडेशन — लोकतंत्र के संक्रमण एवं पुष्टिकरण की समस्याए — में लिखा है कि लोकतंत्र के लिए आधारभूत आवश्यकताओं में प्राथमिकताएं निर्मित करना, प्राथमिकताओं का अर्थ निश्चित करना तथा सरकार के संचालन में इन प्राथमिकताओं के महत्व की जाँच करना शामिल है। राबर्ट डहल के अनुसार सरकार के सुचारु रूप से कामकाज करने के लिए इसे निम्नलिखित सांस्थानिक गारंटी सुनिश्चित करनी चाहिएः

   1) सभा एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।

   2) मतदान का अधिकार।

3) सरकारी पदों के लिए मुकाबला।

4) निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चुनाव।

5) समर्थन एवं मतों के लिए मुकाबले का राजनीतिक अधिकार।

6) सूचना के वैकल्पिक स्रोत।

7) नीति निर्माण की संस्थाओं का मतों पर निर्भर होना।

8) प्राथमिकताओं की अन्य अभिव्यक्तियाँ।

**बॉक्स 21.2: आधारभूत स्वतंत्रताएं**

यद्यपि स्टेपन सांस्थानिक प्रतिश्रुतियों (guarantees) के महत्व को स्वीकार करते हुए इन्हें आवश्यक समझता है परंतु लोकतंत्र के कामकाज के लिए पर्याप्त नहीं मानता। उसके विचारानुसार कितने ही स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव क्यों न हो, चाहे सरकार के पास कितना ही बहुमत हो परंतु एक राजनीतिक समाज में गुणवत्ता का अभाव रहेगा यदि वह एक ऐसा संविधान निर्मित करने में अक्षम है जिसमें आधारभूत स्वतंत्रताएं हों, अल्पसंख्यकों के अधिकार तथा कुछ संस्थाएं तथा राज्य शक्ति को सीमित करने वाले नियंत्रण और संतुलन तथा किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था की जवाबदेही सुनिश्चित करना शामिल न हो।

## 21.7 लोकतंत्र के प्रवर्तक के रूप में नागरिक समाज

अपने लेख "वैश्विक शासन में नागरिक समाज और लोकतंत्र" में डॉ. जेन आर्ट शाल्ट ने इन अवधारणाओं का गहन विश्लेषण किया है। वह नागरिक समाज और लोकतंत्र के केवल सकारात्मक पहलुओं की ही कल्पना नहीं करती अपितु इसके नकारात्मक पहलुओं का भी मूल्यांकन करती है। लोकतांत्रिक सरकार के प्रवर्तक के रूप में नागरिक समाज का सकारात्मक पक्ष लेते हुए शाल्ट (Scholte) ने ऐसे छह क्षेत्रों की पहचान की है जहाँ नागरिक समाज लोकतंत्र को बढ़ावा दे सकता है।

1) **जन-शिक्षाः** जागरूकता लोकतांत्रिक व्यवस्था का मूल मंत्र है। जनता को शिक्षित करने के माध्यम से नागरिक समाज लोकतंत्र को बढ़ावा दे सकता है। ज्ञानवान नागरिक प्रभावी लोकतंत्र को जीवित रख सकते हैं, नागरिक संस्थाएं दुनिया भर में प्रचलित कानूनों और नियामक संस्थाओं के प्रति जागरूकता पैदा करने के माध्यम से अत्यधिक योगदान कर सकती हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए नागरिक समाज छोटी पुस्तिकाएं एवं सूचना थैलियां तैयार कर सकता है, दृश्य-श्रव्य सामग्री बना सकता है, कार्यशालाएं चला सकते हैं, समाचार पत्र प्रसारित कर सकते हैं, जनसंचार के माध्यमों को सूचनाएं दे सकते हैं और उनका ध्यान आकर्षित कर सकते हैं, इंटरनेट पर वेब साईट बना सकते हैं, उच्च शिक्षा के संस्थानों एवं स्कूलों के लिए प्रचार सामग्री बनाई जा सकती है।

2) **दावेदारों की आवाज बनानाः** नागरिक समाज दावेदारों को समर्थन देकर लोकतांत्रिक शासन को बढ़ावा दे सकता है। नागरिक संस्थाएं संबंधित पक्षों को सूचना तथा दस्तावेज देने तथा शासन की एजेंसियों की आवश्यकताओं और मांगों का विश्लेषण कर सकती हैं। नागरिक संस्थाएं तिरस्कृत सामाजिक वर्ग जैसे गरीबों, महिलाओं और अक्षम-अपंग लोगों की आवाज बन सकती हैं जिनकी प्रायः उनके द्वारा चुने गए विधायिका एवं कार्यपालिका के सदस्यों द्वारा तथा अन्य माध्यमों से भी कम सुनवाई होती है। इस प्रकार नागरिक सक्रियता दावेदारों को शक्ति प्रदान कर सकती है और राजनीति को अधिक भागीदारी की ओर मोड़ सकती है।

3) **नीति निवेशः** सरकारी नीतियों का निर्माण न केवल घरेलू अपितु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी नागरिक समाज के निवेश से अत्यधिक प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, नागरिकों के समूह कथित "वाशिंगटन सहमति" के प्रति बहस की चिंगारी भड़काने में आगे थे। उन्होंने निरंतर पर्यावरणीय असंतुलन के मुद्दों को भी उठाया, गरीबी का गुणात्मक आकलन किया और दक्षिण में ऋण में कटौती करने की योजनाओं के लिए दबाव बनाया।

4) **शासन में पारदर्शिताः** सतर्क नागरिक का लामबंद होना शासन में पारदर्शिता का कारण बन सकता है। नागरिक समाज का निरंतर दबाव नियमन के ढाँचों और क्रियाकलापों को उजागर करता है जहां जनता की निगरानी और नजर में उनका आकलन किया जा सकता है। प्रायः नागरिकों में यह जागरूकता नहीं होती कि सरकार द्वारा क्या निर्णय लिए जाते हैं, कौन लेता है और किन विकल्पों से, किस आधार पर, किन अपेक्षित परिणामों के लिए और लागू करने के लिए किन साधनों और संसाधनों के बल पर निर्णय लिए जाते हैं। नागिरक समाज अपने सुगठित ढाँचे के माध्यम से सरकार द्वारा "पारदर्शिता" की लगाई जाने वाली रट पर प्रश्न कर सकता है कि किसे पारदर्शी बनाया गया है, कब बनाया गया है, किसके निर्णय पर किस उद्देश्य से और किसके हित में क्या पारदर्शी बनाया गया है।

**अभ्यास 21.1**

नागरिक समाज क्या है? लोकतंत्र में इसके क्या कार्य हैं?

5) **जनता के प्रति जवाबदेहीः** नागरिक समाज कई संबंधित एजेंसियों को जनता के प्रति जवाबदेह बना सकता है। नागरिक समूह जनता और प्रेस से संबंधित नीतियों को लागू करने तथा उनके प्रभाव पर निगाह रख सकते हैं, यदि परिणाम विपरीत आ रहे हों। उदाहरण के लिए, स्वतंत्र नागरिक एजेंसियां विश्व बैंक और आई.एम.एफ. के मूल्यांकन की निष्पक्ष नीति रखती हैं। जिसके फलस्वरूप उन्होंने अल्प विकसित देशों के प्रति इन एजेंसियों की नीति की अधिकतर आलोचना की है।

MADHYAMIAS
way to achieve your dream

पश्चिमी देश जो व्यवहार में लोकतंत्र होने का दावा करते हैं प्रायः विश्व स्तर पर कभी-कभार उनसे भी अधिक तानाशाह हो जाते हैं जिनकी ये निंदा करते हैं तथा जिन पर पाबंदियां लगाते हैं।

6) **वैधताः** नागरिक समाज द्वारा पूर्व में की गई सभी गतिविधियों का कुल योग एक वैध लोकतांत्रिक शासन की ओर ले जाता है। जब लोग यह स्वीकार कर लेते हैं कि एक शक्ति को शासन करने का अधिकार है और उनका भी इसके निर्देशों की पालना करने का कर्त्तव्य है तो शासन वैध होता है। इस प्रकार की सहमति के परिणामस्वरूप वैध शासन अवैध शासन और तानाशाह सत्ता की तुलना में अधिक सरल, उत्पादक और अहिंसक ढंग से कार्य करता है।

यहाँ यह समझना महत्वपूर्ण है कि लोकतंत्र को राष्ट्रीय शासन की शर्तों पर नहीं समझना चाहिए। नागरिक समाज के पास वैश्विक शासन की नीति के अनुरूप लोकतंत्र का वृहद कार्यक्रम होना चाहिए। नागरिक समाज न केवल अपने घर पर ही लोकतंत्र को बढ़ावा दे सकता है अपितु इसका प्रभाव विश्व व्यवस्था में होते लोकतांत्रीकरण में भी देखा जा सकता है। नागरिक समाज नागरिकों में यह विश्वास पैदा करने के साधन उपलब्ध करवा सकता है कि वैश्विक शासन के प्रबंध को उनका मार्गदर्शन करना चाहिए और जहाँ आवश्यक हो वहां उनके व्यवहार पर बंधन भी लगाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मानव अधिकारों, महिला अधिकारों, विकलांगों के अधिकारों तथा पर्यावरण के प्रति अंतरराष्ट्रीय चिंता का गृह नीति निर्माण और इसे लागू करने पर बड़ा

असर पड़ता है। उदाहरण के लिए विकास कार्यों से संबंधित अनेक गैर-सरकारी संस्थाएं एवं विचार मंच, जो वैश्विक ऋणों में रियायतों एवं सामाजिक स्तर पर टिकने वाले ढांचागत समायोजन के लिए लाबिंग करते हैं, राष्ट्रीय एवं स्थानीय सरकारों में सरकारी खजाने की जाँच-पड़ताल तक पहुंचे हैं। इसके साथ ही महिला आंदोलनों ने प्रायः अंतरराष्ट्रीय कानूनों और संस्थाओं का अपने हित में प्रयोग कर लिंग के आधार पर राज्य को लोकतांत्रिक बनाने के लिए किया है। मानव अधिकारों के प्रति अंतरराष्ट्रीय चिंता से विकलांगों के अधिकारों को भी गति मिलती है।

## 21.8 नागरिक समाज के लोकतांत्रिक खतरे

नागरिक समाज का घरेलू और विश्व स्तर पर लोकतंत्र हेतु किया गया योगदान अति महत्वपूर्ण है। लेकिन यहां यह अवश्य जानना चाहिए कि नागरिक समाज वास्तव में कई प्रकार से अंतरराष्ट्रीय संबंधों के लोकतांत्रिक शासन से परे हटता है। ऐसी परिस्थितियों में नागरिक गतिविधियां अपनी लोकतांत्रिक शक्ति को अनुभव करने में असफल ही नहीं होती अपितु लोकप्रिय शासन को अवरुद्ध भी करती हैं। ऐसी सात नकारात्मक सम्भावनाओं को चिह्नित किया जा सकता है।

1) नागरिक समाज की गतिविधियां लोकतांत्रिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नहीं भी हो सकतीं। यद्यपि नारिगक समाज शब्द ही नागरिकता और मूल्यों का परिचायक है परंतु व्यवहार में स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यक्रमों में लोकतंत्र को बढ़ावा देने के कार्यक्रम नहीं होते। इसके विपसीत ऐसी संस्थाओं के तत्व लोकतंत्र को नुकसान पहुचाने का कार्य कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ नागरिक संगठन (संस्थाएं) अपने तुच्छ उद्देश्यों की पूर्ति एवं सुविधाओं के लिए कार्य कर सकती हैं। जातिवाद, उग्र राष्ट्रवाद और धार्मिक कट्टरवाद फैलाने वाली विनाशकारी संस्थाएं दूसरों के लोकतांत्रिक अधिकारों के विरुद्ध काम कर सकती हैं। राजनीतिक रूप से प्रासंगिक इस्लामी वर्ग के उन भागों जैसे मुस्लिम भाई चारे ने समग्र रूप से लोकतंत्र के हित में कार्य नहीं किया है।

2) नागरिक समाज लोकतंत्र से दूर जा सकता है यदि इसके प्रयासों, आकार और क्रियान्वयन की योजनाएं ठीक से न बनाई गई हों। शासन के सांस्थानिक प्रबंध को समझे बिना ही यदि कार्यकर्ता काम करते हैं तो ये अपनी ही संस्था के मूल उद्देश्यों को नुकसान पहुंचा सकते हैं। यहां तक कि शिक्षाविद् भी लोकतंत्र के सार्वजनिक उपयोग के अपने सैद्धांतिक प्रारूपों को उस विशेष क्षेत्र के विवेकसंगत अनुभवों एवं प्रमाणों से संबद्ध करने में असफल हो सकते हैं।

3) साधन विपन्न सरकारी एजेंसियां नागरिक समाज से प्राप्त जानकारियों को नहीं संभाल सकती। नियामक संस्थाओं में विशेषज्ञ स्टॉफ की कमी, पर्याप्त धनराशि तथा नागरिक समाज द्वारा प्रस्तुत लाभ के अवसरों का लाभ उठाने के लिए आवश्यक प्रवृत्ति अथवा अनुकूल तौर-तरीकों की कमी के कारण ऐसा हो सकता है। सरकारी अधिकारी नागरिक संस्थाओं के साथ नीति निर्माण के अंतिम चरण में विचार-विमर्श कर सकते हैं जब कि मुख्य फैसले लगभग हो चुके होते हैं। यह लोकतंत्र को बढ़ावा देने के स्थान पर समाज में बिगाड़ पैदा कर सकता है और उठा-पटक का कारण बन सकता है।

4) सरकार द्वारा दी गई धनराशि एवं लाभ नागरिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को भ्रष्ट बना सकते हैं। अपने उद्देश्यों एवं लक्ष्यों पर ध्यान देने के स्थान पर वे अपने अल्पकालिक लाभों के लिए प्रयास कर सकते हैं।

MAADHYAM IAS

5) अपर्याप्त प्रतिनिधित्व लोकतंत्र के मूल को नुकसान पहुंचा सकता है। यदि नागरिक समाज को अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा करना है तो नागरिक समाज के सभी स्तर के लोगों को अधिकारियों तक पहुंचने की छूट होनी चाहिए और भागीदारी के रूप में सबको लगभग समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए अन्यथा नागरिक समाज में ढाँचागत असमानताएं तथा वर्ग, लिंग, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म तथा शहरी बनाम ग्रामीण आधार पर मनमानी सुविधाओं में बढ़ोतरी तथा असमानताएं पैदा हो सकती हैं।

6) वैश्विक लोकतंत्र के प्रति नागरिक समाज की चिंता, स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति असंवेदनशील हो सकती है। इस संदर्भ में नागरिक समाज की स्थानीय लोगों की सभी समस्याओं के प्रति रुचि नहीं हो सकती। विशेष रूप से इस बात का खतरा है कि दक्षिण और पूर्व साम्यवादी देशों के नागरिक समाज पश्चिमी स्टाइल, पश्चिम द्वारा दी गई धनराशि से संचालित गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रभाव में आ सकते हैं। ऐसे कार्यकर्ता वैश्विक शासन की प्रचलित स्थितियों की निन्दा कर सकते हैं और उनके स्थानीय समुदायों से अधिक भूमंडलीय प्रबंधकों के साथ मजबूत सांस्कृतिक संबंध हो सकते हैं। इस प्रकार गैर-सरकारी संस्थाएं एवं अन्य व्यावसायिक नागरिक समाज शायद चुपचाप अनायास ही उन आधारभूत वर्गों को हाशिये पर ला सकते हैं जो वैश्विक शासन को प्रभावित करने वाले विभिन्न जीव-समाजों की आवाज को मुखर कर सकते हैं।

7) नागरिक समाज में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव हो सकता है। पर्याप्त लोकतंत्र के लिए काम करने वाले विशिष्ट समूहों सहित नागरिक समाज समूह अपनी कार्यविधि में लोकतांत्रिक व्यवहार से परे हो सकते हैं। नागरिक समाज के क्षेत्र में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव न केवल अपने लिए ही दोषयुक्त है अपितु पूरे समाज में लोकतंत्र लाने के बड़े उद्देश्य के भी विरुद्ध है। प्रायः यह देखा जाता है कि नागरिक संस्थाएं अपने सदस्यों को चन्दा देने से अधिक प्रतिभागिता के अवसर कम ही देती हैं। नागरिक समाज की संस्थाएं कुछ क्षेत्रों और लोगों की, उनसे विचार विमर्श किए बिना वकालत कर सकती हैं। नागरिक समाजों का नेतृत्व कल्याण के नाम पर बहस को दबा सकता है। नागरिक समूहों में पारदर्शिता का अभाव हो सकता है क्योंकि कभी-कभी वे आर्थिक ब्यौरा, अथवा अपनी संस्था के उद्देश्यों की घोषणा तक को प्रकाशित नहीं करते, पूरे प्रतिवेदन का तो सवाल ही नहीं पैदा होता।

MADHYAM IAS

इन ज्वलंत समस्याओं के दृष्टिगत हमें घरेलू और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में लोकतंत्र को बढ़ावा देने वाली एजेंसी के रूप में नागरिक समाज के प्रति अपने उत्साह को पर्याप्त सावधानी और ध्यान से संतुलित करना चाहिए। किसी को नागिरक समाज की मोहक कपोल कथाओं से नहीं बहकाना चाहिए। बहुत कुछ ठीक हो सकता है परंतु बहुत कुछ गलत भी हो सकता है। नागरिक समाज अच्छे लक्ष्य के लिए साधन हो सकता है परंतु अपने आप में अंतिम लक्ष्य नहीं है। ऐसे उदाहरण और परिस्थितियाँ हैं जब नागरिक समाज की भागीदारी लोकतंत्र से दूर ले जा सकती है अथवा लोकतंत्र के मूल पर आघात कर सकती है। समाज की यह पहली मांग होनी चाहिए कि नागरिक समाज को न केवल अपने को दृढ़ करना चाहिए अपितु अपनी लोकतांत्रिक वैधता को दर्शाना चाहिए।

**अभ्यास 21.2**

नागरिक समाज और लोकतंत्र में क्या संबंध है?

इसके साथ ही यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि जो लोकतंत्र का प्रसार करते हैं या विदेशों में लोकतंत्र के लिए धनराशि प्रदान करते हैं — वे स्वयं भी अपने व्यवहार

में लोकतांत्रिक हैं। अमरीका ने 1991 से ही मध्य-पूर्व में लोकतंत्र की समर्थक कई संस्थाओं की सहायता की है। 1991 से 2000 तक मध्य-पूर्व में दी गई सहायता लगभग 150 मिलियन डालर थी। इन प्रकल्पों को नागरिक समाज सशक्तीकरण के रूप में वर्गीकृत किया गया था। 1994 में पैलेसटीनियन अथार्टी (फिलीस्तीनी अधिकरण) बनने के बाद इजरायल के कब्जे के दौरान अमरीका ने वेस्ट बैंक और गाजा में कुछ फिलिस्तीनी संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान की। संयुक्त राज्य अमरीका ने इस सहायता को बढ़ाया और इसे नागरिक समाज सशक्तीकरण के रूप में वर्गीकृत किया। वर्ष 2000 में अमरीका ने 32 मिलियन डालर का एक प्रोजेक्ट फिलिस्तीनी गैर-सरकारी संस्थाओं को समर्थन एवं सहयोग देने के लिए प्रारंभ किया। लेबनान में अमरीकी सहायता कार्यक्रम के अंतर्गत 1990 में समुदाय आधारित सेवा करने वाली संस्थाओं की सहायता के लिए कई मिलियन डालर खर्च किए ।

अमरीकी प्रयासों का सर्वोपरि तत्व था "नागरिक समाज को सहायता प्रदान करना।" केवल लोकतंत्र को बढ़ावा देना ही इन प्रकल्पों का तर्क नहीं था। मिस्र में अमरीका का विश्वास था कि प्राइवेट समूहों को विकास के कार्यों में विस्तृत भूमिका प्रदान करने से इसकी (अमरीका की) आर्थिक उदारीकरण की नीति के उद्देश्य को आगे बढ़ावा मिलेगा। वेस्ट बैंक और गाजा में अमरीका को फिलिस्तीनी संस्थाओं (गैर-सरकारी संगठनों) को स्वशासन के अंतर्गत अपनी जीवन स्थितियों को सुधारने के लिए सहायता प्रदान करने से ओसलो शांति प्रक्रिया के प्रति जन समर्थन जुटाने की आशा थी। (इसके साथ ही एन.जी.ओ. सहायता को दिशा देने में प्रमुख हथियार थीं क्योंकि कांग्रेस ने अमरीका पर फिलिस्तीनी प्राधिकरण को सीधे सहायता देने पर पाबंदी लगा रखी थी)।

लेबनान में अमरीका स्थानीय समुदायों को गृह युद्ध की त्रासदी के बाद पुनर्निर्माण के लिए सहायता करना चाहता था। क्योंकि सरकारी एजेंसियां बहुत कमजोर थीं, इसलिए सामुदायिक संस्थाएं और गैर-सरकारी संस्थाएं सहायता में बेहतर भागीदार थीं। क्लिंटन के प्रशासन के दौरान इस्लाम एक कारक बन गया था यद्यपि खुले रूप से इसे स्वीकारा नहीं गया था। कुछ अमरीकी अधिकारी गैर-सरकारी सैनिक संस्थाओं को इस्लामी सहायता तथा दूसरे समूहों की मजबूत काट मानते थे। ऐसी संस्थाएं इस्लाम विरोधी आंदोलनों की आधारभूत सहायता की स्रोत थीं और इस कारण वंश अमरीकी अधिकारी संसाधनों को इन संस्थाओं की ओर मोड़ना चाहते थे। यद्यपि 1991 और 2003 में जब अमरीका ने ईराक और अफगानिस्तान जैसे छोटे देशों पर आक्रमण किया तब अलोकतांत्रिक साधनों से अमरीका की वैश्विक लोकतंत्र के प्रति वचनबद्धता को आसानी से समझा जा सकता है। लोकतंत्र के प्रति अमरीका का प्यार कोई नया नहीं है। लोकतंत्र के नाम पर अमरीकी राष्ट्रपतियों द्वारा (विशेष रूप से उल्लेखनीय राष्ट्रपति विल्सन, 1913 - 21) पूरे मैक्सिको, केंद्रीय अमरीका और कैरेबियन पर लगभग दो दर्जन आक्रमण, जीवित रहने वाला, एक भी लोकतंत्र पैदा नहीं कर सके। पिछले कुछ उदाहरण और अधिक आँख खोलने वाले हैं जिनमें अमरीका ने लोकतंत्र स्थापना के निहित उद्देश्य से जोर जबर्दस्ती से बलपूर्वक तानाशाह शासकों को खदेड़ा जैसे, 1992 में पानामा, 1994 में हैथी और 2002 में अफगानिस्तान। इन अनुभवों में से किसी एक को भी सफल लोकतंत्रीकरण का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

## 21.9 सारांश

घरेलू और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर लोकतंत्र के कार्यात्मक एवं प्रोत्साहनात्मक पक्ष के संदर्भ में नागरिक समाज का गहराई से अध्ययन करने पर हम ऐसी उलझी हुई स्थिति में पहुंचते हैं, जो लोकतंत्र का सर्वश्रेष्ठ और सार्वभौमिक शासन व्यवस्था के रूप में प्रचार करती है। वे स्वयं अपने हितों के लिए और कभी कभी तो तुच्छ हितों के लिए इससे दूर

हट जाते हैं। फिर भी इस पर कोई दो मत नहीं हो सकते कि नागरिक समाज ने लोकतंत्र के कार्यान्वयन के लिए सुविधाजनक मार्ग प्रदान करने में सहायता की है। लेकिन यह धारणा भी उतनी ही खतरनाक एवं खुद पर थोपने जैसी है कि अल्प विकसित देशों को नागरिक समाज और लोकतंत्र का पाश्चात्य प्रारूप अपनाना चाहिए।

इस विषय पर पर्याप्त शैक्षणिक चर्चाएं हुई हैं कि कुछ मानव जीवन रचनाशास्त्री यह प्रश्न करते हैं कि क्या नागरिक समाज का सिद्धांत पश्चिम से बाहर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए, चीन और ताइवान के तुलनात्मक अध्ययन में राबर्ट पी. वैलर लिखते हैं "मैंने इसके मूल मुद्दों को लिखते समय "नागरिक समाज" शब्द का प्रयोग जानबूझकर नहीं किया। नागरिक समाज शब्द के साथ अनेक समस्यात्मक सैद्धांतिक पूर्वानुमान और ऐतिहासिक अर्थ जुड़े हुए हैं जिनकी एक विशेष यूरोपीय दार्शनिक परम्परा में गहरी जड़े हैं। राजनीतिक विचारक सुदिप्ता कविराज और सुनील खिलानी नागरिक समाज के सिद्धांत के संबंध में अधिक वर्णनात्मक कारण देते हैं "यूरोपीय उपनिवेशवाद के आगमन से राज्य, सामाजिक जीवन का एक स्वीकार्य और आवश्यक अंग बन गया और आधुनिक समाज की संस्थात्मक व्यवस्था राज्य और नागरिक समाज में भेद के लिए संवाद और भाषा के अवसर पैदा करती है। यद्यपि उन्होंने अधिकांशतः औपनिवेशिक संदर्भ में राज्य और नागरिक समाज के आगमन के प्रति विचार विमर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इस विषय का अधिक सैद्धांतिक संदर्भ में मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित बिंदु इस विषय की वर्तमान जटिलताओं को समझने के लिए उपयोगी हो सकते हैं। पहले तो प्रवक्ता प्रायः नागरिक समाज को पूर्णतया सकारात्मक दर्शाते हैं — यहाँ तक कि इसमें कोई कमी नहीं देखते। उदाहरण के लिए एक लेख "सिविल सोसायटी और बिल्डिंग डेमोक्रेसीः लेसन्स फ्रॉम इंटरनेशनल डोनर एक्सपीरेंस" (नागरिक समाज और लोकतंत्र निर्माणः अंतरराष्ट्रीय सहयोग अनुभव से सीखे पाठ) में हैरी ब्लेयर कहते हैं कि नागरिक समाज की संस्थाएं नीति निर्माण की प्रक्रिया में नागरिकों की प्रतिभागिता को बढ़ाती हैं, नागरिकों के प्रति राज्य की जवाबदेही में वृद्धि करती हैं तथा लोकतांत्रिक राजनीति में नागरिक शिक्षा प्रदान करती हैं। यह एक आदर्श का वर्णन है, एक ऐसा आदर्श जिसने 1989 से अंतरराष्ट्रीय अनुदानों के माध्यम से नागरिक समाज की संस्थाओं को सैकड़ों मिलियन डालर की सहायता के लिए प्रेरित किया और इसका मिला-जुला परिणाम रहा।

दूसरे जो लोग नागरिक समाज को आदर्श मानते हैं वे प्रायः नागरिकों के कार्यों के बारे में बात करते हैं परंतु नागरिक, संघर्ष की बात नहीं करते। फिर भी संसाधनों, कानूनों, नीतियों पर विवाद का प्रभाव केंद्र में रहता है और हितों की अनेकता के कारण नागरिकों के दिलों पर होता है। इस कारण कट्टर वादी समाज जो सत्य के एक ही स्रोत में विश्वास रखते हैं, जैसे — स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत रूस अथवा बीसवीं सदी के अंत में दूसरे साम्यवादी देश या आयतुल्ला खुमैनी के नेतृत्व तले ईरान। ये दृष्टिकोण में अनेकता का स्वागत करने वाले समाजों की तुलना में नागरिक समाज को कम पसंद करते हैं।

तीसरे टौक्युवेली के बाद से पाश्चात्य विचारकों ने व्यक्तिवाद को नागरिक समाज के दिल में बैठा दिया। उदाहरण के लिए, एर्नेस्ट जेलनर नागरिक समाज के निर्माणकर्ता को माडुलर मैन कहता है, जो है तो स्वायत्त, परंतु जुड़ने के लिए तैयार भी और सक्षम भी है। दुनिया के अधिकांश भागों में लोग स्वयं को माडुलर नहीं समझते। वे किसी विशेष समुदाय (परिवार, धर्म, वंश, जाति, कुल अथवा किसी अन्य के आधार पर) का सदस्य होने के रूप में अपनी पहचान को पक्का मानते हैं न कि आसानी से बदलने वाला। उदाहरण के लिए, साकत केंद्र - (Sakete centre) में मुसलमान, ईसाई और स्थानीय देवताओं को मानने वाले इकट्ठे रहते हैं तथा मुसलमान और ईसाई कड़ी मुसीबत में स्थानीय देवताओं के लिए त्याग करते हैं। फिर भी दूसरे के रीति-रिवाजों और व्यवहार के प्रति इस खुलेपन का यह अर्थ नहीं है कि वे माडुलर हैं और एक पंथ को दूसरे के साथ

आसानी से बदल सकते हैं। परिवार और वंश की भांति धर्म भी व्यक्ति को सामाजिक संबंधों के जाल में फंसा देता है जिसे कोई बड़ी कीमत देकर ही काटा जा सकता है। नागरिक समाज का मूल विचार इस धारणा पर टिका है कि व्यक्ति सामाजिक होने के कारण चुनौतियों से घिरा है। यदि लोगों को माडुलर माना जाता है तो हम ऐसे नागरिक समाज की कोई परिभाषा कैसे बना सकते हैं जो राष्ट्र से परे भी काम करता हो।

चौथे नागरिक समाज की अवधारणा के साथ विस्तृत मानदंड रखे गए हैं। कुछ का तर्क है कि नागरिक समाज में परिवार को छोड़कर गैर राज्यीय संस्था के सभी प्रकार या स्वरूप सम्मिलित हैं परंतु यह मानने योग्य बात नहीं है क्योंकि नागरिक समाज में ही कई सामाजिक संस्थाएं सम्मिलित हैं, जो अनिवार्य रूप से प्राइवेट हैं और इसी कारण नागरिक समाज़ और समाज में अंतर कर पाना संभव नहीं होता। सिद्धांत को अधिक उपयोगी बनाने के लिए नागरिक समाज के नागरिक पक्ष में उन सभी ढाँचों, आंदोलनों और संस्थाओं की श्रेणी को शामिल करना चाहिए जिनका आयाम जनता का पक्ष हो।

पाँचवें, यहाँ इस बात पर बल है कि नागरिक समाज की प्रकृति दोहरी है। उद्‌गम में पूर्णतया निजी परंतु ध्यान से देखने पर सार्वजनिक। नागरिक समाज समूह प्रायः अहिंसक जन साधनों का प्रयोग कर निजी हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे संस्थाएं, शिक्षा तथा नीति और राजनीति को प्रभावित करने के लिए प्रदर्शन भले ही वे पड़ोस में हो अथवा शहर, क्षेत्र, राज्य अथवा राष्ट्रीय स्तर पर हो। ये हित व्यक्तिगत हित भी हो सकते हैं या धर्म, वंश या अन्य सामाजिक समूहों से संबद्ध हित भी हो सकते हैं। एक प्रकार से इनसे सरकार पर दवाब बनेगा।

नागरिक समाज पर अपनी चर्चा को सकारात्मक शैक्षणिक विचार के साथ पूरा करने के लिए जो विचार, व्यवहार में अपनाया गया है वह है कि लोकतंत्र, स्वस्थ और सक्रिय नागरिक समाज की आवश्यकता है। अंतरराष्ट्रीय समुदाय, विभिन्न नागरिक समूहों को संसाधन एवं प्रशिक्षण देकर देशों को लोकतांत्रिक बनाने में स्थानीय नागरिक समूहों के निर्माण में सहायता कर सकते हैं।

MADHYAM IAS

ठीक उसी समय लोकतंत्र के नाम पर अपने विचारों और संस्कृति को नागरिक समाज पर थोपने में पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। यद्यपि स्थानीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर लोकतंत्र, शासन की स्वस्थ व्यवस्थाओं में से एक है, परंतु सामाजिक विज्ञान में कोई शब्द अंतिम नहीं होता। पूर्व में कई प्रकार की प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्थाएं और रीति-रिवाज रहे हैं जो आज के पाश्चात्य जीवन से कहीं बेहतर थे। उन्हें इसलिए नहीं छोड़ देना चाहिए कि पश्चिम के संबंध में हमारी रुचि और अपनी कल्पनाएं हैं । यह अधिक महत्वपूर्ण है कि अच्छी जीवन पद्धति को बढ़ावा देने के लिए चर्चा और उत्साह बने रहना चाहिए जिससे सर्वसत्तात्मक और तानाशाह राज्यों में अत्यंत गरीबी और कष्ट में जीने वाले लोगों का भला हो सके।

## 21.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हैरी ब्लेयर, "सिविल सोसायटी एंड बुल्डिंग डेमोक्रेसीः लेसन्स फ्रॉम इंटरनेशनल डोनर एक्सपीरियेंस" पीपी 65-80 इन बर्नार्ड, हेलमिल्क एंड लेहनिंग (एडी.) सिविल सोसायटी एंड इंटरनेशनल डेवलपमेंटस। नॉर्थ-साउथ सेंटर ऑफ द कौंसिल ऑफ यूरोप, डेवलपमेंट सेंटर ऑप द आर्गेनाइजेशन फार इकोनॉमिक को-ऑपरेशन एंड डेवलपमेंट, 1998.

सुदिप्ता कविराज एंड सुनील खिलानी, "इंट्रोडक्शनः आइडियाज ऑफ सिविल सोसायटी" इन सिविल सोसायटीः हिस्ट्री एंड पॉसिबिलिटीज (कैम्ब्रिज, यूकेः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001).

डॉ. अर्चिबुगी एंड डी हेल्ड (एडी.) कॉस्मोपोलिटन डेमोक्रेसीः एन एजेंडा फार ए न्यू वर्ल्ड ऑर्डर (कैम्ब्रिजः पॉलिटी, 1995).

डेविड हेल्ड, माडल्स ऑफ डेमोक्रेसी (स्टेनफॉर्ड, क्लिफः स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987).

एर्नेस्ट गेलनर, 'सिविल सोसायटी इन हिस्टोरिकल कॉटेक्स्ट', इंटरनेशनल सोशल साइंस जर्नल (अगस्त, 1991) - 495-510.

गॉर्डन व्हाइट, 'सिविल सोसायटी, डेमोक्रेटाइजेशन एंड डेवलपमेंट (1) - क्लियरिंग द एनालिटिकल ग्राउंड', डेमोक्रेटाइजेशन, वाल्यूम 1, नं. 3 (ऑटम्न 1994).

नीरा चंढोक, 'द सिविल एंड द पॉलिटिकल इन सिविल सोसायटी', डेमोक्रेटाइजेशन, वाल्यूम 8, नं. 2 (समर 2001) - 1-24.

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

# खंड 6

# संजातीयता और पहचान के समकालिक मुद्दे

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

# खंड 6 प्रस्तावना

इस खंड में संजातीयता और पहचान के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा की गई है। सबसे पहले शिक्षार्थी को संजातीयता की संकल्पना को किस प्रकार समझना है, इसके बारे में बताया गया है। इसके बाद पुस्तक में पहचान-निर्माण का विश्लेषण और वर्णन किया गया है और अंत में, इस पुस्तक में संजातीयता की संकल्पना और समकालिक संदर्भों तथा पहचान-निर्माण के परिप्रेक्ष्य में सीमाओं और सीमाओं के अनुरक्षण के मुद्दों की जाँच की गई है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22

# संजातीयता की अवधारणा

**इकाई की रूपरेखा**


22.1 प्रस्तावना

22.2 वर्ग और संजातीयता

22.3 संजातीयता का निर्माण

22.4 प्रारंभिक दृष्टिकोण

22.5 उपकरणात्मक दृष्टिकोण

22.6 संजातीयता का निर्माणात्मक प्रारूप

22.7 संजातीयता का जेनकिन प्रारूप

22.8 प्रजाति और संजातीयता

22.9 सारांश

22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- वर्ग और संजाति का वर्णन कर सकेंगे;
- संजाति के निर्माण को बता सकेंगे;
- संजातीयता के प्रारूप, यांत्रिक प्रारूप तथा निर्माणवादी प्रारूप का रेखाचित खींच सकेंगे; तथा
- प्रजाति और संजाति में संबंध का वर्णन कर सकेंगे।


MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'


## 22.1 प्रस्तावना

'भिन्न होना' एक ऐसी सोच है जिसे हम सबने अपने भीतर कहीं न कहीं अंतर्मन में बैठा लिया है। हम भिन्न होना सीखते हैं क्योंकि हमें सामाजीकरण के प्रारंभिक चरणों में निरंतर यह बताया जाता है कि विभेदीकरण एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। बार-बार यह जताना कि लड़के, लड़के होते हैं और लड़किंयाँ, लड़कियाँ होती हैं, से लिंग भेद की भावना और हम और उनके संदर्भ में 'स्व' की चेतना मन में बैठ जाती है। जब व्यक्ति जीवन चक्र की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरता है तो 'हम' और 'उन' की श्रेणियों के निर्माण का अर्थ भिन्न हो जाता है। 'उन' के विरुद्ध 'हम' के निर्माण में सांस्कृतिक विषयवस्तु भी जोड़ दी जाती है। ये पुनर्रचनाएं प्रायः पूर्वाग्रह और रूढ़िवादिता की स्वैच्छिक स्वीकृति से ग्रसित हो जाती हैं। इन निरन्तर व्यवहारिक प्रतिरूपों की मान्यता और उनसे उभरे परिणाम संजातीयता के विचार को सामाजिक सिद्धांत बनाने में सहायक होते हैं।

संजातीयता शब्द को प्राचीन ग्रीक शब्द ethnos से लिया गया है जिसका अर्थ ऐसी स्थितियों से है जहाँ मानव समूह एक साथ रहते और काम करते हैं। (Cf. Ostergard, 1992)।

आजकल इस विचार का अनुवाद प्रायः 'लोग' अथवा 'राष्ट्र' के रूप में किया जाता है (जेनकिन 1997)। समकालीन समाजशास्त्र और लोक चर्चित अवधारणा में इस शब्द का प्रयोग अभी नया-नया है। 1941 में प्रकाशित 'यान्की सिटी सीरीज' के साथ इस शब्द का प्रचलन सामान्य अमरीकी प्रयोग से लोकप्रिय हुआ। डब्ल्यू. लायड वार्नर एवं पाल एस. लुन्ट द्वारा लिखित दो पुस्तकों 'द सोशल लाइफ आफ ए माडर्न सिटी 1941' तथा 'द स्टेटस सिस्टम आफ ए मॉड्रर्न कम्युनिटी' ने इस अवधारणा में निहित विभिन्न विरोधाभासों तथा अस्पष्टता को उजागर किया। वार्नर एक ऐसी संज्ञा की तलाश में था जो आयु, लिंग, धर्म और वर्ग (सोलोर्स, 1981) के समानार्थी हो तथा जब उसे ग्रीक संज्ञा 'इथोनस' का ज्ञान हुआ जिसे राष्ट्र, लोगों एवं अन्यों के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता था तो वार्नर ने संजातीय शब्द का प्रयोग ऐसे गुण के रूप में किया जो व्यक्तियों को एक वर्ग से अलग करता है और दूसरे वर्ग से जोड़ता है (उपर्युक्त 1981)। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमरीकी पहचान की खोज के लिए किए गए अनेक अध्ययनों से अमरीका में संजातीयता अमरीकी पहचान बनाम अल्पसंख्यक पहचान अथवा प्रवासी पहचान की खोज बन गई। इसी प्रवृत्ति को फिलिप गलीसन ने अपने लेखों 'अमेरिकन्स ऑलः एथनिसिटी, आइडियोलॉजी' तथा अमरीकी संजातीय समूहों के हार्वर्ड एनसाइक्लोपीडिया 'द्वितीय विश्व युद्ध के युग में अमरीकी पहचान' में लिखा है।

युद्ध के बाद के वर्षों में तेज हुए, 'विस्तृत अमरीकी अध्ययन आंदोलन के एक भाग के रूप में, संजाति को एक आदर्श अमरीकी मूरत के रूप में समझा गया। इस कारण नहीं कि उनकी अलग सांस्कृतिक विरासत थी अपितु बिल्कुल उससे विपरीत कारण से कि संजातीयता ने अपने आप को एक चारित्रिक ढाँचे में अधिकतम स्तर तक प्रस्तुत किया और यह ढाँचा अमरीका की परिवर्तन, गतिशीलता और अतीत से संपर्क कटने से उपजा था।' यह कथन आस्कर हैंडलिन (1951) ने गलीसन्स के विश्लेषण के बाद अपनी पुस्तक 'द अपरूटेड' की प्रस्तावना में इतने सुंदर क्रमबद्ध ढंग से लिखा है कि इसके परिणामस्वरूप उसने फिर लिखा कि 'एक बार मैंने अमरीका में प्रवासियों का इतिहास लिखने के विषय में सोचा तो ज्ञात हुआ कि प्रवासी ही अमरीका का इतिहास हैं।

संजातीयता पर हुए अनेक अध्ययनों की चाहे कितनी ही कमियां रहीं हों, पर एक संयुक्त तथ्य उभर कर आता है कि संजातीयता का अध्ययन दूसरों के संदर्भ में किया जाता है और इसका केंद्र बाह्य (अस्वैच्छिक, वस्तुनिष्ठ) और आंतरिक (स्वैच्छिक और व्यक्तिनिष्ठ) होता है। समाजशास्त्र के साहित्य में संजातीयता को प्रायः वर्ग और आधुनिकता के अर्थ में ले लिया जाता है।

## 22.2 वर्ग और संजातीयता

मार्क्स के पदानुक्रम के कथन में निहित वर्ग की अवधारणा और सामाजिक विभेदीकरण के नियम अपने क्षेत्र में 'वर्ग चेतना' को सम्मिलित करते हैं — यह ऐसा नियम है जो समूहों के बीच एकता के बीच पर चर्चा करता है। एक सामाजिक रचना के रूप में संजातीयता भी बंधनों और एकत्रित होने के विचार से विकसित हुई है। वर्ग का सिद्धांत देने वाले विचारक दूसरों द्वारा किए जाने वाले शोषण को 'वर्ग एकता' को मजबूत करने का साधन मानते हैं। इसी प्रकार संजातियों की रचना में सहयोग करने वाले संजातीय चेतना को विकसित करने के लिए संयुक्त अनुभवों पर ध्यान देते हैं। इन संयुक्त और समान लक्षणों के बावजूद अनेक समाजशास्त्री और समाजविज्ञानी यह तर्क देते हैं कि संजाति वर्ग नहीं है। ठीक उसी समय उनमें से कोई भी संजातीयता और वर्ग के बीच महत्वपूर्ण संबंधों से इंकार नहीं करता। डेनियम बेल (1975) ने अपने प्रसिद्ध लेख 'एथनिसिटी एंड सोशल चेंज — (संजातीयता और सामाजिक परिवर्तन') में लिखा है —

'वर्ग भावना में कमी एक ऐसा कारक है जिसे संजातीय पहचान के अभ्युदय के साथ जोड़ा जाता है। वह आगे कहता है कि संजातीयता और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है क्योंकि यह हितों को प्रभावशाली बंधनों के साथ जोड़ सकती है। जब अन्य सामाजिक भूमिकाएं अधिक निरपेक्ष और अवैयक्तिक हो जाती हैं तो संजातीयता पहचान के कुछ मूर्त बिंदु देती है जैसे — भाषा, भोजन, संगीत और नाम।

इस विषय पर लोकप्रिय लेख लिखने वालों में से एक ग्लेजर और मोयनियन ने अपने लेख 'बियोंड द मेल्टिंग पॉट्स' में इसी प्रकार के विचार दिए हैं। वे अपने 1975 के प्रकाशन 'एथनिसिटीः थ्योरी एंड एक्सपीरेंस' में लिखते हैं —

वर्ग आधारित सामाजिक पहचान के रूप और आज भी चल रहे संघर्ष के सामने संजाति आधारित सामाजिक पहचान के रूप और संघर्ष को जीवित देख कर हम चकित हैं। अन्य कहीं अपने एक विचारपरक लेख 'एटलांटिक मंथली, अगस्त 1968' में वे तर्क देते हैं कि हमारे पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद के मुद्दों पर समकालीन व्यवस्तता हमें यह देखने से वंचित करती है कि इस समय की यहाँ और विदेशों में बेचैनी और गड़बड़ी का हमारी संजातीय, प्रजातीय और धार्मिक सम्बद्धता से अन्य मुद्दों की तुलना में अधिक संबंध है।

संजातीय शब्द का राजनीतिक महत्व पूर्व सोवियत संघ एवं युगोस्लाविया जैसे देशों के विघटन एवं 11 सितम्बर को विश्व व्यापार केंद्र पर बम्ब गिराने की घटनाओं के बाद विशेष रूप से बढ़ गया। नृ-विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के लेखन में इस शब्द का आम प्रयोग 1970 के प्रारंभिक वर्षों में शुरू हुआ। यहां यह रोचक बात है कि नृ-विज्ञान और समाजशास्त्र की 1970 की पाठ्य पुस्तकों से पहले शायद ही इस शब्द को परिभाषित किया गया था। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों के साहित्य में 'संजातीय समूहों' का कही-कहीं उल्लेख मिलता है।

**बॉक्स 22.1: संजातीयता पर पुनर्विचार**

रिचर्ड जेनकिन्स अपने बहुप्रशंसित कृति (पुस्तक) 'रिथिंकिंग एथनिसिटीः अरग्यूमेंट्स एंड एक्सप्लोरेशन — संजातीयता पर पुनर्विचारः तर्क और अन्वेषण' में लिखते हैं —

इस शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में संजातीयता और संजातीय वर्गों से जुड़ी अवधारणाओं को शैक्षणिक एवं अन्य कई दिशाओं में ले जाया गया (स्टोन, 1996)। इसका वर्णन दैनिक चर्चाओं और भाषणों में होने लगा और यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के सांस्कृतिक विभिन्नता वाले लोकतंत्र देशों में यह समूह विभेदीकरण और उपयोग की राजनीति का केंद्र बन गए। 1945 से प्रजाति के प्रति जनता की धारणाओं और वैज्ञानिकों के तिरस्कार के बीच एक खाली स्थान को भरने के लिए संजातीयता ने स्वयं को प्रस्तुत किया और यह शीत युद्ध के बाद के पुनर्गठन का एक सशक्त माध्यम बन गई। 'संजातीय शुद्धिकरण' की बुराई, प्रजातीय स्वास्थ्य तथा अंतिम समाधान की प्रारंभिक मीठी बातों के साथ खड़ी है (1997 : 9)।

जेनकिन्स द्वारा सजातीयता के रोचक विश्लेषण से जो दो बातें उभरकर आती हैं। पहली तो यह कि 'संजातीयता' और 'संजातीय समूह' का विचार साथ-साथ चलता है । यदि संजातीयता का उदय सत्तर के दशक के प्रारंभ में एक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धांत के रूप में हुआ तो इसका प्रचलन इससे भी पूर्व एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में था जिससे सामाजिक और सांस्कृतिक समूहों के बीच समानताओं और विषमताओं को चिह्नित किया जाता था। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि 'संजातीय समूह' का नाम प्रजाति की धारणा की बुराई और प्रचलन के प्राकृतिक और निरपेक्ष विकल्प के रूप में उभरकर आया। जेनकिन उन लाभों का भी वर्णन करता है जो संजातीय सम्बद्धता के कारण प्राप्त होते हैं। कभी-कभी यह लाभ समूहों को प्रदान किए

जाते हैं क्योंकि समाजों में उन्हें दूसरे समूहों की तुलना में हाशिए पर माना जाता है। आप शायद सुरक्षात्मक भेदभाव अथवा आरक्षण से परिचित हैं जिन्हें उत्तरी अमरीका में प्रजातीय दृष्टि से विभिन्न (कम सुविधा प्राप्त) समूहों के हक में सकारात्मक कदम कहा जाता है। यहां यह समझना जरूरी है कि एक संजातीय समूह का अंग होने से अपनेपन और अलग पहचान के साथ कई लाभ और हानियां जुड़ी हुई हैं। हम इनमें से कुछ मुद्दों की अगले अध्यायों "विशिष्टता (पहचान) का निर्माण तथा सीमा तथा सीमा निर्वाह" में चर्चा करेंगे। हम आवश्यक रूप से "संजातीयता के सैद्धांतीकरण" — इसके ऐतिहासिक मूल और विभिन्न विचारकों द्वारा इसके अवलम्ब के लिए प्रस्तुत किए गए सिद्धांतों पर केंद्रित रहेंगे।

## 22.3 संजातीयता का निर्माण

संजातीयता के सिद्धांत में योगदान देने वाले कुछ विचारक संजातीय का उद्‌गम मैक्स वेबर के प्रारंभिक लेखों से बताते हैं। वेबर ने अपने एक महत्वपूर्ण योगदान, जिसका नाम है — "एकोनॉमी एंड सोसायटी — (अर्थव्यवस्था और समाज") जिसका प्रथम प्रकाशन 1922 में हुआ और 1968 में पुनर्प्रकाशन हुआ, में लिखा है कि एक संजातीय समूह वह समूह होता है जिसके सदस्यों का यह संयुक्त विश्वास होता है कि उनके पूर्वज एक ही हैं अथवा उसे यूं कहा जा सकता है कि वह किसी एक ही की संतान हैं। वह अपने कथन को सिद्ध करने के लिए लिखता है कि —

"संजातीय सदस्यता से समूह निर्माण नहीं होता, अपितु यह केवल किसी समूह निर्माण में सहायक होती है, विशेषतः राजनीतिक क्षेत्र में। दूसरी ओर प्राथमिक रूप से राजनीतिक समुदाय ही, भले ही वह किसी प्रकार से गठित हो, संयुक्त संजातीयता को प्रेरित करता है (1968 : 389)।

वेबर के कथन से स्पष्ट है कि अपनेपन की भावना को पैदा करने में जीव विज्ञान की बहुत कम भूमिका है। वेबर ने संजातीय समूह की कल्पना एक "प्रतिष्ठा समूह" के रूप में की है। एक हैसियत समूह की जड़ें सांझी, भाषा, धर्म और संस्कृति में हो सकती हैं। सांझी सामुदायिकता के आधार पर सदस्य एक ध्रुवीय सामाजिक घेरा बनाने का प्रयत्न करते हैं अर्थात वे दूसरों को अपने विशिष्ट क्षेत्र में घुसने की अनुमति नहीं देते। प्रत्येक सदस्य जानता है कि सामूहिक भागीदारी की स्थिति में उससे क्या अपेक्षा की जाती है। वे एक दूसरे के सम्मान और गरिमा की रक्षा के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं। इसी धारणा के अनुरूप ही राजनीतिक संघर्षों में आत्मघाती दस्ते काम करते हैं। वेबर का यह भी विचार है कि क्योंकि सजातीयता से जुड़ी संयुक्त कार्रवाई की संभावनाएं अनिश्चित हैं, और इसके निकट संबंधी "देश" को सामाजिक उद्देश्यों के लिए ठीक से परिभाषित नहीं किया जा सकता। (विस्तृत विवरण के लिए जेनकिन्स 1997 - 10 को देखें)। वेबर द्वारा स्पष्ट इस कथन के माध्यम से हम यह समझ सकते हैं कि एक शासन के अंतर्गत राजनीतिक संप्रभुता के लिए संघर्ष करने वाले समूह द्वारा किए गए विनाश कार्यों को किस प्रकार उस समूह द्वारा देशभक्ति और वीरतापूर्ण कार्य समझा जाता है जबकि शासक वर्ग द्वारा उसी कार्य की धोखे और छल के रूप में निन्दा की जाती है। आप इजरायल और फिलिस्तीनियों और इसी प्रकार के अन्य विद्रोही गुटों और राष्ट्रों के बीच में चल रहे संघर्षों के विषय में अखबारों में जरूर पढ़ रहे होंगे।

संजातीयता जटिल समीकरण बनाती है और साधारण संस्कृति तथा मानवीय स्पष्टीकरण इसके रहस्यों को खोलने के लिए पर्याप्त नहीं है। सामाजिक व्यवहार और राजीनीतिक गठन के जटिल प्रश्नों को समझने के लिए "संजातीयता" एक सैद्धांतिक हथियार के रूप में न केवल समाजशास्त्रियों के लिए रुचि का विषय है अपितु राजनीतिक विज्ञानियों और मानवशास्त्रियों के लिए भी उतनी ही रुचि का विषय है। विस्तृत रूप से संजातीयता को

समझने के तीन दृष्टिकोणों पर विचार किया जा सकता है, जिनके नाम हैं : i) प्रारंभिक, ii) यंत्रवादी (उपकरणीय) और iii) निर्माणवादी।

## 22.4 प्रारंभिक दृष्टिकोण

प्रारंभिक दृष्टिकोण संजातीयता पहचान के लिए जीव विज्ञान को एक आधारभूत कारक मानता है। जैविक जड़ों को अनुवांशिक और भौगोलिक कारकों के आधार पर निश्चित किया जाता है। ये संबंध निकटता से जुड़े समूहों का निर्माण करते हैं। अपने रिश्तेदारों के प्रति वफादारी की आवश्यकता होती है ताकि संसाधनों को नियंत्रित और अधिकृत करने वाली स्थिति में बैठे लोग अपने निकट रिश्तेदारों की तरफदारी करें। आज की भाषा में इस प्रकार की तरफदारी की भाई-भतीजावाद कह कर निन्दा की जाती है। भाई-भतीजावाद का अर्थ है दूसरों की तुलना में अपनों की तरफदारी करने की प्रवृत्ति। लोकतंत्र और गुण एवं प्रतिभा के सिद्धांत का दावा करने वाले समाजों में सामाजिक और जैविक आधार पर अपनों को चुनने के सिद्धांत को नहीं माना जाता । पियर वैन डेन बर्घे (Pier Van den Berghe) इसको इस प्रकार स्पष्ट करता है —

"आमतौर पर प्राकृतिक रूप से रिश्तों को चुनने के बोधगम्य ढंग को संजातीयता कहते हैं, जो एक स्वभावगत प्राचीन प्रवृत्ति है। तथा जो आज के आधुनिक औद्योगिक समाजों में भी चल रही है (1981 - 35)।

संजातीयता के सामाजिक-जीव वैज्ञानिक विश्लेषण यह मानते हैं कि संजातीयता को समझाने और समझने के लिए कुछ मूर्त स्पष्टीकरण हैं। इस विचारधारा के कुछ समर्थक यह मानते है कि आनुवंशिक संबंध अपने आप में ही संजातीय बंधनों के लिए उत्तरदायी हैं। इसी विचारधारा का दूसरा समूह यह सोचता है कि जैविक संबंध और अपनेपन की भावना स्वतः विकसित होती है जिसे सांस्कृतिक प्रभाव मजबूत करते हैं। विभिन्न विचारकों और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि इस विचारधारा की जड़ें मानव समाज के क्रमिक विकास निर्माण मैं जमी हैं। शा एवं वांग की मान्यता है कि प्रारंभ में मानव विकास के एक अंग के रूप में किसी समूह से सम्बद्धता को आनुवंशिकी के आधार पर समझा जाता था, जब जीवित रहने के लिए किसी को अपने परिवार के सदस्यों को पहचानने की योग्यता आवश्यक थी।

**बॉक्स 22.2: संजाति समूह का सिद्धांत**

रूस और सोवियत के मानव विज्ञान में प्रारंभवादी विचारधारा का समर्थन और उल्लेख कई बार मिलता है। रूसी विद्वानों की कृतियों में संजाति समूह के सिद्धांत को, जिसे बाद में वाई.यू. ब्रोमले (1974) ने विकसित किया, इस प्रकार परिभाषित किया गया है —

"संजाति समूह लोगों का वह समूह है जो एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही उद्‌गम को स्वीकार करते है, परम्पराओं द्वारा सुरक्षित एवं पावन किए गए रीति-रिवाजों और जीवन शैली को जीते हैं और जिसके आधार पर उन्हें अन्य लोगों से अलग पहचाना जा सकता है।

संजातीयता की सामाजिक-जीव वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले संजाति समूह की उत्पत्ति के अध्ययन के लिए कोई ढाँचा विकसित करने के आलोचक थे। संजाति समूह की उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार संजाति समूहों का जन्म ब्रह्माण्डीय ऊर्जा एवं भूमि के संयुक्त प्रभाव से हुआ। संजातीयता के अध्ययन के प्रारंभिक (प्राचीन) प्रारूप के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। संजातीयता का साधारण सामाजिक-जीव वैज्ञानिक आधार पर वर्णन, जो संजातीय समूह को रिश्तेदारों के समूह का विस्तार मानता है, की कई विद्वानों ने कटु

आलोचना की है, परंतु क्लिकफोर्ड ग्रीट्ज जैसे विद्वानों के लेखों में प्रशंसा और समर्थन प्राप्त हुआ है। ग्रीट्ज का मत है कि खून, भाषा और संस्कृति के रिश्ते आवश्यक और प्रशंसातीत दिखाई देते हैं जो प्राकृतिक प्रतीत होते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते आप में से अधिकांश ने इन्हें स्वयं अनुभव भी किया होगा।

संजातीयता को समझने के लिए आवश्यक प्रश्न यह है कि वफादारी की अपेक्षा करने वाली अनुभव की स्थितियों के संदर्भ में किस प्रकार ये भावनाएं तर्कसंगत ठहरती हैं। प्रारंभवादी विचारधारा का तर्क है कि अपनेपन के रिश्ते और सांस्कृतिक जुड़ाव हमेशा सर्वोच्च रहेंगे और सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों का संचालन करेंगे। ग्रीट्स अपने इस तर्क को इस लेखन के माध्यम से और विस्तार देता है —

'इससे प्रारंभवादियों की भावनाओं और नागरिक भावनाओं में सीधा टकराव पैदा होता है। किसी अन्य समूह से संबंध न रखने की इच्छा से कबीलावाद, संकीर्णतावाद और सम्प्रदायवाद जैसी अनेक समस्याएं पैदा होती हैं जो अन्य अनेक समस्याओं से अधिक भयानक और सर्वत्र व्याप्त होती हैं तथा नये राज्यों के समक्ष गंभीर और उग्र समस्याओं के रूप में प्रस्तुत होती हैं (1973 - 261)।

आज के आधुनिक नागरिक समाज के निर्माण में यह चर्चा सर्वोपरि है जिसमें समानता को एक वैध सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कृति, भाषा, धम और उद्‌गम के आधार पर भेद और अंतर को स्वीकार किया जाता है परंतु इन प्राथमिक लक्षणों और गुणों के आधार पर एक राष्ट्र-राज्य में अलग राजनीतिक पहचान को स्थापित करना अच्छा नहीं माना जाता। संजातीयता का अध्ययन करने वाले छात्र निरंतर इस चर्चा में व्यस्त रहते हैं कि संजातीयता प्राचीन है अथवा राजनीतिक इरादों के चलते लोगों ने इसका अनर्थ किया है।

## 22.5 उपकरणात्मक दृष्टिकोण

संजातीयता (नृ-विज्ञान) के छात्र निरंतर पूछते हैं —

'क्या संजातीयता मनुष्य स्वभाव का एक पहलू है? अथवा क्या इसे किसी भी हद तक परिस्थितियों के अनुसार, रणनीति बनाकर चालाकी से परिभाषित किया जाता है और व्यक्तिगत स्तर तथा सामूहिक स्तर पर बदला जा सकता है? क्या इसका संपूर्ण निर्माण सामाजिक ढंग से होता है? (जेंकिन्स 1997)।

हम पहले प्रश्न पर पहले ही विचार कर चुके हैं और आपको बता चुके हैं कि किस प्रकार विचारक और विद्वान मानव स्वभाव का एक अंग होने के नाते संजातीयता के मामले में अलग-अलग बात कहते हैं। अब हम दूसरे प्रश्न पर चर्चा करेंगे और संजातीयता के संबंध में यंत्रवादी दृष्टिकोण का भी वर्णन करेंगे। समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान के लेखों में यंत्रवादी दृष्टिकोण साठ के दशक के बाद के वर्षों और सत्तर के दशक के प्रारंभिक वर्षों में लोकप्रिय हुआ। समाजशास्त्र के साहित्य में यांत्रिकतावादी उपकरणात्मक दृष्टिकोण को लोकप्रिय बनाने में फ्रेड्रिक बार्थ और पाल ब्रास का नाम प्रायः लिया जाता है। और कभी-कभी परिस्थितिवादी परिप्रेक्ष्य बताते हुए संजातीय समूह की सीमाएं बनाए रखने पर बल दिया जाता है। इसका मत है कि मनुष्य एक संजातीय समूह से दूसरे संजातीय समूह में जा सकता है। यह परिवर्तन या तो परिस्थितियों के कारण हो सकता है अथवा राजनीतिक अभिजात्य वर्ग की जोड़-तोड़ के कारण हो सकता है।

सांस्कृतिक आभिजात्य वर्ग द्वारा लाभ और शक्ति की होड़ में किए गए जोड़-तोड़ और रचना के फलस्वरूप राजनीतिक कपोल कथाओं से उत्पन्न संजातीय समूहों के सांस्कृतिक रूप, मूल्य और रीति-रिवाज राजनीतिक सता और आर्थिक लाभ की प्रतिस्पर्धा में उनके

लिए संसाधन बन जाते हैं। वे समूह के सदस्यों की पहचान के प्रतीक और द्योतक बन जाते हैं, जिनका प्रयोग राजनीतिक विशिष्टता के निर्माण की सुविधा के लिए किया जाता है।

ब्रास ने अपनी दो पुस्तकों —'उत्तर भारत में भाषा, धर्म और राजनीति' तथा 'संजातीयता और राष्ट्रवादः सिद्धांत और तुलना 1991 (Ethnicity and Nationalism: Theory and Comparison") में भारत के संदर्भ में संजातीयता और राष्ट्रवाद के मुद्दों का बारीकी से परीक्षण किया है। ब्रास ने संजातीयता की परिभाषा डे-वास से उधार ली है जिसके अनुसार दूसरे समूहों से अलग दिखाई देने के लिए संस्कृति के किसी एक पहलू का एक समूह द्वारा व्यक्तिपरक, प्रतीकात्मक एवं विशिष्ट प्रयोग करना ....। ब्रास ने इसमें कुछ शब्द जोड़कर नया रूप दिया। ब्रास ने अंतिम पंक्ति को यूं बदला —'आंतरिक निकटता बढ़ाने और दूसरों से अलग दिखाई देने के लिए' ..... (1991)। इस वर्णन से ब्रास प्रतीकों के महत्व पर बल देता है और संजातीयता के फलने-फूलने के लिए आंतरिक निकटता की आवश्यकता भी बताता है। जब हम अनुभव के संदर्भ में इन दावों का परीक्षण करते हैं तब समझ सकते हैं कि राजनीतिक दल किस कारण विभिन्न समूहों से जुड़े प्रतीकों को निरंतर खोजते रहते हैं। जिससे राजनीतिक पुनर्गठबंधन की स्थिति में उस समूह की निष्ठा प्राप्त की जा सके। गौहत्या, मुस्लिम पर्सनल ला, उर्दू भाषा का घटता महत्व जैसे कुछ प्रतीकात्मक मुद्दे हैं जिन्हें राजनीतिक बहस में आमतौर पर उठाया जाता है।

दूसरी ओर फ्रेडरिक ब्राथ हमेशा आश्वस्त था कि संजातीयता के अन्वेषण (खोज) के लिए समूह को परिभाषित करने वाली संजाति सीमा रेखा को केंद्र में रखना चाहिए जो इस परिभाषा को स्वीकारती है कि संजातीयता, सांस्कृतिक विभिन्नता वाला सामाजिक समूह है। बार्थ अपनी विचारगोष्ठी "संजातीयता समूह और सीमाएं" में संबंध आरोपण और स्व-आरोपण को समूह की सीमाएं निर्धारित करने की प्रक्रिया के लिए अत्यंत दोषपूर्ण मानता है।

**बॉक्स 22.3: संजातीय समूह का समष्टि प्रारूप (कार्पोरेट मॉडल)**

एक संजातीय समूह जैविक आधार पर निरंतर स्वयं को बढ़ाने वाला होता है तथा समूह के सदस्यों के मूल सांस्कृतिक मूल्य समान होते हैं और ये मूल्य प्रत्यक्ष सांस्कृतिक मूल्यों में दिखाई देते हैं, तीसरे ऐसा समूह आपसी व्यवहार और संचार का आबद्ध सामाजिक क्षेत्र होता है, चौथे इसके सदस्य अपने आप को उस समूह से संबद्ध दर्शाते हैं और दूसरे भी उन्हें उस समूह के सदस्य के रूप में पहचानते हैं।

बार्थ ने समष्टि प्रारूप की आलोचना करते हुए लिखा है कि संजातीय समूह की इस प्रकार की व्याख्या से लगता है कि समाज में अनेक समूह एक-दूसरे से अलग रहते हैं, जैसे अपने आप में एक द्वीप हों। अपनी व्याख्या और विश्लेषण में वह संजातीय समूहों को विचार के आधार पर जुड़े लोगों का बढ़ने वाला लचीला समूह बताता है। उसका कहना है कि संजातीय पहचान और सामाजिक व्यवहार में इसके निर्माण और पुनःनिर्माण को सामाजिक वास्तविकता का समस्यामूलक पक्ष मानना चाहिए। उसका सुझाव था कि नृजातीय वर्णनकारों को ऐसी स्थितियों में जहाँ संजातीयता और संजाति सीमाकरण सामाजिक आधार पर किया और चलाया जाता है, वहाँ रीति-रिवाजों और प्रक्रियाओं का परीक्षण अवश्य करना चाहिए। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार्थ इस बात पर बल देता है कि इस प्रकार का निर्माण तभी संभव है जब हम यह मानते हैं कि संजातीय समूह, संबंध आरोपण तथा लोगों द्वारा स्वयं पहचान करने की श्रेणियां हैं। बार्थ अपने संजातीय प्रारूप में निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डालता है — संजातीयता का विश्लेषण सामाजिक व्यक्ति की परिस्थिति को समझने के साथ शुरू होता है। सामाजिक व्यक्तियों को संघर्ष और सहयोग की स्थिति में अपनी पहचान निर्धारित करने को कहा जा रहा है। संजातीय पहचान प्राप्त होने वाले रूप का निर्धारण इसी विचार के आधार पर किया जाता है।

दूसरे, संजातीय सीमाओं को बनाए रखना ध्यान का केंद्र बन जाता है। यदि यह संघर्ष की स्थिति हो तो संजातीयता केन्द्रीय स्थान में आ जाती है। यह अपने आपको ऐसी स्थिति में अधिक प्रखर रूप से अभिव्यक्त करती है। इसकी तुलना में यह निरपेक्ष स्थिति में या आर्थिक अथवा राजनीतिक सहयोग चाहने वाली स्थिति में अपने आपको और अपने अंतर को दबे रूप में व्यक्त करती है। हमारे और उनके बीच की सीमाओं के पार के अंतरव्यवहार को रणनीतिक स्थिति द्वारा परिभाषित किया जाता है।

**अभ्यास 22.1**

बार्थ के संजातीय प्रारूप की विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

तीसरा इन मानकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानक विचारणीय संजातीय समूह के सदस्यों तथा उससे बाहर के सदस्यों द्वारा संबंध आरोपण की धारणा है। इस संबंध आरोपण के मानक के कारण संजातीयता राजनीतिक रूप में प्रभावशाली हो जाती है। ऐसी स्थिति में जब एक व्यक्ति अपने आपको किसी समूह का सदस्य मानता है परंतु दूसरे नहीं मानते तब उसके इस अपनेपन की भावना का बहुत कम अथवा कोई प्रभाव नहीं होता।

चौथा, संजातीयता निश्चित और स्थिर नहीं है अपितु यह स्थितियों के आधार पर परिभाषित की जाती है। इसके रोचक उदाहरण स्थानांतरण के परे की स्थितियों में देखने को मिलती है जब व्यक्ति स्वयं को विभिन्न संजातीय समूहों से संबद्ध बता सकता है अथवा उनसे अपनेपन की भावना को भिन्न-भिन्न अंशों में दिखा सकता है अर्थात स्थिति के अनुरूप बढ़ा-चढ़ाकर अथवा घटाकर प्रदर्शित कर सकता है।

पाँचवां, परिस्थिति विज्ञान के मुद्दे विशेष रूप से संजातीय पहचान निर्धारित करने के लिए प्रभावकारी हैं। यदि आर्थिक कर्म निर्माणात्मक हो और संसाधन सीमित हो तो यह देखा गया है कि ऐसी स्थितियों में संजातीयता अधिक मुखर हो जाती है।

संजातीयता पर बार्थ के विचारों पर टिप्पणी करते हुए जेंकिन्स लिखता है —

बार्थ इस बात पर बल देता है कि संजातीय पहचान निर्णय लेने वाले रणनीतिकारों के बीच अंतरव्यवहार और आचरण से बनती, स्थापित होती अथवा परिवर्तित होती है। 'संजातीय समूह और सीमाएं' में संजातीयता कुछ और होने से पहले शायद राजनीति, निर्णय निर्माण और लक्ष्यपरक सांझी संस्कृति की विषयवस्तु है। इस प्रारूप में सीमाओं के भीतर तथा इसको बनाए रखने की प्रक्रियाओं से उपजी संजातीयता का दूसरों की तुलना में अलग होने से आंतरिक समानता का चित्र प्रस्तुत होता है।

समाजशास्त्री और सामाजिक नृ-विज्ञानी यह मत दे चुके हैं कि संजातीयता का यह प्रारूप अवश्य ही मैक्स वेबर की कृतियों से उधार लिया गया है। बार्थ ने इसको प्रजाति और संस्कृति से अलग करके आसान बनाया है। वरम्यूलिन और ग्रोवर के अनुसार 'बार्थ ने संजातीयता को संस्कृति के पक्ष के रूप में नहीं अपितु सामाजिक संगठन के एक पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

वालमैन (1968) ने बार्थ के विचारों को आगे बढ़ाया और कहा —

'संजातीयता एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा उनके अंतर को 'हम' की भावना को संगठन और पहचान के उद्देश्य से बढ़ाने के लिए प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसके लिए दो की आवश्यकता होती है । इसलिए संजातीयता केवल 'हम' की सीमा पर घटित होती है जब यह या तो 'उनके' साथ संपर्क में, या संघर्ष अथवा विरोध या उनसे विपरीत होती है इसलिए 'हम' और 'उनके' बीच की सीमा भी बदलती है। न केवल सीमा ही बदलती है अपितु इसको चिह्नित करने वाले मानक भी बदलते हैं।

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि संजातीयता व्यवहार में संचालित होती है । इसलिए यह अवश्य ही स्थायी नहीं है और इस अर्थ में इसका जैविक विरासत से कुछ लेना-देना नहीं है। यही विशेषता संजातीयता के यंत्रवादी दृष्टिकोण को प्रारंभिक दृष्टिकोण से अलग करती है। संजातीय पहचान बदल रही है। यह हमेशा दोतरफा होती है। हमारा हिन्दु अथवा मुसलामन होना, गुजराती अथवा तेलगु होना निरर्थक है यदि यह पहचान परिस्थितियों से बंधी हुई न हो। इन अंतर्व्यवहारों में मुख्य मुद्दा इनके निर्माण के कल्पित महत्वपूर्ण अंतरों में तोड़-मोड़ करना है।

एबनर कोहेन (Abner Cohen) (1974) बार्थ के योगदान का विश्लेषण करते हुए बार्थ की संजातीय अवधारणा से सहमत नहीं था। हैन्डलमैन (Handleman) का विश्वास था कि संजातीयता का सांस्कृतिक पक्ष सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण पक्ष है। संजातीयता को सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों के बीच बांटना गुमराह करना है। इससे आगे वह कहता है कि संजातीयता सामाजिक रूप से गठित होती है अथवा सामूहिकता के विभिन्न अंशों में समाविष्ट होती है जिस पर इसका महत्व और व्यक्तिगत अनुभव का महत्व निर्भर करता है। अनिश्चित से निगम की ओर बढ़ते हुए हैंडल मैन संजातीय समुच्चय संजातीय श्रेणी, संजातीय ढाँचा, संजातीय संगठन और संजातीय समुदाय में भेद करता है। उदाहरण के लिए, संजातीय समानता, संजातीय समूहों को स्थानीय स्तर पर महत्वपूर्ण सामाजिक रूप बताए बिना, दैनिक जीवन को व्यवस्थित कर सकती है (जेंकिन्स 1977 - 20)।

## 22.6 संजातीयता का निर्माणात्मक प्रारूप

संजातीयता का निर्माणात्मक प्रारूप उत्तर आधुनिकता पर आधारित व्याख्यात्मक माडल में पाया जाता है। इस व्याख्या में समूह सीमाओं और विशिष्टता से अधिक अनेक विषयों पर बल दिया गया है । सोकोलावस्की और शखोव (Sokolovski and Tishkou) इस बात पर बल देते हैं कि संजातीयता के बनने और बनाए रखने की प्रक्रियाओं में वस्तुपरक और व्यक्तिपरकता के बीच विवाद के प्रति नई संवेदनशीलता के वातावरण में बार्थ द्वारा बल दी गई संजातीय सीमाओं का चर्चा योग्य संजातीय चरित्र भी उसके वस्तुपरकतावादी पूर्वजों के रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति की याद दिलाने वाला था। ऐसा कहा गया कि 'समूह' 'सीमा' जैसे शब्द एक निश्चित पहचान को प्रतिध्वनित करते हैं और बार्थ की इसको बनाए रखने की चिंता इसको और अधिक रूप देने का प्रयास करती है (कोहेन, 1978 - 386)। संजातीयता की पारे जैसी प्रकृति पर तब ध्यान दिया गया जब इसको सामाजिक-सांस्कृतिक संकेतकों के समुच्चय (शारीरिक रूप, नाम, भाषा, इतिहास, धर्म, राष्ट्रीयता) के रूप में परिभाषित किया गया जो सदस्यों और गैर-सदस्यों की संयुक्त पहचान को सम्मिलित होने और विलग होने के बंटवारे को पालने वाली क्रियाओं के आधार पर परिभाषित करता है — (कोहेन 1978 - 386 - 7)।

## 22.7 संजातीयता का जेनकिन प्रारूप

जेंकिन्स ने संजातीयता का एक आधारभूत सामाजिक नृ-विज्ञानी प्रारूप प्रस्तुत किया है जो समाजपरक समझ के लिए भी उपयोगी है। प्रारूप को निम्नलिखित ढंग से संक्षेप में व्यक्त किया गया है —

- संजातीयता सांस्कृतिक विभेदीकरण से संबंधित है — सामाजिक पहचान के उद्देश्य पर बल देती है (जेंकिन्स 1996)। पहचान सदैव समानता और असमानता के बीच विवाद है।
- संजातीयता मुख्य रूप से संयुक्त संस्कृति के अर्थ से संबंधित है, लेकन इसकी जड़ें सामाजिक व्यवहार में है और अधिकांशतः यह सामाजिक व्यवहार का ही परिणाम है।

- संजातीयता अब उस संस्कृति अथवा स्थितियों की तुलना में जड़ अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है जिसका यह एक अवयव है अथवा जिन स्थितियों से यह उपजी है।
- संजातीयता एक सामाजिक पहचान के रूप में सामूहिक और वैयक्तिक है, सामाजिक अंतर्व्यवहार में बाह्यकृत और व्यक्तिगत पहचान में अन्तस्थ (जिंकिन्स 1997 : 13 - 14)

जेंकिन्स संस्कृति और संजातीयता को रूप देने की हमारी प्रवृत्ति की प्रति सावधान करता है। हमारे लिए यह याद रखना जरूरी है कि संजातीयता अथवा संस्कृति कोई ऐसी चीज नहीं है जो लोगों के पास होती है अथवा जो लोगों से संबंध रखती है अपितु यह तो एक जटिल नाट्यशाला है जिसे लोग अपने दैनिक जीवन में अनुभव करते हैं, प्रयोग करते हैं, सीखते हैं और लागू करते हैं और इसी के बीच वे अपने प्रति एक भावना का निर्माण करते हैं और अपने साथियों के प्रति समझ बनाते हैं (1997 : 14)।

जेंकिन्स संजातीयता पर विचारकों की आधुनिक धारा का प्रतिनिधित्व करता है जो रचनात्मकवादी स्थिति को स्वीकार करते हैं।

उपरोक्त परिभाषित अवधारणा का मूल सामाजिक निर्माण और दैनिक व्यवहार पर बल देता है तथा यह परिवर्तन और स्थिरता को स्वीकार करते हुए हमें अनुभव के आधार पर वैयक्तिकता को पहचानने और संस्कृति एवं सामूहिक पहचान में भागीदारी की छूट देता है (जेंकिन्स 1997 : 165)। संजातीयता के इस पुनर्निर्माण का विचार है कि संजातीयता न तो विरासत में मिलती है और न पूर्णतः तोड़ी-मरोड़ी जाती है जैसा कि यंत्रवादी और प्राचीनवादी विचारकों का मत था।

**बॉक्स 22.4: संजातीयता की कठोरता**

संजातीयता की कठोरता, स्थिरता एवं दृढ़ता की अपनी सीमाएं हैं जो संजातीयता की अनुमति समझ विकसित करने का आधार हैं जो हमें यह जानने और समझने देती है कि यद्यपि इसकी कल्पना की जाती है परंतु यह कल्पित नहीं है तथा इसकी प्राचीनता और आधुनिकता को स्वीकार करने की अनुमति देती है। पुनर्विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें संजातीय संबंधों की प्रामाणिकता के प्रति एक संतुलित विचार बनाना चाहिए। भावनात्मक आवेग और अत्यधिक दुर्भावना के बीच, न ही बिल्कुल प्रारंभिक और न ही पूरी तरह हेरा-फेरी योग्य, अपितु संजातीयता और इसके अन्य रूप- संस्कृति और इतिहास, तथा कभी न मिटने वाली समानताओं और असमानताओं पर आधारित संजातीयता सामूहिक पहचान एवं सामाजिक संगठन की सिद्धांत है अपने आप में न तो यह तो अच्छी और न ही बुरी चीज़ है। कदाचित यह अति मानवीय है। इसके बिना सामाजिक दुनियां की कल्पना करना कठिन है। (जेंकिन्स 1997)।

## 22.8 प्रजाति और संजातीयता

संजातीयता और प्रजाति के बीच जटिल संबंध है। प्रजाति शब्द को लेटिन भाषा के शब्दों और स्पैनिश एवं कैस्टीलियन शब्दों से लिया गया है जिनके विभिन्न अर्थ हैं — जैसी पीढ़ी, जड़ अथवा मूल, खून की विशेषता, खराब कपड़े की थेगली, कलंक अथवा खराब, या घोड़ों को पालना (सोलोर्स 1996)। प्रजाति शब्द का प्रयोग संजातीयता शब्द के प्रचलन के बहुत पहले से ही किया जा रहा था। प्रजाति शब्द वैज्ञानिक-शैक्षणिक क्षेत्र में श्रेणीबद्ध करने की विशेषता के रूप में प्रचलित था। शारीरिक नृ-विज्ञानियों ने मानव के प्रकारों को श्रेणीबद्ध करने के लिए शारीरिक विशेषताओं का प्रयोग किया। यद्यपि मनुष्य की अपने साथियों पर विजय प्राप्त कर उन्हें आधीन बनाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इन तथाकथित श्रेणीबद्ध करने वाले अध्ययनों का भरपूर दुरुपयोग हुआ जिससे वैज्ञानिक अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

मैगनस हैर्शफेल्ड (Magnus Hirshfeld) ने 1938 में प्रजाति की बुराई को प्रजातिवाद कहा। द्वितीय विश्व युद्ध में प्रजातियों की शुद्धता को बचाने के नाम पर हुए नरसंहार से शिक्षाविदों और राजनीतिज्ञों को जनता के सामने इन शब्दों का प्रयोग करने में संकोच होने लगा। पचास के दशक के मध्य में प्रयुक्त समूह की अवधारणा मानव समूहों को प्रजातीय गुणों के आधार पर श्रेणीबद्ध करने के बजाय सांस्कृतिक असमानताओं और अंतरों के आधार पर श्रेणीबद्ध करने की एक निरपेक्ष व्यवस्था प्रदान करने का प्रयास था। यह तर्क दिया गया कि संजातीय समूह की शब्दावली एक मूल्य निरपेक्ष संरचना प्रदान करेगी तथा लोगों को अधिश्रेणिक एवं भेदभावपूर्ण श्रेणियों में वर्गीकृत करने के पूर्वाग्रह एवं रूढ़िवादी तरीकों से बचाएगी। कई विद्वान इस विशेषता की उपयोगिता से आश्वस्त थे परंतु अन्य कई विद्वानों का विचार था कि विशेषता में शायद ही कोई लाभ हो क्योंकि प्रजाति ही केवल ऐसा साधन है जिससे संजातीय अंतरों को वैधता मिलती है और संजातीय सीमाओं को चिह्नित किया जाता है (वालमैन - 1986)। इस प्रकार की विशिष्टता और भेद को मानने वाले लेखकों का वंशानुक्रम एवं संघर्षपूर्ण होना आवश्यक नहीं, वहीं प्रजातीय संबंध में ऐसा प्रतीत होना सुनिश्चित है (जेंकिन्स 1998 : 75)।

**अभ्यास 22.2**

प्रजातीय एवं संजातीयता के बीच संबंधों का वर्णन कीजिए और उनके बीच तुलना कीजिए।

कोई भी यह तर्क दे सकता है कि प्रायः प्रजाति को शारीरिक और दिखाई देने वाले अंतरों के आधार पर निर्मित एवं ग्रहण किया जाता है, परंतु इस धारणा के साथ जुड़े पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ियों को सामाजिक स्तर पर ही समझा एवं व्यक्त किया जाता है। इस अर्थ में कई लोग प्रजाति को संजातीयता का ही रूप मानेंगे। जेंकिन्स इस विषय पर अलग ढंग से तर्क देते हैं कि संजातीयता और प्रजाति दो अलग अवधारणाएं हैं और वे एक सही युग्म नहीं हैं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कुछ विशेष समय और स्थानों पर प्रजातीयता की सांस्कृतिक अंतरों (भेदों) की सांस्कृतिक विशिष्ट अवधारणा अथवा यूं कहा जाए कि प्रजातीय भेदों की सांस्कृतिक विशिष्ट अवधारणा संजातीय सीमांकन के तरीकों में बहुत मजबूती से उभरकर आती है (उपर्युक्त 79)। बैन्टन (1967 : 10) ने प्रजाति और संजातीय समूह में मूल अंतर यह बताया कि संजातीय समूह की सदस्यता ऐच्छिक है और प्रजाति की ऐच्छिक नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि संजातीय समूह मिलाने (जोड़ने) का काम करता है जबकि प्रजातीय अलग करने अथवा बाहर निकालने से संबंधित हैं। हम एक बार फिर मूल वर्गीकरण "हम" बनाम "उन" पर आते हैं जो हमारी प्रजातीय और संजातीयता की समझ के लिए आवश्यक है, परंतु जेंकिन्स के विचारानुसार "संजातीयता समूह की पहचान करवाती है परंतु प्रजाति सामाजिक वर्गीकरण से संबंधित है।

माइकल ओमी एवं हावर्ड विनैन्ट अपनी पुस्तक "अमेरिका में प्रजातीय संगठन" (Racial formation in the U.S.A.) (1986) में यह विचार रखते हैं कि संजातीय समूह के विस्तृत क्षेत्र में प्रजाति को सम्मिलित करने से "पीड़ित को ही दोषी मानने की रणनीति" को बल मिलेगा। सोलोर्स इन विषय स्थितियों को कुल मिलाकर विचारोत्तेजक बात कहता है —

ओमी और विनैन्ट आंशिक तौर पर राजनीतिक आधार पर तर्क देते हैं कि किसी भी सही सामाजिक अवधारणा को ग्राह्य रूप में गलत राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ यह मानना जरूरी है कि जो विचारक प्रजाति और संजाति में पारिवारिक संबंध देखते है वे किसी पक्ष से प्रभावित हैं। ओमी और विनैन्ट के अंतिम बिंदु को ठीक ढंग से समझा गया है। गोर्डन्स के सिद्धांत कि "सभी प्रजातियां संजातीय समूह हैं" का गलत अर्थ निकाला जा सकता है। जैसे कोई सभी कालों को एक संजातीय समूह मानें क्योंकि वे भी एक प्रजाति के हैं। प्रजातियां संजातीयता की दृष्टि से अलग हो सकती

हैं और प्रायः होती भी हैं (अमरीका में अफ्रीकन, अमरीकी और नैमिकियन्स) ठीक वैसे ही जैसे संजातीय समूहों में प्रजातीय आधार पर भेद किया जा सकता है (हिजपैनिक्स-Hispenics – who may be of any race)। ओमी और विनैन्ट के अनुसार वे कुछ विशेष मामलों में समूह निर्माण के दृश्य और सांस्कृतिक तरीकों के संबंधों के सतर्क परीक्षण की आवश्यकता का समर्थन करते हैं परंतु इस बात से सहमत नहीं है कि प्रजाति और संजातीयता में पूरा दोहरापन है और उनमें एक गहरा विवाद है।

## 22.9 सारांश

पियर एल.वैन डेन बर्घे ( Pierre L.Van den Berghe) ने प्रजाति और संजातीयता के बीच के अंतर की अच्छी प्रकार से व्याख्या की है। बर्घे की 1966 में लिखी चर्चित पुस्तक 'प्रजाति और प्रजातीयता' में कहा गया है कि प्रजाति के संबंध में अनुमान लगाने के चार प्रमुख सिद्धांत भ्रम की स्थिति उत्पन्न करते हैं। शुरू में ही वह शारीरिक नृ-विज्ञान के आधार पर तीन चार प्रजातियों के निर्माण संबंधी विचार को इस आधार पर नकारता है कि यह पुरानी विधि अब उपयोगी नहीं है। प्रजाति का दूसरा अनुमान जिसे वह संजातीय समूह के शब्दों में प्रयोग करना बेहतर समझता है, वह है — जब हम 'फांसीसी प्रजाति अथवा 'यहूदी प्रजाति' इत्यादि कहते हैं। तीसरा वर्णन प्रजाति को एक प्रकार के जीवों का पर्याय बताता है। बर्घे द्वारा दिया गया चौथा गुणधर्म ही ऐसा है जिसे प्रयोग करने की वह सिफारिश करता है। उसके विचारानुसार —

'प्रजाति ऐसे मानव समूह को कहते हैं जो स्वयं अपने द्वारा अथवा अन्य समूहों द्वारा अपने स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय शारीरिक गुणों के आधार पर अन्य समूहों से अलग समूह के रूप में परिभाषित किए जाते हैं।'

विद्यार्थियों के लिए यह नोट करना जरूरी है कि प्रजाति के संबंध में सामाजिक अवधारणाओं में गोर्डन द्वारा सुझाए गए दृश्य और शारीरिक गुणों अथवा बर्घे द्वारा वर्णित सांस्कृतिक गुणों से अलग स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय गुणों पर विशेष ध्यान दिया गया है। इन विद्वानों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि प्रजातीय अथवा संजातीय अंतर शारीरिक और भाषायी दृष्टिकोणों का विषय है। अपने इस सोच को सिद्ध करने के लिए बर्घे कारण देता है —

व्यवहार में प्रजातीय और संजातीय समूह के बीच का अंतर कई कारणों से धुंधला जाता है। सांस्कृतिक गुणों को प्रायः आनुवंशिक और विरासत में मिला हुआ माना जाता है (दैहिक गंध जो कि खान-पान पर आधारित है, को सौंदर्य प्रसाधन एवं अन्य सांस्कृतिक ढंग से बदला जा सकता है) शारीरिक चिह्न अथवा दाग लगने-लगाने से, शल्य चिकित्सा और सौंदर्य प्रसाधनों से), और शारीरिक अंतरों की भावनात्मक धारणा पर प्रजाति की सांस्कृतिक धारणा का प्रभाव पड़ता है। एक अमीर नीग्रो एक उतने ही काले परंतु गरीब नीग्रो की तुलना में कम काला दिख सकता है — जैसा कि ब्राजील की कहावत है - 'पैसा रंग साफ करता है' यद्यपि प्रजाति और संजातीयता में अंतर अनुभाविक दृष्टि से उपयोगी है।

सांस्कृतिक विषय अथवा विरासत के आधार पर अंतर करने की रट विरासत से जुड़े सांस्कृतिक मूल के विषय को नजरअंदाज करती है जिसके ऊपर सांस्कृतिक भेदों का निर्माण होता है तथा इसकी सीमाओं को परिभाषित और पुनर्भाषित किया जाता है। सोलोर्स इस विषय को यह कहकर निचोड़ निकालता है कि यह विषय प्रवृत्ति का है न कि निरपेक्ष भेद का। मेरी वाटर्स (1990) अपने विशिष्ट लेख 'संजातीय विकल्प' में निम्नानुसार लिखता है —

कुछ वंशावलियों को सामाजिक शासनों में विरासत और वंश के नाम के आधार पर अन्य वंशों की तुलना में प्राथमिकता मिल जाती है। यदि कोई कुछ भाग अंग्रेज है और कुछ भाग जर्मन और स्वयं को जर्मन होने की पहचान देता है तो उस पर गैर अंग्रेज होने के प्रयास करने का आरोप नहीं लगेगा परंतु यदि कोई कुछ भाग अफ्रीकी है और कुछ भाग जर्मन है तो उसके स्वयं को जर्मन पहचान देने को शक की निगाह से देखा जाएगा और इसे प्रचलित सामाजिक मानदंडों के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाएगा, यदि वह दिखने में काले रंग का हो।

किसी भी विचार का पक्ष लिए बिना हमारे लिए यह समझना महत्वपूर्ण है कि संजातीयता के निर्माण में शारीरिक गुणों और सांस्कृतिक समानताओं के आधार पर पहचान करना मूल कारक बन जाता है। पहचान के इस निर्माण एवं सीमाओं के निर्धारण को चिह्नित करने वाली सामाजिक प्रक्रियाएं किस प्रकार प्रचलित होती हैं, इसका वर्णन हम अगले पाठों में करेंगे।

## 22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें


एंथियाज, एफ. 1992, 'कन्नेकटिंग "रेस" एंड एथनिक फेनोमिना' *सोशियोलॉजी*, 26, पीपी 421-38.

बैंक्स (एम.), 1996, *एंथ्रोपॉलिजिकल कंस्ट्रक्शंस ऑफ एथनिसिटीः एन इंट्रोडक्टरी गाइड*, लंदनः रूटलेज।

बंटन (एम.), 1967. *रेस रिलेशंस*. लंदनः तविस्टॉक।

बर्थ, फ्रेडरिक, 1969 (एडी.), *एथनिक ग्रुप्स एंड बॉर्ड्रीजः द सोशल आर्गेनाइजेशन ऑफ कल्चरल डिफ्रेंस*. लंदनःएलेन एंड अनविन।

बौमेन, जेड. 1990, *थिंकिंग सोशियालॉजिकली*, ऑक्सफोर्डः बेसिल ब्लैकवेल।

बेल, डेनियल 1975, "एथनिसिटी एंड सोशल चेंज"। इन नाथन ग्लाजर एंड डेनियल पी.मोइमिहान (एडी.), *एथनिसिटीः थ्योरी एंड एक्सपीरियेंस*। कैम्ब्रिज एट अलः हार्वड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बर्ग, वान डेन पेरी (एल), 1981, *द एथनिक फेनोमिनन*, न्यूयार्कः एल्सेवर

ब्रास, पॉल 1985 (1974), *लॉग्वेज, रिलीजन एंड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया*, कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ब्रोमले, यू. 1974 (एडी.), *सोवियत एथनोलॉजी एंड एंथ्रोपोलॉजी टुडे*। नीदरलैंड्स, द हॉगः माउटन एंड कं., एन.वी. पब्लिशर्स एट अल।

ब्रास, पॉल, 1991, *एथनिसिटी एंड नेशनलिज्मः थ्योरी एंड कम्पेरिजन*। न्यू दिल्ली एट एलः सेज पब्लिकेशंस।

कोहन, एब्नेर, 1974 (एडी), *टू डायमेंशनल मैनः एन एसे ऑन पॉवर एंड सिम्बोलिज्म इन कॉम्पलेक्स सोसायटी*। लंदनः रूटलेज एंड कीगन पॉल।

कोहन, रोनाल्ड 1978, एथनिसिटीः प्रोब्लम एंड फोकस इन एंथ्रोपोलॉजी "*एनुअल रिव्यू ऑफ एंथ्रोपोलॉजी*। वाल्यूम 7, पीपी 379-404.

गीर्टज, क्लिफोर्ड। 1973, *द इंटरप्रेटेशन ऑफ कल्चर*। न्यूयार्कः बेसिक बुक्स

ग्लेजर, डेनियल 1958, डायनामिक्स ऑफ एथनिटिक आइडेंटिफिकेशन" इन *अमेरिकन सोशियोलॉजिकल रिव्यू*, 23 (1958), 31-40.

ग्लेजर, नाथन एंड माईमिहाँ, डेनियल पी. 1978 (1975), *एथनिसिटीः थ्योरी एंड एक्सपीरियंस*। कैम्ब्रिजः एट एलः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

ग्लेसन, फिलिम, 1980, "अमेरिकल ऑलः एथनिसिटी, आइडियोलॉजी एंड अमेरिकन आडेंटिटी इन द एरा ऑफ वर्ल्ड वार II", *हार्वर्ड एनसाइक्लोपीडिया ऑफ अमेरिकन एथनिक ग्रुप्स* (एडी), स्टीफन ए. थर्न्सट्राम, ऑस्कर हैंडलिन एंड अन्न ऑरलोव. यूएसए।

हैंडलिन ऑस्कर, 1952, *द अपरूटेडः द इपिक स्टोरी आफ द ग्रेटी माइग्रेशनंस दैट मेड द अमेरिकन पीपल*। न्यूयार्कः ग्रूसेट एंड डनलप।

हिर्चफील्ड, मग्नू, 1938, *रेसिज्म। ट्रांसलेटेड एंड एडिटेड दन एडेन एंड केडर पॉल*, लंदनः विक्टर गोलेंज।

जेंकिंस, रिचर्ड, 1977, *रिथिंकिंग एथनिसिटीः अर्ग्यूमेंटस एंड एक्सप्लोरेशंस*। सेज पब्लिकेशंस।

मेर्टन, रॉबर्ट के. 1972, "इनसाइडर्स एंड आउटसाइडर्स" इन *द अमेरिकन जर्नल ऑफ सोसियोलॉजी*, 78 (1) (जुलाई 1972), पीपी 9-47.

ओमी, मिखाइल एंड हॉवर्ड विनंट 1989 (1986), *रेसियल फार्मेशन इन द यूनाइटेड स्टेट्सः* फ्रॉम द 1960 टु द 1980. न्यूयार्कः रूटलेज।

ऑस्टरगार्ड, यू 1992, "पीजेंट्स एंड डेंसः द डानिश नेशनल आइडेंटिटी एंड पॉलिटिकल कल्चर"। *कम्परेटिव स्टडीज इन सोसायटी एंड हिस्ट्री*, 34, 3-27.

शॉ, आर.पी. एंड वोंग, वाई 1989, *जेनेटिक सीड्स ऑफ वारफेयर*। बोस्टनःअनविन एंड ह्यूमैन।

सोलॉर्स, वार्नर (एडी.) 1996. *थ्योरीज ऑफ एथनिसिटीः ए क्लासिकल रीडर*. हाँडमिल्स आइटलः मैकमिलन प्रेस लि.

सोलॉर्स, वार्नर (एडी.) 1981. 'थ्योरीज ऑफ अमेरिकन एथनिसिटीः *अमेरिकन क्वाटरली*, 33(3, पीपी 257-83.

स्टोन, जॉन, 1996 'एथनिसिटी'। इन एडम कूपर एंड जेसिका कूपर (एडी.), *द सोशल साइंस इनसाइक्लोपीडिया*। लंदन एंड न्यूयार्कःरूटलेज (सेकंड एडीसन)।

वर्मूलेन, हंस एंड ग्रोवर्स, कोरा, 1994, (एडी), *द एंथ्रोपोलॉजी आफ एथनिसिटीः बियोंड 'एथनिक ग्रुप्स एंड बौंड्रीज'* ऐम्सटरडेमः हेट स्पिनही।

वालम, संद्रा 1986, 'एथनिसिटी एंड द बौंड्री प्रोसेस इन कॉटेक्स्ट', इन जॉन जेक्स एंड डेविड मेशन (एडी.), *थ्योरीज ऑफ रेस एंड एथनिक रिलेशंस*। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

वाटर्स, मेरी सी. 1990, *एथनिक ऑप्संसः चूजिंग आइडेंटिटीज इन अमेरिका*। बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

वेबर, मैक्स 1968 (1922) *इकोनॉमी एंड सोसायटीः एन ऑउटलाइन ऑफ इंटरप्रियेटिव सोसियोलॉजी*, 3 वाल्यू., गौंथेर रॉथ एंड क्लाउज विच, (एडी.) न्यूयार्कः बेडमिनिस्टर प्रेस।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23

# पहचान का निर्माण

**इकाई की रूपरेखा**


23.1 प्रस्तावना

23.2 पहचान की तलाश (खोज)

23.3 पहचान निर्माण में एरिकसन का योगदान

23.4 पहचान और पहचान का निर्धारण

23.5 समाजशास्त्र के सिद्धांत में पहचान

23.6 पहचान में अनेकता

23.7 राष्ट्रीय चरित्र और पहचान का अध्ययन

23.8 सारांश

23.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आपः

- पहचान की खोज का वर्णन कर सकेंगे;
- पहचान के निर्माण में एरिकसन के योगदान को रेखांकित कर सकेंगे;
- पहचान और इस के निर्धारण का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- राष्ट्रीय चरित्र के संदर्भ में पहचानों में अनेकता का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

## 23.1 प्रस्तावना

पहचान एक खोज है — एक दृष्टि है और एक प्रवृत्ति को आत्मसात करना है। यह प्रवृत्ति हमें अपनी और दूसरों की छवि प्रदान करती है। इस मानक दृष्टिकोण के माध्यम से हम दूसरों से संबंध बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, 'पहचान' अपने अथवा अन्यों के संबंध में विकसित किया गया सामान्य विचार है। यह समानताओं और असमानताओं के बारे में है। यह शब्द जटिल है और विभिन्न संदर्भों में इसकी व्याख्या अलग-अलग ढंग से की जाती है। कुछ का यह मत भी हो सकता है कि समाजशास्त्र और नृविज्ञान जैसे विषयों में इसका प्रयोग अस्पष्ट है। समाजशास्त्र में इसका अधिक प्रयोग 1950 के दशक के प्रारंभ में होने लगा। समाजशास्त्र के एनसाइक्लोपीडिया में पहचान पर दो अलग लेख हैं जिनका शीर्षक है - 'पहचान, मनोवैज्ञानिक' और 'पहचान, राजनीतिक' । यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि 1930 में प्रकाशित 'समाजशास्त्र के एनसाइक्लोपीडिया' में 'पहचान' शब्द का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

मनोविश्लेषक एवं विचारक एरिक एच. एरिकसन (1959) ने इस शब्द का प्रयोग प्रारंभ किया और पहचान शब्द में छुपी अस्पष्टता पर भी ध्यान दिया। इस संबंध में एरिकसन के योगदान का वर्णन अध्याय के अंतिम भाग में करेंगे, परंतु पहले हम इस शब्द की उत्पत्ति और समाज विज्ञान की पुस्तकों एवं लेखों में इसके अर्थ को जानने का प्रयास करेंगे।

पहचान शब्द को लेटिन शब्द "idem" (आइडेम) से लिया गया है। अंग्रेजी भाषा में इसका प्रयोग सोलहवीं शताब्दी से हो रहा है। फिलिप गलीसन (1983) (आइडेंटिटी) पहचान शब्द के तकनीकी और दार्शनिक प्रयोग की ओर ध्यान आकृष्ट करता है।

"आइडेंटिटी" शब्द का बीजगणित में तकनीकी अर्थ है और जॉनलॉक (cf.सोलोर्स, 1996) के समय से इस शब्द का प्रयोग दर्शनशास्त्र में मस्तिष्क और शरीर के बीच स्थायी समस्याओं से जुड़ा रहा है। "पदार्थ, संगठन, प्रकृति, गुणों में समानता की विशेषता या शर्त अथवा विचारणीय विशिष्ट गुणों मे निरपेक्ष एकरूपता और समानता" समाजशास्त्र के लेखन में 'पहचान्' की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि इसका बल अविभाज्य और अभेद्य समांगता पर है। समानता के नीचे दी गई परिभाषा ही हमारी समझ के लिए उपयुक्त है और इसके अनुसार —

"किसी व्यक्ति अथवा किसी वस्तु का सभी परिस्थितियों तथा सभी समय एक जैसे बने रहनाः ऐसी स्थिति अथवा तथ्य कि व्यक्ति या वस्तु वैयक्तिकता और व्यक्तित्व के आधार पर केवल खुद होता है ना कि अन्य कोई वस्तु"।

## 23.2 पहचान की तलाश (खोज)

मनोविज्ञान ने "निजी पहचान" का अभिप्राय जीवन के विभिन्न पहलुओं में "वही व्यक्ति बने रहने की शर्त अथवा तथ्य है जो व्यक्तित्व की निरंतरता है।"

सामाजिक इतिहासकार पहचान ( identity) शब्द का अर्थ ऑक्सफोर्ड शब्दकोश से लेकर लॉक के मानव की समझ से संबंधित लेख (1690) तथा डेविड ह्यूम के निबंध मानव प्रकृति (1739) में खोजते हैं। प्रारंभिक नृवैज्ञानिक लेखों में क्रमिक विकास का सिद्धांत मानव जाति की मानसिक एकता की चर्चा करता है और इस प्रकार वैयक्तिकता और पहचान को नकारता है। ईसाई धर्म में भी "स्वयं की एकता" की दृढ़ धारणा थी। लाक ने इस दृष्टिकोण पर प्रश्नचिह्न लगाया और कहा "एक व्यक्ति की पहचान एक जैसे निरंतर जीवन की प्रतिभागिता के अतिरिक्त कुछ नहीं है — पदार्थ के कणों को लगातार क्रम से चलाते जाना परंतु एक ही संगठित पिंड (वस्तु) से जुड़े रहना।

लैंगबम ने अपने एक लेख में लिखा है कि किस प्रकार डी.एच.लारेंस और विलियम वड्र्सवर्थ जैसे लेखक और कवियों ने लॉक के विचार "निज की एकता" से प्रस्तुत चुनौती को स्वीकार किया । विभिन्न युगों के बौद्धिक नेतृत्व द्वारा व्यक्तित्व और वैयक्तिकता के संबंध में पहचान के प्रश्नों को किस गंभीरता से लिया गया है" इसे समीक्षा में दर्ज किया है।

पहचान के मूर्त रूप को मजबूत करने में प्रवास को एक महत्वपूर्ण कारक माना गया है। व्यक्तिगत रूप से पहचान — परदेशी होने की भावना, जड़ों से उखड़ जाने अर्थात घर से बाहर होने की भावना, अकेलेपन, अपनेपन की भावना के अभाव से संबंधित होती है। अपने परिजनों और अपने निकटतम पड़ोस, जिसमें उसका प्राथमिक समाजीकरण हुआ है, से अलग होने के अनुभव की रूपांतरित अभिव्यक्ति ही पहचान कहलाती है। पहचान के खास अथवा किसी समूह या समुदाय से जुड़े होने के आधार पर पहचान के निर्माण अथवा पुनःनिर्माण के आधार पर सामाजिक वर्गीकरण के कोई संकेत नहीं थे। ऑस्कर हैंडलिंन (1951) द्वारा लिखित पुस्तक "द अप्रूटेड" (जड़ों से अलग हुए लोग) को "पहचान" अथवा "पहचान करने" जैसे शब्दों को अचेतन ढंग से सामान्य संवाद की साधारण शब्दावली में प्रयोग करने वाली एक महत्वपूर्ण कृति माना जाता है (गिलीसन, 1983)। इसके विपरीत विलहरबर्ग की पुस्तक "प्रोटेस्टेंट कैथोलिक ज्यू 1955" ने "पहचान" और "पहचान निर्माण" को सामाजिक संदर्भ में अपनी स्थिति पहचानने के सूत्र के रूप में रखा और इस संदर्भ में तो धर्म को एक आधार के रूप में लिया गया। हरबर्ग के कथनानुसार,

धर्म समाज में अपने को खोजने का एक महत्वपूर्ण सूत्र बन गया था और इस प्रकार यह पहचान के कष्टदायी प्रश्न "मैं कौन हूँ" का उत्तर भी था। हरबर्ग के लेखन को समाजशास्त्र के साहित्य में पहचान के संदर्भ में किए गए बाद के विश्लेषणों के कारण रणनीतिक महत्व प्राप्त हुआ, क्योंकि इसका मत था कि प्रवासियों की संजातीय पहचान ने अपने आपको धार्मिक पहचान जैसे संगठित प्रोटेस्टेंटवाद, कैथोलिकवाद अथवा जूड़ावाद में परिवर्तित कर लिया था। यह परिवर्तन हनसेन के नियम के अनुसार प्रतीत होता है जिसका मत था कि बेटा जो भूलना चाहता है, पोता उसे याद रखना चाहता है। नृविज्ञान और सामाजिक साहित्य में इसे "पहचान की खोज" का प्रारंभ कहा जा सकता है।

आइए, हम पचास के दशक की पुस्तकों को देखें जिसमें पहचान का प्रयोग सत्तर और अस्सी के लेखकों की तुलना में सरलता और सहजता से किया गया था। सत्तर और अस्सी के लेखक इस शब्द की जटिलता और विभिन्न संदर्भों में निष्ठा अर्जित करने हेतु इसके विभिन्न रूपों में प्रयोग से विशेष रूप से पीड़ित थे और यह शब्द विभिन्न धार्मिक, भाषायी और संजातीय वर्गों में अपनी खोज के निजी क्षेत्र से बाहर निकल गया था। उदाहरण के लिए, डब्ल्यू एल.मार्टिन की पुस्तक "द कैनाडियन आइडेंटिटी" को लीजिए, जो पहचान के निर्माण को समस्यामूलक नहीं मानता। लेकिन समाजशास्त्र के लेखन में शीघ्र ही यह जान लिया गया कि तेजी से बदलते समाज में "पहचान" व्यक्ति के लिए समस्या बन जाती है। हमें यह याद रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश लेख/पुस्तकों का संदर्भ अमरीका था जिसे एक ऐसे पात्र के रूप में चित्रित किया जा रहा था जिसमें प्रवास से पूर्व लोगों द्वारा अपनाई गई पहचान के चिह्न एक नई राष्ट्रीयता "अमरीकी पहचान" को प्राप्त करने के लिए नष्ट हो गए। 1970 में वियतनाम युद्ध के प्रारंभ के साथ ही अमरीकी पहचान का भ्रम भी टूट गया। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पहचान के निर्माण का एक लम्बा और सुस्थापित मार्ग है। यह बिल्कुल अलग विषय है कि लोगों द्वारा स्वयं अथवा अपने आप को सामाजिक अंतरव्यवहार के क्षेत्र में खोजने के सामाजिक अनुभवों को किस प्रकार विभिन्न दशकों में सिद्धांत का रूप दिया गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 23.1: पहचान का निर्माण**

एक ढंग से पहचान शब्द का संबंध एक जैसे गुणों से है जिसके आधार पर लोग स्वयं को अथवा अन्य लोग कुछ लोगों को उनके विशिष्टताओं अथवा विशेषताओं जैसे संजातीय पहचान के कारण किसी समूह विशेष अथवा वर्ग विशेष से जोड़ देते हैं। इस शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के समूहों, वर्गों, क्षेत्रों और संस्थानों तथा केवल व्यक्तियों के लिए किया जा सकता है और इस कारण परिवारों, समुदायों, वर्गों और राष्ट्रों को प्रायः एक पहचान वाला कहा जाता है।

मैं जानबूझकर संजातीय पहचान की अवधारणा पर विस्तृत रूप से कुछ नहीं कह रहा हूँ चूंकि यह आगामी अध्यायों की विषयवस्तु है। जेनकिन के अनुसार, यह कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि पहचान का प्रत्येक अंग सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्माण है, परंतु इसको मानवीय अनुभव के आधार पर सिद्धांत का रूप दिया जाना चाहिए (जेनकिन, 1998 : 75)।

हम जानबूझकर संजातीय पहचान की अवधारणा पर विस्तृत रूप से कुछ नहीं कह रहे हैं क्योंकि यह आगामी अध्यायों की विषयवस्तु है। जेनकिन के अनुसार, यह कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि पहचान का प्रत्येक अंग सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्माण है, परंतु इसको मानवीय अनुभव के आधार पर सिद्धांत का रूप दिया जाना चाहिए (जेनकिन, 1998 : 75)। हम अपनी संजातीय पहचान का निर्माण और पुनःनिर्माण अपने अनुभवों के आधार पर करते हैं जो अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग हो सकती हैं। इस अध्याय में हमारा बल पहचान निर्माण के सैद्धांतिक चिंतन पर रहेगा (बायरॉन,2002)।

## 23.3 पहचान निर्माण में एरिकसन का योगदान

एरिकसन मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रशिक्षित था। मूलतः वह बच्चों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषक के रूप में कार्य करता था। वह अमरीका में रहता था तथा एक यूरोपीय शरणार्थी के रूप में एवं हिटलर की नीतियों तथा दूसरे विश्व युद्ध के अनुभवों ने उसके लेखन पर प्रभाव डाला । द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों के कारण ही एरिकसन ने पहचान की धारणा का निर्माण शुरू किया। पचास और साठ के दशको में प्रकाशित उसका अधिकांश लेखन बुद्धिजीवी समाज तक ही सीमित रहा। 1963 में उसकी पुस्तक (चाइल्डहुड एंड सोसायटी) "बचपन और समाज" का पुनःप्रकाशन हुआ और इस पुस्तक से उसे अत्यधिक लोकप्रियता मिली और सामान्य पाठकों में पुस्तक को स्वीकृति प्राप्त हुई। उसका अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान महात्मा गांधी पर किया गया उसका अध्ययन था जिससे उसको पुलिटिजर (पुलिजर) पुरस्कार और राष्ट्रीय पुस्तक पुरस्कार प्राप्त हुआ। 1973 में उसे प्रतिष्ठित जैफरसन भाषण माला में मानविकी विषय पर भाषण देने के लिए चुना गया जिसने उसे विचार प्रवर्तक बना दिया जैसा कि गिलीसन कहते हैं "उसके विचार सांस्कृतिक महत्व की चीज बन गए" । एरिकसन के अनुसार पहचान व्यक्ति के मूल में और उसकी साम्प्रदायिक संस्कृति में निहित होती है। वह अपनी इस धारणा का, विकसित होती अमरीकी पहचान के संदर्भ में, वर्णन करता है और लिखता है —

"अमरीकी पहचान निर्माण की प्रक्रिया व्यक्ति के अहम् की पहचान का तब तक समर्थन करती प्रतीत होती है जब तक वह स्वायत्त और स्वतंत्र चयन की निजी अनिश्चितता को संरक्षित रख सकती है। व्यक्ति अपने आपको यह समझने में सक्षम होना चाहिए कि अगला कदम उसके ऊपर निर्भर करता है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह कहाँ है, और किधर जा रहा है क्योंकि उसके पास छोड़ने अथवा विपरीत दिशा में मुड़ने का अधिकार सदैव उसकी इच्छा के आधार पर उसके पास बना रहता है। इस देश में प्रवासी चलने की बात और सुस्त लोग रुके रहने की बात सुनना नहीं चाहते क्योंकि प्रत्येक की जीवन शैली में (और परिवार के इतिहास में) कुछ विरोधी तत्व एक सक्रिय विकल्प के रूप में छुपे होते हैं जिन्हें वह बहुत ही निजी और व्यक्तिगत निर्णय के रूप में मानता है। एरिकसन के लेखों में राजनीतिक क्षेत्र को घेरती सामाजिक पहचान का निर्माण केंद्र में रहा है, यद्यपि उसका प्राथमिक ध्यान लड़कपन की आयु में व्यक्तित्व के निर्माण पर था जो किसी व्यक्ति की पहचान की भावी धारणा की परख भी करता था। उसके विचारों के अनुसार —

"लड़कपन ही प्रखर सकारात्मक अहम की पहचान को अंतिम रूप से स्थापित करने की उम्र है। इसी समय में ही अपनी पहुंच के भीतर तक का भविष्य सिर तक जीवन योजना का एक अंग बन जाता है। ठीक उसी समय यह प्रश्न उठता है कि अपने पहले की अपेक्षाओं में भविष्य का पूर्वानुमान लगाया गया था अथवा नहीं"।

**अभ्यास 23.1:**

लड़कपन के वर्षों में पहचान का निर्माण किस हद तक होता है? इसके सामाजिक अवयव कौन से हैं? वर्णन कीजिए और अपनी नोट बुक में लिखिए।

एरिकसन के पहचान निर्माण संबंधी विचार फ्राडियन की धारणाओं से प्रेरित हैं । अपने लेख "अमरीकी पहचान" में वह अन्ना फ्रेड का उल्लेख बार-बार करता है और तर्क देता है

व्यक्तिगत अहम जो आक्रामक आंतरिक दुनिया के हमले द्वारा लामबंद एवं सघन होता दिखाई देता है — एक आंतरिक बाहरी दुनिया है। हमारी रुचि लड़कपन के अहम को समर्थन देने की मात्रा और गुणवत्ता तथा इस प्रश्न में है कि क्या अहम सुरक्षा करता है तथा क्या प्रारंभिक वर्षों में विकसित किए गए पहचान के हिस्सों को आवश्यक अतिरिक्त जीवन मिलता है? उतार-चढ़ाव देखने वाले, विद्रोही और परिपक्व होते युवा वर्ग की मूल

चिंता यह है कि वह खुद को जो समझता है उसकी तुलना में वह महत्वपूर्ण लोगों की नजर में क्या है तथा खुद में देखे गए अपने सपनों, भूमिकाओं और हुनर को आज के व्यावसायिक और लैंगिक युग के साथ कैसे जोड़े?

जब आप एरिक्सन के मूल लेखों को पढ़ते हैं तब आप एक अकेले व्यक्ति के रूप में तथा सामाजिक संदर्भ में बहुत से लोगों के बीच अपनी पहचान निर्मित करने की कठिनाइयों एवं जटिलताओं से परिचित होते हैं। पहचान निर्माण के इस प्रसंग को विकसित करते हुए ग्लीसन (Gleason) यह तर्क देता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में अंतर प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं जिन्हें फ्रायड के इद-अहम-गहन अहम के प्रारूप के अंतर्गत तथा समाज में सहभागिता से उपजी स्वाभिमान की भावना, समाज की सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आत्मसात करने, विभिन्न पदों को प्राप्त करने तथा विभिन्न भूमिकाओं के निर्वहन के माध्यम से समझा जा सकता है (1983:465)।

एरिक्सन (1959) ने व्यक्तिगत पहचान की इस धारणा का विस्तार से निम्नलिखित रूप से वर्णन किया —

व्यक्तिगत पहचान, अचेतन में कहीं गहरे में एक निरंतर एवं टिकाऊ "एक जैसा रहने" की भावना में स्थित होती है। जीवन के एक पक्ष से दूसरे पक्ष में जाने में जो कुछ भी घटे और चाहे कितना ही नाटकीय अथवा कष्टदायी हो परंतु व्यक्ति स्वयं को कोई नया अथवा कुछ अलग अनुभव नहीं करता। जैसा कि पहले कहा गया है कि फ्रायड की विचारधारा से प्रभावित एरिक्सन का यह विश्वास था कि "पहचान" मनुष्य के मानस में कहीं गहरे में स्थित होती है। अपने पुराने अनुभवों, रुकावटों और मान्यताओं तथा मूक प्रतिरोध के साथ व्यक्ति को उपलब्ध सामाजीकरण की प्रक्रियाओं को जोड़कर एक वयस्क उसके अनुसार अपनी पहचान का निर्माण करता है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि इस प्रकार के ढांचे बाह्य सामाजिक परिवेश के अनुसार स्वयं को ढाल लेते हैं। परंतु इसके साथ ही अपने व्यक्तित्व और अपनी आंतरिक एकरूपता और निरंतरता में प्राप्त विश्वास भी जुड़ा है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 23.4 पहचान और पहचान का निर्धारण

इस स्तर पर पहचान करने की धारणा पर विचार करना जरूरी है। "पहचान करना" विभिन्न संदर्भों में आमतौर पर प्रयोग होने वाले साधारण शब्द हैं। इसका औपचारिक प्रयोग साइमंड फ्रेड द्वारा मनोविज्ञान में एक प्रक्रिया को स्पष्ट करने में किया गया जिसमें एक बच्चा बाह्य व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ अपना संबंध बनाता है और खुद को उनसे जोड़ता है। इस सिद्धांत का समाजीकरण प्रक्रियाओं का मनोविश्लेषक वर्णन करने हेतु एक प्रमुख यंत्र के रूप में प्रयुक्त किया गया। चालीस और पचास के लगभग दो दशक तक पहचान करने का सिद्धांत मनोविश्लेषक समझ तक ही सीमित रहा। 1954 में गोर्डन डब्ल्यू एलपोर्ट ने पहचान करने की धारणा को अपनी कृति "द नेचर ऑफ प्रीज्यूडिस" में संजातीयता को खोजन के लिए किया।

**बॉक्स 23.2: पहचान निर्धारण का सिद्धांत**

सामाजिक मूल्य और प्रवृत्तियाँ ऐसा क्षेत्र है जहां पहचान करने को बहुत आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी जब कोई बच्चा किसी सामाजिक मुद्दे का पहली बार मुकाबला करता है तब वह अपने अभिभावकों से पूछेगा कि उसे क्या रवैया अपनाना चाहिए। अतः वह कह सकता है "पिता जी, हम कौन हैं? हम ज्यूस हैं अथवा जेन्टाईल्स, प्रोटेस्टैंट हैं या कैथोलिक, रिपब्लिकन हैं या डेमोक्रेट्स?" जब बच्चे को बताया जाता है कि हम कौन हैं तब वह संतुष्ट हो जाता है। तब वह उस दिन से अपनी सदस्यता को बताए गए वर्ग के साथ स्वीकार कर लेता है (एलपोर्ट, 1954 : 293-94)।

समकालीन समाज विज्ञानी इस प्रकार के आग्रह की कमजोरियों को समझते हैं जैसा कि हम सब जानते हैं कि व्यक्ति किसी सजातीय समूह के साथ अपनी सदस्यता को इस लिए स्वीकार नहीं करते हैं कि हमारे पिता ने कहा है और मैं इसमें विश्वास रखता हूँ। इस अध्याय के अंतिम भाग में हम विभिन्न शैलियों की चर्चा करेंगे जो व्यक्ति के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में दखल देकर उसे पहचान के चिह्न और पहचान का आग्रह प्रदान करती हैं। यद्यपि यहाँ यह कहना महत्वपूर्ण है कि पहचान निर्माण एवं इनके सिद्धांतों के क्रमिक विकास के इतिहास में एलपोर्ट के योगदान ने पहचान की धारणा को राल्फ लिंटन और मर्टन द्वारा प्रचलित भूमिका और संदर्भ समूहों के सामाजिक सिद्धांतों के साथ जोड़ने का मार्ग प्रशस्त किया। फूट (1951) ने अनुभव किया कि लिंटन का "भूमिका सिद्धांत" में प्रेरणा तत्व के संतोषजनक व्यौरे का अभाव है इसलिए यह बेहतर होगा कि पहचान के सिद्धांतों को इस प्रकार तैयार किया जाए कि ये सामाजिक व्यवहार में प्रेरणा का वर्णन कर सकें। फूट ने पहचान शब्द के अपने द्वारा प्रयोग किए जाने तथा फ्रेड द्वारा प्रयोग किए जाने में भेद किया। फूट ने पहचान करने को इस प्रकार परिभाषित किया "एक व्यक्ति द्वारा स्वयं को किसी विशेष पहचान अथवा पहचान श्रृंखला के साथ जोड़ना तथा उसके प्रति निष्ठा"। पहचान नामकरण के साथ आगे बढ़ती है और इसका अर्थ है कि जिस व्यक्ति को नाम दिया गया है और उसने स्वीकार किया है वह व्यक्ति स्वयं को उस पहचान के साथ निष्ठा से जोड़ता है। दूसरे शब्दों में, वह परिवार, वंश, अपनों के धर्म, कार्य, गतिविधि एवं अन्य गुणों के आधार पर दिए गए वर्ग के साथ जुड़ने को स्वीकार करता है।

इस प्रकार निर्मित पहचान की प्रक्रिया इन पहचानों को अपनाने का अवसर प्रदान करती है। यह पहचाने गए वर्ग के साथ जुड़ने को बढ़ावा देती है और "आत्म स्वामित्व" की भावना को विकसित करती है। "आत्मखोज" और आत्म यथार्थीकरण की प्रक्रिया आरंभ होती है - यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वैच्छिक है और समाज द्वारा थोपी हुई नहीं है। यह अलग बात है कि जब व्यक्ति बड़ा होता है तो सचेत चयन के आधार पर अपनी पहचान को अधिक प्रभावशाली ढंग से बनाता और सुधारता रहता है जो कि एक बच्चे या युवा व्यक्ति के लिए कम संभव है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जे.मिल्टन पहचानीकरण का आत्मसात करने के प्रक्रिया के परिणाम के रूप में परीक्षण करता है। वह कहता है कि अलग-अलग समूहों के व्यक्ति स्वयं को एक ही समाज, एक नये समाज के साथ सम्बद्ध मान सकते हैं जो उनके मूल समाजों के साथ घुला-मिला है। पहचान के विचारकों का संदर्भ अमरीका ही रहा, जैसा कि पहले भी कहा गया है। गत दो सौ वर्षों में अमरीका में स्थानांतरित हुए प्रवासी, समूह पहचान के कई पहलुओं से गुजर चुके हैं। कभी ये समूह श्वेतों की संस्कृति के समक्ष हथियार डाल देते हैं तो कभी ये अपनी पारम्परिक संजातीय पहचान का आग्रह करते हैं तथा प्रमुख संस्कृति के साथ अपनी पहचान से इंकार करते हैं।

सिद्धांत रूप में बोलते हुए यिन्गर कहते हैं कि पहचान में बदलाव वास्तव में व्यक्ति की मनोस्थिति से जुड़ी नहीं होती अपितु इसका निर्धारण सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से होता है। यह बदलाव एक तरफा हो सकता है जैसे समूह "क" के सदस्यों की पहचान समाज "ख" के साथ जुड़ सकती है अथवा समूह "ख" के सदस्यों की पहचान समाज "क" से जुड़ सकती है। पहचान की यह तीनों प्रक्रियाएं एक साथ चल सकती हैं जो लोगों को अपने आप को सीधे-सादे ढंग से अमरीकी, हिसपैनिक, अफ्रीकी अथवा एशियाई अमरीकी के रूप में पहचान जताने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। यह भी उतना ही सत्य है कि पूरे अमरीकी इतिहास में कुछ लोग अपने आप को भारतीय पहचान देने के लिए प्रयास करते रहे, उन्होंने पारंपरिक ग्रामीण परिवेश में रहना पसंद किया और गांव का मुखिया बनना भी स्वीकार किया। यिन्गर यह निष्कर्ष निकालता है कि कभी तो पहचान संजातीय व्यवस्था में एक मुख्य परंतु आकस्मिक प्रभाव है और कभी यह स्पष्ट रूप से जुड़ाव, यथार्थीकरण

और समिश्रण पर निर्भर दिखाई देता है (1997 : 137-139)। यह जान लेना आवश्यक है कि आत्म पहचान तथा दूसरों द्वारा पहचान करने में एकरूपता होना अनिवार्य नहीं है। व्यक्ति अथवा समूह अपने आपको किसी राष्ट्रीयता अथवा क्षेत्र से जोड़ सकते हैं परंतु दूसरे उन्हें ऐसा मानने से इंकार कर सकते हैं। उत्तर-पूर्व में संजातीय संघर्ष अथवा कश्मीर में विस्थापित जनसंख्या इस प्रारूप के अच्छे उदाहरण हो सकते हैं। यिन्गर यहाँ एक महत्वपूर्ण बात कहता है कि एक समूह के सदस्यों के बीच एकता किसी खुले समाज के साथ पहचान बनाने की प्रक्रिया में बाधक हो सकती है (उपर्युक्तः 140)।

## 23.5 समाजशास्त्र के सिद्धांत में पहचान

पहचान की धारणाओं को विकसित करने में एरिक्सन का बौद्धिक प्रभुत्व प्रायः सामाजिक पहचान का निर्माण प्रक्रिया के समाजशास्त्र के सिद्धांतों के महत्व को फीका कर देता है। हैसियत और भूमिका के सिद्धांत में लिंटन द्वारा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "द स्टडी आफ मैन" का योगदान पहचान की धारणाओं के विश्लेषण के बहुत निकट है। लिन्टन द्वारा विकसित भूमिका संबंधी सिद्धांत दर्शाता है कि किस प्रकार लोग समाज में अपनी हैसियत के अनुसार भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। उसने यह प्रदर्शित किया कि ऐसा करने में लोग विशिष्ट भूमिकाओं से पहचाने जाते हैं। भूमिका का सिद्धांत पहचान के पारस्परिक अंतर्व्यवहार पर केंद्रित है। विशिष्ट परिस्थितियों के प्रत्युत्तर में लोग अपनी पहचान का आगे करते हैं — जहां परिभाषित हैसियत के साथ निश्चित भूमिकाएं जुड़ी हुई हैं जिन्हें इर्द-गिर्द के वातावरण में लोगों तथा भूमिका का निर्वाह करने वालों ने अनुभूत एवं स्वीकृत किया है। फूट ने इसी अवधारणा की आलोचना की और बाद में इसमें प्रेरणा के तत्व जोड़कर पहचान की धारणाएं निर्मित करने का मार्ग प्रशस्त कर सुधार भी किया जो एरिक्सन के व्यक्तिगत पहचान की धारणा से अधिक इसके भाषायी अर्थ के निकट थी।

**अभ्यास 23.2**

संदर्भ समूह सिद्धांत और व्यक्तिगत पहचान सिद्धांत की तुलना कीजिए और उनका आपस में संबंध स्पष्ट कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उसी समय रॉबर्ट मॅरटन ने प्राचीन समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में से एक सिद्धांत "संदर्भ समूह सिद्धांत" को विकसित किया। संदर्भ समूह का पहली बार शैक्षणिक प्रयोग 1942 में किया गया और एक बार फिर समाज मनोवैज्ञानियों द्वारा इसका अधिकाधिक प्रयोग किया गया। 1950 में रॉबर्ट मरटन तथा एलाइस एस.किट ने मिलकर इस शब्दावली का प्रयोग अपने समाजशास्त्र के लेखन में एक निबंध में किया जिसका शीर्षक था — कंट्रीब्यूशन टु द थ्योरी आफ रेफ्रेन्स ग्रुप बिहेवीयर" (Contribution to the theory of refrence group behaviour)। यह सिद्धांत पहचान निर्माण की समझ के विरुद्ध था क्योंकि यह संदर्भ समूह से जुड़ने अथवा उसको त्याग देने से व्यक्ति की प्रवृत्तियों, मूल्यों और पहचान की भावना के रूप लेने के ढंग को अत्यधिक बल देता था जो उस व्यक्ति के लिए सकारात्मक अथवा नकारात्मक महत्व रखता है (ग्लीसन 1983)। संदर्भ समूह के सिद्धांत को (1968) मर्टन ने अपनी शास्त्रीय समाजशास्त्र की पुस्तक सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर में परिष्कृत किया। मर्टन की प्राथमिक चिंता सामाजिक ढांचे का परीक्षण करना था। उसने पहचान अथवा पहचान करने पर सीधे-सीधे अधिक नहीं लिखा अपितु उसने इन सिद्धांतों को संदर्भ समूह सिद्धांतों के संदर्भ में रखने पर बल दिया क्योंकि संदर्भ समूह ही इन निर्माणों की मूल सामग्री निर्धारित करने का उपकरण थे।

**बॉक्स 23.3: निजी व्यक्तित्व और पहचान**

समाजशास्त्र में अन्योन्यक्रियावादी कहे जाने वाले प्रतीकात्मक परिप्रेक्ष्यों के उदय के साथ पहचान को केंद्रीय स्थान प्राप्त हुआ। चालीस के दशक में प्रमुखता प्राप्त स्कूल

(विचारधारा) ने यह समझने का प्रयास किया कि किस प्रकार सामाजिक अन्योन्यक्रिया संयुक्त प्रतीकात्मक व्यवस्थाओं से जूझती है तथा व्यक्ति की आत्म-चेतना को रूप प्रदान करती है। (मर्टन 1968 : 467) इस स्कूल के प्रमुख विचारक चार्ल्स हॉर्टन कुली और जॉर्ज हरबर्ट मीड ने "पहचान" शब्द का प्रयोग नहीं किया अपितु उन्होंने निजी व्यक्तित्व की बात की। समाजशास्त्रीय लेखों में "निजी व्यक्तित्व" शब्द का साठ के दशक के प्रारंभ में अधिक प्रयोग एवं प्रचलन था जो कि इस अध्याय में प्रयुक्त "पहचान" शब्द का पर्याय था। 1963 में एरविन गोफमैन "निजी व्यक्तित्व" के स्थान पर "पहचान" शब्द को समाजशास्त्रीय लेखों में लोकप्रिय बनाने के लिए उत्तरदायी था। गोफमैन की कृति "स्टिग्मा " बिगड़ी हुई छवि के प्रबंधन पर टिप्पणियाँ तथा उसके बाद बरगर का समाजशास्त्र को निमंत्रणः एक मानवीय दृष्टिकोण के साथ "पहचान" शब्द वास्तव में भूमिका सिद्धांत, संदर्भ समूह सिद्धांत, नाटकीयता पूर्व समाजशास्त्र तथा सांवृतिक दृष्टिकोण की जटिलताओं को सुलझाने का एक स्थायी यंत्र बन गया।

पहचान की समाजशास्त्रीय अवधारणा व्यक्ति और समाज के बीच के अंतर्व्यहार की कलाकृति है। अनिवार्य रूप से यह किसी एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाना, उस नाम विशेष को स्वीकार करना, उसके साथ जुड़ी भूमिका को आत्मसात करना तथा उन अवधारणाओं के अनुरूप व्यवहार करना ही है (ग्लीसन, 1983)। पहचान के प्रति इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि सामाजिक स्थितियों में पहचान के साथ उत्तरदायित्व की भावना जुड़ी होती है जिसके साथ सोची हुई भूमिका के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता भी जुड़ी होती है। इसकी रचना सामाजिक अंतर्व्यवहार से होती है और यह सामाजिक स्थितियों में ही अभिव्यक्त भी होती है। समाजशास्त्री यह तर्क देंगे कि "पहचान समाज द्वारा प्रदान की जाती है और इसे समाज द्वारा निष्पक्ष रूप से निरंतर जीवित रखा जाना चाहिए (सीएफ ग्लीसन, 1983)।

## 23.6 पहचान में अनेकता

पहचान के सभी समकालीन सिद्धांत इस बात को मानते हैं कि एक व्यक्ति स्वयं को विविध पहचानों से जोड़े रखता है। इनमें से कुछ पहचान (छवियां) बिल्कुल अलग एवं प्रतिस्पर्धात्मक हो सकती हैं। अन्य एक-दूसरे के समान हो सकती हैं जिसमें एक पहचान पर दूसरी के निर्माण की छूट होती है। इसका परिणाम "पहचान" का जटिल निर्माण होता है। यिन्गर पहचान के इस जटिल निर्माण को निम्नलिखित कथन से स्पष्ट करता हैः

यद्यपि कुछ पहचानों (छवियों) का आपस में टकराव होता है। यदि एक पहचान मजबूत होती है तो दूसरी कमजोर पड़ जाती है और अन्य पहचान की समान संरचना में समायोजित हो जाती है। छोटी और अधिक अंतरंग पहचान के ईद-गिर्द बड़ी और पराई पहचानों का घेरा होता है। परिवार, समुदाय, संजातीय समूह और समाज को पहचान के संकेंद्री वृत्तों के रूप में सोचिए । किसी समय कोई एक पहचान प्रमुख हो सकती है। प्राथमिकताएं बदलने पर पहचान भी बदल सकती है और समयक्रम की लय पर उनमें बदलाव आ सकता है (सांस्कृतिक नियमित अंतराल के साथ) और कभी-कभी संकटात्मक लय पर भी परिवर्तन हो सकता है (जिसका समय किसी घटना, संभवतः किसी संकट के साथ जिसका घटित होना निर्धारित नहीं किया जा सकता)।

मेहता (1989) ने अपने पत्र "एक अनेकात्मक समाज में पहचान की दुविधाः भारतीय नीति का अध्ययन" में ठीक इसी प्रकार की बात कही है जिसमें "मूल" और इर्द-गिर्द की पहचान का परीक्षण करने के लिए एक मामला तैयार किया गया जिसमें विभिन्न समुदायों के लोगों द्वारा अनुभव की गई अनेक पहचानों पर चर्चा की गई। उसका विचार था — भारतीय उप-महाद्वीप में बसे विभिन्न धर्म, संस्कृति और भाषायी विभिन्नताएं भीड़ नहीं हैं अपितु वे सुनिश्चित समुदाय हैं जिनसे प्रत्येक सदस्य अपनेपन की भावना रखता है। उनके अपने

इतिहास हैं और अनेक अन्य अंतःसामुदायिक समानताएं हैं, जिनसे जुड़े होने की भावना इन समुदायों से जुड़े लोगों को आपस में जोड़े रखती है और इसे ही मूल पहचान कहते हैं। यह हो सकता है कि इन समुदायों के सदस्य साधारणतया अपने इस जुड़ाव का आग्रह न करें और अभिव्यक्त भी न करें। यह केवल तनाव की स्थितियों में अथवा अपनी संजातीय पहचान को खतरे की स्थिति में ही हो सकता है कि वे अपने आपको अभिव्यक्त करें।

समाजशास्त्रीय सिद्धांत पहचान की इन प्रक्रियाओं पर एक दूसरे से घुलने मिलने की प्रक्रियाओं के दृष्टिगत विचार कर धारणाएं बनाएंगे। स्टेन और हिल (1977) का अनुगमन करते हुए यिन्गर (1977) ने भी इसी प्रकार के विचार दिए हैं — अलग-अलग समूहों के लोग अपने आपको एक ही समाज, एक नये समाज से जुड़ा हुआ सोच सकते हैं, जो उनके मूल समाजों के साथ मिश्रित है। इस विचार के साथ 'दूसरों द्वारा पहचाना जाना' का तथ्य जुड़ा हुआ है जो एक समूह में स्वयं को पहचानने से अधिक नहीं तो उसके समान महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक मानव विज्ञानियों ने एकता की प्रक्रिया का साथ मिलने, इकट्ठे होने तथा सांस्कृतिक सम्मिलन में बरसों तक भेद किया है। एकता का हमेशा यह अर्थ नहीं हो सकता है कि एक समूह दूसरे को स्वीकार करे। राजनीतिक दृष्टि से अथवा संख्या की दृष्टि से बलवती समूह अपने से छोटे समूह अथवा अल्पसंख्यकों को अपने में सम्मिलित करने से इंकार कर सकता है। ठीक उसी समय एक छोटा समूह अपनी संजातीय मूल को छोड़कर बड़े समूह की पहचान का आग्रह कर सकता है। यह ठीक ही तर्क दिया गया है कि विविध पहचान रखने वाला व्यक्ति अपनी प्रमुख पहचान को व्यक्त करता है या तो दूसरों की अपेक्षाओं को देखकर अथवा अपनी व्यक्तिगत पसंद के आधार पर या फिर उस क्षण के हालात के आधार पर।

सामान्य भाव से कोई भी यिग्नर के साथ सहमत हो सकता है —

पहचान विरासत से ली जा सकती है, चुनी जा सकती है, स्वीकार की जा सकती है, या किसी साक्ष्य के आधार पर निश्चित की जा सकती है। यदि कोई 'पहचान करने को' एक लेबल अथवा वर्ग से अधिक बनाने के लिए इसकी परिभाषा को समर्थ बनाता है तो वह रॉयस के अनुरूप इसको संजातीय समूह में एक वैध स्थान रखने वाली मान सकता है। यह केवल संबंध आरोपण नहीं है। कुछ संजातीय पहचानों को प्राप्त करना पड़ता है और उन्हें अपने व्यवहार से संजातीय संकेतों से बनाए रखना पड़ता है। एक पहचान में पर्याप्त क्रियाओं को अपने समूह में बाहर वालों की तुलना में अधिक कड़ाई से परखा जाता है। बाहर वालों के लिए तो पहचान के कुछ प्रतीक ही पर्याप्त होते हैं। अधिक समान्य अथवा निश्चित रूप से अधिक स्पष्ट, कड़ी संजातीय पहचान को अधिकतर बाहरी लोग ही उत्पन्न करते हैं। अवसरों को इंकार करना, रूढ़िवादी और कानूनी तथा राजनीतिक परिभाषाएँ संजातीय विकल्पों को सीमित करती हैं।

निस्बत भी इसी प्रकार का निम्नलिखित कथन के माध्यम से समर्थन करता है —

पूरे लिखित इतिहास में प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं से व्यक्तिगत निष्ठाओं के हस्तांतरण और नए प्रकार के संजातीय, धार्मिक एवं अन्य समुदायों के उदय के बीच गहरा अंतर्संबंध है जो इन राजनीतिक संस्थाओं के समक्ष चुनौतियों को एकदम त्याग देना है।

## 23.7 राष्ट्रीय चरित्र और पहचान का अध्ययन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में पहचान निर्माण व्यक्तिगत क्षेत्र से बाहर निकल कर राष्ट्रीय पहचान निर्माण तक पहुंच गई क्योंकि क्षेत्रों को पुनःपरिभाषित किया जा रहा था और दूरे विश्व में नई राष्ट्रीयताओं को निर्मित किया जा रहा था। इन पहचानों के निर्माण के आभास के लिए आवश्यक राष्ट्रीय चरित्र को परिभाषित किया गया और एक नैतिक मूल्य के रूप में सुनिश्चित किया गया कि नागरिक नये जोश और प्रतिबद्धता साथ नई

तैयार की गई सीमाओं को स्वीकार करे। बड़े पैमाने पर देशांतर गमन से नए गठजोड़ों की आवश्यकता पैदा हुई। समाज विज्ञानियों ने ऐसे प्रारूप विकसित करने का प्रयास किया जो नागरिकों में अपनेपन की भावना पैदा करते थे तथा उन्हें राष्ट्रीय चरित्र अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते थे जो राष्ट्रवाद की नींव डालने के लिए अत्यावश्यक था। मारग्रेट मीड, रूथ बैन्डिक्ट जैसे मानवविज्ञानियों द्वारा चालीस के दशक के राष्ट्रीय चरित्र पर किए गए अध्ययनों को अत्यधिक समाजशास्त्रीय महत्व प्राप्त हुआ क्योंकि इन्हीं अध्ययनों की पृष्ठभूमि में एरिक्सन ने पहचान संबंधी अपनी संकल्पना को लोकप्रिय बनाया।

**बॉक्स 23.4: एरिक्सन की पहचान संबंधी संकल्पना**

सक्रिय अमरीकी ... अपनी अहम आधारित पहचान को कुछ प्रयोगात्मक संयोगों जैसे प्रवासियों और वासियों, व्यक्तिगत और मानकीकृत, प्रतियोगी और सहयोगी, पवित्र और स्वतंत्र सोच इत्यादि पर आधारित करता है (एरिक्सन, 1963)। एरिक्सन युद्ध में बड़े स्तर पर अमरीकी पहचान की परख करने से जुड़े सुसुप्त आतंक की बात भी करता है। वह कहता है कि ऐतिहासिक परिवर्तन एक संत्रास भरी वैश्विकता और भूमण्डलीय तीव्र गति तक पहुंच चुका है। जिसे उभरती हुई अमरीकी पहचान के लिए एक खतरे के रूप में अनुभव किया गया है। (गिब्सन, 1983)। एरिक्सन ने अपने विचारों को "अमरीकी पहचान पर पुनर्विचार" शीर्षक के अंतर्गत एक अध्याय में विस्तार दिया है जिसमें उसने अमरीकी चरित्र की धारणाओं को अमरीकी पहचान के तुल्य बताया है। उसने लिखा है कि जो राष्ट्रीय चरित्र के लिए सत्य है वही राष्ट्रीयता के लिए भी सत्य है और यह अच्छा रहेगा कि राष्ट्रीय चरित्र के स्थान पर राष्ट्रीय पहचान शब्द का प्रयोग किया जाए।

राष्ट्रीय चरित्र, मीड की पुस्तक "एन्ड कीप यूअर पावर ड्राई" तथा रूथ बैन्डिक्ट्स द्वारा जापानी समाज के अध्ययन "द क्रिसन थेमम एंड द स्वार्ड" के प्रकाशन के साथ समाजशास्त्रीय चर्चा में सम्मिलित हुआ। इन अध्ययनों का केंद्र था कि किस प्रकार संस्कृतियां व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं और उनके राष्ट्रीय चरित्र निर्माण पर प्रभाव डालती हैं। यह संकल्पना कि आजकल के समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में प्रायः संजातीय अध्ययनों की बात होती है जैसा कि प्रथम अध्याय "संजातीयता की संकल्पना" में संकेत दिया गया है। यह जान लेना आवश्यक है कि एरिक्सन ने "अहम्तादात्म्य" और समूह पहचान के विचारों को युद्ध के समय के राष्ट्रीय चरित्रों के आधार पर विकसित किया था। यद्यपि पहचान की संकल्पना राष्ट्रीय चरित्र से प्रेरित थी परंतु इसकी लोकप्रियता ने चरित्र अध्ययनों को पीछे छोड़ दिया। राष्ट्रीय चरित्र अध्ययनों का अब आमतौर पर ऐतिहासिक भाव में उल्लेख किया जाता है जहाँ पहचान के अध्ययनों की समाज विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं में पुनर्व्याख्या की जा रही है। पहचान निर्माण, राजनीति विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान जैसे विषयों के लिए भी उतनी ही केंद्रीय है जितनी समाजशास्त्र के लिए है। पहचान की लोकप्रियता के संबंध में कोई भी ग्लीसन के विचारों के साथ सहमत होने लगता है जब वह (ग्लीसन) कहता है कि —

"पहचान" ने समस्या के दो तत्वों के बीच संकल्पनात्मक जुड़ाव को उजागर करने का वायदा किया था क्योंकि पहले इसे व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ संबंधों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया जो अलग-अलग समूहों को उनका विशिष्ट चरित्र प्रदान करती है।

एक बार "व्यक्तिगत पहचान" और "सामाजिक पहचान" के बीच संबंधों के पक्का स्थापित हो जाने के बाद समाज विज्ञानियों ने उन समस्याओं पर ध्यान देना शुरू किया जो लोगों द्वारा इन दोनों के बीच सामंजस्य बनाए रखने तथा पहचान निर्माण के इन दो पहलुओं के बीच एक दूसरे से टकराव से सामने आती है।

## 23.8 सारांश

एलेक्सिस डे टॉक्यूवेली विद्वानों में से पहला ऐसा व्यक्ति था जिसने शिक्षा जगत का विश्व के प्रति लोगों के सिकुड़ते दृष्टिकोण तथा अपने ही भीतर के एकांत में सिमटने की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा इस घटना को व्यक्तिवाद का नाम दिया। टॉक्यूवेली ने इस समस्या का विश्लेषण, लोकतंत्र के प्रति अमरीकी संकल्पनाओं से उभरे मुद्दों पर काम करते हुए किया और उसने पहचान अथवा पहचान का संकट जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया।

विश्व युद्ध के बाद के समय में पहचान से जुड़े प्रश्नों ने औपनिवेशिक साम्राज्य की जड़ें हिलने और राष्ट्रीय सीमाओं के पुनर्निर्माण के कारण विकराल रूप धारण कर लिया था। युद्ध की सनक से बहुत से लोगों का निष्क्रमण हुआ और लोग अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए दुनियां के अलग-अलग क्षेत्रों को चले गए। आने वाले प्रसासियों के कारण स्थानीय लोग अधिक सतर्क हो गए और उन्होंने अपने धर्म, भाषा और जाति के आधार पर उनके साथ जुड़ना प्रारंभ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे वर्ग स्पष्ट दिखाई देने लगे जिनमें स्थानीय समूह और बाहरी समूह सुपरिभाषित थे और मौखिक इतिहास के माध्यम से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सीमाएं बना ली गईं और उन्हें मजबूत किया गया। एक नई विशेष परिस्थिति उभर कर आई जिसे प्रायः राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया कहा जाता है। नए देशों के साथ अमरीका जैसे स्थापित लोकतंत्र राष्ट्रीय चरित्र अध्ययनों को बढ़ावा दे रहे थे । इस प्रारूप की लोगों से यह अपेक्षा थी कि वे स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के निर्धारित सिद्धांतों का पालन करें जिससे विस्तृत समाजों की नींव रखी जा सके। बाहर से आने वाले लोगों के लिए अपने नए निवास स्थान के लोगों के साथ मिश्रित होने को एक प्राकृतिक प्रवृत्ति माना गया । राष्ट्र-राज्यों की भौगोलिक संकल्पना से उभरे राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय अखंडता के मुख्य मुद्दों के आधार पर ही शासनादेश का निर्माण किया जाता था। इस प्रक्रिया में स्वयं की खोज अथवा व्यक्तिगत पहचान की मात्रा केवल व्यक्तिगत स्तर अथवा दर्शन तक ही सिमट कर रह गई। 'सामाजिक पहचान' पहचान की इस मान्यता के अंतर्गत काम करती रही कि विस्तृत समाज द्वारा प्रदर्शित सामाजिक वातावरण ही पहचान को निर्धारित करता है। समाजशास्त्रीय साहित्य में यह तर्क दिया जाता है कि बड़ा विस्तृत समाज सर्वाधिकारवादी बन जाता है और बाद में सर्वसत्तात्मक व्यक्तित्व को जन्म देता है जो फासिस्ट हो सकते हैं — ऐसी धारणा जर्मन से रूपांतरित हुए शरणार्थी विद्वानों में सबसे पहले बनी थी। यह दो प्रभावशाली प्रकाशनों से संबंधित थे जिनका नाम था — 'रेमैन्स द लोनली क्राउड' और हैन्डलिन्स का द अररूटिड जिसे फ्रैंकफ्रट स्कूल भी कहा गया। इन दोनों कृतियों का मूल द्वंद्वात्मक विधि की सैद्धांतिक प्रवृत्ति में है। द्वंद्व का अर्थ विरोधाभासों को अनुभव करने और उन विरोधाभासों के साथ अधिक यथार्थवादी ढंग से तालमेल बैठाने की प्रक्रिया को कहते हैं। अपने घरों को छोड़कर दूसरे देशों को गए लोग क्षति की भावना को अनुभव करते हैं और इस प्रक्रिया के माध्यम से उसके साथ समझौता करने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया को हेगल का आदर्शवादी दर्शन कहते हैं।

यहाँ पुनः कहना आवश्यक है कि पहचान एक उच्च श्रेणी की संकल्पना है — एक सामान्य संगठनात्मक संदर्भ जिसमें कई सहायक पक्ष सम्मिलित होते हैं जैसे सामाजिक पहचान, अहंतादात्मय (अहं रूपी पहचान), व्यक्तिगत पहचान और अन्य अतिरिक्त अवयव सम्मिलित होते हैं। पहचान का अभिप्राय है कि क्या सांझा है और क्या विशिष्ट है। जब इन सीमाओं के बीच व्याख्या की जाती है तो सीमाएं निर्धारित करना एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता है। इन सीमाओं का किस प्रकार निर्माण किया जाता है एवं कैसे वैध बनाया जाता है, इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

MADHYAM IAS

## 23.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें


बेनडिक्ट, रथ, 1946, *द क्राइसंथेमम एंड द स्वॉर्डः पैटर्न्स ऑफ जैपनीज कल्चर*, बोस्टनः हगटन मिफिलिन।

बेरॉन, रेग्नाल्ड 2002, "आइडेंटिटी" इन *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल एंड कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी* एडी. बाई एलन बर्नाड एंड जोनाथन स्पेंसर लंदनः रूटलेट।

डास्की, एर्नाल्ड 1976, एथनिक आइडेंटिटी इन सोसायटी। सिकागोः रेंड मैक नल्ली

एरिक्सन, एच. एरिक, 1959, *द प्रोब्लम ऑफ इगो आइडेंटिटी*। साइकोलॉजिकल इश्यूज, 1:101-164.

एरिक्सन, एच. एरिक, 1963, *चाइल्डहूड एंड सोसायटी* न्यूयार्कः नॉर्टन (सेकंड एडीसन)

फूट, एन नेल्सन, 1951, *"आइडेंटिफिकेशन एज द बेसिक फॉर के थ्योरी ऑफ मोटिवेशन"*, *अमेरिकन सोसियोलॉजिकल रिव्यू*, 16 (फरवरी, 1951)पीपी 14-21

ग्लीसन, फिलिप. 1983, *"आइडेंटिफाई आइडेंटिटीः ए सीमेंटिक हिस्ट्री" द जर्नल ऑफ अमेरिकन हिस्ट्री*, 69 (4), मार्च 1983, पीपी 910-31

हेन्डलिन, ऑस्कर, 1951, द *अपरूटेडः द एपिक स्टोरी आफ द ग्रेट माइगरेशंस दैड मेड द अमेरिकन पीपुल। न्यूयार्कः* ग्रॉसेट एंड डनलप

हरबर्ग, विल 1955, *प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक*, ज्यू। न्यूयार्कः एंकर

ह्यूम, डेविड 1975 (1939) *ए ट्रेटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर*, एल.ए. एहिली बिगी (एडी.) एंड रिवाइज्ड बाई पी.एच. नेडेथ। ऑक्सफोर्डः क्लेरेंडॉन प्रेस।

*इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज*, 1968. डेविड एल.सिल्स (एडी.) यूएसएः द मैकमिलन कंपनी एंड फ्री प्रेस।

लिंटन, रॉल्फ 1936, *द स्टडी ऑफ मैनः एन इंट्रोडक्शन*। न्यूयार्कः एप्लीटॉन सेंचुरी।

लॉकी, जॉन 1989, (1690), *एन एसे कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टेंडिंग*। पीटर एच. निडिथ (एडी.) ऑक्सफोर्डः क्लेरेंडॉन प्रेस।

मीड, मार्गरिट, 2000 (1962), *एंड कीप युवर पाउडर ड्राईः एन एंथ्रोपोलाजिस्ट लुक्स एट अमेरिका*। बर्ग हैहन बुक्स।

मेहता, सालिना, 1989, "डिलेमा ऑफ आइडेंटिटी एसर्सन इन ए प्ल्यूरालिस्टिक सोसायटीः ए केस स्टडी ऑफ इंडियन पॉलिटी"। इन *द ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट*। जुलाई-सितम्बर 1989, वाल्यूम 42 - 3.पीपी 265-276.

मॉर्टन, डब्ल्यू एल 1965, *द कैनेडियन आइडेंटिटी*। मेंडिसन।

रीस्मेन, डेविड, 1969, *द लोनली क्राउडः ए स्टडी ऑफ द चेंजिंग अमेरिकन कैरेक्टर*। येल यूनिवर्सिटी प्रेस।

स्टीन एच.एफ. एंड आर. एफ हिल 1977, *द एथनिक इम्परेटिवः एक्सप्लोरिंग द न्यू व्हाइड एथनिक मूवमेंट*। यूनिवर्सिटी पार्कः पेंसिलवानिया स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस।

वाल्मैन, सैंडरा, 1986, "एथनिसिटी एंड द बाउंड्री प्रोसेस इन कॉंटेक्स्ट", इन जॉन रैक्स एंड डेविड मैसॉन (एडी.), *थ्योरीज ऑफ रेस एंड एथनिक रिलेशंस*। कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

यिंगर, जे. मिल्टन 1997, *एथनिसिटी*। न्यू दिल्लीः रावत पब्लिकेशंस।


MADHYAM IAS

इकाई 24

# सीमाएं एवं सीमा अनुरक्षण

**इकाई की रूपरेखा**


24.1 प्रस्तावना

24.2 संजातीय समूह की परिभाषाएँ

24.3 फ्रेडरिक बार्थ — संजातीय समूह और सीमाएं

24.4 आरोपण — एक महत्वपूर्ण कारक

24.5 बहु संजातीय समाज

24.6 बार्थ के प्रारूप की आलोचना

24.7 सारांश

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- संजातीयता की परिभाषा देने में सफल होंगे;
- संजातीय समूह और उनकी सीमाओं का वर्णन करने में सक्षम होंगे;
- बहु संजातीय समाजों का विश्लेषण करने में सक्षम होंगे; तथा
- बहु संजातीय के सिद्धांत का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 24.1 प्रस्तावना

पिछले दो पाठों में हमने संजातीयता की संकल्पना और पहचान के निर्माण के संबंध में चर्चा की। अब तक आपको यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भूमंडलीय जगत में संजातीय पहचान की धारणा एक महत्वपूर्ण संकल्पना के रूप में उभर कर आई है। कभी-कभी यह स्वयं को राष्ट्रवाद का रूप देती है और कभी यह राजनीतिक राष्ट्र-राज्यों के बीच उप-राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए उत्तरदायी है तथा नागरिकता की धारणाओं को निश्चित करती है। इस पाठ में हम सीमाएं और सीमा अनुरक्षण की जटिल प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

## 24.2 संजातीय समूह की परिभाषाएँ

प्रारंभ करने के लिए हम संजातीय समूह की कुछ सरल परिभाषाओं से शुरू करते हैं। मैकमिलन के मानव विज्ञान के शब्दकोष में संजातीय समूह को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। 'लोगों का ऐसा समूह जो स्वयं को अलग मानता है तथा विशिष्ट मापदंड अथवा मापदंडों जैसे भाषा, जाति अथवा सांस्कृतिक आधार पर जिन समूहों के साथ उसका अंतर्व्यवहार अथवा सह-अस्तित्व होता है तथा वह उनसे भी अलग रहता है। इस प्रकार इस शब्दावली का बड़ा विस्तृत अर्थ है जिसका प्रयोग सामाजिक वर्गों, जातीय

अथवा शहरी और औद्योगिक समाजों में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए तथा स्थानीय जनसंख्या में विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक समूहों के बीच भेद करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार संजातीय समूह की संकल्पना सामाजिक और सांस्कृतिक मापदंडों को मिश्रित करती है और संजातीयता के अध्ययन का विशेष ध्यान ऐसे समूहों के बीच अन्तर्व्यवहार एवं पहचान करने वाली सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं के अन्तसंबन्धों पर केन्द्रित होता है।

मैक्स वेबर (1958) ने संजातीय समूह की परिभाषा इस प्रकार की:

ऐसे मानव समूह जो शारीरिक समानताओं अथवा रीति रिवाजों अथवा दोनों के कारण से अपनी सांझी विरासत में विश्वास करते हैं जो कि समूह निर्माण के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत इस बात का कोई महत्व नहीं कि उनमें खूनी रिश्ता है या नहीं। संजातीय सदस्यता स्वजन समूह से भिन्न होती है विशेषतः इस लिए कि यह मानी हुई पहचान है न कि स्वजन समूह की भांति एक मजबूत सामाजिक क्रिया से जुड़ा समूह है। हमारी समझ से संजातीय सदस्यता से समूह नहीं बनता अपितु यह तो केवल समूह निर्माण में सहायता करता है, विशेषतः राजनीतिक क्षेत्र में। दूसरी तरफ मूलतः राजनीतिक समुदाय ही सांझी संजातीयता में विश्वास के लिए प्रेरित और उत्साहित करता है। यह विश्वास राजनीतिक समुदाय के विघटन के बाद भी बने रहने का प्रयत्न करता है यदि इसके सदस्यों के बीच किन्हीं रीति-रिवाजों, भौतिक कारण अथवा भाषा के आधार पर कोई गहरा अन्तर पैदा न हो जाए। समूह अपने प्रकार से समानता की भावना पैदा कर सकते हैं जो उनके अन्त के बाद भी बनी रहती है और यह संजातीयता के तुल्य होती है। विशेष रूप से राजनीतिक समुदाय इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। लेकिन अधिक सीधे ढंग से इस प्रकार का प्रभाव भाषायी समूह द्वारा निर्मित किया जाता है जो जन समूह की विशेष सांस्कृतिक सम्पदा का धारक है तथा आपसी समझ को संभव अथवा आसान बनाता है (वेबर 1958)।

ये परिभाषाएं अनुगामी सीमाओं की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं जिन्हें संजातीय समूह घेरे बनाने के लिए विकसित करते हैं। ये घेरे भौगोलिक स्थान अथवा राजनीतिक छवि से परिभाषित नहीं होते अपितु सांस्कृतिक, भाषायी अथवा धार्मिक संबंधों के कारण उनमें भेद किया जाता है। फ्रेडरिक बार्थ को सीमाओं की इस धारणा के लेखकों में सबसे मौलिक कहा जा सकता है, जिसने अपने निबंधों "संजातीय समूह और समूह सीमाएं" में स्पष्ट कहा है —

यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों के प्रवाह के बावजूद सीमाएं बनी रहती हैं। दूसरे शब्दों में संजातीय भेद गतिशीलता, संपर्क और सूचना की अनुपस्थिति पर निर्भर नहीं करते अपितु निष्कासित और सम्मिलित करने की सामाजिक प्रक्रियाओं पर निर्भर होते हैं जिसके कारण व्यक्ति की जीवन के दौरान प्रतिभागिता और सदस्यता में परिवर्तन के बावजूद भी स्पष्ट वर्गों का अनुरक्षण होता है।

इसमें वह एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम को जोड़ता है जिसकी हम इस पाठ में चर्चा करेंगे।

संजातीय विशेषताएं सामाजिक अंतर्व्यवहार तथा स्वीकृति की अनुपस्थिति पर निर्भर नहीं करती अपितु इसके विपरीत उन आधारभूत चीजों पर निर्भर करती हैं जिनसे सामाजिक व्यवस्था में अंतर्व्यवहार में व्यवस्थाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन और पर संस्कृति ग्रहण के माध्यम से संजातीय अन्तर समाप्त नहीं होते। अंतर्संजातीय संबंधों एवं पारस्परिक निर्भरता के बावजूद सांस्कृतिक अंतर बने रह सकते हैं (बार्थ, 1969)।

प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि सीमाएं इस लिए बनी रहती हैं क्योंकि लोग सांस्कृतिक दायरों में बंधे रहते हैं। यहां तक कि जब वह कहीं अन्यत्र प्रवास करते हैं तो भी वह अपनी सांस्कृतिक धरोहर को साथ रखते हैं और अपने सांस्कृतिक चिह्नों का परित्याग नहीं

करते। इस बोध के कारण बार्थ के ऐतिहासिक योगदान ने छानबीन के केंद्र को "आंतरिक संविधान और अलग समूहो के इतिहास" से बदल कर "संजातीय सीमाओं और सीमाओं के अनुरक्षण" का केन्द्र बना दिया। इस पाठ के एक अलग खंड में बार्थ के योगदान पर विस्तार से कहने से पूर्व मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि समाजशास्त्रीय लेखों में सीमाओं का जो अर्थ लिया जाता है वह राजनीतिक विद्वानों के सीमा निर्माण से बिल्कुल भिन्न है। राजनीतिक वैज्ञानिकों का अधिकतर ध्यान विभिन्न समूहों के राज्य के साथ संबंधों पर केंद्रित रहता है। कुलीन बनने और संजातीय पहचानों के विकास की प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक प्रख्यात नाम पाल ब्रास के निम्नलिखित अनुच्छेद को ध्यान से पढ़ें। ब्रास को प्रायः यंत्रवादी स्कूल का प्रणेता कहा जाता है। वह 1991 के अपने प्रकाशन "संजातीयता और राष्ट्रवाद" में लिखता है —

"संजातीय पहचान के निर्माण को एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है जिसमें तीन प्रकार के संघर्ष सम्मिलित हैं। पहला, संघर्ष तो समूह के भीतर ही इसकी सामग्री और प्रतीकात्मक संसाधनों पर नियंत्रण के लिए होता है जिसमें समूह की सीमाओं को परिभाषित करना तथा सम्मिलन और निष्क्रमण के नियम बनाना भी सम्मिलित होता है। दूसरा संघर्ष संजातीय समूहों के बीच अधिकारों, सुविधाओं तथा उपलब्ध संसाधनों के लिए प्रतिद्वंद्वता के रूप में होता है। तीसरा राज्य तथा राज्य प्रमुख समूहों और इसके क्षेत्र में रहने वाली जनसंख्या के बीच होता है।

इन चिंताओं पर विस्तृत चर्चा करते हुए ब्रास कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है, जैसे — क्या संजातीयता का अध्ययन हित समूह राजनीति की उप शाखा है अथवा वर्ग विश्लेषण या अपने आप में एक अलग विषय है? दूसरे ढंग से यूँ कहा जा सकता है कि क्या हित समूहों, वर्गों और संजातीय समूहों को विश्लेषणात्मक ढंग से विभाज्य और परस्पर बराबर अथवा मूल रूप से अलग-अलग वर्ग कहा जा सकता है। ब्रास का संजातीय विश्लेषण और सीमा अनुरक्षण के प्रति एक निश्चित विचार है। अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी में वह आग्रह करता है —

अधिकांश समाजशास्त्रीय सिद्धांत जो संजातीय समूहों और राज्य के वर्णन के लिए प्रासंगिक हैं वे पूरे समाज पर ध्यान केंद्रित करते हैं और संघर्ष तथा जुड़ाव, राष्ट्रीय अखंडता अथवा आंतरिक युद्ध की परिस्थितियों को अपने मुख्य सैद्धांतिक मुद्दों के लिए लेते हैं तथा समाज की इकाइयों जैसे — हित समूह, वर्गों और संजातीय समूहों को परीक्षण की वस्तु मानने के बजाय यथावत स्वीकार करते हैं। प्रायः जिस मुद्दे की अवहेलना की जाती है, वह है कि पहले किस-किस प्रकार समूहों के भीतर पहचान और एकजुटता बनती है तथा उसका अनुरक्षण होता है। किस प्रकार समूहों की राजनीतिक लामबंदी होती है और क्यों और कैसे एकजुटता और लामबंदी प्रायः कमजोर हो जाती है (ब्रासः1985)।

इन विचारों के मध्य यह तर्क दिया जा सकता है कि पहचान एक राजनीतिक स्थिति है जो सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं एवं इन पहचानों के बने रहने पर मंडराते खतरों से सुदृढ़ होती है। वे इस दृष्टि से आदिम हैं कि लोग हिंदु, मुस्लिम, यहूदी, गोरे या काले पैदा हो सकते हैं। लेकिन पहचानों के इस प्रकार से प्राप्त वर्ग उन परिस्थितियों पर निर्भर करते है जिनसे लोग गुजरते हैं तथा उन हालात में वे अपने लिए क्या लाभ चाहते हैं। यह याद रखना चाहिए कि इस प्रकार के आरोपित वर्गों में परिवर्तन भी हो सकते हैं। एक व्यक्ति द्वारा खींची गई सीमाएं सदैव अंतर-सक्रिय स्थितियों में ही खींची जाती हैं। सीमाएं कभी सामाजिक विलगता में नहीं खींची जाती। यह हमेशा आपकी सीमा रेखा के विरुद्ध मेरी सीमा रेखा जैसी स्थिति होती है। यह स्थिति ऐसी ही रहती है भले ये दो लोगों के बीच हो या फिर दो समूहों के बीच। जब कभी कोई वार्ता की जाती है अथवा राष्ट्र राज्य के भीतर संघर्ष की स्थितियाँ अपनाई जाती हैं तो संजातीय समूह प्रायः ऐसे समूहों को जो सत्ता में होते हैं, को नियन्त्रण करने वाला प्रतिष्ठित समूह मानते हैं जो सबसे अलग

और प्रमुख होता है। अल्पसंख्यक बहुतसंख्यक विवाद धार्मिक अथवा भाषायी विवाद अथवा क्षेत्रीय असमानता की स्थितियों के निर्माण के अर्थ ढाँचागत ढंग से किए जाते हैं।

यहाँ यह रेखांकित करना रोचक है कि संजातीयता सापेक्ष है। विभिन्न समूहों के बीच समूहों के अनुरक्षण के संदर्भ में जेन्किन्स नोट करता है कि संजातीयता अपनी लामबंदी के संदर्भों के साथ बदलती रहती है और इसका कारण है कि संजातीयता अंतर्समूहों के संबंधों का परिणाम है, ऐसे संबंधों तथा सहगामी समूहों की अनुपस्थिति में संजातीयता को सोचा ही नहीं जा सकता (1997 : 90-91)। ब्रास, बार्थ और जेनकिंस द्वारा ग्रहण की गई स्थितियों में संजातीयता एक संसाधन है जिसका नकद लाभ उठाया जा सकता है, जिसके साथ छेड़छाड़ की जा सकती है तथा जिस पर समूह के साथ अथवा समूहों के बीच वार्ता की जा सकती है। लेकिन जब सीमा अनुरक्षण की बात पर आते हैं तो हम अंतर्समूह के निर्माण तथा समूहों के बीच अंतर और भेदों का आग्रह करने के लिए पहचान के साथ की जाने वाली मनमानी पर ध्यान केंद्रित करते हैं

## 24.3 फ्रेडरिक बार्थ — संजातीय समूह और सीमाएं

संजातीय समूह सीमाओं के अनुरक्षण के यंत्रों और इसके साथ की जाने वाली मनमानी पर आगे चर्चा करने से पहले बार्थ द्वारा अपने प्राथमिक निबंध में किए गए आग्रहों को दोहराना आवश्यक है। प्रारंभ करते हुए नैरोल (1964) द्वारा संजातीय समूह की दी गई परिभाषा, जिसे आदर्श परिभाषा माना जाता है, वह संजातीय समूह का पुनरावलोकन इस प्रकार करता है कि संजातीय समूह = वंश (जाति) = एक संस्कृति = भाषा = समाज को दोहराया गया है।

- संजातीय समूह अधिकांशतः जैविक दृष्टि से आत्म स्थिर हैं (प्राचीनतम)
- संजातीय समूह संयुक्त मौलिक सांस्कृतिक मूल्य रखते हैं, जिसे प्रत्यक्ष एकता में सांस्कृतिक रूपों में अनुभव किया जाता है।
- ये संचार और अंतर्व्यवहार का क्षेत्र बनाते हैं।
- इसकी सदस्यता होती है जिसकी अपनी पहचान होती है तथा दूसरे उसी श्रेणी के वर्गों से उसे एक अलग वर्ग के रूप में पहचान जाते हैं।

बार्थ की इस परिभाषा के साथ असहजता उसकी इस स्थिति से प्रकट होती है कि जब वह हमें यह मानने की अनुमति देता है कि सीमा अनुरक्षण समस्यारहित है और एकाकीपन का अनुकरण करती है जहाँ वस्तुनिष्ठ विशेषताओं का अभिप्राय है — जातीय अंतर, सांस्कृतिक भेद, सामाजिक अलगाव और भाषायी अवरोध तथा तत्कालिक और संगठित शत्रुता। अपने विचार पर प्रकाश डालते हुए बार्थ उसी अनुच्छेद में आगे आग्रह करता है कि —

यह भी सांस्कृतिक विविधता का वर्णन करने वाले कारकों की श्रेणी की सीमित करता है: हमें यह कल्पना करने की ओर प्रेरित किया जाता है कि प्रत्येक समूह अपने सांस्कृतिक और सामाजिक रूप का सापेक्ष अलगाव में विकास कर रहा है; मुख्यतः स्थानीय परिस्थिति जन्य कारकों के प्रत्युत्तर में चुनिंदा अनुकरण एवं नए आविष्कारों के इतिहास के माध्यम से विकास कर रहा है। इस इतिहास ने अलग-अलग लोगों की दुनियां को जन्म दिया है जिसमें प्रत्येक की अपनी संस्कृति और प्रत्येक एक समाज में संगठित है जिसे वर्णन के लिए वैध रूप से अपने आपमें एक अलग द्वीप की तरह विलग किया जा सकता है।

**अभ्यास 24.1**

सीमा अनुरक्षण पर बार्थ की स्थिति को रेखांकित कीजिए और फिर इसके विभिन्न पक्षों का वर्णन कीजिए।

बार्थ अपने विश्लेषण में इन महत्वपूर्ण गुणों में सहभागिता को प्राथमिक या पारिभाषिक गुण के रूप में न देखकर इन्हें संकेतिक अथवा परिणाम के रूप में देखने को वरीयता देता है। इन विशेषताओं और गुणों का आत्म-अन्वेषण के लिए एक भंडार के रूप में परीक्षण किया जा सकता है और जरूरी नहीं है कि भौगोलिक क्षेत्रों में समूहों की पहचान के लिए इनका आकृति विज्ञान के गुणों के रूप में प्रयोग किया जाए। लोग दूर जा सकते हैं परन्तु फिर भी सारे न सही, उनमें से कुछ मूल सांस्कृतिक गुणों को बचाए रख सकते हैं। वे एक स्थान पर रहते हुए भी अपने कुछ सांस्कृतिक गुणों में परिस्थितयों से सामंजस्य बैठाने के लिए सुधार कर सकते हैं अथवा खुद को किसी विशेष सांस्कृतिक समूह से सम्बद्ध होने की भावना को ठेस पहुंचाए बिना या उस पर किसी प्रकार के बाहरी आक्रमण का भय लाए बिना सामाजिक अनुकूलन के लिए कुछ गुणों में परिवर्तन कर सकते हैं। अतः प्रत्यक्ष सांस्थानिक रूपों को सांस्कृतिक गुणों का निर्माण करने वाला मानना अपर्याप्त है जो संजातीय समूह को एक अलग पहचान देते है अपितु इन प्रत्यक्ष रूपों का निर्धारण परिस्थिति ां तथा संचारित संस्कृति करती है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि एक समूह में इस प्रकार का प्रत्येक विभेदीकरण उपविभाजन और इकाइयों के गुणन की दिशा में पहला कदम है। हमें एक संजातीय समूह के दस्तावेजी मामले का ज्ञान है जिसके तुलनात्मक साधारण आर्थिक संगठन के स्तर भी विभिन्न पारिस्थितिक कार्य थे और तब भी उसने अपनी मूल संस्कृति और संजातीय एकता को काफी लम्बे समय तक कायम रखा।

सांस्कृतिक विशेषताओं को कायम रखने के महत्व तथा संजातीय समूहों में पहचान निर्माण में उसके महत्व को बताने के बाद बार्थ संजातीय समूह निर्माण के सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्षण 'आरोपण के तथ्य' पर प्रकाश डालता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 24.4 आरोपण — एक महत्वपूर्ण कारक

संजातीय समूहों को प्रतिष्ठित वर्गों के रूप में पहचाना जाता है। इन वर्गों के भीतर यह महत्वपूर्ण है कि इन समूहों के सदस्य इन निर्माणों को अपने पर आरोपित कर लेते हैं और दूसरे उनकी सदस्यता को उसी प्रकार से पहचानते हैं। अंतर्व्यवहार की प्रक्रियाएं अपनेपन की अवधारणा के आधार पर निर्धारित होती हैं जो कि न केवल स्वयं द्वारा समूह के साथ जोड़ी जाती है अपितु दूसरों द्वारा भी पहचानी जाती है। इस प्रकार के आरोपण से इंकार करना किसी व्यक्ति के लिए समूह में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए समस्या पैदा करता है और अंतर्संजातीय स्थितियों में समूह के लिए समस्यात्मक है। आरोपण के आग्रह के लिए सांस्कृतिक प्रतीक जैसे वेशभूषा, बोली, संकेत इत्यादि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आरोपण के मानकों पर बल देते हुए बार्थ कहता है —

जब एक आरोप्य और विशिष्ट समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है तो संजातीय इकाइयों की निरंतरता की प्रकृति स्पष्ट रूप से सीमा अनुरक्षण पर निर्भर करती है। सीमा का संकेत देने वाले सांस्कृतिक लक्षण परिवर्तित हो सकते हैं और उसके साथ ही सदस्यों के सांस्कृतिक गुण भी बदल सकते हैं, वास्तव में समूह का संगठन निर्माण, भी बदल सकता है और फिर भी सदस्यों और बाहर वालों के बीच द्विभाजन की निरंतरता का तथ्य हमें निरंतरता की प्रकृति और बदलते हुए सांस्कृतिक रूप की छानबीन करने की अनुमति प्रदान करता है।

**बॉक्स 24.1: संजातीय सीमाओं की खोज**

बार्थ का कहना है कि शोध के लिए जिसे वह खोज कहता है, संजातीय सीमा — जो समूह को परिभाषित करती है, महत्वपूर्ण हो जाती है न कि समूह को निर्मित करने वाली सांस्कृतिक सामग्री महत्वपूर्ण रहती है। यह ऐसी स्थिति है जिसका कई विद्वानों ने और विशेषतः जेनकिंस ने विरोध किया है। बार्थ की परिभाषा के अनुसार सांस्कृतिक सामग्री में भाषा, धर्म, कानून, परम्पराएं, रीति-रिवाज इत्यादि सम्मिलित हैं, वस्तुतः वह सभी विशेषताएं सम्मिलित हैं जिनका वर्णन टेलर ने संस्कृति की अपनी परिभाषा में किया है। संजातीय समूह की यह परिभाषा मैक्स वेबर द्वारा चर्चित संजातीय समूह के विवाद के अनुरूप है जैसा कि पाठ के प्रारंभ में परिभाषा दी गई है। जेनकिंस के अनुसार यह तर्क कुछ हद तक न्यायोचित है और यह संजातीयता को समझने के केंद्र में रहना चाहिए। लेकिन वह यह भी मानता है कि यदि हम इसे अक्षरशः स्वीकार करें तो सांस्कृतिक सामग्री का सीमा अनुरक्षण की प्रक्रिया में अप्रासंगिक होने का खतरा है।

वास्तव में यही सांस्कृतिक सामग्री ही विलगता को रेखांकित करती है और विभेदीकरण को बनाए रखती है। जेनकिस के शब्दों में —

सांस्कृतिक बदलाव के बिना सीवन के पिछवई कपड़े और "संजातीय विभेदीकरण की अनिरंतरता" में कोई सरल साधारण समीकरण नहीं है" का आग्रह हमें संजातीयता के विश्लेषण के लिए सांस्कृतिक गुणों की शब्दगत गणना करने की गलती से रोकता है। यद्यपि इस तर्क का यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि वह सांस्कृतिक सामग्री जिससे मनमाने और सामाजिक ढंग से विभेदीकरण को निर्मित किया जाता है — अप्रासंगिक है पर निश्चित रूप से यह सत्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, एक ऐसी स्थिति है जिसमें "अ" और "ब" के बीच भाषा के आधार पर, जिसे अधिकांश दैनिक कार्यों में दोनों समझते हैं, भेद किया जाता है जैसे डैनिश और नार्वेनियन (ये वे समुदाय थे जिन्हें जेनकिंस अपने संजातीय माडल के लिए विश्लेषित कर रहा था) तो वे उन से काफी अलग दिखाई देंगे जिनमें अंग्रेजी और वेलिश जैसी भाषाएं सम्मिलित हैं। भाषाएँ सम्मिलित हैं जैसे— काफी अलग अलग (1997 : 107)।

MADHYAM IAS "way to achieve your dream"

कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि बहुसंजातीय समाजों में प्रत्येक संजातीय समूह अपनी सांस्कृतिक सामग्री का भरपूर प्रयोग करके सांस्कृतिक और प्रायः राजनीतिक और आर्थिक वर्गों के अनुरक्षण के लिए सीमाएं निश्चित करता है। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि सीमाएं तब भी रह सकती हैं जब बहुत कम सांस्कृतिक अलगाव होता है। सोलर्स इस प्रकार कहता है —

"संजातीयता की सांस्कृतिक सामग्री (जिसे बार्थ की सीमाएं घेर कर रखती हैं) अधिकांशतः अंतःपरिवर्तनीय हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से कम प्रमाणित हैं।

## 24.5 बहु संजातीय समाज

बार्थ अपने संजातीय सीमा निर्माण में "पोली एथनिक" शब्द के प्रयोग को "मल्टी एथनिक" शब्द के प्रयोग से अधिक वरीयता देता है। वह हमें फर्नीवाल (1944) की पुस्तकों की ओर वापस ले जाता है। एक अनेकतावादी समाज में बहु संजातीय समाज की एकीकरण बज़ार में, राज्य व्यवस्था के नियन्त्रण में एक प्रमुख समूह के अन्तर्गत हुआ लेकिन धार्मिक और घरेलू गतिविधियों के क्षेत्र में सांस्कृतिक विविधता का बड़ा क्षेत्र छूट गया .....

लेकिन बाद में मानव विज्ञानियों ने अभिव्यक्ति और अलगाव के सम्भव विविध क्षेत्रों और बांधने वाली बहु संजातीय व्यवस्थाओं को पसन्द नहीं किया।

हम भारत में ऐसे विभेदीकरण का अपनी दैनिक जीवन की गतिविधियों में अनुभव करते हैं। भारत अपने विविध जनसंख्या, क्षेत्रीय विभिन्नता, भाषायी समस्याओं और बहु धार्मिक चरित्र के कारण एक अद्वितीय राजनीतिक स्थिति में है। संजातीय अंतरों को अभिव्यक्त किया जाता है और यदि एक बार इनके साथ राजनीतिक उद्देश्य जुड़ जाएं तो ये सशक्त आंदोलन के रूप में उभरते हैं। यद्यपि इन अभिव्यक्तियों की यह विशेषता रही है कि कभी भी सजातीयता को एक संयुक्त मुद्दा नहीं माना गया जिसके विरुद्ध आवाज उठाई जाए। ये आंदोलन प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए प्रतीकात्मक हो सकते हैं, जो भले ही सांस्कृतिक दिखाई दें परंतु उनके पीछे राजनीतिक अर्थ होते हैं। इसी को ही ब्रास राजनीतिक उद्देश्य प्राप्त करने की तिकड़म कहना चाहता है। ब्राथ (1969) इस संदर्भ में एक अलग स्थिति को चुनता है। उसका तर्क है —

"बहुल समाज के व्यर्थ लेबल के अंतर्गत विभिन्न व्यवस्थाओं को बढ़ा-चढ़ा कर (बहुल संजातीय, बहु संस्कृतिवाद) कुछ भी लाभ नहीं होने वाला"

जिसे बृहद् स्तर पर अभिव्यक्ति और अलगाव कहा जा सकता है उसे ही सूक्ष्म स्तर पर भूमिका का विधिवत ढंग से सीमित किया जाना कह सकते हैं। इन सभी व्यवस्थाओं में यह सिद्धांत उभयनिष्ठ है कि संजातीय पहचान के खेल की अनुमति होती है और विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए साथियों को अपनी मर्जी से चुना जा सकता है।

प्रतिष्ठा के रूप में संजातीय पहचान सैक्स के समान है जो इसके स्वामी को न केवल सुपरिभाषित सामाजिक स्थितियों में अपितु उसकी सभी गतिविधियों में बाधा पहुंचाती है। यह भी कहा जा सकता है कि यह आवश्यक है, ऐसी स्थिति में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती और स्थिति की अन्य परिभाषाओं के आधार पर इसे अस्थायी तौर पर स्थगित नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति के व्यवहार पर उसकी संजातीय पहचान के कारण उपजे अवरोध निरपेक्ष होने का प्रयास करते हैं और जटिल बहुसंजातीय विस्तृत समाज में नैतिक और सामाजिक परम्पराओं के अवयव एक अकेली पहचान वाले रूढ़िवादी समूहों को अपने में सम्मिलित कर परिवर्तन के प्रति अवरोध बना दिए जाते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

**बॉक्स 24.2: संजातीय केंद्र**

यह अजीब है कि जब हम देशभक्ति की भावना से कहते हैं कि हम हिंदु, मुसलमान, सिक्ख या ईसाई बाद में हैं और भारतीय पहले तो भी हम अत्यधिक ईर्ष्या से अपनी मूल पहचान और उससे जुड़ी सीमाओं को ध्यान में रखते है और उसका पोषण करते हैं। अपने आप को सचेतन अथवा अर्द्ध चेतन सीमाओं का स्मरण कराने के प्रयास में हम प्रायः अपने उन सांस्कृतिक लक्षणों को धार्मिक अथवा शास्त्रीय ढंग से याद करते हैं जो हमें बताते हैं कि 'हम अलग हैं'। यह वेशभूषा, अपने भोजन अथवा कला के प्रति गर्व के रूप में हो सकता है। इनमें से प्रत्येक अनिवार्य रूप से बहु संजातीय समाज में हमारी प्रतिष्ठा के आग्रह के प्रतीकात्मक एवं अनिवार्य लक्षण हैं। हम ऐसा स्वयं को पहचानने एवं अस्तित्व के लिए भी करते हैं। जिसे कुछ लेखक संजातीय केंद्र कहना पसंद करेंगे।

बार्थ ने अपने लेखन में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि संजातीय सीमाओं की आवाज केवल समाज में हाशिये पर लोग अथवा तिरस्कृत लोग ही नहीं उठाते अपितु संजातीय समूहों के सदस्य भी बहु संजातीय समाज में द्विभाजन तथा भेद को जीवित रखने के लिए ऐसा करते हैं और कभी-कभी बोर्न की भांति ये बौद्धिक वचन भी प्रतीत होते हैं।

वैयक्तिक संजातीय केंद्र का राष्ट्रीय पहचान की निरपेक्ष संकल्पना के साथ विलय द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समय में अमरीका में संजातीय चर्चाओं में प्रमुख रूप से चर्चित रहा। बोर्न के वक्तव्यों के परिप्रेक्ष्य में उभरी चर्चा में अमरीका को मूषा/घरिया/मेल्टिंग पॉट के

एक सटीक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया जहाँ दुनिया के विभिन्न भागों से आने वाली जातियां, समूह अपनी सीमाओं को "अमरीकी राष्ट्रीय पहचान" के पात्र में द्रवित कर परा-राष्ट्रीय पहचान को स्वीकार करते हैं।

मिल्टन गोर्डन (1964) ने अपनी पुस्तक "एजिमिलेशन इन अमेरिकन लाइफ" (अमरीकी जीवन में रचना-बसना) में बहुलवाद और मिश्रित होन के बीच के अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। "द्रवीकरण पात्र" की संकल्पना का अभिप्राय है निजी समुदायों द्वारा अपनी पहचान भुलाने की कीमत पर राष्ट्रीय अमरीकी पहचान को विकसित करना। गोर्डन के अनुसार "द्रवीकरण पात्र" की संकल्पना का मूल 'आंग्ल समरूपता' में निहित था जो प्रवासी की पैतृक संस्कृति का एंग्लो-सैक्सोन मूल समूह के व्यवहार और मूल्यों के पक्ष में पूर्ण समर्पण मांगता है।

**अभ्यास 24.2**

"द्रवीकरण पात्र" की संकल्पना का वर्णन कीजिए। अपने उत्तर को अपनी डायरी में लिखिए।

न्यूमैन ने इस को स्पष्ट करने के लिए एक सूत्र विकसित किया था जिसके अनुसार क + ख + ग = क। इस मामले में "क" प्रमुख संस्कृति है और अन्य सबसे इस विस्तृत पहचान में अपने भेद समाप्त करने की अपेक्षा है। यह सूत्र इस प्रकार भी हो सकता है कि क + ख + ग = घ अर्थात विभिन्न संस्कृतियां मिलकर एक अलग संस्कृति को विकसित करें जो सबके लिए एक सी है तथा लोकतंत्र [illegible] नागरिकों की प्रतीक है। वर्नर सोलर्स ने अधोलिखित वर्णन में इस चर्चा के कुछ पहलुओं जैसे संजातीयता की धारणा और अमरीका में सीमा अनुरक्षण के मुद्दों पर प्रकाश डाला है।

साधारणतया "द्रवीकरण पात्र" इन दोनों संकल्पनाओं के लिए उचित हो सकता है। इसके फलस्वरूप उत्पन्न अस्पष्टता ने कि क्या क + ख + ग = घ होता है अथवा क + ख + ग = क, सारी चर्चा को पागलपन की हद तक संजातीयता पर हो रही वृत्ताकार चर्चा में परिवर्तित करने में योगदान दिया है। संजातीय सीमा निर्माण दृष्टिकोण अपना कर "घ" के रूप में इसे अस्वीकृत किया जा सकता था। यदि बची हुई प्रतिबद्धताओं जिन्हें ओरलैण्डो पैट्रर्सन ने सार्वभौम संस्कृति कहा है, ने इस स्थिति को "क" के लिए संकटपूर्ण बनाया है। द्रवीकरण पात्र अथवा मिश्रण को एंग्लो सैक्सन समजातीयता (अथवा एक परिवर्त्य के रूप में जातीयता) के लिए धुएं का एक पर्दा बताया है। द्रवीकरण पात्र की अमरीकी चर्चा की सर्वाधिक अलंकारिक विशेषता इसकी परस्पर विरोधी अस्वीकृति है जो क + ख + ग = घ के विरुद्ध संजातीयता का आग्रह करती हैं और फिर घूमकर क + ख + ग = क के बचाव में आ जाती हैं। 'द्रवीकरण पात्र की गतिविधि को तिरस्कृत करते हुए अमरीकी लेखक और विचारक को अपार प्रसन्नता होती है। (कुछ अध्ययनों ने इन चर्चाओं को द्रवीकरण पात्र विराधी उद्योग कहा है) वे हमें संजातीय केक रखने और सार्वभौमिकतावाद को खाने तथा ठीक उसी समय सार्वभौमिकता को एंग्लो समजातीयता के छुपे रूप को अस्वीकार करने की अनुमित प्रदान करते हैं।

इन चर्चाओं में यह अंतर्निहित है कि संस्कृतियों के लिए निश्चित तापमान नहीं होते और एक बिंदु से आगे उनकी आघातवर्धनीयता का पूर्वानुमान करना, जहाँ वे अपना रूप और अस्तित्व दोनों खो बैठते है — मात्र एक कोरी कल्पना है। दूसरे शब्दों में, द्रवीकरण पात्र की क्षणिक धारणा को अस्वीकार करने में पनपे उद्योग यह दर्शाते हैं कि कुछ भी हो जाए, फिर भी सीमाएं जीवित रहती हैं और इस प्रकार संजातीय समूहों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण आयाम प्राप्त होते हैं।

## 24.6 बार्थ के प्रारूप की आलोचना

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बार्थ का मॉडल सांस्कृतिक ढांचों तथा उनके संरक्षण की प्रक्रियाओं में, परिवर्तन मांगने वाली ताकतों तथा समायोजन के लिए निरंतर दबाव की परवाह किए बिना — एक रोचक अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। इस तर्क का कि कोई ढाँचा नहीं है या सोलर्स के शब्दों में कहें कि 'सम्राट नहीं है केवल उसका परिधान है' जैसे विचारों का अर्थ निकाल पाना कुछ विचारकों के लिए कठिन है। बार्थ के (Swat Pathan) अध्ययन पर टिप्पणी करते हुए लुइस ड्यूमंट एक नरम वक्तव्य देते हैं —'मुख्य बात है 'समझना' । अतः विचारों और मूल्यों को ढाँचे से अलग नहीं किया जा सकता।

जेनकिन्स और अबनेर कोहिन, बार्थ के तर्कों को प्रतिबंधक मानते हैं। उनके विचारों में बार्थ 'स्वयं' द्वारा आरोपित सीमाओं के आधार पर घेरों (विभाजन) के प्रारूप को विकसित करने के प्रयासों में संजातीयता की सक्रिय प्रकृति को सम्मिलित करने में विफल रहा है। कोहिन का तर्क है कि बार्थ द्वारा बर्तन तथा बर्तन में रखी वस्तु में अलगाव, संजातीयता की सक्रिय प्रकृति को मानने में कठिनाइयाँ पैदा करता है। यह मानवीय मानस को भी लचीला नहीं मानता और इसके फलस्वरूप यह मानने से इंकार करता है कि व्यक्तित्व निर्माण एक खुली प्रक्रिया है जिस पर निरंतर बदलती सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अंतर्गत समाजीकरण का प्रभाव पड़ता है।

तलाल असाड (1972) ने अपनी कृति 'बाजारी प्रारूप, वर्ग संरचना और सहमतिः स्वैट राजनीतिक संगठन का पुनर्विचार' में सीमाओं के अनुरक्षण की हिमायत की है, जैसा कि बार्थ ने होबेशियन परम्पराओं में की है।

**बॉक्स 24.3: सीमा अनुरक्षण**

साहित्य में मिलने वाले संयुक्त तर्कों को बार्थ के प्रारूप की आलोचना के रूप में लिया जा सकता है, जिसके अनुसार बार्थ के सिद्धांत हमें यह अनुमान लगाने के लिए छोड़ देते हैं कि लोग सीमाओं का अनुरक्षण क्यों करना चाहते हैं? क्या यह प्राचीन समय से चली आ रही विशेषता है कि मनुष्य अपने को दूसरों से अलग दूरी पर रखना चाहते हैं, सीमाएं बनाना और उनका अनुरक्षण करना चाहते हैं जबकि इन सीमाओं से घिरा क्षेत्र, कम से कम संरचनात्मक दृष्टि से तो एक सा ही प्रतीत होता है (सोलर्स 1981) अथवा जोशुआ ए.फिशमैन के शब्दों में कहा जाए तो 'यदि सीमाओं के बिना कोई हृदय स्थल नहीं हो सकता तो चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो, परन्तु कोई भी सीमा तब तक नहीं हो सकती जब तक हृदय स्थल न हो'।

### क) सीमाओं को बनाए रखना

आलोचना के बावजूद इस बात के प्रमाण है कि संजातीय समूह सीमाओं को बनाए रखते हैं और आरोपित वर्गों से भिन्न दिखने के लिए अपनी पहचान के चिह्नों को अपनाए रखते हैं। हम संक्षेप में ऐसे कुछ घटकों पर पुनर्विचार करेंगे जो पोषण की इस प्रक्रिया का समर्थन करते हैं। यह समझने योग्य है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में परिभाषाएं और सीमाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। एक महत्वपूर्ण घटक जो अपना प्रभाव रखता है — वह है, सुरक्षा का तत्व। बार्थ का विचार है —

बहुत से राजनीतिक शासनों में, जहाँ सुरक्षा कम होती है तथा लोग तानाशाही और अपने समुदाय से बाहर की हिंसा के खतरों तले रहते हैं — वहाँ असुरक्षा की यह भावना समुदाय के बीच घेरेबंदी की भावना को बढ़ाती है और इसके फलस्वरूप अन्य समूहों की सीमाएं और मजबूत हो जाती हैं। आगे यह भी कहा जा सकता है कि यदि कुछ ऐसे सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारक हैं जो अंतर अथवा भेद को बढ़ाते हैं तो सीमाओं को बनाए रखने

को तीव्र किया जा सकता है। बार्थ द्वारा सम्पादित पुस्तकों में सूचीबद्ध किए गए निबंध दर्शाते हैं कि प्रत्येक मामले में सीमाओं का अनुरक्षण केवल कुछ सांस्कृतिक गुणों द्वारा ही होता है। यह भी याद रखना चाहिए कि तब इकाई का अस्तित्व इन सांस्कृतिक भिन्नताओं के बने रहने पर निर्भर करता है। बार्थ ने अपनी निष्कर्ष की टिप्पणियों में संकेत किया है कि —

किसी भी समय मानव जनसंख्या से जुड़े अधिकांश विषय इस सीमा से प्रतिबंधित नहीं होते। ये संजातीय समूह समय के साथ बिना किसी सापेक्षता के बदल सकते हैं, सीखे जा सकते हैं और परिवर्तित हो सकते हैं। उसी प्रकार कोई भी समान्तर काल में किसी संस्कृति के इतिहास को नहीं खोजता रहता। संजातीय समूह की वर्तमान संस्कृति के तत्व उसकी पुरानी संस्कृति से नहीं आएं हैं जबकि समूह का उन सीमाओं सहित एक निरंतर संगठनात्मक अस्तित्व होता है (सदस्यता का मापदंड) जो सुधारों के बावजूद एक निरंतर इकाई को अलग सीमाबद्ध करता है।

राष्ट्र-राज्य की धारणाओं के बीच बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों की स्थितियां संजातीय दूरियां बढ़ाने और वर्ग अथवा खंड के सीमाकरण की प्रक्रिया को बढ़ाती हैं। अल्पसंख्यकों की स्थितियां प्रायः मेजबान जनसंख्या की अस्वीकृति के भय से दबाव में रहती है।

संजातीयता, पहचान और सीमा अनुरक्षण — इन तीन अध्यायों के उपसंहार के रूप में तथा किस प्रकार ये संकल्पनाएं, निर्माण और सीमाएं, समकालीन राजनीति और सामाजिक वास्तविकताओं को समझने के लिए प्रासंगिक हैं — राष्ट्रवाद, नागरिकता और सीमाओं पर एक खंड सम्मिलित किया गया है।

## 24.7 सारांश

राष्ट्रवाद एक राजनीतिक विचारधारा है जिसका विश्वास है कि मानव जाति को अलग और स्पष्ट इकाई अर्थात राष्ट्रों में बांटा जा सकता है और प्रत्येक राष्ट्र को एक अलग राजनीतिक इकाई 'राज्य' का गठन करना चाहिए। राष्ट्रीयता का दावा आमतौर पर लोगों के एक समूह के विचार को जागृत करता है — अर्थात ऐसे लोग जिनकी संयुक्त संस्कृति होती है कभी-कभी संयुक्त धर्म होता है और आमतौर पर परंतु हमेशा नहीं - एक सांझा इतिहास होता है और इसके साथ ही यह दावा भी जुड़ता है कि लोगों के इस समूह का अधिकार वश अपने पर शासन होना चाहिए अथवा उन पर उसी किस्म के लोंगो का शासन होना चाहिए (राष्ट्र, संजातीयता, भाषा, धर्म इत्यादि के आधार पर) (जोनाथन स्पेन्सर, 2002)। मानव विज्ञानियों के शास्त्रीय मतानुसार यह संकल्पना समूहों को समांगी मानती है और इसका तर्क है कि लोगों को किसी स्पष्ट, आबद्ध संस्कृति और समाजों से संबंध रखने वाले वर्गों में बांटा जा सकता है। एक बहुसंजातीय समाज की रचना अथवा निर्माण का विचार बहु राष्ट्रीयता की धारणा के साथ जुड़ा हुआ है जो एक दूसरे के प्रति अलग सीमाओं को बनाए रखते हुए भी निष्ठा की एक संयुक्त सोच से जुड़ी होती है तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत क्षेत्रीयता के उप-प्रांत में कोई हस्तक्षेप नहीं करती।

इस विषय पर पिछले दिनों कुछ अध्ययनों ने राष्ट्र-राज्य का आधुनिक संजातीयता के सिद्धांत की दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयास किया है और क्षेत्रीय राजनीति = संजातीयता = 1947 के बाद के नए राष्ट्रों के निर्माण खंडों को भाषा, धार्मिक विश्वास, संयुक्त विरासत और राजनीतिक संस्थाओं के सांझे अनुभवों से जुड़े एकता में आबद्ध अथवा निकट से जुड़ें लोगों की आत्मचेतना माना है। अब यह धारणा बनती जा रही है कि राष्ट्र-राज्य की संप्रुभता की अवधारणा और अपनी राष्ट्रीयता के प्रति अत्यधिक चिंता परिभाषित राष्ट्रीय और संजातीय सीमाओं की सुरक्षा के वैध दृष्टिकोणों के दायरों में हिंसा भड़काने का साधन बनती है। यदि काश्मीर, बोडोलैंड अथवा भारतीय राष्ट्र राज्य के अन्य

भागों में लोग अपनी सोची हुई सीमाओं के लिए लड़ रहे हैं तो सैनिक बल राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

संजातीयता, नागरिकों तथा सरकारी स्तर पर परिभाषित बाहरी, अपरिचित और सीमांत लोगों के बीच के संबंधों से प्रकट होती है। यह केवल नागरिकता और विकास के तर्क से ही नहीं उभरती अपितु चुनावी तर्कों की संरचना, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक राजनीति की सामान्यता से उभरती है (विश्वनाथन 2003)।

आज पूरी दुनिया "अहम" की धारणा के कारण संकटों का सामना कर रही है। मैं पहले और दूसरे अध्याय का जिक्र कर रहा हूँ जिसमें चर्चा की गई है कि किस प्रकार लोग "पहचान" को सोचते और उसका निर्माण करते हैं और फिर मिलकर उसे संजातीयता में बदल देती हैं। हमें प्रायः पुनरुत्थान या संजातीयता के पुनर्जीवित होने के निबंध देखने को मिलते हैं। जिनमें राष्ट्र-राज्य के संदर्भ में किस प्रकार से रचनाएं अस्थिरता की समस्याएं पैदा करती हैं। मैं उपसंहार की इन टिप्पणियों में ऐसे किसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ जो हमारे जीवन को प्रभावित करने वाली इन जटिल प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करने में तुम्हारे दिमाग को कष्ट पहुंचा सकें। मैं इन अध्यायों को कुछ ऐस प्रश्नों को दोहराकर समाप्त कर रहा हूँ जो समाज विज्ञानी प्रायः अपने आप से पूछते अथवा साथी छात्रों से पूछते हैं। उनका उद्देश्य आनुभविक प्रक्रियाओं के निकट आना होता है।

16वीं शताब्दी तक राष्ट्र शब्द का विस्तार लोगों को अर्थात एक जनसंख्या को अपने में शामिल करने के लिए हुआ। अब राष्ट्रीयता एक प्रकार के लोगों की सदस्यता से निरूपित होती थी और अंततः राष्ट्र का अभिप्राय था अद्वितीय लोग अथवा अद्वितीय संप्रभु लोग। परिभाषाओं की वक्रता से समस्याएं उत्पन्न हुईं। राष्ट्र, एक खुला वर्ग होने के बजाय एक निषेधक और बहिष्कारक प्रक्रिया बनने का खतरा बन रहा है । द्वैधवृत्ति और हिंसा के बीज यहाँ बोए गए हैं और ये अधोलिखित से प्रकट होता है:

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- नागरिकता का विचार एक स्थिर विचार है।
- पहचान की समस्यामूलक प्रकृति
- क्षेत्र और लोगों के बीच सकारात्मकता और सीमाओं का निश्चित होना
- निषेधक और बहिष्कारक प्रक्रिया की नरसंहारक प्रकृति।

## 24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

असद, तलाल, 1972, 'मार्केट मॉडल, क्लास स्ट्रक्चर एंड कंसेंटः ए रिकंसीडिरेशन ऑफ स्वाट पॉलिटिकल आर्गेनाइजेशन', मैन, 7(1)- 74-94.

बार्थ, फेडरिक, 1969, *एथनिक ग्रुप्स एंड बाउंड्रीजः द सोशल आर्गेनाइजेशन ऑफ कल्चरल डिफरेंसेस,* लंदनःएलेन एंड अनविल।

बोगोरस, डब्ल्यू (1904-9), *द चिक्ची,* एंथ्रोपॉलिजिकल मेमोरीज, अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री, वाल्यूम 11, न्यूयार्क

ब्रास, पॉल, 1985, *एथनिक ग्रुप्स एंड द स्टेट,* लंदनः क्रूम-हेल्म

*डिक्शनरी ऑफ एंथ्रोपोलॉजी,* लंदनःमैकमिलन (1986)

फरनिवल, जॉन सेडेनहम 1944, *नीदरलैंड्स, इंडियाः ए स्टडी ऑफ लूरल इकोनॉमी* कैम्ब्रिजः यूनिवर्सिटी प्रेस

गन्स, जे एट अल 1979 (एडी.) *ऑन द मेकिंग ऑफ अमेरिकन्सः फाइव एसेज इन ऑनर आफ डेविड रेश्मन,* फिलाडेल्फियाः यूनिवर्सिटी ऑफ पेन्नसेलवानिया प्रेस

ग्लीसन फिलिप, 1964, "द मेल्टिंग पॉटः सिम्बल ऑफ फ्यूजन एंड कंफ्यूजन, *अमेरिकन क्वार्टरली,* 16 (1964), 20-46

गोर्डान मिलटन, 1964, *एजिमिलेशन इन अमेरिकन लाइफ,* न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड प्रेस

हेले, जोसफ, एफ, 1988, *रेस, एथनिसिटी, जेंडर एंड क्लासः द सोसियोलॉजी ऑफ ग्रुप कंफिलिक्ट एंड चेंज,* लंदनः पाइन फोर्ज प्रेस

जेनकिंस, रिचर्ड 1997, *रिथिंकिंग एथनिसिटीः एग्रीमेंट्स एंड एक्सप्लोरेशंस,* सेज पब्लिकेशंस

नारॉल्ल, आर. 1964, ऑन एथनिक यूनिट क्लासिफिकेशन, *करेंट एंथ्रोपोलॉजी,* 5(4) - 283-312

न्यूमैन, डब्ल्यू एन 1973, *ए स्टडी ऑफ माइनॉरटी ग्रुप्स एंड सोशल थ्योरी,* न्यूयार्कः हार्पर एंड रॉ

पैटर्सन, 1977, *एथनिक चौवनिज्मः द रिएक्शनरी इम्पल्स,* न्यूयार्कः स्टेन एंड डे

सोलोर्स, वेर्नर 1981, "थ्योरी ऑफ अमेरिकन एथनिसिटी", *अमेरिकन क्वार्टरली,* 33(3), पीपी 257-83

विश्वनाथन, शिव 2003, इंटिरोगेटिंग द नेशन, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकल,* (जून 7), पीपीः 2295-2302

वेबर, मैक्स 1958 (1922), इकोनॉमी एंड सोसायटी, इन एच गर्थ एंड सी डब्ल्यू मिल्स (ट्रांस. एंड एडी.), *फ्रॉम मैक्स वेबरः एसेज इन सोसियोलॉजी,* न्यूयार्कःऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

# खंड 7

MAADHYAM IAS

# सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

# खंड 7 प्रस्तावना

इस खंड में हमने सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांतों की जाँच की है। यह खंड अंतर और असमानता की संकल्पना के विश्लेषण से अपनी शुरुआत करता है। हमने भारत में जाति की संकल्पना के अध्ययन के साथ-साथ लिंग संबंधी सैद्धांतिक मुद्दों और संकल्पनाओं पर चर्चा की है। इसके बाद हमने जाति के विभिन्न सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक को सावधानी से पढ़ने पर शिक्षार्थी सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख सिद्धांतों और परिदृश्यों से परिचित हो सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 25

# अंतर और असमानता की संकल्पना

**इकाई की रूपरेखा**


25.1 प्रस्तावना

25.2 अंतर एवं असमानताः संकल्पनात्मक समझ

25.3 प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता

25.4 प्रमुख सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

25.5 वाद-विवाद

25.6 सुयोग्यता का उदय

25.7 सारांश

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.9 संदर्भ ग्रंथावली


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता के बीच के अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे;
- सामाजिक असमानता के कारणों एवं परिणामों को व्यक्त कर सकेंगे; तथा
- सामाजिक असमानता की समझ के प्रति लक्षित प्रमुख सैद्धांतिक उपागमों की चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 25.1 प्रस्तावना

असमानता की संकल्पना समाज में कुछ प्रमुख सैद्धांतिक सूत्रीकरणों की जड़ों में निहित है। यह समाज में स्तरीकरण की परिघटना के बुनियादी घटकों का गठन करती है जिसका समाज के कुछ सुव्यवस्थित समाजशास्त्रियों एवं युवा बुद्धिजीवियों ने व्यापक अध्ययन किया है और जिस पर उन्होंने अभिलेख, मोनोग्राफ एवं पाठ्यपुस्तकों की रचना भी की है। सामान्य दृष्टि से असमानता से आशय हैः परिमात्रा, आकार, कोटि, मूल्य या स्थिति के आधार पर पैदा होने वाला असंतुलन। इसका अक्सर अर्थ लगाया जाता है जैसे चुनौती का सामना करने की योग्यता या संसाधनों में उत्पन्न असंतुलन। समाजों में निहित असमानता आमतौर पर जाति, वर्ग, जेंडर, एवं सत्ता संबंधों में स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। नातेदारी पर आधारित साधारण समाजों में स्तरीकरण स्थिति संबंधी विशिष्टताओं से स्पष्ट होता है और जिसका निर्धारण आयु, वर्ग एवं वैयक्तिक विशेषताओं से किया जाता है जैसा कि आस्ट्रेलियाई आदिवासी समुदायों में नजर आता है (देखें साहलिन, 1969)।

इस इकाई में हम मतभेद एवं असमानताओं की द्वै-संकल्पनाओं की व्यापक खोजबीन करेंगे। यहाँ हमारा मुख्य ध्यान यह पता लगाना है कि कैसे और किन दशाओं में लोगों में असमानता जन्म लेती है। मतभेद एवं असमानता के बीच के अंतर का निर्धारण करने के बाद हम दो मुख्य किस्म की असमानताओं की छानबीन करेंगे, जो हैं: प्राकृतिक असमानता एवं सामाजिक असमानता। इसके बाद हम सामाजिक असमानता की समझ की ओर लक्षित प्रमुख सैद्धांतिक उपागमों की चर्चा करेंगे।

## 25.2 अंतर एवं असमानताः संकल्पनात्मक समझ

किसी एक या दो मानदंडों के समुच्चय के आधार पर समाज के लोग विविध श्रेणियों में बंट जाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण से आशय हैः लोगों का विविध श्रेणियों में विभाजन। इन श्रेणियों से इनमें बंटे लोगों के बीच के अंतरों का पता चलता है। इसमें निहित धारणा है कि श्रेणियों के बीच के अंतरों पर ध्यान देना जरूरी है हालांकि इनके बीच के मतभेदों को कोई महत्व नहीं दिया जाता अर्थात श्रेणियों को कोई असमान स्थिति या असमान पारितोषिक नहीं दिया जाता। लोगों की ऐसी विविध श्रेणियों को समान दृष्टि से देखा जाता है और एक की तुलना में दूसरे को अधिक महत्व नहीं दिया जाता। यह सामाजिक श्रेणियों में व्याप्त अंतर की संकल्पना है। जब सामाजिक श्रेणियों में असमान स्थितियों एवं पारितोषिकों को जोड़ दिया जाता है तो एक या एकाधिक परिभाषित कारकों के आधार पर य असमान समझी जाने लगती हैं। गुप्ता (2004) के अनुसार मतभेदों को महत्व मिलने लगता है जब रैंकिंग विविधताएं जटिल रूप धारण कर लेती हैं । सामाजिक स्तरीकरण में अंतर एवं असमानता अर्थात दोनों संकल्पनाओं का समावेश है।

**बॉक्स 25.1: सामाजिक स्तरीकरणः अंतर एवं असमानता**

यदि कोई सत्ता या संपत्ति की बजाय अंतर आधारित स्तरीकरणों के विविध स्वरूपों पर ध्यान केंद्रित करता है तो भौगोलिक मॉडल का आसानी से आह्वान नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, भाषावादी अंतरों को सोपानक्रम में नहीं रखा जा सकता। यदि गूढ़ नजर डालें तो पुरुषों एवं महिलाओं के बीच के अंतर को असमानता की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हालांकि ऐसे अंतरों से उनकी क्षैतिज स्थिति को बनाए रखने की सदैव अनुमति नहीं मिलती। आमतौर पर लौकिक विवेक में ये सोपानक्रम में वर्गीकृत हो जाते है। यही वह अवस्था है जहाँ पूर्वाग्रह हावी होने लगता है और माना जाने लगता है कि पुरुषों की स्थिति महिलाओं से उच्च है, कुछ भाषावादी समूहों को दूसरों की तुलना में कम सभ्य एवं कम परिष्कृत ठहराया जाता है और धार्मिक कट्टरता उभरने लगती है, कुल मिलाकर हममें से ज्यादातर को अंतर को अंतर से बर्दाश्त करने के लिए बाधित नहीं किया जाता।

इन दो व्यवस्थाओं को एक-दूसरे से अलग करने की संकल्पनात्मक आवश्यकता उत्पन्न होती है क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र में ध्यान इस तरह आकृष्ट किया जाता है कि सोपानक्रम एवं मतभेद एक दूसरे से जुड़ जाते है। यदि सोपानिकी एवं मतभेद अपने संबद्ध क्षेत्र तक ही रहें तो अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र के रूप में स्तरीकरण का अध्ययन करने की कोई असल जरूरत नहीं होगी। यदि सोपानिकी पर ही ध्यान दिया जाना है तो "सामाजिक असमानता" ऐसा लाल शीर्ष है जिसके दायरे में हमें अपने अध्ययन की व्यवस्था करनी है। यदि दूसरी तरफ, यदि सिर्फ मतभेद पर ही ध्यान दिया जाना है तो जाँचा एवं परखा गया शब्द "सामाजिक पृथकीकरण" कारगर सिद्ध होना चाहिए। हालांकि शब्द "सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक असमानता या सामाजिक पृथ्कीकरण का पर्यायवाची नहीं है" (गुप्ता, 2004 : 120 - 121)।

बतई (1969) का सुझाव है कि सामाजिक असमानता के दो पहलुओं का उल्लेख करना जरूरी है। पहला हैः वितरण कारक जिसका अर्थ है विविध कारक (जैसे आय, संपत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, सत्ता, कौशल) जो कि आबादी में बंटे हुए हैं। ये समाज में अंतःवैयक्तिक अंतःक्रिया का आधार प्रदान करते हैं। दूसरा हैः ऐसी तरीके जिनमें विविध कारकों से व्यक्ति विशेष सदस्यों में जो अंतर आते हैं, वे समूहों या श्रेणियों की व्यवस्था के दायरे में एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। यहाँ ऐसे लोगों की अंतःक्रिया पर जोर दिया जा रहा है जो एक समूह या श्रेणी से संबंधित हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि अभी तक समाजविज्ञानियों द्वारा व्यापक रूप से सामाजिक असमानता की जिन किस्मों का अध्ययन किया गया है वे संपत्ति

एवं आय की असमानता की उपज हैं; और जो सत्ता वितरण में व्याप्त असंतुलन से जन्मी हैं।

समाज में संपत्ति एवं आदर के असमान वितरण के निम्नलिखित व्यापक परिणाम हैं:

1) संपत्ति में पाए जाने वाले अंतर से ऐसे लोगों का एक अलग किस्म का समूह उत्पन्न होगा जो इन अंतरों के चलते एक दूसरे से अलग दिखाई देंगे और जो आगे अलग किस्म की सामाजिक इकाइयों में गठित होते नजर आएंगे।

2) समाज के ऐसे खंडीकरण से सामाजिक एकात्मता की संभावना कम हो जाएगी और जिससे सार्वजनिक निधियों के प्रयोग जैसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दों पर समाजव्यापी सर्वसम्मति भी प्रभावित होगी अर्थात सभी की राय एक दूसरे से अलग होगी।

3) विविध पदों के लोगों की असमान आमदनी समाज के मानदंडों एवं कानूनों पर असमान वचनबद्धता को जन्म देगी और जिससे लोग पथभ्रष्ट होंगे और अपराध बढ़ेंगे।

4) जिस वर्ग को असमान संपत्ति एवं असमान योग्यता को ध्यान में रखकर अलग कर दिया जाता है और जो इसी वजह से शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते वे संपत्ति में अपने अंश की प्राप्ति के संघर्ष के कारण एक-दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं।

5) जिस वर्ग की आमदनी एवं प्रतिष्ठा कम होती है वे मानसिक विकार, शारीरिक रुग्णता, अल्प आयु, अपराध एवं विविध दुर्घटनाओं की चपेट में आ जाते हैं।

6) यदि अधिक धनी लोग गरीब परिवारों के बच्चों का हक छीनकर अपने बच्चों के फायदे के लिए अपनी संपत्ति का प्रयोग करेंगे तो पूर्ण असमानता के अवसर एवं व्यवस्था के सुचारु ढंग से काम करने के अवसर कम हो जाएंगे।

7) पीढ़ी दर पीढ़ी ऐसी असमानता के चलते लोगों का सामाजिक बँटवारा अधिक गहरा होता जाएगा।

8) यदि अभिभावक से संतान तक ही फायदों को सीमित रखना है तो समाज में प्रतिभा की खोज करने का कोई खास फायदा नहीं होगा।

9) कम आमदनी के कारण कम साधन वाले लोगों के लिये ऐसे कार्यों में कतर्व्यनिष्ठा से लगना कठिन होता है जिन्हें करने में वे सक्षम होते हैं (टयूमिन, 1985 : 158-159)।

जब कम आय बुनियादी आवश्यकताओं की पूति में पर्याप्त नहीं होती तब कल्याणकारी राज्य दखल देते हैं ताकि कम आमदनी को बढ़ाया जा सके।

संपत्ति, सत्ता एवं जेंडर आधारित तुलना एवं विभेदन की दृष्टि से अक्सर हमें अपने रोजाना के जीवन में असमानता का सामना करना पड़ता है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी देशों की आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के आधार पर तुलना की जाती है और उन्हें श्रेणीबद्ध किया जाता है। विश्व के देशों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है (1) पहली दुनिया के देशों में हैं — अमेरिका एवं उसके शीत युद्ध के मित्र राष्ट्र। ये सुविकसित एवं पूंजीवादी राष्ट्र थे, (2) दूसरी दुनिया के देशों में सोवियत संघ एवं इसके मित्र राष्ट्र थे। ये सुविकसित कम्युनिस्ट राष्ट्र थे, और (3) तीसरी दुनिया के देशों में लेटिन अमेरिका का अधिकांश भाग और हाल ही में स्वतंत्र हुए अफ्रीकी एवं एशियाई राज्य शामिल थे। ये अल्पविकसित देश थे जिन्होंने शीत युद्ध में पश्चिम या पूरब से हाथ नहीं मिलाया। इनमें से अधिकांश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य थे। अब इन देशों को पहली दुनिया या तीसरी दुनिया के देश न कहकर विकसित या विकासशील देश कहकर पुकारा जाता है। विकसित राष्ट्र वे

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

हैं जिनमें अर्थव्यवस्था औद्योगिकरण पर आधारित है और लोगों का जीवन स्तर, साक्षरता दर और जीवन प्रत्याशा भी काफी उच्च है। जबकि दूसरी तरफ विकासशील राष्ट्र वे हैं जिनमें उद्योगीकरण की प्रक्रिया देरी से शुरू हुई और जहाँ लोगों के जीवन का स्तर, साक्षरता दर एवं जीवन प्रत्याशा काफी निम्न है। ये देश विकसित राष्ट्रों के जीवन जैसा स्तर बनाने के लिए संघर्ष करते हैं। मानव विकास सूचकांक, (जन्म के समय जीवन प्रत्याशा, साक्षरता दर एवं सकल विकास उत्पाद जैसे सूचकों पर आधारित) देश में विकास की कोटि को मापता है और ऐसा करते समय इनका श्रेणीकरण भी करता है।

विश्व राष्ट्रों में व्याप्त आर्थिक असमानता को प्रेबिश के मार्गदर्शन के अंतर्गत 1950 के अंत में विकसित आश्रयता सिद्धांत के माध्यम से समझा जा सकता है। वे लेटिन अमेरिका में उस समय संयुक्त राष्ट्र आयोग के निदेशक थे। प्रेबिश और उनके सहकर्मी इस तथ्य के प्रति काफी चिंतित थे कि उद्योगीकृत देशों में आर्थिक विकास से अधिक गरीब देशों में ऐसी प्रवृत्ति देखने को नहीं मिली बल्कि बजाय इसके इन देशों में आर्थिक समस्याओं ने जन्म ले लिया। आश्रयता सिद्धांत इसलिए विकसित किया गया ताकि गरीब देशों में व्याप्त सतत निर्धनता को स्पष्ट किया जा सके और इसके लिए उन्होंने राष्ट्रों की आपसी अंतःक्रिया के प्रतिरूपों की जाँच की और सुझाव दिया कि उनके बीच की असमानता ऐसी अंतःक्रिया का गूढ़ भाग थी (देखें फेरारो, 1996)।

अधिक स्पष्टता से आश्रयता सिद्धांत से पता चलता है कि विश्व में देशों को दो श्रेणियों में बांटा गया हैः धनी राष्ट्र जो कि मूल देश हैं और गरीब राष्ट्र जो कि परिधीय देश हैं। मूल देश, परिधीय देशों से संसाधन एवं कच्चे माल की प्राप्ति करते हैं। इन देशों में माल को प्रसंस्कृत किया जाता है और विनिर्मित वस्तुओं के रूप में अंततः परिधीय देशों को लौटा दिया जाता है। जहां निर्धन राष्ट्र प्राकृतिक संसाधन, सस्ता श्रम एवं तैयार माल का सुनिर्धारित बाजार प्रदान करते हैं वहीं अमीर देश विनिर्मित वस्तुओं की कीमत अत्यधिक लगाकर इन देशों पर लगातार हावी बने रहते हैं। निसंदेह, परिधीय देशों से साधन प्राप्त किए बिना मूल देश अपनी ऐसी स्थिति को लगातार नहीं बनाए रख सकते। चूंकि यह बात उनके हित में है इसलिए मूल राष्ट्र विविध आर्थिक एवं मानव संसाधन विकास नीतियों के माध्यम से ऐसी स्थिति को बनाए रखते हैं। यदि परिधीय देश ऐसी बातों के लिए तैयार नहीं होते तो उन्हें दी जाने वाली आर्थिक मंजूरी पर रोक लगा दी जाती है, अंतरराष्ट्रीय व्यापार एवं वाणिज्य की कड़ी नीतियों को पेश कर दिया जाता है और कई बार सैन्य हमले कर दिए जाते हैं।

## 25.3 प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता

समाज में असमानता की उत्पत्ति एवं इस संकल्पना का आधार बिंदु रूसो के समय से है। उसने स्पष्ट किया कि समानता का प्रभाव तब तक बना रहेगा जब तक लोग अपने जीवन से संतुष्ट रहेंगे। यह ऐसी तुष्टि है जहां लोग पशुओं की खाल पहनते थे, अपने शरीर को परों एवं सीपियों से ढ़क लेते थे और स्वयं को ऐसी गतिविधियों तक सीमित रखते थे जिन्हें वे अपने वैयक्तिक तरीके से पूरा कर सकते थे। लेकिन जब ऐसा समय आया जब उन्हें एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता महसूस होने लगी और जब व्यक्ति को आवश्यक सामान या खाद्य सामग्री जुटाने की जरूरत महसूस होने लगी और कार्य जब अनिवार्यता बन गया तो संबंधों में समानता गायब हो गई । रूसो (1754) लोगों में दो तरह की असमानता की पहचान करता है, (1) प्राकृतिक या शारीरिक असमानता, जिसका अर्थ है आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक क्षमता एवं मानसिक योग्यता संबंधी अंतर और (2) नैतिक या राजनीतिक असमानता जिसका अर्थ ऐसे विशेषाधिकारों में व्याप्त अंतरों से है जो स्वयं लोगों की इच्छा या प्राधिकारों द्वारा स्थापित किए जाते हैं जैसे सत्ता, सम्मान आदि।

ताक्यूविल (1956) ने इस बात को स्वीकारा कि लोगों पर प्रकृति द्वारा जो असमानता थोपी जाती है उससे छुटकारा पाना बेहद कठिन कार्य है और ऐसी असमानता एक ठोस आदर्श बना रहता है । उसने अभिजात वर्ग एवं लोकतांत्रिक समाज के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। 19वीं शताब्दी से पहले के यूरोप में समाज अभिजात वर्गीय था जबकि 19वीं शताब्दी से पहले अर्ध भाग में अमेरिका में समाज की प्रकृति लोकतांत्रिक किस्म की थी। उसने अपने इस अंतर को स्पष्ट करने में इन दोनों किस्मों के समाजों को राजनीतिक संगठन के दायरे तक सींचा ताकि सामाजिक भेदभाव, धार्मिक अनुभव एवं सौंदर्य संवेदनशीलता को भी इसमें शामिल किया जा सके। इस तथ्य के बावजूद कि ताक्यूविल अभिजात वर्ग से संबद्ध था, वह समतावादी सिद्धांतों या जीवन के विविध आयामों में व्याप्त समानता के सिद्धांत से प्रभावित था। उसका ठोस विश्वास था कि एक दिन यूरोप और बाकी की दुनिया में भी समानता का वर्चस्व होगा। वह इस बात से सहमत था कि पश्चिमी सभ्यता यद्यपि मूल रूप से अपने विचारों में अभिजात वर्गीय थी लेकिन फिर भी वहाँ समानता को भी मान्यता प्राप्त तो थी।

तत्पश्चात बतई ने ताक्यूविल के विचार को विकसित किया कि सभी व्यवस्थाएं मिश्रित हैं और सही मायने में शुद्ध अभिजात संकल्पना या समानता का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। जो नजर आ रहा है वह असंगत एवं निरंतर बदलते बलों के बीच का गतिमान संतुलन है" (मैक्फैरलेन, 1999 : 288)। बतई ने सुसंगत व्यवस्था (हार्मोनिक) एवं असंगत व्यवस्था (डिस्हार्मोनिक) व्यवस्था के बीच का अंतर स्पष्ट किया। सुसंगत व्यवस्था में समाज सोपानक्रम व्यवस्था में विभाजित है जबकि असंगत व्यवस्था में समूह प्राकृतिक व्यवस्थाओं के आधार पर विभाजित है। बतई ने स्पष्ट किया कि असंगत व्यवस्था में समानता को आदर्श के रूप में महत्व दिया जाता है लेकिन यहाँ असल में असमानता का ही बोलबाला रहता है। बतई के अपने शब्दों में (1977 : 1), आधुनिक विश्व का मुख्य विरोधाभास है कि इस व्यवस्था में हरेक जगह व्यक्ति स्वयं को समानता के सिद्धांत से बांधते हैं और उनके अपने जीवन में हर जगह और यहां तक कि दूसरों के जीवन में भी वे समानता के सिद्धांत की मौजूदगी से जूझते हैं, उसका मुकाबला करते हैं। जितनी गहराई से वे स्वयं को समानता के सिद्धांत से जोड़ते हैं उतनी ही गहराई से हकीकत में यह बात उन्हें पीड़ित करती है। हम अक्सर प्राकृतिक आधार पर सामर्थ्य, योग्यताएं या इस तरह की विशेषताओं के चलते जो मतभेद बन जाते हैं उनकी दृष्टि से प्राकृतिक असमानता से जूझते हैं क्योंकि इससे मनुष्यों को उपलब्ध अवसरों पर असर पड़ता है। बतई (1983 : 8) कहते हैं कि एक मानवविज्ञानी के लिए जिसके लिए संस्कृतियों की विविधता वस्तुओं की मानव योजना में मुख्य बिंदु है, उनके लिए प्राकृतिक असमानता का विचार यदि विवादास्पद नहीं है तो स्वाभाविक रूप से अस्पष्ट अवश्य है। प्रकृति हमें सिर्फ सामर्थ्य रूपी अंतर देती है। लेकिन इन अंतरों के साथ मनुष्यों में तब तक असमानता नहीं बनती जब तक कि प्राकृतिक की बजाय सांस्कृतिक कारकों से अर्थात ऐसे प्रक्रमों से इनका चयन किया जाता है, इन्हें चिह्नित किया जाता है और इनका मूल्यांकन किया जाता है। अन्य शब्दों में, ऐसे अंतर तब असमानता बन जाते हैं जब मानदंड ऐसे बन जाते हैं कि जो कि प्राकृतिक रूप से नहीं बनते बल्कि सामाजिक संदर्भ में इनका प्रयोग करते हैं, जैसे कि विशिष्ट ऐतिहासिक दशाओं के अंतर्गत विशिष्ट मनुष्यों द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मानदंड।

दो बच्चों के उदाहरण पर विचार कीजिए — एक जो जन्म से नेत्रहीन है और दूसरा जिसकी सामान्य दृष्टि है। ये इन दोनों बच्चों में स्वाभाविक असमानताएं हैं जिसकी वजह से वे एक ही कार्य को असमान परिशुद्धता से करते हैं। जब तक हम इन बच्चों की निष्पादन क्षमता का मूल्यांकन नहीं करते और इनकी योग्यताओं की जाँच नहीं करते तब तक प्राकृतिक या सामाजिक असमानता का पता लगाने का कोई अर्थ नहीं है। जब इनके निष्पादन का निर्धारण होता है तभी इनके बीच की प्राकृतिक असमानता का पता चलता है। प्राकृतिक असमानता अवसर एवं संसाधन प्रदान करने का आधार बन जाती है और

आगे चलकर यही सामाजिक असमानता का आधार बिंदु बन जाता है। सामाजिक असमानता की झलक श्रम विभाजन से पता चलती है जो कि सत्ता एवं स्थिति से कायम असमानता से जुड़ा हुआ है। साधारण शब्दों मं श्रम विभाजन और सामाजिक विभेदन का आपस में तालमेल होता है। कुछ स्थितियाँ स्वतः उच्च किस्म की होती हैं जबकि कुछ में इनके अधीन होकर कार्य करना पड़ता है।

**अभ्यास 25.1**

प्राकृतिक असमानता एवं सामाजिक असमानता के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

## 25.4 प्रमुख सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

सामाजिक स्तरीकरण पर कम से कम ऐसे तीन सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य हैं । पहला, प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य जो सामाजिक व्यवस्था एवं स्थायित्व के अनुरक्षण में इसके योगदान की दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। पार्सन्स का मानना है कि समाज में व्यवस्था एवं स्थायित्व ऐसे मूल्यों पर टिके हैं जो कि समाज में आम लोगों की सोच से बनते हैं। जो लोग ऐसे मूल्यों को महत्व देते हैं वे इनके आधार पर दूसरों से ऊपर रहते हैं। अतः सफल व्यवसाय कार्यकारी ऐसे समाज में दूसरों के ऊपर होगा जो व्यक्ति विशेष उपलब्धि को मान्यता देता है जबकि ऐसे व्यक्ति जो रणभूमि में युद्ध करते हैं उन्हें ऐसे समाज में ऊपर रखा जाता है जो बहादुरी एवं शौर्य को महत्व देते हैं। प्रकार्यवादी इस बात को महत्व देते हैं कि समाज में सामाजिक समूहों के बीच के संबंध सहयोग एवं अंतःनिर्भरता पर टिके हैं। पार्सन्स स्पष्ट करते हैं कि अत्यंत विशिष्ट औद्योगिक समाज में कुछ लोग संगठन एवं नियोजन में निपुण होते हैं जबकि कुछ इनके निर्देशों का पालन करते हैं। कुछ पदों की तुलना में कुछ विशेष पद अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सामाजिक सोपानक्रम में इनकी श्रेणी उच्च होती है और इन्हें पारितोषिक भी अपेक्षाकृत उच्च मिलता है। ऐसी अपरिहार्यता से सत्ता एवं गौरव के वितरण में असमानता का जन्म होता है।

दूसरा हैः मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य जो प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य से अलग है और जो कि सामाजिक स्तरीकरण के समाकलनात्मक पहलू की बजाय विभाजक पहलू पर ध्यान केंद्रित करता है। मार्क्सवादी सामाजिक स्तरीकरण को ऐसे साधनों के रूप में मानते हैं जिनके माध्यम से उच्च श्रेणी के समूह निचली श्रेणी के समूहों का शोषण करते हैं। यहाँ स्तरीकरण की व्यवस्था सामाजिक समूहों के संबंधों पर उत्पादन के आधार पर टिकी हुई है। अधिक स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी समाज में दो प्रमुख स्तरों की पहचान करते हैं, एक जो उत्पादन के बल पर नियंत्रण करते हैं और इसी वजह से दूसरों पर राज करते हैं और दूसरा है, जो शासी वर्ग के लिए कार्य करता है। मार्क्सवादी नजरिए से आर्थिक सत्ता राजनीतिक सत्ता को शासित करती है। शासी वर्ग स्वामित्व से सत्ता को बनाता है और उत्पादन पर नियंत्रण कायम करता है। उत्पादन आधारित संबंध प्रथाओं, मूल्यों एवं विश्वास पद्धतियों पर हावी रहते हैं। इससे राजनीतिक एवं विधि व्यवस्था शासी वर्ग के हितों का अनुकरण करते हैं। शासी वर्ग, कर्मचारी वर्ग को उत्पीड़ित करता है। अतः समाज में स्तरीकरण से दो प्रमुख वर्गों या स्तरों के बीच शोषण की कोटि बढ़ जाती है और दुश्मनी पैदा हो जाती है। सामाजिक स्तरीकरण के मार्क्सवादी ढाँचे में निहित महत्वपूर्ण शब्द हैं (1) वर्ग सचेतना जिसका अर्थ है उस वर्ग से संबद्ध लोगों अर्थात कर्मचारियों की उत्पादन प्रक्रिया में उनके दर्जे के आधार पर शासी वर्ग के संदर्भ में उनकी हैसियत। वर्ग सचेतना में यह भी शामिल है कि शासी वर्ग द्वारा शोषण किए जाने के विस्तार बिंदु की जागरूकता अर्थात श्रमिकों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त वस्तुओं से उन्हें वंचित करना। समय के साथ कर्मचारियों का ऐसे उत्पीड़न को समझना और मिल-जुलकर ऐसे पूंजीवादी स्वामित्व को उखाड़ फेंकना जो उनका शोषण कर रहे थे, (2) वर्ग एकजुटता जिसका अर्थ है अपने आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों का मिलजुल कर काम करना, और (3)

वर्ग द्वंद्व जिसका अर्थ है कर्मचारियों का शोषण के प्रति आवाज उठाने के लिए निरंतर स्वयं को बेहतर बनाते हुए संघर्ष करना। तीसरा है, वेबरवादी परिप्रेक्ष्य जिसके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण ऐसी वर्ग स्थिति के अनुरूप है अर्थात उससे मेल खाता है जिनकी वर्ग स्थिति सामान्य है और उनके जीवन के अवसर भी एक जैसे हैं। वे एक स्तर या वर्ग गठित कर लेते हैं। वेबर ने पूंजीवादी समाज में चार समूहों की पहचान की है। ये हैं - संपत्तियुक्त उच्च श्रेणी, संपत्तिविहीन, सफेदपोश कर्मचारी, छोटा निर्धन वर्ग एवं श्रमिक या श्रमजीवी वर्ग । वेबर स्तरीकरण के आर्थिक आयाम के महत्व पर मार्क्स से सहमत तो था । लेकिन उसने सामाजिक स्तरीकरण की समझ में सत्ता एवं प्रक्रिया के पहलुओं को भी जोड़ा। वह इस बात से पूरी तरह सहमत था कि प्रतिष्ठा में व्याप्त अंतर से जीवनशैलियों में भी अंतर आ जाता है।

टयूमिन (1985 : 13) ने इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया कि जीवन अवसरों के लिए संपत्ति संबंधी अंतरों के परिणाम से अलग हटकर वेबर के अनुसार प्रस्थिति संबंधी अंतरों से जीवन शैली में बदलाव आता है जो कि विविध प्रतिष्ठा समूहों की सामाजिक अनन्यता का महत्वपूर्ण अवयव बन जाते है। प्रस्थिति समूह मुख्यतया अनधिकार ग्रहण से मान्यता प्राप्त करते हैं। इनका दावा है कि कुछ निश्चित व्यवहार एवं शैलियों की दृष्टि से ये अपने अधिकारों को हासिल करते हैं। इनका आधुनिक समाजों में कोई कानूनी अधिकार नहीं है। ये आर्थिक सत्ता की प्राप्ति से अपने कानूनी अधिकारों को बनाते हैं। संक्षेप में मार्क्स की तरह वेबर का भी मानना है कि प्रतिष्ठा समूह गठित करने में संपत्ति संबंधी अंतरों का विशेष महत्व है। संपत्ति संबंधी अंतर इनमें व्याप्त विशिष्टता एवं विशेषाधिकारों को भी परिभाषित करते हैं। मार्क्स की तुलना में वेबर ने प्रतिष्ठा समूहों को अधिक महत्व दिया। वेबर ने ऐसे दल के गठन पर भी जोर दिया जो अक्सर "वर्ग स्थिति एवं प्रतिष्ठा स्थिति" के माध्यम से निर्धारित हितों को प्रस्तुत करता है। वेबर के अनुसार, वर्गों में आर्थिक पहलू का विशेष महत्व है और प्रतिष्ठा समूहों में सम्मान का विशेष महत्व है और दलों में सत्ता का विशेष महत्व है।

सामाजिक स्तरीकरण पर वेबर का परिप्रेक्ष्य तीन घटकों से उत्पन्न होता है। जो हैं, वर्ग स्थिति, प्रतिष्ठा और सत्ता। बतई (1969 : 370) लिखते हैं कि "वेबर की योजना में वर्ग और सत्ता सामान्यकृत श्रेणियां हैं। पिछली, बाजार स्थिति में असमान जीवन अवसरों से उभरती है जबकि बाद वाली वर्चस्व की प्रकृति का गठन करती है जो कि सभी समाजों में एक स्वरूप या अन्य स्वरूप में मौजूद है। दूसरी तरफ प्रस्थिति अवशिष्ट श्रेणी है। वेबर ने स्पष्ट किया कि (पश्चिम के पूंजीवादी समाजों में भी) सामाजिक प्रतिष्ठा को अकेले संपत्ति या शक्ति को अपने कब्जे में लेकर निर्धारित नहीं किया जा सकता। उसने कहा कि सामाजिक प्रतिष्ठा को मूल्यों से जोड़ा जाता है न कि भौतिक हितों से। स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठा संबंधी कारक सिर्फ आर्थिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता ही नहीं हैं बल्कि ये जीवन की शैली भी हैं जिसमें भौतिक घटकों और गैर-भौतिक घटकों (जैसे साक्षरता और/या कलात्मक संवेदनशीलता) का समावेश है। भौतिक घटक के मामले में प्रतिष्ठा में फायदों की तुलना में आर्थिक फायदों को अध्यारोपित करना आसान है अर्थात जो अपनी आर्थिक दशा को सुदृढ़ करने के योग्य हैं वे उद्योगीकृत समाजों में प्रतिष्ठा हासिल करने के भी योग्य हैं। समरूपी शिक्षा का फैलाव लोगों की जीवन शैली के गैर भौतिक घटकों के बीच के अंतर को कम कर देता है। बतई (1969) स्पष्ट करते हैं कि बहुत से कारणों की वजह से आर्थिक फायदों को आसानी से प्रतिष्ठा फायदों में भी अनुदित नहीं किया जा सकता। जीवन अनन्य शैली की प्राप्ति के लिए व्यक्ति विशेष को किसी विशिष्ट सामाजिक वातावरण का भाग तो होना ही होगा। अक्सर उसे ऐसे लोगों के प्रतिरोध का सामना करना होगा जो उस सामाजिक चक्र के भाग हैं। यह प्रतिरोध असमानता से जुड़े महत्व की बात करता है।

**अभ्यास 25.2**

सामाजिक स्तरीकरण पर आधारित प्रमुख सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य की चर्चा कीजिए।

## 25.5 वाद-विवाद

किन्स्ले डेविस एवं विल्बर्ट मुरे ने स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक अनिवार्यता, निर्धारित श्रेणी के कारकों, समाजकीय कार्यों एवं स्तरीकरण एवं मोटे तौर पर स्तरीकृत व्यवस्था में व्याप्त विविधता संबंधी मुद्दों की चर्चा की है। उन्होंने स्पष्ट किया कि सामाजिक असमानता के लिए अपेक्षित असमान वितरण अधिकार एवं पूर्वापेक्षित बिंदुओं से लोगों को ऐसी अभिप्रेरणा मिलती है जिससे उन्हें जो काम सौंपा जाता है, उसे वे करते हैं और ऐसे दर्जे को हासिल करते हैं जिससे उनका गौरव एवं आत्म सम्मान बढ़ता है। सामाजिक असमानता इसलिए सुनिश्चित करती है कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थितियां सोच समझकर सर्वाधिक योग्यताप्राप्त व्यक्तियों द्वारा ग्रहण की जाती है। इसलिए प्रत्येक समाज चाहे सरल हो या जटिल वहाँ संस्थागत असमानता विराजमान रहती है। (डेविस एंड मुरे 1967 : 48)। जिन स्थितियों को श्रेष्ठ माना जाता है और जिन पर सर्वाधिक पारितोषिक की प्राप्ति होती है वे ऐसी हैं जो समाज के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं और जिनके लिए सर्वाधिक प्रशिक्षण या प्रतिभा की अपेक्षा की जाती है। वे स्पष्ट करती हैं कि समाज को उच्च श्रेणी वालों को पर्याप्त धन देने की बात को बर्दाश्त करना पड़ता है क्योंकि उनमें अपनी एक सक्षमता होती है। यह भी समझना जरूरी है कि एक पद की एक समाज में जितनी इज्जत है जरूरी नहीं है कि दूसरे समाज में भी उसका ऐसा ही महत्व हो।

ट्यूमिन (1953-1967 : 53), डेविस एवं मुरे द्वारा उन्नत प्रमुख तर्क का सार निम्नलिखित में क्रमबद्ध ढंग से देता है:

1) प्रकार्यात्मक नजरिए से किसी भी समाज में कुछ पद दूसरे पदों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं और अपने निष्पादन के लिए इन्हें विशेष कौशलों की जरूरत पड़ती है।
2) किसी भी समाज में कुछ गिने-चुने लोगों में ही प्रतिभा होती है और जिन्हें इन पदों तक पहुंचाने के अपेक्षित कौशलों के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है।
3) प्रतिभा को कौशलों में ढालने के लिए प्रशिक्षण अवधि की जरूरत पड़ती है जिसके दौरान प्रशिक्षण प्राप्तकर्ताओं द्वारा एक या अधिक किस्म के त्याग करने पड़ते हैं।
4) प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ऐसे त्याग हेतु और प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये प्रेरित करने के लिए उनकी भावी स्थितियों के साथ किसी तरह का पारितोषिक या प्रेरक बिंदु आवश्यक है। अर्थात दुर्लभ और वांछित पुरस्कारों तक विशेषाधिकृत और अनुपातहीन प्रवेश। ऐसे पुरस्कार समाज उन्हें दे सकता है।
5) इन स्थितियों के साथ कुछ विशेष अधिकार और पूर्वापेक्षित बिंदु भी बंधे होते हैं और जिन्हें कुछ ऐसी बातों के लिए वर्गीकृत किया जा सकता है जो निम्न में योगदान देते हैं (क) जीवन निर्वाह एवं आराम, (ख) विनोद या बदलाव, (ग) आत्मसम्मान और विस्तार।
6) समाज में इस तरह मूलभूत पारिपोषिकों को ग्रहण करने में ऐसे अलग-अलग वर्ग बन जाते हैं जहाँ गौरव/आत्मसम्मान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न होता है।
7) इसलिए दुर्लभ एवं वांछित वस्तुओं की मात्रा के मद्देनजर विविध स्तरों में सामाजिक असमानता एक दूसरे से भिन्न होती है और जो गौरव एवं आत्म सम्मान उन्हें मिलता है वह किसी भी समाज में सकारात्मक रूप से प्रकार्यात्मक या अपरिहार्य होता है।

ट्यूमिन का तर्क है कि शुरुआत में ही ऐसे पदों या स्थितियों को दूसरों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण समझना उचित नहीं है जैसे यह मान लेना कि अकुशल श्रमिकों की

तुलना में फैक्टरी का इंजीनियर अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके पास विशेष कौशल है। यह बात ठीक नहीं। निस्संदेह अकुशल कामगारों का कुछ श्रम बल उतना ही महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य है जितना की फैक्टरी के इंजीनियर का श्रम बल। इसके अलावा जिन लोगों के पास ऐसे कौशल होते हैं उनकी सौदाकारी शक्ति पर भी यह बात निर्भर करती है । यह शक्ति, रेटिंग की मौजूदा व्यवस्था पर भी निर्भर करती है। अभिप्रेरण का निर्धारण विविध कारकों से होता है जिनमें से पारितोषिक और अन्य प्रेरक बिंदु सिर्फ कुछ गिने-चुने हैं। इस बात की भी संभावना है कि कुछ अत्यधिक घोर स्थितियों को छोड़कर सेवा के निवर्तन से संबंध मानदंडों की पद्धति की मौजूदगी की भी संभावना होती है और जिसे पूर्ण रूप से नैतिक अभिशाप कहा जाएगा। ऐसी स्थिति में डेविस एवं मुरे द्वारा प्रस्तावित सापेक्षिक प्रकार्यात्मकता की धारणा को मौटे तौर पर संशोधित किया जाएगा। प्रतिभा की रेंज और प्रतिभा का सीमित व्यक्तियों में होने के संदर्भ में दूसरा दावा टयूमिन द्वारा पेश किया गया है जिसका आधार है कि किसी भी समाज में इतनी समझबूझ नहीं होती कि वह यह पता लगा सके कि समाज में कितनी प्रतिभा मौजूद है। वह स्पष्ट करता है कि ऐसे समाज जो कि सख्ती से स्तरित हैं, वे इसके सदस्यों की प्रतिभा के बारे में नये तथ्यों की खोज करने में अपेक्षाकृत कम योग्य हैं।" स्तरीकरण की समुचित कार्यकारी एवं सुस्थिर पद्धतियाँ उपलब्ध प्रतिभा की भावी खोजबीन करने में अधिक बाधाएं उत्पन्न करती हैं। यह विशेष रूप से ऐसे समाजों में सही है जहाँ किसी एक पीढ़ी में प्रतिभा की खोज के अवसर मूल पीढ़ी के विशिष्ट संसाधनों से भिन्न हैं।" (ट्यूमिन 1953, आरपटी 1967 : 54-55)। यदि विशिष्ट पारितोषिक एवं अवसर आगामी पीढ़ी द्वारा सामाजिक रूप से ग्रहण किए जाते हैं, तब अगली पीढ़ी में प्रतिभा की खोज विशेष रूप से मुश्किल हो जाती है। इसके अलावा, अभिप्रेरण, पिछली पीढ़ी में प्रतिफलों के वितरण पर निर्भर करता है। इसका अर्थ है कि पीढ़ी में असमान विशिष्ट अभिप्रेरण पिछली पीढ़ी में प्रतिफलों के असमान वितरण की वजह से मौजूद है। विशिष्ट स्थिति तक पहुंच समाज में कुलीन वर्ग तक सीमित है।

तीसरे दावे में डेविस एवं मुरे ने त्याग की संकल्पना को पेश किया है जिसे टयूमिन (वही) कहते हैं कि यह रंगपटल में न्यूनतम तार्किक रूप से निर्मित संकल्पना है और इसे जब दिखाया जाता है तो वास्तविक तथ्यों का सहारा कम से कम लिया जाता है।" वह त्याग की व्यापकता को प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त करने से चुनौती देता है क्यों कि इसमें ऐसी हानि शामिल है जो प्रशिक्षण की लागत एवं अर्जित सता की सुपुर्दगी से उत्पन्न होती है। यहाँ बुनियादी मुद्दों में से एक है, ऐसी पूर्वधारणा की व्यवस्था में प्रशिक्षण अवधि को अनिवार्यतया त्यागा जाता है। यह सदैव सच नहीं होता क्योंकि लोगों को प्रशिक्षित करने में शामिल लागत कुल मिलाकर समाज को वहन करनी पड़ेगी। यदि ऐसा होता है तो विशिष्ट प्रतिफलों की दृष्टि से किसी को क्षतिपूर्ति करने की आवश्यकता होगी जब कुशल स्थितियों पर हुई भर्ती बेफालतू बन जाती है जितनी कि इस आधार पर सामाजिक स्थिति को स्तरीकृत करने की आवश्यकता।

टयूमिन का तर्क है कि यहाँ तक कि यदि प्रशिक्षण कार्यक्रम का त्याग किया जाता है और समाज में प्रतिभा दुर्लभ है तब डेविस एवं मुरे का वांछित प्रतिफलों के लिए विशिष्ट पहुंच का सुझाव कोई मायने नहीं रखता। विशिष्ट प्रतिफलों का आबंटन दुर्लभ है और एक मात्र या सर्वाधिक सक्षम कारक के रूप में वांछित वस्तुओं एवं सेवाओं एव सेवाओं के बँटवारे के लिए उपयुक्त प्रतिभा को आमंत्रित करना स्वतः प्रश्नसूचक है। सर्वाधिक कार्यात्मक महत्वपूर्ण स्थितियों के लिए संस्थागत सामाजिक कर्तव्य या सामाजिक सेवा अभिप्रेरण प्रदान करती है। इस पहलू को डेविस एवं मुरे ने अनदेखा कर दिया है।

पांचवीं एवं छठी प्रतिज्ञप्ति में डेविस एवं मुरे तीन श्रेणियों में प्रतिफल को वर्गीकृत करते हैं जो हैं — जिनका जीवन निर्वाह एवं आराम देने में और विनोद एवं बदलाव लाने में योगदान है और वे जो आत्म सम्मान एवं अहम् विस्तार में अपना योगदान देते हैं। वह

सम्मान एवं गौरव के बीच संगतता पर ध्यान देता है जिसे विविध स्तर ग्रहण करते हैं और यह संस्थागत सामाजिक असमानता के रूप में स्तरीकरण पर ध्यान आकृष्ट करता है। टयूमिन स्तरीकरण पद्धति की प्रभावी कार्यप्रणाली के लिए तीन तरह के प्रतिफलों की समान मात्रा के बंटवारे पर प्रश्न लगाता है ताकि यह न हो कि जहाँ एक को महत्व मिले वहीं दूसरों को अनदेखा किया जाए। वह कहता है कि यह संभव नहीं है कि एक किस्म का प्रतिफल या सभी तीनों किस्मों के प्रतिफल अभिप्रेरण पर अपना प्रभाव डाल सकें। समाज विविध किस्मों के प्रतिफलों पर जोर देता है ताकि जिम्मेवारी एवं रिकॉर्ड के बीच के संतुलन को कायम रखा जा सके। इसके अलावा अनुसारक या विचलन के बीच के गौरव में जो अंतर है वह ऐसा अंतर नहीं है जैसा कि ऐसे व्यक्तियों के संस्तर के बीच का अंतर जिनमें से प्रत्येक मानवीय व्यवस्था के दायरे में काम करता है और जो कि वयस्कों से संघटित है।"

डेविस एवं मुरे की सातवीं प्रतिज्ञप्ति दुर्लभ एवं वांछित वस्तुओं एवं इनसे उन्हें जो गौरव एवं आत्म सम्मान प्राप्त होता है उसकी दृष्टि से विविध संस्तरों में सामाजिक असमानता पर केंद्रित है। ये समाज में सकारात्मक रूप से प्रकार्यात्मक एवं अपरिहार्य हैं। टयूमिन (1953, 1967 : 57) लिखते हैं कि यदि ऐसी विशिष्ट सता एवं संपत्ति को हम सभी विशिष्ट जिम्मेवारियों के साथ देखें और यदि इन्हें प्रतिफल की बजाय संसाधनों के रूप में सांस्कृतिक रूप से परिभाषित किया जाए तो गौरव एवं सम्मान में किसी तरह का अंतर करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

**बॉक्स 25.2 : स्तरीकरण की दुष्क्रियाएं**

टयूमिन (1967 : 58) ने निम्नलिखित अनंतिम दावों को प्रस्तावित किया:

1) सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था काम करती है ताकि समाज में उपलब्ध प्रतिभा की पूर्ण रेंज की खोज की संभावना को सीमित किया जा सके। यह उपयुक्त अभिप्रेरण, भर्ती के चैनल और प्रशिक्षण के केंद्रों तक असमान पहुँच का परिणाम है।

2) उपलब्ध प्रतिभा की किस्म को पहले से ही संक्षिप्त बनाने में सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था काम करती है ताकि समाज के उत्पादनशील संसाधनों के विस्तार की संभावना की सीमा तय की जा सके और यह कम से कम उस मामले के सापेक्ष में हों जहाँ समानता के अवसर उपलब्ध हों।

3) सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था काम करती है ताकि कुलीन वर्ग को इतनी राजनीतिक शक्ति दी जा सके जो कि विचारधारा की स्वीकृति एवं वर्चस्व की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हो और जो यथापूर्व स्थिति को बुद्धिसंगत बनाती है चाहे यह "तार्किक", "प्राकृतिक" और "नैतिक" रूप से सही" हो या नहीं। इस तरीके से सामाजिक स्तरीकरण पद्धति ऐसे समाजों में अनिवार्यतया रूढ़िगत प्रभावों के रूप में काम करती है जिनमें ये पाए जाते हैं।

4) सामाजिक स्तरीकरण पद्धतियाँ समग्र आबादी में असमान रूप से अनुकूल आत्म-छवि का विस्तार करने के रूप में काम करती हैं। ऐसी सीमा तक कि ऐसी अनुकूल स्थितियां व्यक्तियों में स्वाभाविक रचनात्मक क्षमता के विकास के लिए जरूरी है और उस सीमा तक स्तरीकरण पद्धतियाँ इस रचनात्मक क्षमता के विकास को सीमाबद्ध करने के लिए काम करती हैं।

5) उस सीमा तक कि सामाजिक प्रतिफल में असमानताएं समाज में सुविधावंचितों को पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती, सामाजिक स्तरीकरण पद्धतियाँ समाज के

विविध खंडों में शत्रुता, संदेह और अविश्वास को बढ़ावा देती है और सामाजिक एकीकरण के विस्तार की संभावना को सीमित करती हैं।

6) उस सीमा तक कि समाज के प्रति जो सत्यनिष्ठा है वह समाज में सदस्यता की विशिष्टता पर निर्भर करती है और समाज में गौरवमय सीढ़ी पर उसके स्थान पर निर्भर करती है। सामाजिक स्तरीकरण पद्धति ऐसी सदस्यता से असमानता को फैलाती है।

7) उस सीमा तक जहाँ समाज में सहभागिता एवं उदासीनता विशिष्ट सदस्यता की भावना पर निर्भर करती है । वहाँ समाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाएं समाज में सत्यनिष्ठा की भावना में असमानता फैलाने का कार्य करती हैं।

8) उस सीमा तक जहाँ समाज में सहभागिता एवं उदासीनता विशिष्ट सदस्यता पर निर्भर करती है, वहाँ सामाजिक स्तरीकरण समाज में अभिप्रेरण की भावना में असमानता पैदा करती है।

इससे डेविस दावा करता है कि टयूमिन संस्थागत असमानता की संकल्पना को विध्वंस करने का प्रयास करता है। वह स्तरीकृत असमानता की सर्वव्यापकता पर कोई विवेचना की प्रस्तुति नहीं करता। जहाँ डेविस एवं मुरे की रुचि समाज में यह समझने की है कि समाज में स्तरीकरण क्यों मौजूद है वहीं टयूमिन का तर्क है कि इसे नहीं होना चाहिए। स्पष्टतया वे विभिन्न मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। इनके अलावा डेविस का मानना है कि टयूमिन की समीक्षा उलझी हुई है। वह अपनी खुद की स्थिति को यह कह कर बचाता है कि चिंता का मुख्य विषय सामाजिक पद्धति की सामान्य संपति के रूप में स्वीकृत असमानता से है जिसमें तन्मयता की उच्च कोटि का समावेश है। इसके अलावा डेविस एवं मुरे द्वारा प्रस्तावित टयूमिन के सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन सिर्फ एक ही लेख पर आधारित है और जहाँ अन्य प्रकाशनों को अनदेखा किया गया है जो उसके द्वारा उठाए बहुत से प्रश्नों के उत्तर देते हैं। उसकी अपनी डेविस और मुरे के सिद्धांत की समझ एवं प्रस्तुति अपर्याप्त है। इसी वजह से स्तरीकरण पर टयूमिन की संकल्पना असंगत है। मुरे का भी यही कहना है कि टयूमिन ने सामाजिक स्तरीकरण को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया है। इसी वजह से वह गलती से यह मान बैठा कि विशिष्ट प्रतिफल और अवसरों की असमानता एक ही चीज है।

टयूमिन (1953, rpt 1967 : 63) निम्नलिखित शब्दों में अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाते हुए कहता है कि "निस्संदेह, किसी भी जटिलता के सभी संस्थागत प्रबंध अपने कारणत्व में मिश्रित ही होते हैं। यह इस मिश्रण की पहचान है और अवांछित पहलुओं पर जोरदार संवेदनशीलता है जो मनुष्यों को उद्देश्यपूर्ण सामाजिक सुधार में शामिल होने के लिए प्रेरित करते हैं। जिससे सामाजिक विज्ञानी संभावित सामाजिक बंदोबस्त के दायरे में और मानव समाज के लिए इसके परिणामों के लिए पारंपरिक रूप से इस ओर रुख कर लेते हैं। व्यक्ति को यह जाँच करने के बाद उस दायरे की छानबीन करने के लिए उकसाया जाता है चाहे ऐसा प्रदत्त बंदोबस्त अनिवार्य हो। व्यक्ति को ऐसी छानबीन के लिए यहाँ तक कि और अधिक प्रेरित किया जाता है जब यह खोज लिया जाता है कि परिहार्य बंदोबस्त शायद अंतिम लक्ष्य के अन्य संभावित साधनों की तुलना में कम सक्षम है। उसका कहना है कि यही वह जाँच है जिसके प्रति मेरी मूल टिप्पणी निदेशित है।

## 25.6 सुयोग्यता का उदय

माईकल यंग ऐसे ब्रिटिश समाज की छवि प्रस्तुत करते हैं जिसमें सभी सदस्यों को अपनी प्रतिभा की पहचान करने के समान अवसर दिए गए और जिससे उनकी सामाजिक भूमिकाओं का निर्धारण भी होगा अर्थात सर्वाधिक सक्षम व्यक्ति को समाज का सर्वाधिक

महत्वपूर्ण पद मिलेगा। सामाजिक स्थिति का आधार मनुष्य की अपनी योग्यता होगी। भूमिका आबंटन के ऐसे प्रबंध को सुयोग्यता कहते हैं। यंग (1961) इस बात पर जोर देते हैं कि समाज में सुयोग्यता पूरी तरह निष्क्रिय है । जिनके पद उच्च होंगे वे अपने से निम्न को घृणा से देखेंगे और उन्हें अपने से निम्न समझेंगे। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि लोगों को अपनी योग्यता के महत्व का पता होगा। हैरबलमबोस (1980 : 37) निम्नलिखित शब्दों में यंग के तर्क की विवेचना करते हैं, ' सुयोग्यता में उच्च संस्तर के सदस्यों को उच्च पद मिलने ही चाहिए, उनके विशेषाधिकार योग्यता पर आधारित है। पहले उन्हें इस बात की शंका थी कि क्योंकि बहुतों का मानना था कि उनकी जो आज स्थिति है वह उनकी योग्यता के अलावा किन्हीं और कारकों की वजह से है। चूँकि वे निम्न स्तर के सदस्यों में प्रतिभा, समझदारी, बुद्धिमता की पहचान कर सकते थे इसलिए उन्होंने इस बात की सराहना की कि उनके सामाजिक अधीनस्थ कुछ हद तक उनके बराबर के थे जिसके परिणामस्वरूप ये उनका सम्मान करेंगे। सुयोग्यता सुनिश्चित करती है कि निम्न वर्ग वाले निम्न हैं इसलिए उन्हें तुच्छ समझा जाना चाहिए। इससे निम्न स्तर में अलगाव पैदा हो सकता है और इससे द्वंद्व पैदा हो सकता है जिससे शासी अल्पसंख्यकों एवं समाज के बाकी भाग में तनाव पैदा हो सकता है। इससे निम्न संस्तर वालों में हीन भावना पैदा होगी क्योंकि अपनी इस स्थिति के कारण उन्हें सफलता प्राप्ति के अवसर सुलभ नहीं होंगे और वे यह समझाने के योग्य नहीं होंगे कि किस तरह जन्म, प्रभाव, संपत्ति एवं सता के फायदों ने दूसरों को सफल बनाया है। इससे आत्म सम्मान में कमी आएगी और अंदरुनी शक्ति क्षीण हो जाएगी।

## 25.7 सारांश

इस इकाई में हमने समाजों एवं सामाजिक संबंधों के विस्तृत ढाँचे में व्याप्त अंतर एवं असमानताओं की संकल्पना की छानबीन की है। हमने असमानता के कारकों की पहचान की और प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता के बीच के अंतर को समझा। साहलिन (1969) ने स्तरीकरण के तीन कार्यात्मक मानदंडों की पहचान की है। ये हैं — आर्थिक (उत्पादन, वितरण एवं उपभोग पर नियंत्रण की सीमा एवं इनके साथ जुड़े विशेषाधिकार), सामाजिक-राजनीतिक (इनसे आशय है अंतःवैयक्तिक मामलों को विनियमित करने में सता एवं प्राधिकार एवं गलत लोगों पर रोग लगानी), और आनुष्ठानिक (अलौकिक तक पहुंच और रीतिक व्यवहार में अंतर)।

स्तरीकरण की कोटि विभिन्न समाजों में अलग-अलग होती है। जटिल समाजों की तुलना में सरल समाज अपेक्षाकृत कम स्तरीकृत होते हैं क्योंकि जटिल समाजों में आर्थिक एवं सामाजिक-राजनीतिक मानदंडों के आधार पर बड़ी संख्या में सामाजिक वर्ग, श्रेणियां एवं समूह होते हैं। सभी समाज हालांकि कम या बड़ी सीमा तक स्तरों में बंटे होते हैं। सिर्फ समतवादी समाज सैद्धांतिक रूप से असली होते हैं अन्यथा सभी समाजों में स्थिति एवं विशेषाधिकारों के चलते अंतर पाए जाते हैं। सामाजिक असमानता इसलिए समाज एवं समाजशास्त्रीय रचनाओं में भी हमेशा बनी रहेगी।

## 25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बतई, आंद्रे, 1983, *द आइडिया ऑफ नेचुरल इनइक्वालिटी एंड अदर एसेज*, ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

गुप्ता, दीपांकर, 2004, 'सोशल स्ट्राटिफिकेशन', इन *हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी*, एडी. वीना दास, ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

टयुमिन, मेल्विन एम, एंग्लेवुड, 1985, *सोशल स्ट्राटिफिकेशन, द फार्म्स एंड फंक्शन्स ऑफ इनइक्वालिटी*, प्रेटिस हाल।

## 25.9 संदर्भ ग्रंथावली

बतई, आंद्रे, 1969, "इंट्रोडक्शन", इन *सोशल इनइक्वालिटी*, एडी. आंद्रे बतई, पेनगुइन बुक्स, इंग्लैण्ड।

बतई, आंद्रे, 1969, "इक्वा।लेटी एंड इनइक्वालिटीः आइडियल्स एंड प्रैक्टिस", इन *सोशल इनइक्वालिटी*, एडी. आंद्रे बतई, पेनगुइन बुक्स, इंग्लैण्ड।

बतई, आंद्रे, 1977, *इनइक्वालिटी एंड मेन*, बेसिक ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड।

बतई, आंद्रे, 1983, *द आइडियाज ऑफ नेचुरल इनइक्वालिटी एंड अदर एसेज*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

डेविस कें. एंड विल्बर्ट ई मुरे, 1967 (ऑर्जि 1945), "सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्राटिफिकेशन", इन *क्लास, स्टेटस एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, एडी. रेनहर्ड बेंडिक्स एंड सेमॉर मार्टिन लिपसेट, रूजलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

फेरारो, वी., 1966 *"डिपेंडेंसी थ्योरीः एन इंट्रोडक्शन"*, वर्किंग पेपर।

गुप्ता, दीपंकर, 2004, "सोशल स्ट्राटिफिकेशन", इन *हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी*, एडी. वीना दास, ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

मैकफारलेन, एलन, 1999, "आंद्रे बतई एंड एलेक्सिस डे टॉक्यूवेली", इन *इंस्टिट्यूशंस एंड इनइक्वालिटीजः एसेज इन हॉनर ऑफ आंद्रे बतई*, एडी. रामचंद्र गुहा एंड जोनाथन पी पैरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

हरलम्बोस, एम. (विद आर.एम.हेल्ड), 1980, *सोशियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रूसो, जीन जैकिस, 1754 (ट्राँस. जीडीएच. कोले) *व्हट इज द आरिजिन ऑफ इनइक्वालिटी अमंग मेन, एंड इज इट ऑथोराइज्ड बाई नेचुरल ला*, एन.डी.

साहलिन, एम.डी., "सोशल स्ट्राटिफिकेशन", इन *सोशल इनइक्वालिटी*, एडी. आंद्रे बतइ, पेंगुइन बुक्स, इंग्लैण्ड।

टौक्युवेली, ए.डीई, 1956, *डेमोक्रेसी इन इंडिया*, एल्फ्रेड नॉफ।

टयुमिन, मेल्विन एम, एंगलवुड, 1985, *सोशल स्ट्राटिफिकेशन, द फार्म्स एंड फंक्शन्स ऑफ इनइक्वालिटी*, प्रेटिस हाल, एंगलवुड क्लिफ, न्यू जर्सी।

टयुमिन, एम, 1963 (ऑर्जि. 1953), "सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्राटिफिकेशन", *इन क्लास, स्टेटस, एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, एडी. रेनहर्ड बेंडिक्स एंड सेमॉर मार्टिन लिपसेट, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

यंग, मिखाइल, 1961, *द राइज ऑफ मेरिटोक्रेसी*, पेंगुइन बुक्स, हरमंड्सवर्थ।

MAADHYAM IAS

# इकाई 26

# वर्ग

**इकाई की रूपरेखा**


26.1 प्रस्तावना

26.2 वर्ग की संकल्पना

26.3 वर्ग संरचना के सिद्धांत

26.4 वर्ग संघर्ष

26.5 सामाजिक गतिशीलता

26.6 वर्गहीनता

26.7 सारांश

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.9 संदर्भ ग्रंथावली


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- वर्ग के संबंध में समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की चर्चा कर सकेंगे;
- विभिन्न वर्गों के बीच अंतःसंबंधों की चर्चा कर सकेंगे; तथा
- वर्ग-स्थितियों के बीच गतिशीलता की चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 26.1 प्रस्तावना

फ्रांस की क्रांति से पहले "वर्ग" शब्द का प्रयोग सामान्य लेखन में किया जाता था, जैसे कि अठारहवीं शताब्दी के विद्वानों; एडम स्मिथ, मैडिसन और अन्य की रचनाओं में देखा जा सकता है। इनमें से अनेक विद्वानों ने इसका प्रयोग "समूह" अथवा वर्ग या एस्टेट के स्थान पर भी किया है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ग एक समूह के रूप में सामाजिक सिद्धांत, विचारधारा, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए एक प्रासंगिक संकल्पना के रूप में अस्तित्व में आया। "वर्ग" की अन्वेषणात्मक संभाव्यता, विशेष रूप से सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में महत्वपूर्ण थी। वास्तव में, वर्ग को समाज में स्तरीकरण के सार्वभौमिक महत्वपूर्ण आधार के रूप में पहचाना गया। अनेक समाजशास्त्रियों ने वर्ग संरचना के सिद्धांतों का सुझाव दिया और वर्ग-स्थितियों के बीच गतिशीलता की परिघटना की व्याख्या की । इस इकाई का आरंभ हम वर्ग के अर्थ और संकल्पना तथा वर्ग-समाज के अध्ययन से शुरू करेंगे और उसके बाद हम वर्ग के संबंध में समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की जानकारी प्राप्त करेंगे और समाजशास्त्रीय रचनाओं में वर्ग और वर्ग समाज को समझने के लिए महत्वपूर्ण सैद्धांतिक उपागमों का अध्ययन करेंगे। हम वर्गों के बीच के संघर्ष और वर्गों के बीच गतिशीलता के मुद्दों पर भी चर्चा करेंगे।

## 26.2 वर्ग की संकल्पना

ओसोस्की (1967) के अनुसार, निम्नलिखित तीन मान्यताएं "वर्ग" समाज की सभी संकल्पनाओं के लिए सामान्य हैं :

1) सामाजिक संरचना में वर्ग सर्वाधिक व्यापक समूह होता है। जहाँ एक ओर समाज में वर्ग भिन्न समूह होते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते। दूसरे वर्ग के विषय में चर्चा किए बिना किसी समूह के बारे में चर्चा करना संभव नहीं होता।

2) लोग विभिन्न वर्गों में विभाजित होते हैं जिससे सामाजिक सरोकार उत्पन्न होता है और यह विशेषाधिकार प्राप्त एवं वंचित वर्गों में विभक्त होता है, जिसका निर्धारण जैविक मानदंड नहीं होते हैं। इसका अर्थ है कि प्रत्येक वर्ग कुछेक विशेषाधिकार एवं भेदभाव से जुड़े होते हैं जिनका इसकी सामाजिक प्रस्थिति पर प्रभाव पड़ता है। अब, इस मामले में सामाजिक प्रस्थिति का लिंग अथवा ऐसे किसी मानदंड से कोई संबंध नहीं होता है जिसकी प्रकृति जैविक होती है। स्पष्टतः कुछ वर्गों को कुछ ज्यादा ही विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। उनकी प्रस्थिति या हैसियत भेदभाव से पीड़ित निम्न प्रस्थिति वाले लोगों की तुलना में उच्च होती है। विभेदन और असमानता सामाजिक स्तरीकरण का आधार बना रहता है और अंतरा-वर्ग संबंधों का निर्धारण करता है।

3) एक सामाजिक वर्ग में व्यक्तियों की सदस्यता अपेक्षाकृत स्थायी होती है। यह किसी भी प्रकार से एक वर्ग से दूसरे वर्ग में गतिशील होने की संभावना से इंकार नहीं करती है। यहां पर इस बात पर बल दिया गया है कि इस प्रकार की गतिशीलता केवल कुछ ही व्यक्तियों द्वारा की जाती है। प्रायः व्यक्ति जीवनभर एक ही वर्ग में बना रहता है।

इस पृष्ठभूमि के विपरीत, यह देखा जा सकता है कि जहाँ एक ओर सामाजिक प्रस्थिति, विशेषाधिकार और भेदभाव के आधार पर कुछ वर्गों को श्रेष्ठ समझा जाता है वहीं दूसरे वर्गों को इन्हीं आधारों पर निकृष्ट माना जाता है। ये सामाजिक रूप से प्रासंगिक विशेषाधिकार और भेदभाव भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। लेकिन विशेष अर्थ में यहाँ पर संपत्ति और शक्ति विचारणीय विषय हैं। यह इस यथार्थ के होते हुए भी कि मार्क्स ने विशेषाधिकार की पहचान दूसरे व्यक्तियों के श्रम का शोषण करने के वर्ग विभेद के मूल-आधार के रूप में की है। पुनः वर्ग क्रम में प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करता है। वर्ग व्यवस्था में अपने वर्ग के स्थान के प्रति जागरूकता को वर्ग-चेतना कहा जाता है। आमतौर पर वर्ग-चेतना, वर्ग के हितों और वर्ग सौहार्दता के साथ गुंथी रहती है। वर्ग समाज की दूसरी विशेषता सामाजिक अलगाव है जिसका अर्थ है, समाज से दूरी और वर्गों के बीच घनिष्ठ सामाजिक संपर्क का अभाव। यह समझने की जरूरत है कि सामाजिक अलगाववाद अथवा वर्गों के बीच पारस्परिक संप्रेषण का अभाव वर्ग चेतना और वर्ग एकात्मकता को प्रोत्साहित करता है जो वर्ग की संरचना में निहित होता है। वास्तव में, मार्क्स का कहना था कि वर्ग के हितों के प्रति जागरूकता अथवा चेतना और वर्ग सौहार्दता की भावना किसी समूह को वर्ग के रूप में पहचानने के आधार होते हैं। किसी विशेष वर्ग से संबंधित व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होता है और वह एक विशेष प्रकार की शब्दावली अथवा उच्चारण या भाषा का प्रयोग करता है। इसका अर्थ है कि दूसरे लोगों में व्यवहार और भाषा एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अलग करती है। इस प्रकार के सामाजिक विभेद के साथ-साथ संपत्ति और सत्ता तक पहुँच और एक वर्ग का दूसरे वर्ग के व्यक्ति से सामाजिक दूरी तथा अलगाव वर्गों के बीच की खाई को और बढ़ा देता है। जैसे-जैसे यह दूरी बढ़ती जाती है, और खाई गहरी होती जाती है, वैसे-वैसे वर्ग के हितों के बीच संघर्ष पैदा होते जाते हैं और वर्गों के बीच संघर्ष सामान्य घटना का रूप धारण कर लेता है।

MADHYAM IAS

ऐसे दो मूल परिप्रेक्ष्य हैं जिनसे वर्ग की संकल्पना को समझा जा सकता है। पहला है, नामवादी परिप्रेक्ष्य जिसे अमेरिकी विचारधारा के साथ पहचाना जाता है, दूसरा है यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य जो यूरोपीय विचारधारा के रूप में जाना जाता है। नामवादी परिप्रेक्ष्य वर्ग को समुच्चय, लोगों के समूह के रूप में मानता है जो समान प्रस्थिति का उपयोग करते हैं। यहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति की उस सामाजिक प्रस्थिति पर जोर दिया जाता है, जो सम्मान के रूप में उसे अन्य व्यक्तियों से प्राप्त होता है। औरोन (1969 : 71) के शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति को महानता एवं प्रतिष्ठा की एक निश्चित स्थिति प्राप्त होती है, जो उन सभी स्थितियों का परिणाम होती है, जिसमें वह रहता है और प्रत्येक स्थिति का तीन दृष्टियों से विश्लेषण किया जा सकता है: संपत्ति, व्यवसाय और शक्ति। निस्संदेह सामाजिक प्रभाव या क्षेत्र (domain) में व्यक्ति का स्थान दूसरे व्यक्ति के निर्णय के अधीन होता है और उनके निर्णय पर निर्भर करता है। लेकिन, इस विचारधारा पर सहमति है कि समाज में विविध व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थितियाँ होती हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि सोपानक्रम में व्यक्ति की स्थिति तीन तत्वों पर निर्भर करती है: संपत्ति, व्यवसाय और शक्ति, जिसके आधार पर वर्ग संरचना में उसकी स्थिति का निर्धारण किया जाता है। इस अवस्था में यह स्पष्ट है कि कोई भी अकेला तत्व यह निर्धारित नहीं कर सकता कि व्यक्ति किस वर्ग से संबंध रखता है। बल्कि सामाजिक मान्यता की समग्रता पर ही अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार समान प्रतिष्ठा और प्रस्थिति से संबधित व्यक्ति एक ही वर्ग से संबंधित होते हैं। दूसरी ओर, यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य सामाजिक वर्ग को एक वास्तविक समुच्चय के रूप में मानता है जिसका निर्धारण भौतिक यथार्थ और लोगों की आम राय से किया जाता है। इस उपागम से दो प्रकार के विचारों का विकास होता है। पहला यह है कि सामूहिक एकता से वर्ग को लक्षित किया जाता है; जो कि वास्तविक है और दूसरा यह है कि एक विशेष वर्ग से संबंधित व्यक्ति की एक जैसी विचारधारा या आम राय होती है।

आइए, अब हम और अधिक स्पष्ट रूप से यथार्थवादी विचारधारा और नामवादी विचारधारा के बीच अंतर करते हैं।

1) नामवादी विचारधारा वैयक्तिक और अवैयक्तिक संबंधों पर जोर देती है जबकि यथार्थवादी विचाराधारा ने वर्ग की व्याख्या करने में सामूहिक यथार्थता पर बल दिया।

2) नामवादी विचारधारा का मत था कि समान प्रस्थिति अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्तियों से वर्ग का गठन होता है। जब सामाजिक प्रस्थिति में बदलाव आता है तो व्यक्ति के वर्ग में भी बदलाव आ जाता है जिसका अर्थ है कि एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाना सरल होता है। वर्गों के बीच में तब कोई संघर्ष नहीं होता है, जब वर्गों की सीमाएं और मर्यादाएं जटिल नहीं होती हैं और ये सुपरिभाषित होती हैं और इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वर्ग शक्ति के जब्ती (seizing) से संबद्ध नहीं होते हैं। सरल शब्दों में, सत्ता पर उच्च वर्ग का अधिकार होता है और वे इसका प्रयोग करते हैं। जबकि कामगार कभी भी इसका प्रयोग नहीं कर पाते। दूसरी ओर यथार्थवादी विचारधारा जोर देती है कि वर्गों के बीच सत्ता-संघर्ष अंतर्निहित होते है। प्रत्येक वर्ग से संबधित लोगों में सामूहिक एकता और सामूहिक चेतना के कारण ऐसा होता है। किसी एक विशेष वर्ग के लोग अपने वर्ग के हितों की रक्षा करते हैं जो प्रायः अन्य वर्गों के साथ संघर्षरत रहते हैं और ऐसा करने में प्रत्येक वर्ग समाज में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने का प्रयास करता है।

3) नामवादी विचारधारा का मानना है कि सामूहिक वास्तविकताएं जिसकी यथार्थवादी कल्पना करते है, वह वास्तव में होती ही नहीं है या मुश्किल से होती है और यदि यह होती भी है तो यह असमान रूप से होती है जबकि यथार्थवादी विचारधारा इस बात पर जोर देती है कि वर्ग की व्याख्या करने में सामूहिक चेतना को नजरअंदाज करने से नामवादियों ने वर्ग की संरचना के मूलतत्व को गंवा दिया है।

वर्ग की अमेरिकी संकल्पना और वर्ग की यूरोपीय संरचना के बीच अंतर को ऐरोन ने प्रतिपादित किया है और यह मोटे तौर पर ओसोस्की द्वारा प्रतिपादित वर्ग के सोपानक्रम और वर्ग के द्विभाजक दृष्टिकोण के समतुल्य है। सोपानक्रम दृष्टिकोण नामवादी स्थिति से संबद्ध है और द्विभाजक दृष्टिकोण यथार्थवादी स्थिति से जुड़ा है।

**बॉक्स 26.1 : "वर्ग" शब्द का अर्थ**

ओसोवस्की (1967 : 90) ने "वर्ग" शब्द के तीन अर्थों की पहचान की है जिनका समाजशास्त्रीय सिद्धांतों और सामाजिक संबंधों की प्रणाली के विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता है।

1) "सामान्य" अर्थ में, प्रत्येक समूह जिसे सामाजिक संरचना के मूल घटकों में से एक माना जाता है, उसे सामाजिक संरचना का एक "वर्ग" कहा जाता है।.... प्रत्येक स्थिति में इस प्रकार की व्यापक संकल्पना में सम्पदा और जाति दोनों शामिल होते हैं और साथ ही यहाँ पर दूसरे और तीसरे अर्थों में वर्ग का अर्थ भी अलग होता है।

2) मैं वर्ग की जिस संकल्पना पर यहाँ पर विचार करना चाहता हूँ उनके दो विशिष्ट रूपों में से पहला रूप हमें समूह के रूप में एक ऐसे सामाजिक वर्ग के बारे में बताता है जो संपत्ति के संदर्भ में भिन्न होता है।..... कुछ जाति और सम्पदा व्यवस्था आर्थिक वर्ग प्रणालियां हो सकती हैं, लेकिन इस प्रकार की संभावना केवल अनुभवजन्य रूप से हो सकती है। ऐसे मामलों में जहाँ पर इस प्रकार की संभावना होती है हम जाति संबंध के "वर्ग" पहलू या वर्ग व्यवस्था के संपदा पहलू के बारे में बात कर सकते हैं।

   थोड़े से अलग अर्थों में संपत्ति प्रणाली अथवा जाति व्यवस्था के "वर्ग" पहलू के बारे में कहना भी संभव है, यहाँ तक कि जब संयोग नहीं भी होता है। यदि हम मानें कि संपदा व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था के बीच कुछ जटिल आकस्मिक निर्भरता होती है जो कभी अधिक और कभी कम हो सकती है।

3) दूसरे रूप में वर्ग की संरचना को स्पष्ट किया गया है। सामाजिक संरचना में वर्ग व्यवस्था, समूह व्यवस्था से भिन्न होती है, जिसमें किसी एक व्यक्ति की समूह की सदस्यता का संस्थागत निर्धारण होता है और जिसमें किसी एक समूह के प्रति व्यक्ति की सोच के कारण प्राथमिकता और भेदभाव का जन्म होता है। जाति अथवा एस्टेट रूप के इस प्रकार के समूहों के विपरीत, इस रूप में वर्ग एक समूह होता है जिसकी सदस्यता जन्म प्रमाण पत्र या सरकारी दस्तावेजों द्वारा प्रदान नहीं की जाती है। जैसे — आदर्शता की उपाधि अथवा दास्यमुक्ति का कार्य। लेकिन यह किसी अन्य प्रकार से प्राप्त सामाजिक प्रस्थिति का परिणाम होता है।

   विशेषाधिकार प्राप्त और पक्षपात, जिसे इस मामले में किसी भी स्रोत से किसी प्रकार की स्वीकृति की जरूरत नहीं होती है, ये पूँजीवादी अथवा सर्वहारा वर्ग में व्यक्ति के स्थापन का कार्य एवं परिणाम नहीं होता। किसी व्यक्ति को इसलिए पूँजीवादी माना जाता है क्योंकि उसके पास पूँजी होती है और दूसरे को सर्वहारा इसलिए माना जाता है क्योंकि उसके पास अपने श्रम के अलावा आय का कोई अन्य स्रोत नहीं होता है।

## 26.3 वर्ग संरचना के सिद्धांत

### क) क्लासिकी दृष्टिकोणः अरस्तू

अरस्तू (1943) का मानना था कि लोग तीन "मूल तत्वों" में विभाजित हैं — एक वर्ग बहुत धनी है, दूसरा वर्ग बहुत गरीब है। तीसरा वर्ग इन दोनो के बीच की स्थिति में होता

है, जो न तो बहुत अधिक धनी होता है और न ही बहुत अधिक गरीब। जो बहुत गरीब होते हैं वे अपने को बहुत अधिक पददलित महसूस करते हैं और वे तार्किक सिद्धांतों का अनुपालन करने में कठिनाई महसूस करते हैं इसलिए एक संभावना होती है कि वे पददलितों और जानवरों के समान विकास करते हैं। जो बहुत धनी होते हैं, वे अपनी सत्ता का त्याग नहीं करना चाहते। वे तार्किक सिद्धांतों को मानने में भी कठिनाई महसूस करते हैं और कुख्यात अपराधी के रूप में बड़े होते हैं, जो हिंसा फैलाते हैं और अपराध करते हैं। गरीब व्यक्ति नियंत्रण करने में समर्थ नहीं होते, इसलिए दूसरे लोग उन पर शासन करते हैं। धनी लोग इनको तुच्छ मानते हैं। वे अन्य लोगों से अच्छी सेवा की उम्मीद करते हैं और उनके मालिक बने रहते हैं। मध्यम वर्ग के लोग तार्किक सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं और नियमों का पालन करते हैं। वे दूसरों की संपत्ति की ओर लालसा से नहीं देखते हैं, दूसरे लोग भी उनकी संपत्ति की ओर नहीं देखते हैं और वे दूसरों के खिलाफ योजनाएं नहीं बनाते हैं तथा दूसरे लोग भी उनके खिलाफ योजनाएं नहीं बनाते। वे गुटबाजी एवं विवादों से मुक्त होते हैं। बड़ी संख्या में मध्यम वर्ग की उपस्थिति से राज्य सुव्यवस्थित होता है और लोकतंत्र सुरक्षित रहता है। कुलीनतंत्र की तुलना में लोकतंत्र सुरक्षित और अधिक स्थायी होता है क्योंकि इसमें मध्यम वर्ग अधिक संख्या में होता है जिसकी सरकार में पर्याप्त भागीदारी होती है।

मध्यम वर्ग के न होने पर गरीब और धनी लोग आपस में झगड़ते हैं और इस विवाद में जीतने वाला वर्ग राजनीतिक रूप से सर्वोच्च बन जाता है। इसका यह परिणाम होता है कि इससे या तो लोकतंत्र या फिर कुलीन तंत्र स्थापित होता है जो धनी वर्ग के अपने हित में एवं लाभ में होता है, आम जनता को इससे कोई लाभ नहीं होता। ऐसी स्थिति में न्यायप्रिय एवं लोकप्रिय सरकार की स्थापना नहीं हो पाती।

### ख) पूँजीवाद एवं सामाजिक वर्गः कार्ल मार्क्स

यहाँ पर हम सामाजिक वर्गों के संदर्भ में मार्क्स के विचारों की समीक्षा करेंगे। हम विस्तार से उसकी सामाजिक वर्ग के परिप्रेक्ष्य से अपना अध्ययन शुरू करेंगे और तत्पश्चात इसका समालोचनात्मक मूल्यांकन करेंगे।

MADHYAM IAS

#### i) सामाजिक वर्गों के संदर्भ में मार्क्स का परिप्रेक्ष्य

इतिहास में तीन कालों की पहचान की गई है। ये हैं — प्राचीन सभ्यता, सामंतवाद और पूँजीवाद। प्रत्येक काल में किसी न किसी प्रकार का पूर्व वर्चस्व रहा है। मार्क्स द्वारा पहचाने गए उत्पादन के कुछ प्रबल साधन हैं; आदिम साम्यवाद, प्राचीन सम्राट, सामंतवाद, पूँजीवाद और उच्च साम्यवाद। उसने स्पष्ट किया कि वर्ग संबंध उन उत्पादन के साधनों से पहचाने जाते हैं, जिनमें आबादी का एक वर्ग उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है जबकि दूसरों को इससे बाहर रखा जाता है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण करने वाले उन लोगों का शोषण करते हैं जो उत्पादन के साधनों को अंतिम वस्तु के रूप में तैयार करते हैं। उत्पादन के साधनों में वर्ग संरचना के आधार पर नियंत्रण करते हैं। पूँजीपति अथवा शासक वर्ग और वेतनभोगी मजदूर अथवा शोषित वर्ग मिलकर वर्ग संरचना का निर्माण करते हैं। मार्क्सवादी अर्थ में एक सामाजिक वर्ग ऐसे लोगों का समुच्चय होता है जो उत्पादन प्रक्रिया में समान रूप से काम करते हैं। अर्थव्यवस्था में इन वर्गों की स्थिति भिन्न होती है। उत्पादन के सामाजिक संगठन में व्यक्ति द्वारा धारित स्थिति उस सामाजिक वर्ग का निर्धारण करती है जिससे वह संबंधित होता है। व्यक्ति भोजन, वस्त्र और आवास जैसी बुनियादी आवश्यकताओं की संतुष्टि में जिस प्रकार सहयोग करता है इससे उसके वर्ग का निर्धारण होता है। सहयोग में श्रम विभाजन, और उत्पादन का संगठन शामिल है। मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य का पहला सरोकार बुनियादी आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है जो भौतिक जीवन की उत्पत्ति के आधार का निर्माण

करते हैं। आवश्यकता की संतुष्टि होने पर दूसरी नई आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। बढ़ती आवश्यकताओं से नए सामाजिक संबंध का जन्म होता है। सामाजिक संबंधों में अनेक व्यक्तियों का सहयोग शामिल होता है। इनके बीच का संबंध संघर्ष से शासित होता है क्योंकि उत्पादन के साधनों पर शासक वर्ग का नियंत्रण होता है। यह लोगों की नैतिकता और बौद्धिक जीवन पर भी नियंत्रण बनाए रखता है। संपूर्ण कानून और शासकीय प्रणाली, कला, साहित्य, विज्ञान, दार्शनिकता पूंजीवादी वर्ग (अथवा बुर्जुआ वर्ग) के हित में काम करती है। यह उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था में विशेष रूप से निहित है। मार्क्स की अधिकतर रचनाएं पूंजीवाद में वर्ग संबंधों से संबंधित हैं। उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल, औजार, भूमि, पूँजीपति की निजी संपत्ति होती है। उत्पादन प्रक्रिया में वास्तव में शामिल लोगों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व नहीं होता। वे अपना श्रम, अपनी काम करने की योग्यता और वेतन के लिए अपनी विशेषज्ञता बेचकर बुर्जुआ वर्ग के लिए काम करते हैं। जिससे वे जीवित रह पाते हैं। इनमें, गैर-स्वामित्व वर्ग, देहाड़ी मजदूर, अथवा सर्वहारा वर्ग शामिल होता है। बाजार में निर्मित वस्तुओं को बेचने से धनराशि प्राप्त होती है जो उत्पादन की लागत से अधिक होती है। यह पूँजीपतियों का निवल लाभ होता है। आमतौर पर इसका पुनः निवेश किया जाता है और इस प्रकार पूँजीपति वर्ग को अधिकाधिक लाभ प्राप्त होता रहता है। अब, जबकि श्रम प्रक्रिया और उत्पादन के साधन (जिसे मार्क्स ने "स्थिर पूँजी" कहा है) में तेजी से परिवर्तन नहीं होता, श्रम शक्ति (जिसे मार्क्स ने "अस्थिर पूँजी" कहा है), पर उत्पादन का अधिकतम दबाव होता है, जिससे निर्मित वस्तुओं को बेचकर अधिकाधिक लाभ अर्जित किया जा सके। "अधिशेष मूल्य" श्रम प्रक्रिया में निवेश और इससे प्राप्त आय के बीच का संतुलन है। (जिसे पूंजीवादी वर्ग द्वारा काम पर लगाया जाता है)। इसमें कोई अस्वीकृति नहीं है कि बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच के संबंध परस्पर विरोधी, उग्र एवं कलह से भरे होते हैं क्योंकि पूँजीवादी वर्ग देहाड़ी मजदूरों का शोषण करने का प्रयास करता है जबकि देहाड़ी मजदूरी शोषण की समाप्ति के लिए प्रयासरत रहता है। मार्क्स का विश्वास था कि वर्ग संघर्ष ऐसा महत्वपूर्ण साधन था जिसके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता था।

MAADHYAM IAS

आमदनी, उपभोग-तरीके, शैक्षिक उपलब्धियाँ अथवा व्यवसाय, भौतिक वस्तुओं तथा प्रतिष्ठा-प्रतीकों के वितरण के संकेत हैं। आमदनी अथवा व्यवसाय वर्ग स्थिति का निर्धारक नहीं हो सकता, क्योंकि कोई व्यक्ति किस वर्ग का है, यह उत्पादन के सामाजिक संगठन में उस व्यक्ति की स्थिति द्वारा निर्धारित होता है। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए दो लुहारों का मामला लें — जिनमें से एक अपनी निजी दुकान चला रहा है और दूसरा लुहार एक कारखाने में कार्यरत है। बेशक दोनों एक ही व्यवसाय से संबंधित हैं, परंतु उनका सामाजिक वर्ग भिन्न है। मार्क्स ने ऐसी कई सामाजिक परिस्थितियों का जिक्र किया है जो सामाजिक वर्ग के विकास के लिए निर्णायक थीं जैसे — आर्थिक पुरस्कारों को लेकर विरोध, जन साधारण का एक ही स्थान पर इकट्ठा होना और फिर उनमें सुगमता से संपर्क हो जाना, व्यक्तियों तथा संगठनों में विशुद्ध रूप से आर्थिक जरूरतों के लिए प्रतिस्पर्धा के स्थान पर एकजुटता तथा राजनैतिक संगठन का विकास होना (बैनडिक्स एवं लिपसेट, 1967)। यहाँ इसी अवस्था में ही समझा जा सकता है कि बड़े उद्योग के स्थापित होने से, ज्यादातर लोगों के एक स्थान पर एकत्रित होने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि इससे उनमें प्रतिस्पर्धा बढ़े। परंतु उनके उच्च अधिकारियों द्वारा शोषित किए जाने के विरोध में वे एकजुट बने रहते हैं। इस प्रकार वे परस्पर भिड़ने की बजाय पूंजीपति के विरुद्ध संघर्ष में कूद पड़ते हैं।

श्रमिक लोग अपनी मजदूरी का एक हिस्सा ऐसे संगठनों की भेंट चढ़ा देते हैं, जो जुझारु लोगों द्वारा गठित होता है। ये संगठन पूंजीपतियों द्वारा किए गए शोषण का डटकर मुकाबला करते हैं और श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रायः ऐसी संभावना बनी रहती

है कि ये संगठन राजनीतिक रूप धारण कर लेते हैं। मार्क्स का ऐसा मानना था कि श्रमिकों और पूंजीपति के बीच संघर्ष केवल आर्थिक लाभ को लेकर ही नहीं था। उसने पूँजीवाद के अंतर्गत मशीनी उत्पादन की भूमिका पर भी पूरा जोर दिया। ज्यों-ज्यों मशीनों ने उत्पादन प्रक्रिया में पाँव जमाना शुरू किया, तो श्रमिकों के सामाजिक संबंधों में भी बड़ा बदलाव आने लगा और मानव अब मशीनों का एक पुर्जा मात्र बनकर रह गया था। मशीनें ही अब अधिकांश काम करती थीं, मनुष्य तो मात्र उनका परिचालक ही था। इसके कारण श्रमिकों को अपने कार्य से मनोवैज्ञानिक संतुष्टि के अवसरों से वंचित होना पड़ा। इस संतुष्टि के अभाव को मार्क्स ने "मानव का श्रम से अलगाव" की संज्ञा दी।

बैनडिक्स तथा लिपसेट (1967 : 10) के शब्दों में, "मार्क्स का विश्वास था कि श्रम से अलगाव पूँजीवाद में अंतर्निहित था, और मनोवैज्ञानिक संतोष से वंचित होने की अधिकता ही कालांतर में श्रमिक क्रांति का रूप धारण कर लेगी ... मार्क्स ने आधुनिक औद्योगिक मजदूर की तुलना मध्यकालीन दस्तकार से की और — तत्कालीन अधिकांश लेखकों की तरह पाया कि उत्पादन की आधुनिक परिस्थितियों के अंतर्गत, श्रमिकों द्वारा उत्पाद बनाने की प्रक्रिया में, उनके पास उनके ज्ञान, निर्णय तथा उनकी इच्छा के समूचे अवसर समाप्त हो गए हैं।" मार्क्स की दृष्टि में श्रमिकों को इस प्रकार वंचित किया जाना, पूंजीवाद द्वारा श्रमिकों को आर्थिक कंगाली में धकेले जाने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था।

### ii) मार्क्स के वर्ग-संबंधी दृष्टिकोण का मूल्यांकन

मार्क्स के वर्ग संबंधी विचारों का उसके परवर्त्ती रचनाकारों द्वारा पुनरावलोकन किया गया, जिनमें से बहुत से इस बात से सहमत थे कि शोषण तंत्र की वास्तविकता काफी हद तक रोजमर्रा की जिंदगी में अदृश्य हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है, चूँकि रोजमर्रा की जिंदगी में शोषण की प्रक्रिया सदैव उतनी स्पष्ट और पहचान में आने योग्य नहीं होती, जितनी कि दास प्रथा और सामन्तवाद में होती थी जहाँ कि दास जो दिन भर दो टूक रोटी की खातिर मात्र अपने पेट की आग बुझाने के लिए काम करता था, अथवा कृषक गुलाम अपने स्वामी की जमीन दिन भर जोतता था ताकि उसके स्वामी से उसे जमीन का एक नगण्य टुकड़ा मिल सके। दास हो अथवा खेतिहर गुलाम दोनों को स्पष्ट दिखाई देता था कि उन्हें उसके श्रम के फल से वंचित रखा जा रहा था। जबकि पूंजीवादी समाज के द्वारा श्रमिक को उसके श्रम के बदले मजदूरी दी जाती थी (चाहे वह उसके श्रम के उत्पाद के मुकाबले बहुत ही कम क्यों न हो) और ऐसी अवस्था में शोषण की प्रक्रिया सुगमता से नहीं दिखाई पड़ती थी। रोजमर्रा की जिंदगी में शोषण की सच्चाई छिपकर रह जाने का एक और कारण था कि शासक वर्ग की नीतियाँ और विचारों को बारंबार समाचार पत्र, दूरदर्शन अथवा रेडियो, स्कूलों तथा अन्य माध्यमों से अपने ढंग से पेश और लागू किया जाता था। कामगार वर्ग उसे सहज भाव से स्वीकार कर लेता है, बिना कुछ कहे कि यह स्वाभाविक ही है। प्रायः श्रमिक वर्ग स्थिति को उस ढंग से नहीं लेते जिस भावना से मार्क्स उन्हें प्रदर्शित करना चाहता है। श्रमिक क्रांति में उत्साह न होने का एक बहुत बड़ा कारण यही रहा है।

ल्यूकस ने यह दर्शाने का भरसक प्रयत्न किया कि नियति के भरोसे सब कुछ छोड़ देने वाला श्रमिक वर्ग, समाजवादी क्रांति के द्वारा अपने आपको मुक्त करा सकने की बात कभी नहीं समझ पाएगा। इस तरह की समाजवादी क्रांति का नेतृत्व समाजवादी विचारकों के हाथ में होना चाहिए। लूईस अल्थूसर ने राज्य द्वारा प्रायोजित, विचारधारा प्रचारक उपकरण जैसे स्कूल अथवा जन संपर्क माध्यमों को दोषी ठहराया कि ये श्रमिक वर्ग लोगों में ऐसे विचार क्यों प्रसारित कर रहे हैं कि वे नियति के हाथों में एक कठपुतली मात्र हैं। इससे शोषण के तंत्र को संरक्षण मिलता है और शोषण के शिकार श्रमिक वर्गों की स्थिति यथावत बनी रहती है (सान्डर्स, 1990)। ए. ग्रामसी ने "वर्ग वर्चस्व" को "प्रभुत्व" की संज्ञा दी है, जिसे मार्क्सी सिद्धांत के अनुसार "वर्चस्व विचारधारा अवधारणा" के रूप में लिया

जाता है जिसका तात्पर्य है कि एक शक्तिशाली वर्चस्व वर्ग की विचारधारा अस्तित्व में है, जो निजी संपत्ति की प्रकृति पर जोर देता है, तथा सभी वर्गों के मध्य समूची पूंजीवादी समाज व्यवस्था के प्रति स्वीकृति का माहौल बना लेता है। गिड्डन के अनुसार, वर्ग शक्ति के तीन मुख्य स्रोत हैं — इन से तीन वर्ग संरचनाएं उत्पन्न होती हैं — एक वर्चस्वशाली/उच्च वर्ग जो संपत्ति पर आधारित है, विश्वसनीयता पर आधारित एक मध्यस्थ/मध्यम वर्ग और श्रम शक्ति पर आधारित एक कामकाजी/निम्न वर्ग। गिड्डन ने जो प्रतिपादित किया, उसका संबंध एरिक, राइट तथा फ्रैंक पार्थिन के दावों से भी है, जिनका मानना है कि वर्ग संबंधों का निर्धारण "संसाधनों तक पहुंच" के आधार पर होता है। फ्रैंक पार्किन का मुख्य सरोकार नस्ल, सम्प्रदाय, भाषा तथा अन्य ऐसे विशेषणों से था जो सामाजिक समूहों के लिए आधार के रूप में थे और जिनके द्वारा ये संसाधनों तथा अवसरों तक पहुंच, अति सीमित वर्ग के लिए ही कर देते हैं, जिन्हें ये उसके योग्य समझते हैं और इस प्रकार अधिकतम लाभ के अधिकारी हो जाते हैं। इस प्रकार जो "सांस्कृतिक पूंजी" पर नियंत्रण रखते हैं, एक "अभिन्न वर्ग" स्थापित कर लेते हैं जिसे एल्विन गोल्डनर ने "सांस्कृतिक बुर्जुआ" का नाम दिया है। "सांस्कृतिक बुर्जुआ" के नियंत्रण में सांस्कृतिक पूंजी होती है, जबकि गोल्डनर ने "पूँजी" का इस रूप में वर्णन किया है कि ऐसी कोई भी उत्पादित वस्तु, जिसकी विक्रयशील उपयोगिता हो। ऐसे में प्रक्रियाकारक को स्वतः अथवा आर्थिक उत्पादकता में आकलित योगदान के नाते आय प्राप्त होती है अथवा वह उसका अधिकारी माना जाता है। गोल्डनर का विवाद है कि आय के प्रति ये दावे, औरों की भी पूंजी वस्तु तक पहुंच में सुधार के रूप मे घनीभूत होते जाते हैं (राइट, 1985)। अब तक यह स्पष्ट हो गया है कि पूंजीवादी समाज के दौरान वर्ग संबंधों में शोषण का स्थान, परवर्त्ती पूंजीवादी समाज में वर्ग संबंधों में वर्चस्व ने ले लिया है।

### ग) औद्योगिक समाज में वर्ग एवं वर्ग संघर्षः आर.डारेनडॉर्फ

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारंभ में, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में संयुक्त स्टॉक कंपनियों को कानूनी मान्यता के रूप में देखा गया है। वर्तमान समय में संयुक्त स्टॉक कम्पनियों ने ज्यादातर उन आर्थिक उद्यमों का स्थान ले लिया है जिनका स्वामित्व तथा प्रबंधन पहले पूंजीपति अथवा उसके परिवार के पास था। अब किसी कंपनी के स्टॉक अथवा शेयर अधिक विस्तृत ढंग से विसर्जित किए जाते हैं, जबकि पूँजीवादी व्यवस्था में स्वामित्व मात्र एक व्यक्ति के हाथों में केंद्रित रहता था। पूंजीवादी परवर्त्ती युग में संयुक्त स्टॉक कंपनियों के औद्योगिक उद्यमों की संरचना तथा अधिक विस्तृत सामाजिक वर्ग के हितों के लिए जिनसे सामाजिक वर्ग एक महत्वपूर्ण घटक बनाते हैं, व्यापक प्रभावों को झेलते हैं।

संयुक्त अंश (स्टॉक) कंपनियों में स्वामित्व तो अंश (स्टॉक) धारकों के हाथ में होता है, जो पूंजीवादियों जैसे नहीं होते। इस व्यवस्था से, स्वामियों को उत्पादन के वास्तविक क्षेत्र से अलग रखा जाता है और इस प्रकार प्रबंधकों तथा कर्मचारियों में दूरी कम हो जाती है। स्वयं मार्क्स ने भी इस क्रांतिकारी दृष्टिकोण को मान्यता दी है। दूसरा दृष्टिकोण परम्परावादी है जिसका मानना है कि स्वामी (स्टॉक धारक) तथा नियंत्रक (प्रबंधक) मुख्यतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं। दोनों लगभग एक ही सजातीय समूह के अवयव हैं। स्टॉकधारक तथा प्रबंधक दोनों का ही दृष्टिकोण समान होता है और दोनों को ही पूंजीपतियों के वर्ग के रूप में देखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण जो सी राईट मिल्स (1954) के लेखों में उजागर होकर आता है, मार्क्स के निजी विश्लेषणों से मूलतः भिन्नता लिए हुए है।

आर. डारेनडॉफ (1959 - 95) ने वर्णन किया कि "संयुक्त स्टॉक कंपनियों तथा सहकारी एवं राज्य स्वामित्व उद्यमों की सामाजिक संरचना, संस्थापित पूंजीवादी उद्यमों की संरचना से भिन्न है, तथा दूसरे से पहले की ओर संक्रमण, सामाजिक परिवर्तन की एक

प्रक्रिया है।" उसने राय दी कि स्वामित्व तथा नियंत्रण में पृथकता से सामाजिक स्थिति की संरचना में बदलाव आया है और इसके साथ ही कार्मिकों के इन स्थितियों में भर्ती में भी बदलाव आया है। इसका अभिप्राय है कि पूंजीपतियों की भूमिकाओं का दो स्थानों पर वितरण — एक स्वामी तथा दूसरा प्रबंधक।

स्वामियों को इस रूप में उत्पादन प्रक्रिया से पृथक कर दिया जाता है कि वे उत्पादन के रोजमर्रा के क्रियाकलापों में भागीदारी नहीं करते और उद्यम के औपचारिक अधिकार संपन्न पद-सोपान में उनके लिए निश्चित स्थान नहीं होता। ऐसा इसलिए, क्योंकि कर्मचारियों का संबंध प्रबंधकों से होता है और वे उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। हमें ध्यान आ सकता है कि पूंजीपति अधिकार का उपयोग करता था, वजह यही थी कि उत्पादन के साधन का स्वामित्व उसके पास था और परिणामतः इसी पर कर्मचारी का निर्वाह निर्भर करता था। जबकि दूसरी ओर प्रबंधकों के पास संपत्ति अधिकार उन्हें स्टॉक धारकों के द्वारा सौंपे जाते थे। वे अपनी सत्ता का उपयोग उनकी सहमति के द्वारा करते थे, अन्यथा शारीरिक श्रमिक तथा बाबू लोग अपने हितों को कई अनियंत्रित तथा जटिल तरीकों से याद दिला सकते थे, जिससे उत्पादन प्रक्रिया गम्भीर रूप से बाधित हो सकती थी। इस स्थिति को प्रबंधक नहीं आने देंगे, अन्यथा स्टॉकधारक उन्हें दंडित करेंगे। बेंडिक्स (1956) ने वर्णन किया है कि पूंजीवादी परवर्त्ती युग में तीन प्रकार के उद्यमी हैं — पूंजीपति, उत्तराधिकारी तथा नौकरशाह। अतः उद्यमी वर्ग के गठन में एक निश्चित परिवर्तन आया है।

डॉरेनडॉर्फ ने इस बात पर जोर दिया है कि पूंजीवाद का क्षय हो चुका है और इसका स्थान ऐसे पारस्परिक संबंधों वाले विभिन्न समूहों ने ले लिया है परंतु यह संबंध मार्क्स द्वारा प्रतिपादित बुर्जुआ और सर्वहारा के बीच संबंधों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। इस विकास क्रम का वर्ग संघर्ष पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ा है: (i) जब प्रबंधक पूंजीपति का स्थान ले लेते हैं, तो संघर्ष में प्रतिभागी सभी समूहों के गठन में पूर्ण परिवर्तन देखा जाता है (ii) संघर्ष में भागीदार समूहों की भर्ती तथा गठन में परिवर्तन से उन मुद्दों की प्रकृति में बदलाव आता है, जिन मुद्दों की वजह से संघर्ष हो रहा है, प्रबंधक जो सक्रिय रूप से क्रियाशील है, बिना पूंजी के सक्रिय नहीं होते, उनका व्यवहार और धारणाएं सत्तासम्पन्न पूंजीपतियों के समान हो जाती है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के हित, नए विरोधी के प्रति भिन्न हो जाते हैं, तथा (iii) पूँजी (ऐसी जिसकी वजह से स्वामित्व और उत्पादन के साधनों के नियंत्रण में विभिन्नता आ जाती है) के विघटन से संघर्ष की पद्धति में भी अंतर आ जाता है।

ऐसे घटनाक्रमों के दौरान पूंजीपति और वर्ग श्रमिक वर्ग एक सजातीय वर्ग नहीं रह जाते हैं। यहाँ तक कि सभी श्रमिक भी एक सजातीय वर्ग के रूप में नहीं रह जाते हैं (उनमें भी अकुशल श्रमिक, अर्ध कुशल श्रमिक, कुशल श्रमिक तथा विभिन्न कौशल संपन्न श्रमिकों के विविध वर्ग बन जाते है)। श्रमिक बंधु जो अभी तक अपने आप को समान हित तथा स्पष्ट वर्ग चेतना सम्पन्न एक ही वर्ग का समझते थे, अब परस्पर भिन्नताओं के प्रति सजग हैं। इसे श्रमिकों का विघटन कहा जाता है। पूँजी का विघटन तथा श्रमिकों का विघटन जुड़वाँ घटनाक्रमों के साथ-साथ ही प्रायः अपरिहार्य अभिनव मध्यम वर्ग का उदय, आधुनिक समाज के उद्योगों के भीतर से तथा बाहर से होता है।

लेडरेर एवं मारशैक ने इसे एक "अभिनव मध्यम वर्ग" का नाम दिया है। पूंजीवाद-परवर्त्ती समाजों में, इस अभिनव मध्यम वर्ग में होते हैं; तृतीयक उद्योगों, वाणिज्य फर्म, दुकान तथा रेस्तराँ, तथा सिनेमाघरों के वेतनभोगी कर्मचारी और इनके साथ-साथ होते हैं कारखाने के कौशल संपन्न कारीगर तथा फोरमैन जो वेतनभोगी होते हैं और जो हैसियत की दृष्टि से शासक वर्ग के साथ ही खड़े दिखाई देते पड़ते हैं। यह जबकि सत्य है कि नौकरशाही शासक वर्ग का हिस्सा नहीं होते, परंतु यह अधिकांशतः माना जाता है कि ये उससे अलग

भी नहीं और औद्योगिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संघर्ष में वे शासक वर्ग के पक्ष में ही रहते हैं। एक और रोचक तथ्य यह है कि वेतनभोगी कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या स्वयं को हितों, विचारधाराओं तथा जीवन-पद्धति की दृष्टि से उच्च वर्ग से अभिन्न समझती है।

अभिनव मध्यम वर्ग के उदय का मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संरचना, पर गहन प्रभाव पड़ा है। डारेनडॉर्फ ने सुझाया कि नौकरशाह की संख्या तो बुर्जुआ वर्ग में की जाती है जबकि सफेदपोश कामगारों की गिनती मजदूर वर्ग में की जाती है। इस प्रकार दोनों वर्ग अपने गठन की दृष्टि से विषमजातीय हो जाते हैं और फलस्वरूप कम एकजुट भी। औद्योगिक कर्मचारी की तरह, बाबू लोगों के पास भी न तो कोई संपत्ति होती है और न सत्ता ही, परंतु उनमें बहुत से ऐसे सामाजिक लक्षण होते हैं जो उन्हें पूर्णतः श्रमिक वर्ग से अलग करते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार, यद्यपि नौकरशाह सत्ता का उपयोग प्राचीन शासक वर्ग की भाँति करते हैं, फिर भी वे शासक वर्ग से कई बातों में भिन्न हैं। डॉरेनडॉफ ने समझाया कि पूंजी विघटन तथा श्रमिक विघटन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वर्ग अवधारणा, पूंजीवाद परवर्त्ती समाज के परस्पर विरोधी समूहों में अब भी प्रासंगिक है। इतना ही नहीं, मार्क्सी ढाँचे में वर्णित वर्ग-संरचना की सरलीकृत द्विधा/विविधता अब पूंजीवादी-परवर्ती तथा विकसित औद्योगिक समाज की संरचना तथा संघर्ष को समझाने के लिए सक्षम प्रतीत नहीं होती।

### घ) वर्ग तथा हैसियतः मैक्स वेबर

कार्ल मार्क्स के वर्ग-सिद्धांत के प्रति मैक्स वेबर की बड़ी आपत्ति इस बात पर थी कि इसमें आर्थिक पहलू को अनावश्यक रूप से अधिक महत्व दिया गया था। वेबर निश्चित रूप से आर्थिक पहलू के महत्व को पहचानते थे, परंतु उन्होंने इसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में नहीं आंका। उनका कहना था कि भौतिक संपत्ति के वितरण का निबटारा कुछ लोगों को जीवन में मौका दिया जाने के रूप में, विनिमय के उद्देश्य से किया जाता है और यह उनके पक्ष में होता है जो प्रतिस्पर्धा में टिकते हैं। जब हम भौतिक संपत्ति के निबटारे की बात करते हैं, तो हमारा ध्यान उन स्वामित्व संपन्न लोगों की ओर होता है, जिनके पास मूल्यपरक वस्तुओं को प्राप्त करने का एकाधिकार होता है, जबकि गैर-स्वामित्व लोगों को ऐसी उच्च मूल्यपरक वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा से दूर रखा जाता है। पूँजी सामग्री प्राप्त करने में तथा उस पर एकाधिकार स्थापित करने में सम्पत्तिधारी लोगों को उद्यम संबंधी भूमिका हासिल हो जाती है तथा साथ ही पूँजी के प्रतिलाभ में हिस्सेदारी का अवसर भी मिलता है। जो संपत्ति से वंचित हैं, वे अपनी सेवाएं ही सौंप सकते हैं और वह भी अधिक से अधिक अपने श्रम के रूप में, जबकि जो संपत्तिधारी हैं वे उनके समक्ष कीमतों की चुनौती रखते हैं। इस प्रकार जो संपत्ति से वंचित हैं, उन्हें निर्वाह हेतु अपने उत्पाद की बलि चढ़ानी पड़ती है। वेबर ने वर्णन किया कि "संपत्ति" तथा "संपत्ति का अभाव", वर्ग स्थिति की आधारभूत श्रेणियाँ हैं। जो सम्पत्तिधारी हैं, उदाहरणार्थ, उन्हें किराएधारक अथवा उद्यमी के वर्ग में रखते हैं। जो संपत्ति विहीन हैं उन्हें उनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। इस प्रकार न तो संपत्तिधारी और न ही संपत्तिविहीन एक सजातीय श्रेणी नहीं बना सकते। पूर्वोक्त को तो बदले में उपयोग की दृष्टि से संपत्ति के प्रकार के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है, जबकि बाद वाले को उसके द्वारा बाजार में प्रदत्त सेवाओं के आधार पर अलग किया जाता है।

सरल शब्दों में, वेबर की वर्ग संकल्पना का संबंध, मनुष्य की नियति का नियामक वह अवसर है जो उसे बाजार परिस्थितियों द्वारा मिलता है। अतः वर्ग स्थिति, बाजार स्थिति का पर्याय है। इस बात पर भी गौर किया जाए कि जिनकी नियति में वस्तु अथवा सेवाओं का बाजार में उपभोग लिखा ही नहीं, जैसे दास किसी भी वर्ग में नहीं आते, यदि गहराई से परिभाषित किया जाए तो वे एक हैसियत समूह का हिस्सा हो सकते हैं। वेबर ने इस

बात पर जोर दिया कि वर्ग समुदाय नहीं कहे जा सकते । वे सामुदायिक क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं (यहाँ सामुदायिक क्रिया से तात्पर्य उस भावनात्मक एकता से है, जो उन व्यक्तियों के बीच है)। वेबर के ही शब्दों में (1946 : 251), "हमें उसे ही "वर्ग" के रूप में कहेंगे, जब (1) लोगों की एक निश्चित संख्या अपने जीवन अवसरों के प्रति एक समान कारणात्मक अवयव रखती हो, और (2) यह अवयव विशुद्ध रूप से वस्तुएँ पाने तथा आमदनी के अवसरों के रूप में आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करता हो, और (3) इसका प्रतिनिधित्व पर्याय अथवा श्रम बाजार की शर्तों के अंतर्गत किया जाता हो।" ये तीन तत्व मिलकर वर्गस्थिति का निर्माण करते हैं, जिसे व्यापक अर्थों में बाजार स्थिति कहा जाता है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग को एक व्यक्ति की, उत्पादन संरचना में स्थिति के ढाँचे के रूप में समझा जाना चाहिए; जबकि वेबर की दृष्टि में वर्ग को व्यक्ति विशेष की विनिमय के बाजार में उसकी स्थिति के ढाँचे में समझे जाने की जरूरत है।

"वर्ग" के अतिरिक्त वेबर ने स्तर (हैसियत) समूह का प्रस्ताव रखा। हैसियत समूह, समुदायपरक होने के कारण वर्ग से भिन्न हैं। विशुद्ध रूप से आर्थिक निर्धारित वर्ग स्थिति के स्थान पर, हैसियत स्थिति का महत्व बढ़ जाता है। वेबर का कहना था कि हैसियत-स्थिति, सम्मान के सामाजिक मूल्यांकन द्वारा निर्धारित की जाती है। यह सम्मान किसी ऐसी योग्यता के रूप में भी हो सकता है, जिसमें लोगों की भी भागीदारी हो और जिसे आदर की दृष्टि से देखा जाता हो। सम्पत्ति के स्वामित्व का संबंध सदैव सामाजिक सम्मान से नहीं होता और इसलिए हैसियत का दर्जा प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक योग्यता भी नहीं हो सकती। आमदनी, पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा तथा ऐसे अन्य मापदंड जो मूल्यपरक हैं, हैसियत के प्रतीक के रूप में जाने जा सकते हैं। एक ही हैसियत समूह से संबंधित लोग, बहुत से अवसरों पर परस्पर अंतःक्रिया कर सकते हैं। हैसियत श्रेणी से तात्पर्य हैसियत समूहों का जीवन शैली तथा सम्मान के आधार पर स्तरीकरण है। यह तथ्य और भी रोचक है कि हैसियत सम्मान के साथ विशेष पहनावा पहने जैसी विशेषाधिकारपूर्ण सम्मानजनक प्राथमिकताएं भी जुड़ी हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसी कलात्मक तथा साहित्यिक गतिविधि जो शारीरिक श्रम अथवा आय वृद्धि से जुड़ी हो, को निम्न कार्य के रूप में देखा जाता है और, इसे आदर की दृष्टि से नहीं लिया जाता। ऐसी गतिविधियों से जुड़ी सामाजिक-प्रतिष्ठा का भी घोर पतन हो जाता है। वेबर का मानना था कि प्रायः शारीरिक श्रम से जुड़ जाने से व्यक्ति हैसियत के अयोग्य हो जाता था। वेबर के शब्दों में (1946, बेंडिक्स तथा लिपसेट, 1967- 27 से साभार) "इस प्रकार अति सरलीकृत करने के बाद यह कहा जा सकता है कि "वर्गों" का स्तरीकरण वस्तुओं के उत्पादन तथा प्राप्त करने के संबंध के आधार पर किया जाता है, जबकि "हैसियत समूहों का स्तरीकरण वस्तुओं को उनके विशेष "जीवन शैली" के रूप में उपभोग करने के रूप में किया जाता है"। उसने और भी आगे वर्णित किया है कि वर्ग तथा हैसियत समूह में अंतर करने के और भी आधार हैं। वर्ग का संबंध बाजार तथा व्यक्ति की उसमें स्थिति से है। हैसियत समूह का एक नाजुक लक्षण यह है कि इसमें बाजार संबंधी व्यक्तिगत भेदभाव तथा सम्मान के लिए कोई स्थान नहीं है। हैसियत व्यवस्था कमजोर पड़ सकती है, यदि आर्थिक शक्ति संपन्न उन लोगों को भी वही सम्मान दिया जाए, चाहे इस आर्थिक शक्ति पर इस बात का कलंक है कि वह उन्होंने हैसियत के अतिरिक्त साधन से आई हो। बजाय इसके कि यह हैसियत उनकी जीवन शैली से प्राप्त हुई हो। हालांकि हैसियत और भी बढ़ जाती है यदि आर्थिक शक्ति जीवन शैली की गुणवत्ता से भी ऊपर के धरातल से प्राप्त हुई हो। इसलिए स्वाभाविक ही है कि जो हैसियत व्यवस्था को आदर की दृष्टि से देखते हैं, उस समय तीखी प्रक्रिया व्यक्त करते हैं जब आर्थिक प्राप्ति का विशुद्ध प्रदर्शन ही हो। जिस समय वस्तु की प्राप्ति तथा उनका वितरण पर्याप्त समान तथा स्थिरता की परिसंपत्ति को पूरा करता हो तो, उस समय हैसियत को सामाजिक स्तरीकरण का हावी तथा वांछित साधन माना जाता है। जब-जब आर्थिक रूपांतरण घटित होता है और तकनीकी परिणाम प्रवेश पाते हैं तो हैसियत आधारित स्तरीकरण महत्वपूर्ण हो जाता है।

MADHYAM IAS

वर्ग तथा हैसियत आधारित स्तरीकरण के अतिरिक्त, वेबर ने एक तीसरे घटक 'दल' की अवधारणा को भी प्रस्तावित किया। उनका कहना था कि दल के आधार पर भी समाज का स्तरीकरण होता है। जिन लोगों से दल का गठन होता है, उनके सामने एक लक्ष्य होता है, जिसे प्राप्त करने के लिए वे सामूहिक तथा योजनाबद्ध रूप से प्रयास करते हैं। लक्ष्य एक कारण के रूप में भी हो सकता है अर्थात एक दल किसी कार्यक्रम की पूर्ति के लिए आदर्श तथा भौतिक उद्देश्य दृष्टि में सामने रखता हो अथवा लक्ष्य 'व्यक्तिगत' भी हो सकता है, जैसे दल के अनुयायियों अथवा दल के नेता के प्रति सम्मान। दल, सामाजिक क्लबों के रूप में रुखकर सकती हैं। दलों की क्रिया सामाजिक सत्ता उन्मुखी भी हो सकती है, जिसका अभिप्राय है सामुदायिक क्रिया को प्रभावित करने की क्षमता।

किसी राज्य में दल के अस्तित्व होने का सदैव यह मतलब है कि एक तर्क आधारित व्यवस्था की विद्यमानता, और एक ऐसे लोगों के स्टाफ की मौजूदगी जो इसे लागू करने के इच्छुक हैं। एक विशेष अर्थ में, दल उन हितों को जारी रखता है, जिनका निर्धारण वर्ग स्थिति अथवा हैसियत स्थिति से होता हो। वे उनमें से ही सदस्यों की भर्ती कर सकते हैं। हालाँकि, वे पूर्णरूपेण न तो वर्ग-दल होते हैं और न ही हैसियत दल। वे दोनों में से कोई एक नहीं भी हो सकते। उनके सत्ता हथियाने के तरीके, हिंसा से लेकर सामाजिक प्रभाव, घूसखोरी, जनसभाओं के माध्यम से वोटों के लिए प्रचार भी हो सकते हैं अथवा संसद की कार्यवाही को ठप्प करना भी हो सकते हैं।

**अभ्यास 26.1**

वेबर तथा मार्क्स के वर्ग सिद्धांतों की तुलना एवं इनके बीच के अंतर को करें।

## 26.4 वर्ग संघर्ष

जैसा कि पूर्व वर्णित है, प्रतिस्पर्धा, झगड़े, विरोध तथा संघर्ष, समाज के वर्गों में अंतर्निहित होते हैं। मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि वर्गों की संरचना में अंतर्निहित था कि 'वर्ग-शत्रु' की पहचान की जाए जो सबका समान रूप से शत्रु हो और जिसके खिलाफ वर्ग के सभी सदस्य एकजुट हों। यदि कोई भी 'वर्ग-शत्रु' नहीं है तो ऐसी स्थिति में वर्ग के लोग परस्पर भयानक रूप से प्रतिस्पर्धा करेंगे और इस प्रकार वर्ग-एकता तथा वर्ग-साहचर्य नाम की कोई वस्तु न होगी। मार्क्स ने स्थापित किया कि जब एक बड़े उद्योग को लगाया जाता है, सैकड़ों लोग निर्वाह के जरिए की तलाश में इकट्ठा होने लगते हैं। स्वाभाविक रूप से वे कई मुद्दों पर एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। परंतु उनका समान पारिश्रमिक, अपने से श्रेष्ठों के खिलाफ समान हित तथा अन्य समान परिस्थितियाँ, उन्हें एकजुट रखती हैं और उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा पर रोक लगाती हैं। दूसरी ओर, समूचे पूँजीपति दमन करने की कोशिश में एक हो जाते हैं । साँझा पूँजी की स्थिति में, कामकाजी वर्ग संघ बनाने लगता है। उनके द्वारा परिभाषित हित वर्ग हित होते हैं, परंतु एक वर्ग का दूसरे वर्ग के खिलाफ संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष होता है। इस बात की प्रशंसा की जानी चाहिए कि वर्गों के बीच विरोध मात्र उसी दौड़ तक सीमित रह जाता है जहाँ आर्थिक पुरस्कारों और संसाधनों के लिए संघर्ष हो रहा है। ऐसा होने का कारण श्रम के अलगाववाद के साथ उपजा मनोवैज्ञानिक कष्ट भी है।

ज्यों ही श्रम के अलगाववाद और विशिष्टीकरण का दौर आता है, श्रमिक उत्पादन प्रक्रिया से दूर होता चला जाता है। अलगाव की यह प्रक्रिया तभी से शुरू हो जाती है जब पूंजीपति संगठित तथा एकजुट श्रम इच्छा का सामना करता है और वह मात्र एक श्रमिक के सामने अपनी बात रखता है। फिर यह अलगाववाद बड़े पैमाने पर विकसित होता है, जबकि श्रमिक को और भी बारीकी से विभाजित किया जाता है। यह प्रक्रिया आधुनिक उद्योग में अपनी पूर्णता को पाती है, जहाँ विज्ञान श्रम से अलग रूप में अपने आपको उत्पादक बल

के रूप में प्रस्तुत करता है और इसे पूंजीवाद की सेवा के लिये धकेलता है (बेंडिक्स एवं लिपसेट, 1966 : 10)। मार्क्स ने वर्णित किया कि एक पूंजीवादी व्यवस्था में, सामाजिक उत्पादकता तथा उत्पादन का विकास, श्रम की कीमत पर किए जाते हैं। ऐसा श्रमिकों के शोषण तथा उनके अत्यधिक दमन के द्वारा किया जाता है। श्रमिक, मशीन का मात्र पुर्जा बनकर रह जाता है और कार्य का आनन्द शून्य रह जाता है। श्रमिक कार्य के प्रति पूरी क्षमता की प्रेरणा से वंचित हो जाता है। जिन हालात में उसे कार्य करना पड़ता है, वे उत्साहवधर्क नहीं हैं। ऐसा सब इसलिए किया जाता है ताकि पूंजी संचित की जा सके। ज्यों ज्यों पूंजीपति की पूंजी संचय की वासना बढ़ती जाती है, श्रमिकों की दशा बिगड़ती जाती है।

मार्क्स को विश्वास था कि पूँजीवाद के अंतर्गत वर्ग-विरोध, एक क्रांति का रूप धारण करेगा और इसके फलस्वरूप पूंजीपति वर्ग की अपदस्थता के बाद श्रमिक ही सामाजिक परिवर्तन के मुख्य कारक के रूप में स्थापित होंगे। उसका पुरजोर प्रयास था कि कालांतर में समाज विभाजन का खात्मा होकर रहेगा और इसके साथ ही एक वर्ग का दूसरे वर्ग के द्वारा शोषण भी समाप्त होगा। ऐसा परिवर्तन उस समय आएगा, जब श्रमिकों द्वारा उन्हें मनवाया जाएगा कि पूँजीपतियों के सफाए किए जाने की नितांत आवश्यकता है और इस प्रकार किए जाने का मार्ग था क्रांतिकारी राजनीतिक संगठनों का निर्माण। श्रमिकों को एक सुदृढ़ राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरना होगा और जिसे सत्ता के लिए सामूहिक वार्ता को तैयार होना होगा।

मार्क्स की मजदूर-क्रांति की भविष्यवाणी इस धारणा पर आधारित है कि पूंजीवादी समाज ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देगा, जिनके द्वारा समाज मे दो मुख्य वर्गों की सुदृढ़तापूर्ण स्थापना होगी। बुर्जुआ वर्ग को अपने "घमंडपूर्ण गणित के बर्फानी पानी" में मानवीय मूल्यों का समर्पण करना होगा। दूसरी ओर, श्रमिक वर्ग जिसका फैक्टरी उत्पादन की विषम परिस्थितियों में काम करने के कारण बुरी तरह विघटन होगा, जिसके कारण पारिवारिक जीवन धार्मिक विश्वास तथा राष्ट्रीय पहचान सब ध्वस्त हो जाएंगे। वे पुनः उठ खड़े होंगे ताकि मानवता को फिर से प्राप्त कर सकें। इस प्रकार क्रांति के लिए ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होंगी, जो एक ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था को जन्म देंगी, जिसमें वस्तुओं के भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया, "सचेतन रूप से मुक्त रूप से परस्पर संगठित मनुष्यों द्वारा नियंत्रित होगी"।

MADHYAM IAS
Key to achieve your dream

जबकि दूसरी ओर वेबर का विश्वास था कि वस्तुओं और सेवाओं पर सापेक्ष नियंत्रण (जिनसे वर्ग अवधारणा की आधारभूमि तैयार होती है) से आमदनी बनती है, अन्य वस्तुओं के ग्रहण करने की संभावनाओं के द्वार खुलते हैं, सामाजिक स्थिति सृजित होती है और परिणामस्वरूप जीवन की एक विशेष शैली का निर्माण होता है। जो समान वर्ग-परिस्थिति में जी रहे हैं, प्रायः उनके विचार और भावनाएँ भी एक सी होती हैं, परंतु यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रयास भी सामूहिक हों (बेंडिक्स 1974)। वर्ग संगठन का उदय तब होता है जब सामने कोई आर्थिक प्रतिद्वंद्वी हो। वेबर (1968) ने प्रस्तावित किया कि उस समय जब लाभांतर के संदर्भ में प्रतिस्पर्धियों की संख्या बढ़ जाती है तो प्रतियोगिता पर रोक लगा ही देनी चाहिए। ऐसा करने हेतु, प्रतियोगियों का एक समूह, अपने वास्तविक अथवा मजबूत प्रतियोगियों के समूह की कुछ विशेषताएं आत्मसात कर लेता है। ये विशेषताएं, बाह्य रूप से इस प्रकार पहचानी जा सकती हैं, जैसे भाषा, धर्म, प्रादुर्भाव, आवास तथा अन्य। कभी-कभी संघ तर्कसंगत नियंत्रण के आधार पर बनाए जाते हैं। कालांतर में यदि एकाधिकारपूर्ण हित अभी भी जिंदा रहते हैं तो प्रतियोगी एक ऐसी कानूनी व्यवस्था का निर्माण कर लेते हैं, जो औपचारिक संस्थाओं के माध्यम से प्रतिस्पर्धा को सीमित कर देते हैं। वेबर इसे हितों के पुंज के वर्चस्व की संज्ञा देते हैं। एकाधिकार की यह माँग है कि बाह्य प्रतियोगियों के हितों के खिलाफ एक साझा मंच बनाया जाए और इसके गठनकर्ता भी एकजुटता का परिचय दें। बाह्य प्रतियोगियों के हितों के खिलाफ, सुरक्षात्मक समूह के

गठन से भावी प्रतिस्पर्धा का अंत हो जाता है। ऐसे समूह की सदस्यता, एकाधिकार को आश्वस्त करने की दृष्टि से, सीमित रखी जाती है और एकजुटता के प्रति आश्वस्त होने के लिए प्रतिभागिता नियंत्रित कर दी जाती है। यदि एकाधिकार का मूल कानून के रूप में है और सरकार सीमा लागू करती है तो प्रतिस्पर्धा पर लगाम लगाना तथा संगठन के सदस्यों पर नियंत्रण करना सुगम हो जाता है। वेबर ने इसे "प्राधिकार के सद्‌गुण" वर्चस्व का नाम दिया।

## 26.5 सामाजिक गतिशीलता

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है व्यक्ति विशेष का सामाजिक सोपानिकी में एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर अग्रसर होना। यहाँ हमारा आशय वर्ग स्थितियों के बीच चलन से है। सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना पहले से यह मानकर चलती है कि आधुनिक वर्ग समाजों में लोगों की स्थिति किसी विशिष्ट जाति में उनके जन्म लेने से ही पक्की नहीं हो जाती। प्रत्येक व्यक्ति को वर्गों के बीच बदलाव लाने का विकल्प मिलता है और जो कि सामाजिक गतिशीलता का मूल आधार है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चलन का अवसर मनुष्य के जीवन में एक बार या निश्चित पीढ़ियों में एक बार अवश्य आता है। जब व्यक्ति अपने जीवनकाल में एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर बढ़ता है (जैसे यदि कोई व्यक्ति क्लर्क के रूप में सेवा पर नियुक्त होता है और विविध पदोन्नतियों से कंपनी का प्रबंध निदेशक बन जाता है तब ऐसी गतिशीलता को अंतरा-वंशागत गतिशीलता कहते हैं। दूसरी ओर जब पीढ़ियों के बीच गतिशीलता उत्पन्न होती है (जैसे बढ़ई या मोची के बच्चों का अपने अभिभावकों की तुलना में लेखाकार, इंजीनियर या डॉक्टर के पदों की प्राप्ति करना तो ऐसी गतिशीलता को अंतर वंशागत गतिशीलता कहते हैं। गतिशीलता उच्च या निम्न हो सकती है जब लोहार का पुत्र चार्टेड लेखाकार का व्यवसाय चुनता है तो यह उच्च किस्म की होती है और जब डॉक्टर का बेटा टंकक बनता है तो यह निम्न किस्म की होती है)।

**बॉक्स 26.2: सामाजिक गतिशीलता: वेबलन का अभिप्रेरण का सिद्धांत**

समुदाय के ऐसे सदस्य जिनकी क) समाज में शक्ति कम हो जाती है या जिनकी संपत्ति घट जाती है समाज में उनका सम्मान घट जाता है जिससे उनका आत्म सम्मान घट जाता है क्योंकि उनके आत्म सम्मान का आधार उनके पड़ोसियों द्वारा उन्हें दिए जाने वाले सम्मान के अनुरूप होता है। ऐसे व्यक्ति जो असामान्य प्रकृति के होते है। वे लंबे समय में अपने संगियों के तिरस्कार को बर्दाश्त करके अपने आत्म-सम्मान को कायम रखते हैं।

जैसे ही संपत्ति का स्वामित्व सम्मान का आधार बन जाता है यह उस आत्मसंतोष का पूर्वापेक्षित बिंदु भी बन जाता है जिसे हम आत्म सम्मान कहते हैं। किसी भी समुदाय में जहाँ वस्तुओं को निजी स्वामित्व के रूप में माना जाता है वहाँ अपने मस्तिष्क को संतुलित करने के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति विशेष के लिए इतनी वस्तुओं या संपत्ति को संचित करना चाहिए जितने का कि वह उस विशिष्ट वर्ग में आदी है और दूसरों की तुलना में अधिक संपत्ति एकत्र करना हमेशा अधिक संतोषजनक रहता है। लेकिन जैसे ही व्यक्ति संपत्ति की प्राप्ति करने लगता है और संपत्ति के नये मानकों के स्वरूप इसका आदी बन जाता है तो इस नये स्तर से मनुष्य को पिछले स्तर की तुलना में उतनी तुष्टि नहीं मिलती। मनुष्य की यह प्रवृत्ति रही है कि मौजूदा आर्थिक स्तर उसे इस ओर बाधित करता है कि वह इससे बेहतर स्तर को प्राप्त करे और इसी आधार पर तुष्टि का भी नया स्तर बन जाता है जब मनुष्य अपने स्तर की तुलना अपने पड़ोसियों के स्तर से करने लगता है। जहाँ तक मौजूदा स्तर का प्रश्न है, इस संपत्ति

को एकत्र करने का अंतिम लक्ष्य आर्थिक रूप से बाकी के समुदाय से अधिक सुदृढ़ होना है। लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता सामान्य या औसतन मनुष्य की मौजूदा संपत्ति से निरंतर असंतुष्टि बनी रहती है और जब वह आर्थिक रूप से अपने सामान्य स्तर पर पहुँच जाता है तो यह बात उसे निरंतर पीड़ा देती रहती है कि इस आर्थिक रूप से उसमें और इस औसत स्तर के बीच की दूरी को कैसे भरा जाए। ऐसी द्वेषजनक तुलना कभी भी व्यक्ति को वह खुशी नहीं देने देती कि आर्थिक उत्कृष्टता के संघर्ष में वह अपने साथ होड़ करने वालों से अभी भी उच्च है।" (वेबलेन 1934 : 30-32)।

यह समझा जा सकता है कि औद्योगिक समाजों में अंतर-पीढ़िगत गतिशीलता की दर का विशेष महत्व है। आमतौर पर देखा जाता है कि माता-पिता ने जब अपने समय में कामकाज करना शुरू किया था, उसकी तुलना में उनके बच्चे बेहतर पदों पर शुरू से ही कामकाज पर लग जाते हैं। ऐसा होता है क्योंकि औद्योगिक समाज भर्ती के समय औपचारिक अर्हता पर विशेष जोर देते हौ। श्रमजीवी वर्ग के अभिभावकों के बच्चे अक्सर रोजगार की तलाश से पहले से ही अपेक्षित अर्हताओं की प्राप्ति कर लेते हैं। इसके अलावा निम्न सामाजिक गतिशीलता अधिक सामान्य है क्योंकि प्रौद्योगिकीय उन्नयन के चलते अकुशल मानव श्रम की माँग में जबर्दस्त घटोतरी हुई है और इसके अलावा ऐसी सेवाओं का महत्व अधिक हो गया है जिनके लिए विशेष कौशलों का होना अत्यावश्यक है। अधिकाधिक बच्चे पाते हैं कि उनके लिए उच्च पदों के अवसर खुले हैं और जब उनके माता-पिता ऐसे समय से गुजर रहे थे उस समय की तुलना में अब ऐसे अवसर बहुतायत में हैं। सामाजिक सोपानिकी में विस्तृत दायरे के आर-पार जाने की तुलना में छोटे दायरे की स्थितियों के आर-पार जाना अधिक सामान्य है। लोगों के लिए अपनी मौजूदा स्थिति में जबर्दस्त सुधार लाने की बजाय थोड़ा बहुत सुधार लाना संभव है (सान्डर्स, 1990)।

अमेरिका में सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में, मार्क्स ने पाया कि वहाँ वर्ग अभी तक स्थायी रूप धारण नहीं कर सके हैं। इनके बीच में तत्वों का निरंतर प्रवाह बना हुआ है। वेबर गैर-आर्थिक बलों ओर जर्मनी की अर्थव्यवस्था में कृषि कामगारों में स्वतंत्रता की इच्छा पर जोर देते हैं। दरअसल गैर-आर्थिक बलों की भूमिका और कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेटों की विशिष्ट सामाजिक गतिशीलता पर जोर देना मार्क्स की प्रोटेस्टेंट नैतिकता एवं पूंजीवाद के बीच के संबंध पर उसकी अभिधारणा का प्रारंभिक बिंदु है। मार्क्स एवं वेबर की रचनाओं ने अमेरिकी, अंग्रेजी एवं बहुत से अन्य समाजों में सोरोकिन के सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन को मुख्य रूप से प्रभावित किया।

सोरोकिन ने पूँजीवादी समाजों में वेतनभोगी कर्मचारियों के नव मध्यम वर्ग की वृद्धि की तेजी एवं विस्तार पर जोर दिया और यह परिणाम निकाला कि बड़े पैमाने पर अंतरा-वंशागत एवं अंतर वंशागत गतिशीलता व्यावसायिक संदर्भ में उभरती है । अधिकाधिक लोगों को श्रम प्रधान कार्यों से हटकर रोजगार के गैर-श्रम स्वरूपों की ओर रुख करते पाया गया। उसने इस बात को स्वीकारा कि बच्चे किसी और के व्यवसाय की तुलना में अपने पिता के व्यवसाय को अपनाने में अधिक रुचि दिखाते हैं। उसने स्वीकारा कि विविध वर्गों में निहित समूहों की तुलना में समान वर्ग में व्यावसायिक समूहों के बीच गतिशीलता अधिक उत्पन्न होती है। वह इस बात पर कायम रहा कि सामाजिक समूहीकरण की सदस्यता दो तत्वों से बनी है। पहली तो अपेक्षाकृत स्थायी एवं स्थिर है और दूसरी एक पेशे से दूसरे पेशे में जाने के समय के साथ-साथ निरंतर बदलती रहती है। श्रमजीवी वर्ग को दो कारणों के लिए सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में नहीं देखा जा सकता। ये कारण हैं — (i) श्रमजीवी वर्ग में निरंतर गिरता हुआ स्थायी तत्व है और सामाजिक लोकतांत्रिक एवं कम्युनिस्ट नातेदारी इस फैलते अनिश्चित तत्व द्वारा खंडित की जा सकती है, और (ii) श्रमजीवी वर्ग की क्रांतिकारी क्षमता धीरे-धीरे कम हो रही है क्योंकि यह उनसे बनी है जो एक तरफ तो उच्च सामाजिक गतिशीलता के योग्य नहीं है और

दूसरी तरफ जहाँ इनकी अगुआई करने वालों में यह योग्यता नहीं है। सोरोकिन कहते हैं कि गतिशीलता दर और गतिशीलता पैटर्न किसी निश्चित रूपरेखा का अनुसरण नहीं करते और यदि इसके श्रमजीवी वर्ग को तानाशाह बनने का अवसर मिल जाता है तो भी वे कुछ हासिल करने के योग्य नहीं होंगे (गोल्डथ्रोप 1987)।

लिपसेट एवं बैनडिक्स इस बात को महत्व देते हैं कि उद्योगीकरण से गतिशीलता की दर उच्च होती है। यहाँ जिस बात पर गौर किया जाना चाहिए वह है — कि सामाजिक गतिशीलता का समग्र प्रतिरूप विविध पश्चिमी देशों के औद्योगिक समाजों में लगभग एक जैसा था। इसे लिपसेट-जेटरबर्ग का सिद्धांत कहते हैं। लिपसेट और बैनडिक्स का अध्ययन सोरोकिन के अध्ययन से इस तरह अलग है कि इसने श्रमिक से गैर-श्रमिक व्यवसायों के चलन पर ध्यान केंद्रित किया जिसे उन्होंने इस तथ्य के बावजदू उच्च गतिशीलता के रूप में परिभाषित किया कि वे इस बात के प्रति जागरूक थे कि कुछ सफेदपोश स्थितियाँ कुशल मानव श्रम की तुलना में आय और सम्मान की दृष्टि से निम्न थीं। अमेरिका में सामाजिक गतिशीलता पर एक अन्य महत्वपूर्ण अध्ययन ब्लाओ एवं डंकन द्वारा किया गया। उन्होंने इस धारणा के साथ अध्ययन शुरू किया कि सामाजिक स्तरीकरण को समझने में व्यावसायिक स्थिति और गतिशीलता की व्यवस्थित छानबीन का विशेष महत्व है। उसने इस बात की पुष्टि की कि कुलीन एवं सफेदपोश व्यवसायों के बीच की गतिशीलता की दर विविध औद्योगिक समाजों में निम्न थी। उनका दावा था कि अमेरिका में कुलीन वर्ग गतिशीलता काफी अधिक उच्च थी। यह शायद इसलिए था कि अमेरिका में प्रचलित शिक्षा का स्तर ऊँचा था और सामाजिक स्थिति की औपचारिक विशिष्टता पर कम जोर दिया जा रहा था। उन्होंने इस बात को भी माना कि अमेरिका में अधिकांश व्यक्ति अधिक उच्च व्यावसायिक स्थिति की प्राप्ति नहीं करते लेकिन अपने जीवन स्तर को बेहतर बनाने का प्रयास तो करते हैं। इस तरह उनकी सामाजिक स्थिति उपभोग का स्तर बढ़ाने से बढ़ती है। अंततः उन्होंने ध्यान दिया कि अमेरिका लोकतंत्र की स्थिरता निस्संदेह इस देश में उच्च गतिशीलता के बेहतर अवसरों, बेहतर जीवन स्तर की प्राप्ति और इन दशाओं के लिए सामाजिक स्तर के बीच स्थिति सम्मान की निम्न कोटि से संबद्ध है जो कि ऐसे सुविधावंचित व्यक्तियों के उत्पीड़न पर आधारित है जो कि विशिष्ट प्रतिफल की मौजूदा पद्धति से इतने असंतुष्ट एवं कुंठित हो जाते हैं कि वे उग्रवादियों का रूप धारण कर लेते हैं" (ब्लाओ एवं डंकन, 1987 : 439)।

गोल्डथ्रोप, ल्यूलिन एवं पेयन (1987) सामाजिक गतिशीलता के तीन प्रमुख सिद्धांतों की बात करते हैं। सामाजिक गतिशीलता का पहला शोध पत्र काउंटर-बैलेंस थ्योरी पर आधारित है जिसका श्रेय वेस्टरगार्ड और पार्किन को जाता है। इससे वंशागत गतिशीलता के अवसरों का विस्तार हुआ है लेकिन अंतरा-वंशागति गतिशीलता के अवसरों में गिरावट से इन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वर्धित व्यवसायवाद, नौकरशाही और कार्य में तकनीकी जटिलता के कारण ऐसा हुआ है। इसलिए अधिक सामाजिक गतिशीलता से अंतर-वंशागत का जन्म होता है। इसके साथ-साथ व्यक्ति विशेष के कामकाजी जीवन में उच्च गतिशीलता की कम संभावना है। गोल्डथ्रोप, ल्यूलिन एवं पेय प्रतिदर्श में पुरानी और कम विकसित दस्तों के आधार पर अपनी निष्पत्ति के माध्यम से काउंटर-बैलेंस थीसिस का खंडन करते हैं। उनका अंत में कहना है कि पुराने समूह ने जिस तरह से अपना कार्य शुरू किया था, उस नजरिए से अपेक्षाकृत नवीन समूह के लिए अपना कार्य करना अधिक मुश्किल नहीं था। विस्तृत शैक्षिक अवसरों के कारण श्रमजीवी वर्ग के लिए उच्च गतिशीलता के अवसरों में बढ़ोतरी हुई है। इसके साथ-साथ उच्च गतिशीलता के लिए परंपरागत अवसरों में से कोई भी बंद नहीं हुआ।

सामाजिक गतिशीलता पर दूसरा शोध पत्र है —"क्लोजर थीसिस" जिसका श्रेय गिड्डन, बोटोमोर और मिलीबैंड को जाता है। इसका सुझाव है कि जो उच्च पदों पर हैं वे इन पदों को न केवल सिर्फ अपने लिए बल्कि अपने बच्चों के लिए भी हमेशा अपनाए रखना चाहते

हैं और ऐसे संसाधनों पर नियंत्रण भी कायम करना चाहते हैं ताकि वे जो चाहते हैं, वह उन्हें मिल सके। इसका अर्थ है कि सामाजिक गतिशीलता निम्न स्थितियों तक ही सीमित बनी रहती है जबकि उच्च स्थिति इसके प्रभावों के लिए खुली नहीं होती। गोल्डथ्रोप, ल्यूलेन एवं पेयन उच्च श्रेणी के पेशेवरों, प्रशासकों, प्रबंधकों एवं भू-स्वामियों का अध्ययन करने के बाद इस दावे का खंडन करते हैं। वे दर्शाते हैं कि इनमें से सिर्फ एक-चौथाई इस वर्ग में जन्में थे और इनमे से एक-तिहाई से ज्यादा श्रमिक पृष्ठभूमि से सरोकार रखते थे। अतः निम्न वर्गों से निकटता की तुलना में उच्च वर्ग को संघटन की दृष्टि से विजातीय पाया गया।

सामाजिक गतिशीलता पर तीसरा शोध पत्र "बफ्फर ज़ोन" पर है जिसका श्रेय पार्किन, गिड्डन, बोटोमोर, वेस्टरगार्ड एंव रेस्लर को जाता है। इस शोध पत्र का माना है कि विस्तृत रूप से सामाजिक गतिशीलता कुशल श्रमिक एवं नियमित लिपिक ग्रेडों तक सीमित है जो अक्सर एक दूसरे का स्थान ले लेती है लेकिन व्यवस्था में मुश्किल से अपेक्षाकृत अधिक उच्च और अधिक निम्न होती है। ऐसी लघु दूरी की गतिशीलता बफ्फर ज़ोन तक प्रतिबंधित है जो कि श्रम-गैर श्रम चारदीवारी से बनी है और जो दीर्घ रेंज गतिशीलता को पुनः संरचित करती है जिससे दोनों में से किसी भी विजातीय तत्वों की उत्पत्ति होती है। गोल्डथ्रोप, ल्यूलेन और पेयन का सुझाव है कि यदि सामाजिक गतिशीलता के विरुद्ध कोई प्रतिरोधक प्रभाव नहीं है तो यह निम्न सामाजिक गतिशीलता का मामला हो सकता है। यह ऐसी एक तरफा स्क्रीन की भांति होगा जो उच्च गतिशीलता की अनुमति देता है और निम्न गतिशीलता प्रवाह (सान्डर्स 1990) को प्रतिबंधित करता है।

## 26.6 वर्गहीनता

लंबे समय तक वर्ग संबंध सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण घटकों के रूप में माने गए हैं। जीवन के आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों को विनियमित करने में इनके महत्व को अच्छे से स्वीकारा गया है। शैक्षिक निबंधों में भी वर्ग एवं वर्ग संबंधों पर विशेष तौर पर ध्यान केंद्रित किया गया है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि क्रांतिकारी श्रमजीवी वर्ग द्वारा पूंजीवाद वर्ग की जड़ें उखाड़ना निजी संपत्ति और पूंजीवाद का उन्मूलन करना समानता आधारित वर्गहीन समाज की पूर्व शर्त है। उसने दिखाया कि एक बार पूंजीवादी वर्ग को हिलाने से नये शासी वर्ग ने अब ऐसे श्रमजीवी वर्ग को गठित किया जो पूंजीवाद का सफाया कर देगा। बदलाव की इस अवधि के बाद उत्पादन की पूर्व शर्तें जो वर्ग संघर्ष को जन्म देती हैं, वे दूर हट जाएंगी। जिससे वर्ग विशिष्टता की समाप्ति हो जाएगी और वर्गहीन समाज का आधार बनेगा जहाँ सभी का एक जैसा विकास होगा। यहाँ किसी एक वर्ग का वर्चस्व या एकाधिकार नहीं होगा। यह "कुल वर्गहीनता" की संकल्पना है। वर्गहीनता की तीसरी संकल्पना "बहु-वर्ग वर्गहीनता" की है जिसमें वर्ग संरचना की समानता और विखंडन एक साथ नजर आते हैं। वेबर का तर्क है कि इससे नौकरशाही वर्चस्व से पीछा नहीं छूटेगा। उसका मानना है कि समाजवाद, समस्या के निराकरण की बजाय इसे और धुँआ देगा। नौकरशाहीकरण भी कुछ सामाजिक वर्गों के हक में है। वेबर अवसरों की समानता के प्रावधान की दृष्टि से वर्गहीनता की चर्चा करते हैं जिससे नौकरशाही पनपती है। इसके साथ-साथ वह नौकरशाही की गैर-लोकतांत्रिक प्रकृति के विरुद्ध आरक्षण को अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ उच्च स्थिति की प्राप्ति करने के अवसर सभी को उपलब्ध हैं, वहाँ व्यक्ति विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति जन्म द्वारा निर्धारित नहीं होती। हरेक व्यक्ति उपलब्ध अवसरों का प्रयोग करने के योग्य नहीं हो सकता जिससे उसकी आर्थिक स्थिति में बढ़ोतरी होती है। यह बहु-वर्ग वर्गहीनता में निहित विडंबना है।

यहाँ वर्गहीनता की तीन संकल्पनाओं की चर्चा की गई है अर्थात एक वर्ग वर्गहीनता, कुल

वर्गहीनता एवं बहु-वर्ग वर्गहीनता। वर्गहीनता सामाजिक विश्लेषण की प्रासंगिक श्रेणी के रूप में वर्ग के अंत को सुनिश्चित नहीं करती क्योंकि वर्ग तो समाज की मौजूदा सच्चाई है।

**अभ्यास 26.2**

क्या कोई ऐसा समाज हो सकता है जहाँ वर्गों की मौजूदगी न हो? चर्चा कीजिए।

## 26.7 सारांश

इस इकाई में हमने वर्ग की विस्तृत संकल्पना से वर्ग की शुरुआत करते हुए वर्ग की विविध संकल्पनाओं को समझने का प्रयास किया है। अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि वर्ग को परिभाषित करने में समाजशास्त्रियों ने बहुत से कारकों एवं मानदंडों को प्रस्तावित किया है । ये लोगों के समूह की आर्थिक स्थितियों से लेकर बाजार स्थिति में उनके पद तक वर्गीकृत हैं। सभी सैद्धांतिक प्रतिज्ञप्तियों का निचोड़ है कि वर्ग सामाजिक संरचना में सर्वाधिक विस्तृत समूह हैं। ये विशेषाधिकार और पक्षपातों की व्यवस्था से जुड़े हुए हैं (ओसस्की 1967) और वर्गों के बीच गतिशीलता की गुंजाइश है। इसलिए वर्गों को ठोस सीमाओं के दायरे में परिभाषित नहीं किया जा सकता।

## 26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


बेंडिक्स, आर. एंड एस.एम. लिपसेट, 1967, "कार्ल मार्क्स थ्योरी ऑफ सोशल क्लोसेजं, इन *क्लास स्टेटस एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, एडी. रेनहर्ड, बेंडिक्स एंड सेमोर लिपसेट, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

गोल्डथ्रोप, जे.एच. 1987, *सोशल मोबिलिटी एंड क्लास स्ट्रकचर इन माडर्न ब्रिटेन*, ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस।

सान्डर्स, पी. 1990, *सोशल क्लास एंड स्ट्राटिफिकेशन*, रूटलेज, लंदन।


MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

## 26.9 संदर्भ ग्रंथावली


अरस्तु, 1943, *पॉलिटिक्स* (ट्रांस. बाइ बेंजामिन जोवेट), माडर्न लाइब्रेरी न्यूयार्क।

एरॉन, आर. 1969, "टू डेफिनेशंस ऑफ क्लास" इन *सोशल इनइक्वालिटी*, एडी., आंद्रे बेतली, पेंगुइन बुक्स इंग्लैण्ड।

बेंडिक्स, आर. एंड एस.एम. लिपसेट, 1967, "कार्ल मार्क्स थ्योरी ऑफ सोशल क्लोसेजं, इन *क्लास स्टेटस एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, एडी. रेनहर्ड, बेंडिक्स एंड सेमोर लिपसेट, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

बेंडिक्स आर, 1956, *वर्क एंड ऑथरिटी इन इंडस्ट्रीः आइडियोलॉजीज ऑफ मैनेजमेंट* इन द ऑफ इंडस्ट्रिएलाजेशन, विले।

बतई, ए (एडी.) 1969, *सोशल इनइक्वालिटी*, पेंगुइन, इंग्लैण्ड।

ब्लौ, पी.एम. एंड ओ.आर. डंकन, 1967, *द अमेरिकन ऑकुपेशनल स्ट्रक्चर*, विले, न्यूयार्क।

डारेंड्राफ, आर., 1959, *क्लस एंड कंफिलिक्ट इन एन इंडस्ट्री सोसायटी*, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

गोल्डथ्रोप, जे.एच. 1987, *सोशल मोबिलिटी एंड क्लास स्ट्रकचर* इन माडर्न ब्रिटेन, ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस।

गोल्डथ्रोप, जे.एच., ल्लेवेलिन, एंड पी. कैट्रिऑन पेन, 1987, *सोशल मोबिलिटी एंड क्लास स्ट्रक्चर इन मॉडर्न ब्रिटेन*, ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस।

लिपसेट, एस.एम. एंड एच.एल, 1967, ज़ेटरबर्ग "ए थ्योरी ऑफ सोशल मोबिलिटी", इन *क्लास, स्टेटस एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

मार्क्स कार्ल, 1936, *कैपिटल*, माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क।

मिल्स, सी.राइट, 1954, *द न्यू मैन ऑफ पॉवर*, न्यूयार्क।

ओसोव्स्की, एस. 1967, डिफ्रेंट कंसेप्ट्स ऑफ सोशल क्लास, इन *क्लास, स्टेटपस एंड पॉवरः सोशल स्ट्राटिफिकेशन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, एडी. रेनहर्ड, बेंडिक्स एंड सेमॉर मार्टिन लिपसेट, रूटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन।

सौंदर्स, पी. 1990, *सोशल क्लास एंड स्ट्राटिफिकेशन*, रूटलेज, लंदन।

वेबलेन, टी, 1934, *द थ्योरी आफ द लेजर क्लास*, द मॉडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क।

वेबर, एम., 1968, *इकोनॉमी एंड सोसायटी वाल्यूम* I, II, III, बेडमिनिस्टर प्रेस, न्यूयार्क।

राइट, ई.ओ., 1985, *क्लासेस*, वर्स, लंदन।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 27

# लिंग संबंधी भेदभाव एवं सामाजिक स्तरीकरण

**इकाई की रूपरेखा**


27.1 प्रस्तावना

27.2 वेबर, मार्क्स और स्तरीकरण

27.3 परा-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में लिंग एवं सामाजिक स्तरीकरण

27.4 महिलाओं की स्थिति

27.5 भारतीय संदर्भ

27.6 जाति एवं लिंग संबंधी भेदभाव

27.7 जनजाति, लिंग, स्तरीकरण एवं बदलाव

27.8 सारांश

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.10 संदर्भ ग्रंथावली


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- लिंग संबंधी भेदभाव एवं स्तरीकरण की चर्चा कर सकेंगे; तथा
- सामाजिक स्तरीकरण को समझने में मार्क्स एवं वेबर के योगदान की चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 27.1 प्रस्तावना

अधिकांश समाजों में महिलाओं के कार्यों को स्पष्ट रूप से अलग करके व्यक्त किया जाता है। पश्चित एवं भारतीय समाज के मध्यम वर्गों में रोजी-रोटी कमाने की जिम्मेवारी पुरुषों की होती है और महिलाएं घर की देखभाल करती हैं और बच्चों का पालन-पोषण करती हैं। इस बंदोबस्त को स्त्री-पुरुष की जैविक रचना के आधार पर प्राकृतिक एवं अनुपूरक समझा जाता था। महिलाओं की आर्थिक निर्भरता एवं श्रम में लैंगिक आधार पर बंटवारा जैसे मुद्दे गूढ रूप से अंतःसंबद्ध हैं। पश्चिम में भारी संख्या में महिलाओं ने जब से श्रम बल में प्रवेश करना शुरू किया है तब से श्रम विभाजन की प्राकृतिक विचारधारा को भारी चुनौती का सामना करना पड़ा है। पश्चिम में नारीवादी आंदोलन के उदय ने श्रम विभाजन को ले कर बहुत से प्रश्न खड़े कर दिए और इसके साथ-साथ विविध समाजों एवं संस्कृतियों में महिलाओं की लगभग एक जैसी अधीनता पर भी सवालिया निशान लगाया गया है। कुछ प्रश्न जैसे कि क्या रोजगार ने महिलाओं की स्थिति में बदलाव आया है? क्या इस वजह से उन पर दोहरा बोझ पड़ गया है और जिसकी कोई कद्र भी नहीं की जाती। जैसे घरेलू काम को काम नहीं माना जाता है। आंकड़े दर्शाते हैं कि विश्व भर में एक जैसा काम करने के बावजूद महिलाओं को उसी काम के लिए पुरुषों की तुलना में कम पैसे मिलते हैं। लिंग विषयक पक्तियों के साथ-साथ व्यवसायों में भी तबदीली आ जाती है। अन्य प्रश्न श्रम बल में महिलाओं की सक्रिय सहभागिता, इसके सुसंगत

अवमूल्यन एवं निर्णयन प्रक्रिया से महिलाओं को बाहर कर देने से संबद्ध हैं। इन मुद्दों को समझने के लिए हम स्तरीकरण सिद्धांतों में इनके उत्तरों को ढूँढ़ते हैं।

नारीवादी विचारक आर्थिक शोषण की समकालीन व्यवस्था से महिलाओं की समस्या को समझने पर रोक लगाते हैं। उनका तर्क है कि महिलाओं के उत्पीड़न को समग्र वर्ग उत्पीड़न की तुलना में "गौण रूप" से नहीं समझा जाना चाहिए। महिलाएं पुरुष वर्ग द्वारा उत्पीड़ित हैं और पितृसतात्मक संरचना भौगोलिक एवं ऐतिहासिक रूप से लगभग सभी जगह एक जैसी है। मौजूदा समाज में विभेदन का मुख्य अक्ष वर्ग नहीं बल्कि जेंडर है और ये महिलाएं हैं जो "दीर्घस्थ क्रांति" की बाट जोह रही हैं। वर्ग स्तरीकरण सिद्धांतों में जेंडर संरचित असमानता के स्रोतों और सामाजिक बदलाव को बेनकाब करने का प्रयास करती है। मार्क्सवादी और वेबरवादी दोनों आनुभविक शोध में जुटे हुए हैं जो दोनों मिलकर असमानता के स्वरूपों एवं संरचनाओं को समझने का प्रयास करते हैं और ऐसे कार्यों पर अपनी मुहर लगाते हैं। इस बात की विस्तृत आलोचना की गई है कि परिवार सदस्यों की वर्ग स्थिति आजीविका कमाने वाले से बनती है और जो कि आमतौर पर पुरुष होता है। प्रत्येक सामाजिक स्तरीकरण में लिंग विषयक भेदभाव का प्रश्न सैद्धांतिक एवं अनुभवजन्य कार्य अर्थात दोनों के लिए गंभीर समस्या को खड़ा करता है। हरेक दायरे में महिलाओं की सहभागिता, पुरुष प्रधान परिवारों में घटोतरी एवं सामाजिक स्तरीकरण में महिलाओं की अवस्थिति के लिए नये नियमों की सर्जना। न्यूबाई (1982) के अनुसार लिंग विषयक असमानता का मुद्दा महिलाओं के आंदोलन से उभरा है।

## 27.2 वेबर, मार्क्स और स्तरीकरण

वेबर ने गौर किया कि समाजों को वर्ग या स्थिति गठन के लिए उनकी कोटि के आधार पर स्तरीकृत किया जा सकता है और जो कि सामाजिक स्तरीकरण सिद्धांत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं बुनियादी तथ्य को प्रदान करके पहली किस्म की छानबीन ऐसे विस्तार से संबद्ध है जिसके लिए समाजकीय स्तर पर वर्ग या प्रस्थिति व्यवस्थाएं सामाजिक कार्य के महत्वपूर्ण साधन हैं। सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत तब वर्ग या प्रस्थिति गठन के अंत एवं अंतरा समाजकीय विविधता पर ध्यान देता है। इस समय स्त्री/पुरुष असमानता को श्रम विभाजन की दृष्टि से देखा जा रहा है जो महिलाओं को "आरक्षित सेना" के रूप में देखता है अर्थात युद्ध के समय ऐसी अकुशल सेना की भर्ती जिससे उस समय कोई भी काम कराया जा सकता है। मैक्स वेबर के अनुसार आर्थिक एवं प्रौद्योगिकीय बदलाव वर्ग स्तरीकरण के पक्षधर हैं और स्थिति (प्रतिष्ठा) स्तरीकरण को पीछे धकेलते हैं।

चूंकि वर्ग एवं स्थिति गठन के विभेदन का स्पष्टीकरण एवं निर्धारण, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन का मुख्य मुद्दा रहा है। इसे बहुत से आधारों पर ठीक माना गया है। पहला, असमान प्रतिफलों के बंटन में रुचि की वजह से जीवन अवसर एवं किस तरह विविध सामाजिक प्रबंध "बेहतर" परिणामों एवं अवसरों की प्राप्ति कर सकते हैं। दूसरा कारण है, वर्ग या स्थिति विभेदन के "परिणामों" के स्पष्टीकरण को दिया जाने वाला महत्व। जिन्हें स्तरीकरण विश्लेषण का उपफल कहा जाता है। इन उपागमों ने कभी भी जेंडर असमानता के मुद्दों को गंभीरता से नहीं लिया क्योंकि मुख्य जोर वर्ग ध्रुवीकरण एवं स्थिति समूह समेकन पर था। इससे पहले यह माना गया था कि लिंग विषय संबंध आमतौर पर इतरलिंगी हैं और इसलिए वर्ग एवं स्थिति संबंधों के आर-पार हैं। इससे यह विचार सामने आया कि लिंग विषयक संबंध कुछ मानवजातीय किस्म के भी है।

**बॉक्स 27.1 : मार्क्स एवं पितृ सत्ता**

मार्क्सवादी विचारधारा ने लैंगिक विभाजन की संकल्पना को जन्म दिया जिसका सामाजिक अंतःक्रिया के पैटर्नों या वास्तविक सामाजिक संबंधों से ज्यादा सरोकार नहीं

है। इस परिप्रेक्ष्य से प्रश्न उठता है कि क्या महिला गृह्य को सदैव स्थायी एवं सुसंगत कार्य सिद्धांतों को सूत्रबद्ध करने में सदैव समस्याओं का सामना करना पड़ा जो कि वर्ग गठन की पद्धति खंडन एवं वस्तुनिष्ठ वर्ग स्थिति को एक दूसरे जोड़ सके। विश्लेषण की इस किस्म से बुनियादी अंतरों ने पितृसत्ता की संकल्पना में काफी कुछ जोड़ दिया जिसका अर्थ है, व्यवहार के पैटर्न या सामाजिक अंतःक्रिया के स्वरूप। मार्क्सवादी और पितृसत्तात्मक दोनों इस बात पर एक दूसरे से अलग हैं कि क्या महिलाएं वर्ग गठित करती हैं या नहीं जबकि पितृसत्ता को सामाजिक संबंधों की ऐसी संरचना के रूप में देखा जाता है जिसमें पुरुषों को स्वतः अधिकार मिलते हैं और महिलाओं को ऐसे सामाजिक संदर्भों में सुविधाओं से वंचित कर दिया जाता है जो स्तरीकरण के स्वरूप में लिंग संबंधी रिश्तों पर विचार करने की बात कहते हैं।

पितृसत्ता ऐसे किस्म के सामाजिक गठन को बनाता है जिसे पारंपरिक स्तरीकरण विश्लेषण द्वारा अनुचित रूप से अनदेखा किया गया है। मान (1986) के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में लिंग संबंधी भेदभाव को नकारने से स्तरीकरण सिद्धांत में संकट की उत्पत्ति हुई। लिंग संबंधी भेदभाव द्वारा प्रभावित स्तरीकरण सिद्धांत के पाँच मुख्य क्षेत्र हैं — व्यक्ति विशेष, परिवार एवं कुटुम्ब, स्त्री/पुरुषों के बीच श्रम विभाजन, सामाजिक वर्ग एवं राष्ट्र-राज्य।

## 27.3 परा-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में लिंग एवं सामाजिक स्तरीकरण

विविध समाजों एवं संस्कृतिं में पितृसत्ता द्वारा महिला एवं पुरुषों के बीच संसाधनों, अवसरों एवं प्रतिफलों की असमान पहुँच को वैध घोषित किया गया है। पुरुष एवं महिलाओं के बीच स्थिति — असमानता नयीं परिघटना नहीं है जो कि पितृसत्ता एवं इसकी विचारधारा, स्त्री/पुरुष आधार श्रम विभाजन एवं विवाह, दहेज, संपत्ति एवं विरासत एवं अधीनस्थता के माध्यम से प्रबलित की जाती है । सिल्वया वाल्बे (1994 : 22-28) का मानना है कि पितृसत्ता सिर्फ शक्ति का विशिष्ट बंटवारा नहीं है बल्कि यह उत्पादन के गूढ़ तंत्र में बसी हुई है।

MAADHYAM IAS

**अभ्यास 27.1**

परा-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में लिंग संबंधी भेदभाव पर नोट लिखिए। अपने मित्रों से अपने विचारों पर चर्चा कीजिए।

नारीवादी समाजविज्ञानी जो वर्ग की संकल्पना पर काम कर रहे हैं उन्होंने पुरुषों के व्यवसायों से एकल रूप से उत्पन्न आधार पर चुनौती दी है। नारीवादी समीक्षा का मुख्य ध्यान इस बात पर रहा है कि वर्ग सीमाओं का कौन सा संशोधन अनिवार्य होगा यदि आर्थिक कार्य करने वाली महिलाओं को सही माना जाये। दूसरे उन्होंने परिवार के प्रति महिलाओं के काम के योगदान को पुनःमूल्यांकित करने का प्रयास किया है।

स्त्री/पुरुष श्रम विभाजन पर परा सांस्कृतिक शोध ने जीवन — निर्वाह के विविध साधनों से समाज में महिलाओं की उत्पादनशील गतिविधियों की विस्तृत रेंज को स्पष्ट करने का प्रयास किया है लेकिन साथ में उन्होंने महिलाओं की स्थिति पर इनके स्थितिगत निहितार्थों पर भी ध्यान केंद्रित किया है।

नारीवादी मानवविज्ञानियों के लिए आरंभ से ही मुख्य ध्यान सार्वभौमिक जेंडर असमानता के कारणों की छानबीन करना रहा है। उन्होंने इसकी उत्पत्ति एवं इसकी निरंतरता को समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं भौतिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ऐसी विवेचनाओं में से प्रत्येक एक ऐसे प्रमुख द्विभाजन पर टिकी है जिसे सार्वभौमिकः सार्वजनिक/घरेलू, प्रकृति/संस्कृति एवं उत्पादन/पुनःउत्पादन के रूप में लिया गया।

नारीवादी मानवविज्ञान में सामाजिक स्तरीकरण से जेंडर का संबंध इस तरह की संकल्पना रहा है कि जेंडर सामाजिक संरचनाओं को सांकेतिक संरचना और सामाजिक कार्य के लिए रूपक के रूप में लेता है। जेंडर को सांकेतिक प्रस्तुति के रूप में और महिलाओं एवं पुरुषों के व्यवहार एवं उनके संबंध के रूप में वैचारिक रूप दिया गया है। रोसाल्डो, लैम्फेयर एवं आर्टनर जैसे मानवविज्ञानियों ने सामाजिक असमानता के आधार के रूप में जेंडर एवं नातेदारी की पहचान की है जिससे यह समझना कि किस प्रकार संपत्ति एवं निर्णयन आदि तक महिलाओं की पहुंच विस्तृत सैद्धांतिक, भौतिक एवं नातेदारी संरचनाओं के राजनीतिक संदर्भों में शामिल है।

आर्टनर एवं व्हाइटळैड (1981) ने प्रतिष्ठा संरचनाओं के मॉडल को प्रस्तावित किया है जो कि प्रतिष्ठा स्थितियों या स्तर के सेट के रूप में परिभाषित है जो कि सामाजिक मूल्यांकन की विशिष्ट लाइन और ऐसे तंत्रों की उपज है जिससे व्यक्ति विशेष एक निश्चित स्तर पर पहुंचते हैं (वही, 13)।

जेंडर, उनका तर्क है ऐसी ही प्रतिष्ठा संरचना है और प्रत्येक मानव समाज में स्त्री और पुरुष दो अलग तरह के मूल्यों को बनाते हैं जिसमें पुरुष, पुरुष हैं और इस वजह से उसकी पदवी उच्च है (वही 16)। उनका सुझाव है कि पुरुष प्रतिष्ठा "सार्वजनिक भूमिकाओं" से संबद्ध है जैसे कि मुख्य कर्ताधर्ता या ब्राह्मण जबकि महिला प्रतिष्ठा पुरुषों से उनके संबंधों से परिभाषित है। ऐसी भूमिकाएं हैं जैसे पत्नी, बहिन एवं माँ। अन्य शब्दों में महिला संरचनाएं पुरुष संरचनाओं के इर्द-गिर्द घूमती हैं। प्रतिष्ठा संरचना के रूप में जेंडर पर विचार करके विविध समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के जेंडर आधारित विश्लेषण को आगे बढ़ाया जाता है।

मानवविज्ञान संबंधी साहित्य का सुझाव है कि महिलाओं का घर से बाहर काम करना और जीवन निर्वाह संबंधी अर्थव्यवस्था में इनके योगदान ने पुरुषों एवं स्त्रियों के बीच समानता की संकल्पना को जन्म दिया है। बनातनाई में महिलाओं की, भूमि की आर्थिक पूंजी के नियंत्रण एवं मृत्यु संबंधी अनुष्ठानों तक पहुँच है। जबकि हाइलैंड न्यू गिन्नी में उद्यान के क्षेत्र में महिलाएं रेशेदार फसलों को उगाती हैं जबकि पुरुष सामाजिक विनिमय के लिए गौरव फसलों को उगाते हैं।

**बॉक्स 27.2 : श्रम विभाजन**

ऐसा सांस्कृतिक मूल्यन जेंडर स्तरीकरण के लिए आधारशिला है जो कि तब पुरुष वरिष्ठता की लिंग विषयक विचारधाराओं और महिला एवं पुरुषों के बीच लैंगिक प्रतिरोध की उच्च डिग्री से प्रबलित है। मेग (1990) "उग्रराष्ट्रीयता" की विचारधारा को व्यक्त करती है जो कि योद्धाओं के रूप में पुरुषों की भूमिका में निहित है। मुंडुरुक्कू में कार्य विभाजन जो कि अमेजनाई बागबानी समाज है, वहाँ पुरुष शिकार करते हैं, मछली पकड़ते हौ और बागबानी के लिए जंगलों की सफाई करते है जबकि महिलाएं बुआई, कटाई एवं मैनिऑक को प्रसंस्कृत करने का काम करती हैं। मुडुरक्कू में कार्यरत पुरुषों के कार्यों को अधिक मान्यता है। जैसा कि मरफी एवं मरफी (1985) का कहना है, "पुरुष प्रभुत्व पूरी तरह पुरुषोचित गतिविधियों से नहीं आता लेकिन उनके लिए इस बात को मानना जरूरी है। पुरुष वर्चस्व पारंपरिक सांकेतिक है। मार्टिन एवं वूटरिज (1975) के अनुसार कृषि में महिला सहभागिता की जो कमी आई है वह इसलिए है कि मूल (जड़दार) फसलों की बजाय खाद्यान्न फसलों का स्थान लेने से और पशु श्रम की बजाय मानव श्रम को अपनाने से महिलाओं का घरेलू कार्यभार बढ़ गया है।

महिलाओं का मूल्य उनकी उत्पादनकारी गतिविधियों की बजाय प्रजनन संबंधी योग्यताओं द्वारा परिभाषित है। वधू संपत्ति को वधू के माता-पिता के लिए उसके प्रजनन अधिकारों एवं अन्य उत्पादनशील अधिकारों की क्षतिपूर्ति के रूप में माना जाता है जबकि दहेज को

ऐसी विरासत माना जाता है जो वधू को भूमि एवं अन्य संपत्ति देती है और पति को आकृष्ट करने में सहायता करती है।

पारंपरिक पितृसत्तात्मक आईरिश परिवार (अरेंजबर्ग एवं किमबाल (1940) के अध्ययन) में कार्य का विभाजन जेंडर एवं आयु द्वारा होता है। श्रम विभाजन का अर्थ पुरुषों के हाथों में "प्राकृतिक" एवं सता का आना है। पशुचारी समाज भी पितृसत्ता एवं लिंगों के द्विभाजन पर आधारित है और जेंडर स्तरीकरण बहुत से पशुचारी समाजों की बुनियादी विशेषता है। कैंपबेल (1964) जिसने "सरकतसोनी ऑफ ग्रीक" का अध्ययन किया, का कहना है कि पशुचारी "सरकतसोनी" का जीवन तीन बातों के इर्द-गिर्द घूमता है। ये हैं— भेड़, बच्चे और प्रतिष्ठा। जेंडर विचारधारा इन तीन मूल्यवान बातों में छिपी है। अंतिम प्राधिकार पुरुषों के पास है बावजूद इसके कि महिलाओं का जीवन के सभी पहलुओं में बराबर का योगदान है।

## 27.4 महिलाओं की स्थिति

जेंडर स्तरीकरण को समझने के लिए उत्पादन में सहभागिता एवं विचारधारा दोनों को समझने की जरूरत है। जैसा कि एटकिन्सन (1982 : 248) का कहना है, इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि लैंगिक रूढ़िवादिता का महत्व नहीं है या यह मान लेना कि एक संदर्भ में महिलाओं का प्रभाव दूसरे संदर्भ में उनके मूल्य को कम कर देता है। जैसा कि हम जानते हैं कि महिलाओं की स्थिति विविध संस्कृतियों में एक जैसी नहीं है। हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि अंतरा सांस्कृतिक छवि भी समान रूप से जटिल है।" समाजवादी नारीवादी विचारक हालांकि इस बात पर कायम हैं कि पितृसत्ता वर्ग असमानता की पहली अवस्था है। वे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि अधीनता एवं जेंडर विषमता की नई किस्मों ने पुरानी किस्मों की तुलना में बेहतर प्रभाविता जमाईहै जिससे पितृसत्ता नियंत्रण अनुत्तेजित हो गया है। औद्योगिक कार्य करने वाले व्यक्तियो ने आजीविका-निर्वाह एवं सामाजिक सत्ता पर नियंत्रण कायम करते हुए महिलाओं को आश्रित बना दिया है।

लीला दुबे, इलेनर लिकाक एवं शिरले आर्डनर (वही: xi) परा-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं और महिलाओं को महत्व न देने एवं उनकी निष्क्रियता पर ध्यान केंद्रित करते हैं और इंगित करते हैं कि विविध समाजों में पुरुषों को प्राथमिकता है। लीला दुबे का मानना है कि महिलाओं की निश्चित अभिरुचि एवं प्रभावी छवि के बावजूद महिलाओं की छवि को अदृश्य बनाना ही समाज में उनकी निम्न स्थिति का मूल कारण है।

लिंग संबंधी असमानताओं को जेंडर-सामाजिक व्यवस्था से स्पष्ट किया जा सकता है जो कि सैद्धांतिक एवं भौतिक सामग्री का ताना-बाना है और जो दिए गए सामाजिक संदर्भ में पुरुषत्व एवं नारीत्व की विविध छवियों को निर्मित करने के लिए काम करता है और जिसके द्वारा लिंग विषयक असमानता की किस्मों को समेकित किया जाता है (कोनेल 1994 : 29-40)। कबीर के अनुसार (1995 : 37) "जैविकी, जनन और लिंग संबंधी है।" महिला और पुरुष को पुरुषत्व एवं नारीत्व के पूर्ण गुणों के आधार पर महिला एवं पुरुष कहा जाता है।

महिलाओं को द्वि-परती स्तरीकरण से जोड़ा जाता है अर्थात पुरुष से उनके संबंध तथा अन्य महिलाओं से उनके संबंध। लिंग संबंधी भेदभाव, पुरुष एवं महिला असमानता के विविध भागों को संरचित करता है।

समकालीन जगत के बहुत से समतावादी समाजों में श्रम विभाजन का अर्थ है कि पुरुष शिकार करते हैं और महिलाएं भोजन एकत्र करती हैं। फ़िदी (1975 : 78) इस विभाजन के चार कारण को रेखांकित करते हैं। अर्थात शिकार करने एवं भोजन एकत्र करने के लिए अपेक्षित कौशलों की आवश्यकता और चारे की खोज में बंजारों के रूप में छोटे आकार में इधर-उधर भटकना। इस सामान्य अवधारणा के बावजूद कि पुरुष शिकार करते

हैं और महिलाएं संग्रह का काम करती हैं, श्रम विभाजन में कोई खास अंतर नहीं है। तीवी आस्ट्रेलियाई मूल निवासी जो उत्तरी आस्ट्रेलिया के तट के मेलविले द्वीप में बसे हैं वहाँ पुरुष एवं महिलाएं दोनों शिकार करते हैं एवं भोजन एकत्र करते हैं। महिलाओं को आर्थिक संपत्ति माना जाता है और पुरुषों के लिए ये संपत्ति एवं गौरव का स्रोत हैं। महिलाएं सामाजिक स्थिति की प्राप्ति करती हैं और राजनीतिक रूप से प्रभावी हो सकती हैं। गुडेल (1971) का सुझाव है कि तीवी संस्कृति समाज में स्त्री एवं पुरुष की समानता पर जोर देती है। उत्तर पूर्वील्यूसन के अगता नेगरिटोस में फिलिपीनी महिलाएं आस्ट्रेलिया के तीवी की और पुरुषों की तुलना में अधिक सामाजिक एवं आर्थिक समानता का आनंद उठाती हैं। रोजाना की खाद्य आपूर्ति में उनका महत्वपूर्ण योगदान है और ये जो भोजन प्राप्त करती हैं, उन पर इनका नियंत्रण भी रहता है। ये इस भोजन को अपने परिवार के साथ बाँट कर खाती हैं और विस्तृत समुदाय में इसका व्यापार करती हैं। यह इस मौजूदा धारणा को चुनौती देता है कि चारे की खोज करने वाले समाजों में गर्भावस्था एवं बाल देखभाल शिकार के साथ सही तालमेल नहीं बना पाते। बच्चों के जन्म में अंतर रखने के लिए उन्होंने गर्भ निरोध एवं गर्भपात के तरीकों को विकसित किया है।

उद्यानी समाजों में जहाँ हाथ के औजारों से खेती-बाड़ी का काम चलता है, महिलाएं उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाती हैं। लिपोस्की, वनातानी के प्रशांत प्रायद्वीप के उद्यानी एवं मातृवंशीय लोगों में लिंग सम्बन्धी समानतावाद की ओर इशारा करते हैं। उनका कहना है कि यहाँ की प्रमुख पदों की महिलाएं विनिमय एवं अन्य गतिविधियों में भाग लेती हैं।

## 27.5 भारतीय संदर्भ

कल्पना बर्धन (1986 : 94) के अनुसार, "चाहे वर्ग पर या जाति विश्लेषण पर आधारित हो, परिवार स्तरीकरण अध्ययनों के लिए विश्लेषण की प्रमुख इकाइयाँ हैं। विस्तृत ढाँचे में यह पर्याप्त रूप से स्थित नहीं है कि लिंग द्वारा विभाजन एवं महिलाओं की स्थिति स्थायित्व एवं गतिशीलता संबंधी इसके गुणधर्मों को प्रभावित करती है।

MADHYAM IAS
"Learn to achieve your dream"

**अभ्यास 27.2**

पितृसत्ता, अर्थव्यवस्था एवं वर्ग संरचना पर संक्षेप में लिखिए। अपनी नोट बुक में मुख्य बिंदुओं को उतारिए।

भारतीय समाज में नातेदारी की भूमिका, स्तरीकरण की बुनियादी इकाई के रूप में परिवार एवं रोजाना के संबंधों के अलावा, परिवार के पुरुष मुखिया की भूमिका एवं पुरुष एवं महिलाओं के बीच स्थिति संबंधी समानता ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिनकी जाँच करने की जरूरत है। माइकल मान (1986 : 40-56) पितृसत्ता, अर्थव्यवस्था एवं वर्ग संरचना की चर्चा करता है। मान के अनुसार महिलाओं का कोष्ठीकरण, राजनीति में महिलाओं की सहभागिता, विकास कार्यक्रम एवं प्रक्रमों एवं नारीत्व के बावजूद भी कायम है। भारतीय समाज को पुरुष जाति और स्त्री जाति में विभाजित किया गया है। महिलाओं की संकल्पना बनाते समय तथा उनके बारे में लिखते समय नीता कुमार (1994 : 4) चार तरीकों पर प्रकाश डालती है अर्थात महिलाओं को नायिका के रूप में देखते हुए और उन्हें पुरुषों के विशेषाधिकार देते हुए महिलाओं को मानव "टकटकी" का केंद्रबिंदु बनाना; पितृसत्ता पर ध्यान देते हुए सैद्धांतिक तर्कमूलक दायरे में महिलाओं की मौजूदगी को देखना और जो उन्हें निरंतर इस दायरे में बाँधे रखती है और बाहर निकलने का कोई अवसर नहीं देना; ऐसे प्रछन्न तरीकों पर गौर करना जिनके चलते महिलाएं अपने कार्यों को पूरा करती हैं। वह कुछ प्रश्न उठाती है जैसे विषयों के रूप में महिला होने की इच्छा शक्ति और पौरुष को हटाकर नारीत्व को उजागर करना।

मोनिशा बहल (1984) के अनुसार जिसने पश्चिम उत्तर प्रदेश में मणिपुर जिले में काम किया, वहाँ के ग्रामों में महिलाओं के जीवन उदासी से भरा है। कारण है, काम का अत्यधिक भार, खराब स्वास्थ्य एवं निर्धनता। मधुकिश्वर एवं रुथ वनिता (1984) महिलाओं के प्रश्न को भारतीय सांविधानिक विधि की अक्षमता और महिलाओं के प्रति अपराध एवं महिलाओं से छेड़छाड़ पर प्रकाश डालते हुए उठाते हैं। महात्मा गाँधी का नजरिया की चूँकि महिला पुरुष की जननी है, इसलिए पीड़ा सहने की इसमें अनंत क्षमता है अर्थात इस नजरिए पर भी आलोचनात्मक ढंग से विचार किया गया। जोएना लिडल एवं रमा जोशी (1986) ने जेंडर, जाति और वर्ग के बीच के अंतः संबंधों के संदर्भ में भारतीय महिलाओं का अध्ययन किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि उच्च पितृसत्तात्मक जातियों ने जाति एवं लिंग संबंधी विभाजन को और अधिक कस दिया क्योंकि उन्होंने इस उत्तमावस्था के लिए उनकी आर्थिक उत्तमावस्था एवं प्रतिरक्षित चुनौतियों को समेकित कर दिया था।

**बॉक्स 27.3 : महिलाएं एवं दलित**

लिंग संबंधी भेदभाव की स्थिति विषमता-विस्तृत सामाजिक संरचना का भाग है जो कि जाति एवं पारिवारिक मूल्यों द्वारा प्रबलित की जाती है। लैंगिक भेदभाव एवं वर्ग अर्थात दोनों वर्ग शोषण के महत्वपूर्ण पहलू हैं। भारतीय समाज में महिलाएं, जाति, वर्ग, धार्मिक एवं नृजातीय सीमाओं समेत स्तरीय हैं अतः स्थिति पर कोई सामान्यीकरण संभव नहीं है। महिलाओं को स्तरों में बांटा गया है। दलित तबकों की महिलाओं को तीन तरह के उत्पीड़न को झेलना पड़ता है जो हैं — जाति, वर्ग, लिंग संबंधी।

आर्थिक असमानता एवं सोपानिकी की विचारधारा से विभाजित होकर भारतीय महिलाओं के पास किसी तरह का कोई सकारात्मक पहलू नहीं रह जाता। यह पाया गया है कि महिलाओं को निरंतर काम के बोझ को सहन करना पड़ता है। कारण है, आर्थिक स्तरीकरण, सामाजिक सोपानिकी एवं महिला कार्य प्रतिरूप एवं रोजगार साधनों में विभेदन और इनके बीच के अंतःसंबंध । वर्ग उत्पीड़न, वर्ग शोषण एवं जेंडर असमानता अधिक टिकाऊ एवं सतत है क्योंकि इनका प्रयोग परिवार के भीतर ही है।

MAADHYAM IAS

भारत में महिलाओं के आंदोलनों के मुख्यता ऐसे मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया है जो सर्वव्यापक हैं जैसे महिलाओं के प्रति हिंसा, कार्य संबद्ध असमानताएं, शिक्षा एवं रोजगार तक पहुंच, स्वास्थ्य, गृहिणियों के कार्य को सामाजिक मान्यता एवं उनके कार्य के लिए पारिश्रमिक। राजनीतिक दमन एवं महिलाओं को महत्व न मिलना, मूल्य वृद्धि आदि।

जीवन के विविध भागों में शोषण एवं उत्पीड़न के मुद्दों को उठाना अर्थात परिवार, विवाह, अर्थव्यवस्था, धर्म एवं राजनीति, आदि जैसी जगहों पर ध्यान देकर नारीवादी विविध भारतीय संदर्भों में जेंडर मुद्दों के विस्तृत परिदृश्य पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

हर किस्म की रचना में यह माना गया है कि पितृसत्ता, स्तरीकरण व्यवस्था एवं महिलाओं की स्थिति गूढ रूप से अंतःसंबद्ध है और महिलाओं की स्थिति में किसी भी किस्म के सकारात्मक बदलाव का अर्थ पितृसत्ता और स्तरीकरण व्यवस्था पर प्रहार करने जैसा होगा। सांकेतिक विश्लेषण के माध्यम से असमान व्यवहारों को गूढ रूप से जमे सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में व्यक्त किया गया है जो कि पुरुषत्व एवं नारीत्व की संज्ञा देते हैं। लीला दुबे जेंडर विषमता की पुष्टि के रूप में विविध पितृसत्तात्मक संस्कृतियों में 'बीज' और धरती की लाक्षणिक संकल्पनाओं का प्रयोग करते हुए स्त्री एवं पुरुष के बीच के संबंध की चर्चा करती हैं।

साक्षरता रचनाओं में महिलाओं को रूढ़िगत स्वरूप में पेश किया गया है। पिछले तीन दशकों में लिंग संबंधी असमानता के विविध पहलुओं पर लिखित रचनाओं ने अर्थव्यवस्था

में महिलाओं की प्रछन्नता और बेरोजगारी, निर्णयन प्रक्रिया में उनकी असहभागिता एवं पुरुष विशेषाधिकार के रूप में महिलाओं के प्रति अपराध को खासतौर पर उभारा है।

भूस्वामित्व का उन्मूलन और इसके सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण के विध्वंस ने सकारात्मक ढंग से महिलाओं को प्रभावित किया है। मेनशर एवं सरदामोनी (1993 : 167) पाते हैं कि गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों के लिए महिला की आय होना बेहद जरूरी है। अधिकांश महिलाएं तीन किस्मों के कामों में जुटी हुई हैं — (क) पारंपरिक तौर पर परिभाषित श्रम बल में सहभागिता, (ख) घरेलू कार्य एवं अकेले किए जाने वाले कार्य। इसके अलावा ये महिलाएं स्त्री होने और खराब आर्थिक पृष्ठभूमि की वजह से भी पीड़ित हैं।

करुणा अहमद (1979 : 1435-40) महिलाओं के रोजगार में पाँच प्रवृत्तियों को पाती हैं। ये हैं — (क) कुछ गिने चुने व्यवसायों में महिलाओं की एकजुटता, (ख) निम्न स्थिति के व्यवसायों में या प्रतिष्ठित व्यवसाय के निम्न स्तरों में महिलाओं की एकजुटता, (ग) पुरुषों की तुलना में महिलाओं के वेतन में गिरावट, (घ) अत्यंत शिक्षित एवं व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित बेरोजगार महिलाओं का उच्च भाग।

अध्ययनों का सुझाव है कि महिलाओं की व्यावसायिक अवस्थिति जाति एवं वर्ग पृष्ठभूमि एवं शैक्षिक उपलब्धियों की दृष्टि से समाज में उनकी स्थिति को प्रभावित करती है। विवाह एवं परिवार के संदर्भ में पारंपरिक मूल्यों की तुलना में आधुनिक शिक्षा से महिलाओं में स्थिति को लेकर धारणाओं को नये रूप से विकसित किया जा सकता है।

अग्निहोत्री (1996) एवं अग्रवाल (1984) ने महिलाओं के विश्लेषण में मार्क्सवादी उपागम को प्राथमिकता दी। अग्रवाल का प्रस्ताव है कि ऐसे बहुत से प्रश्न जिनका जेंडर संबंधों पर असर पड़ेगा, उत्पादन के संगठन एवं उत्पादन के संबंधों में धुंधले पड़ जायेंगे। महिलाओं की वैयक्तिकता एवं सुधारों के रूपकों के बावजूद पितृसत्ता, श्रम विभाजन, परिवारों में विवाह विविक्त पवित्रता, सतीत्व जैसी बातें अभी भी प्रचलित हैं।

MAADHYAM IAS

## 27.6 जाति एवं लिंग संबंधी भेदभाव

जाति की तीन बुनियादी विशेषताएं हैं:

i) विवाह एवं संविदा को शामिल करने वाले नियम जो जाति विशिष्टताओं को कायम रखते हैं।

ii) सोपानिकी अर्थात स्थिति के आधार पर व्यवस्था एवं श्रेणी का सिद्धांत।

iii) अंतःनिर्भरता अर्थात श्रम का विभाजन जो कि घनिष्ठता से सोपानिकी एवं पृथक्करण से बंधा हुआ है।

जाति व्यवस्था के उपर्युक्त तीन वैशलेषिक रूप से अलग होने योग्य सिद्धांत नातेदारी पर आधारित इकाइयों के माध्यम से अपना काम करते हैं। महिलाओं का जीवन मुख्यतया पारिवारिक मानदंडों के दायरे में ही गुजरता है। उनके जीवन में परिवार और घर की अहम भूमिका है (दुबे, 1996 : 1-27)।

महिलाओं का कार्य जाति समूह की व्यावसायिक निरंतरता में मुख्य रूप से अपना योगदान देता है। जाति और व्यवसाय के बीच की कड़ी में महत्वपूर्ण निरंतरता ब्राह्मणों का दिए जाने वाले आदर के रूप में देखी जा सकती है जहाँ उच्च एवं मध्यम स्तर की जातियों में उन्हें अभी भी पुरोहित का दर्जा दिया जा रहा है। सुनारों, लोहारों, कुम्हारों एवं बुनकरों की शिल्पकला आधारित जातियों में इनमें से बहुत से अभी भी आजीविका-निर्वाह के लिए पारंपरिक व्यवसायों में जुटे हुए हैं और कार्य के सभी स्तरों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से

महिलाएं उनका हाथ बंटा रही हैं। टोकरियाँ बुनना पुरुष एवं महिलाओं की साझी गतिविधि है। ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे शहरों में छुटपुट व्यापारियों के घरों की महिलाओं का मसले पिसाने, अल्पाहार की बिक्री करना और परिवार की दुकान पर बिक्री के लिए अल्पाहार रखना एक आम बात है। यह सच है कि विशिष्ट जाति की व्यावसायिक निरंतरता मुख्यतया महिलाओं के कंधों पर टिकी हुई है (वही)।

यजमानी संबंध, शिल्पकारों, सेवा जातियों एवं भू-स्वामियों, एवं कृषकों और व्यापारियों के बीच अंशकालिक संविदात्मक संबंध और व्यावसायिक जातियों के बीच वस्तुओं का आदान-प्रदान अर्थात बहुत से ग्रामीण एवं अर्ध शहरी क्षेत्रों की ऐसी विशेषताएं पारिवारिक स्तर पर देखने को मिलती हैं। स्त्री और पुरुष दोनों सेवाएं प्रदान करते हैं और किए गए कार्य के लिए पारिश्रमिक की प्राप्ति करते हैं। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में हम देख सकते हैं कि ऐसी 'अछूत' जातियाँ मौजूद हैं जिनके घर की स्त्रियाँ दाइयों के रूप में काम करती हैं; अपनी जाति के पुरुषों के साथ मिलकर ऐसी महिलाएं उच्च एवं समृद्ध जातियों की गंदगी को हटाने का अनिवार्य कार्य करती है। श्रमिकों को अपने मालिक से रिश्ते में बाँधने वाले संबंध या संविदा में स्त्री एवं पुरुष अर्थात पति एवं पत्नी दोनों की सेवाओ का समावेश है (वही)।

पेशेवर कार्यों में निरंतर जुड़ने की अनिवार्यता के लिए जाति के भीतर विवाह करना एक मुख्य आधार है। पेशेवर कार्यों में महिलाओं का सतत योगदान पितृसत्तात्मक सीमा और जाति की बाध्यताओं एवं नियंत्रण के अंतर्गत किया जाता है। महिला को, काम की मांग एवं विवाह बाजार को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जाती है।

परिवार के कठिनाई के दिनों में अनुसूचित जातियों की महिलाएं आमतौर पर साफ-सफाई का काम करती हैं लेकिन पुरुष यह काम नहीं करते। यह माना जाता है कि चूँकि महिलाएं अपने परिवार के लिए घरेलू काम करती हैं, वे इसी प्रकार का कार्य दूसरों के लिए भी कर सकती हैं। पुरुषों का मानना है कि इस प्रकार का काम करना उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। प्रवासी परिवारों में महिलाएं प्रायः अपने परिवार की प्रमुख सहायताकर्ता होती हैं। लेकिन इस समय भी वे नियंत्रण को अपने पास ही रखते हैं। आस-पड़ोस में सामाजिक और आनुष्ठानिक विषयो पर जाति के पुरुषों द्वारा चर्चा की जाती है और निर्णय लिए जाते हैं (वही)।

भोजन और कर्मकांडः पवित्रता और अपवित्रता के कर्मकांड में भोजन एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। भोजन में पवित्रता और अपवित्रता संबंधी चिंता पर ध्यान घर से ही दिया जाता है। महिलाओं के लिए भोजन से संबंधित हिदायते और मनाहियाँ नातेदारी, विवाह और लैंगिकता के सिद्धांतो के अंतर्गत आते हैं। महिलाएं घर की पवित्रता और शुद्धता को बनाए रखने में मुख्य भूमिका निभाती हैं। पवित्रता/अपवित्रता और 'बुरी नजर' दोनों से संबंधित सुरक्षा की अवधारणा महिलाओं के प्रक्रमण, परिरक्षण, भोजन बनाने और इसे वितरित करने के कार्यों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध और बाधाएं हैं। अपने घर तथा स्थान से बाहर की स्थिति में पुरुष शिष्टाचार के नियमों से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होते हैं जबकि ऐसी स्थिति में महिलाएं संरक्षण में रहती हैं और उन पर सावधानी से नजर रखी जाती है तथा उनसे अधिक सख्ती से नियमों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है (वही)।

यह एक व्यापक धारणा है कि महिलाएं अपनी जाति के पुरुषों के समान पवित्रता के स्तर को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकती हैं। सभी जानते हैं कि परंपरागत रूप से द्विजन्मी जाति की महिलाओं की तुलना शूद्रों से की जाती है जो वेद का अध्यन नहीं कर सकतीं (वही)।

विवाह और लैंगिक संबंध ऐसे मुख्य बिंदु हैं जिसमें जाति, महिलाओं के जीवन पर अतिक्रमण करती है। महिलाओं की संवेदनशीलता के सांस्कृतिक भय और उनकी पवित्रता तथा प्रतिबंधित व्यवहार पर जोर, महिलाओं को पुरुषों से बातचीत करने पर प्रतिबंध

लगाती है जो जाति समाज में महिला लैंगिकता के प्रबंधन के महत्वपूर्ण घटक हैं। उत्तरी भारत में पितृसत्ता की प्रधानता लैंगिकता और महिलाओं की प्रजनन क्षमता के नियंत्रण को संस्थागत करता है। एक गैर-बंधित महिला के मामले में गर्भावस्था एक अनर्थ है क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज में जाति-सीमा का मुद्दा एवं उसकी स्वयं की शुद्धता शामिल होती है।

बालिका के लालन-पालन पर अनेक कठोर प्रतिबंध होते हैं, पारिवारिक भूमिकाओं का आदर्श, महिला मर्यादा तथा महिलाओं की कौमार्यता पर नजर रखी जाती है। महिलाओं से जीवन भर अपने धर्म की परिशुद्धता को बनाए रखने की उम्मीद की जाती है।

पूर्व-यौवन चरण को शुद्धता चरण के रूप में देखा जाता है और इसे अनेक प्रकार से मनाया जाता है, जैसे नवरात्रि के 8वें दिन कुँवारी कन्याओं की पूजा करना और उन्हें भोजन कराना। इससे उनके व्यवहार को प्रतिबंधित किया जाता है और इसके लिए संरक्षण एवं सतर्कता की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। भारतीय समाज में सामाजिक रूप से स्वीकार्य मातृत्व के लिए प्रतिबंधित और नियंत्रित लैंगिकता एक पूर्व-अपेक्षा है (दुबे, वही)। यहाँ तक कि शहरी क्षेत्रों में सार्वजनिक कार्यों में कार्यरत मध्यमवर्ग की महिलाएं "अच्छी महिला" की छवि को बनाए रखने के लिए दबाव महसूस करती हैं और लैंगिक उत्पीड़न से जूझती हैं।

लैंगिक विषमता सिद्धांत जाति सगोत्र विवाह और दहेज के बीच संबंध अंतरा जाति के लैंगिक उत्पीड़न को प्रदर्शित करता है। "निम्न जाति" की महिलाओं में लैंगिक नियम (लोकाचार) और प्रतिबंध कम प्रभावी होते हैं। पुरुष पवित्र स्नान और कर्मकांड द्वारा ऐसे अपवित्र अपराध से छुटकारा पा सकता है जो अपराध उसने निम्न जाति की महिला के साथ शारीरिक संपर्क से किया था। लेकिन ऐसी विधि "उच्च जाति" की महिलाओं के लिए स्वीकार्य नहीं है। उसे घर से निकाल दिया जाता है और परिवार के लिए मरा हुआ समझा जाता है। विशेष रूप से, ग्रामीण भारत में अंतरा-जाति विवाह को अभी भी सहन नहीं किया जाता है और हाल ही में अनेक युगलों की हत्या के मामले प्रकाश में आए हैं। निम्न जाति और आदिवासी महिलाओं का लैंगिक उत्पीड़न कोई असामान्य बात नही है।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

एम.एन. श्रीवास्तव (1976 : 90) का कहना है कि समकालीन जाति समाज में सजातीय जाति, विवाह जाति के लिए एक सत्ता का रूप धारण करना पड़ता है जो दोनों ही इन पर प्रतिबंध लगाते हैं और ऐसी प्रमुख धारणा को जन्म देते हैं जो हिंदू समाज में दहेज प्रथा के महत्व को रेखांकित करता है। बढ़ते सामाजिक और आर्थिक अंतर ने दूल्हे के परिवार की उम्मीदों और मांग को और बढ़ा दिया है।

## 27.7 जनजाति, लिंग, स्तरीकरण एवं बदलाव

लम्बे समय तक यह माना जाता था कि जनजातीय समाज भारतीय संदर्भ में जाति और वर्ग के स्तरीकरण के अंतर्गत नहीं आते हैं और लिंग संबंधों को प्रायः समतावादी माना जाता था। जनजातीय महिलाओं की हैसियत को जाति महिला की हैसियत से श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि पवित्रता और अपवित्रता की संकल्पना उन पर लागू नहीं होती थी और महिलाओं को लैंगिक तथा वैवाहिक मामलों में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। आदिवासी अर्थव्यवस्था में महिलाओं के महत्वपूर्ण योगदान के बावजूद उन्हें संपत्ति पर अधिकार और राजनीतिक निर्णय से अलग रखा जाता था। आधुनिक साहित्य का सुझाव है कि जनजातीय समाजों में बहुत तेजी से बदलाव हो रहे हैं। उपनिवेशवाद, जाति समूहों के साथ सह-अस्तित्व, मिशनरियों, औद्योगीकरण, शिक्षा, राजनीतिक लोकतंत्रीकरण इत्यादि ने उनको काफी हद तक प्रभावित किया है। लैंगिक विषमता हमेशा ही इन समूहों में विद्यमान रही है। इसमें कई गुणा वृद्धि हुई और यह बाहरी प्रभाव के आयात और संपत्ति

तथा सत्ता पर आधारित बढ़ते स्तरीकरण के कारण अधिक जटिल हो गई है (मल्होत्रा, 2004)। राजनीति का लिंगीकरण और राज्य अन्य महत्वपूर्ण चिंता के विषय हैं। महिलाओं को मताधिकार और स्त्री-पुरुष समानता के लिए संवैधानिक प्रावधान राजनीतिक क्षेत्र और सांविधिक निकायों में महिलाओं की सहभागिता को सुनिश्चित नहीं कर सके हैं। सार्वजनिक नीति-निर्माण निकायों में उनकी भागीदारी की समाप्ति अपने अंतिम चरण में है। लैंगिक असमानता राज्य की दृश्यमान प्रगतिवादी नीतियों में अंतर्निहित है जैसा कि स्वामीनाथन ने रेखांकित किया है (1987, सीएफ. शर्मा, 1997)। वह न्यूनतम वेतन अधिनियम और समान पारिश्रमिक अधिनियम के साथ-साथ महिलाओं की शिक्षा के लिए नीति तथा हिंदू उत्तराधिकार कानून का उल्लेख करती है। भारत में महिला आंदोलनों ने व्यापक स्तर पर जागरूकता उत्पन्न की है और लिंग संबंधी मुद्दे ने केंद्रीय रूप धारण किया है। स्त्री-पुरुष असमानता और सशक्तिकरण के मुद्दों को उठाने वाले महिला संगठन भारतीय समाज में निचले स्तर और अन्य स्तरों पर लगातार अपना काम करते रहे हैं और वे सामाजिक और आर्थिक दमन के विरुद्ध स्थानीय कार्यनीतियों को अपनाते रहे हैं (मल्होत्रा, 2002)। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों ने गैर सरकारी संगठनों के कार्यों के माध्यम से आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए ग्रामीण तथा जनजातीय क्षेत्रों में अपना कार्य किया है। महिला सशक्तिकरण जिस पर व्यापक चर्चा की कई और जिसे व्यवहार में लागू किया गया, वह एक गुंजायमान शब्द बन गया और इसके फलस्वरूप विकास प्रक्रिया में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी से निचले स्तर पर एक क्रांति उत्पन्न हो रही है। लेकिन, अग्रवाल (1994) का कहना है कि प्रभावी अधिकार ही महिलाओं को शक्ति संपन्न कर सकते हैं। महिलाओं के संघर्ष से सामाजिक बदलाव होगा और उन्हें उस सांस्कृतिक बंधन से मुक्ति मिलेगी जो स्तरीकरण को स्थिर बनाए हुए है।

## 27.8 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि जेंडर, वंश, वर्ग, जाति अथवा स्थिति जैसे संगनकारी सिद्धांत के रूप में सामाजिक स्तरीकरण को सूचित और संगठित करता है। जेंडर, वंश और वर्ग के साथ मिलकर पाश्चात्य समाज की संरचना का निर्धारण करता है जबकि जाति और लिंग वर्ग के साथ मिलकर भारतीय संदर्भ में अपने सदस्यों के लिए कार्रवाई की संरचना को निर्धारित करता है। सामाजिक जीवन और महिला तथा पुरुष के दैनिक जीवन में हैसियत के निहितार्थ की समझ को समाज के वैचारिक और सांसारिक पहलुओं के रूप में प्रतीकात्मक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

लिंग संबंधी भेदभाव और स्तरीकरण के प्रश्न को महिला और पुरुष के बीच असमानता और केवल महिलाओं की अधीनता के रूप में ही नहीं समझा जाना चाहिए। नारीत्व के संबंध में किए गए हाल के शोध भी नारीत्व की तुलना में पौरुषत्व की प्रतीकात्मक संरचना का सुझाव देते हैं और बताते हैं कि सांस्कृतिक संरचना के रूप में लैंगिक स्वरूप किस प्रकार सभी समाजों और संस्कृतियों में व्यक्तिगत विशेषताओं की तुलना में संबंधगत आयामों को व्यक्त करता है।

## 27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अरेंसबर्ग, कॉनराल्ड एम. एंड सोलोन टी. किमबाल, 1940, *फेमिली एंड कम्युनिटी इन आयरलैंड*। कैम्ब्रिज, मासः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बतई, सी.बी. एंड सी.एफ. सर्जेंट (एडी.), 2001, *जेंडर इन क्रॉस कल्चरल पर्सपेक्टिव*। नई दिल्ली, प्रेंटिस हाल।

दुबे, लीला, एलीनर लीकॉक एंड शिरले अर्डेनर (एडी.), 1986, *विजिबिलिटी एंड पॉवरः एसेज ऑन वूमेन इन सोसायटी एंड डेवलपमेंट*। दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

किश्वर, मधु एंड रथ वनिता, 1984, *इन सर्च ऑफ आंसर्सः इंडियन वूमेंस वाइस फ्रॉम मनुषी* । लंदन, जेड बुक्स।

## 27.10 संदर्भ ग्रंथावली

अग्रवाल, बीना, 1984, *ए फील्ड ऑफ वन्स ओनः जेंडर एंड लैंड राइट्स इन साउथ एशिया*। कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

अग्निहोत्री, इंदु, 1996, "ब्रिंगिंग लैंड राइट्स सेंटर-स्टेट", *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, वाल्यूम नं. 9 526-29

अहमद करुणा, 1979, "स्टडीज ऑफ एजुकेटेड वूमेन इन इंडियाः ट्रेंड्स एंड इश्यूज", *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, वाल्यूम नं. 33 1435-40.

अरेंसबर्ग, कॉनराल्ड एम. एंड सोलोन टी. किमबाल, 1940, *फेमिली एंड कम्युनिटी इन आयरलैंड* । कैम्ब्रिज, मासः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

अटकिंसन, जेन, 1982, "रिव्यूःएंथ्रोपॉलॉजी", सिंह 8 236-258.

बर्धन, कल्पना, 1985, "वूमेनंस वर्क, वेल्फेयर एंड स्टेटसः फोर्सेस ऑफ ट्रेडिशन एंड चेंज इन इंडिया, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, वाल्यूम नं. 51 एंड 52 2207-20 एंड पीपी 2261-69.

बहल, मोनिषा, 1984, "विदइन एंड आउटसाइड द कोर्टयार्डः ग्लिम्पसेस इनटु वूमेंस परसेप्सन", *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, वाल्यूम नं. 41 1775-77.

बतई, सी.बी. एंड सी.एफ. सर्जेंट (एडी.), 2001, *जेंडर इन क्रॉस कल्चरल पर्सपेक्टिव*। नई दिल्ली, प्रेंटिस हाल।

कैम्पबेल, जॉन के. 1964, *हॉनर, फेमिली एंड पैट्रोनेज*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

आर. क्रॉम्पटन एंड एम. मन्न (एडी.), 1986, *जेंडर एंड स्ट्राटिफिकेशन*, कैम्ब्रिज, द पॉलिटी प्रेस।

दुबे, लीला, एलीनर लीकॉक एंड शिरले अर्डेनर (एडी.), 1986, *विजिबिलिटी एंड पॉवरः एसेज ऑन वूमेन इन सोसायटी एंड डेवलपमेंट* । दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

दुबे, लीला, 1986, "कास्ट एंड वूमेन", इन एम.एन. श्रीनिवास (एडी.) *कास्टः इट्स ट्वेंटीथ सेंचुरी अवतार*, वाइकिंग, पेंगुइन पब्लिसिंग हाउस, पीपीः1-27

फ्रेडल, अर्नस्टाइन, 1975, *वूमेन एंड मेनः ह्यूमेन एंथ्रोपोलॉजिस्ट्स* वियू, न्यूयार्क, हॉल्ट, रिनहर्ट एंड विंस्टन।

_____ , 1978, "सोसायटी एंड सेक्स रोल्स", *ह्यूमन नेचर*। अप्रैलः 68-75.

गुडेल, जेन सी, 1971, *तिवी वाइव्सः ए स्टडी ऑफ द वूमेन ऑप मेटवेल आयसलैंण्ड*, नार्थ आस्ट्रेलिया, सेटल, यूनिवर्सिटी आफ वाशिंगटन प्रेस।

कबीर, नैला (1995), *रिवर्स्ड आइडेंटिटीजः जेंडर हायरारकीज इन डेवलपमेंट थॉट*, न्यू दिल्ली, काली फार वूमेन।

किश्वर, मधु एंड रथ वनिता, 1984, *इन सर्च ऑफ आंसर्सः इंडियन वूमेंस वाइस फ्रॉम मनुषी* । लंदन, जेड बुक्स।

कुमार, नीता (एडी.) 1994, *वूमेन एज सब्जक्ट्सः साथ एशियन हिस्टोरीज*, न्यू दिल्ली, स्त्री।

लिडिल, जोन्ना एंड रमा जोशी, 1986, *डाटर्स ऑफ इंडेपेंडेंसः जेंडर, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया*, न्यू दिल्ली, काली फॉर वूमेन।

मान्न, मिखाइल, 1994, "पर्सस, हाउसहोल्ड्स, फेमलीज, लाइनेज, जेंडर्स, क्लासेस एंड नेशंस", इन द *पॉलिटी रीडर इन जेंडर स्टडीज*, पीपी. 177-94

मार्टिन, एम. के एंड बरबरा वूरट्रीज, 1975, *फीमेल ऑफ द स्पेशीज*, न्यूयार्क, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस।

मेग्स, अन्ना, 1990, "मल्टिपल जेंडर आइडियोलॉजी एंड स्टेटसेस", इन सैंडी पेगी एंड रथ गूडेन (एडी.) *बिवांड द सेकंड सेक्सः न्यू डायरेक्शंस इन द एंथ्रोपोलॉजी ऑफ जेंडर*, फिलाडेल्फिया, यूनिवर्सिटी ऑफ पेनिसिलवानिया प्रेस, पीपी. 99 - 112.

मेहरोत्रा, नीलिका, 2002, "परसीविंग फमिनिज्मः सम लोकल रिस्पौंसेस", सोसियोलॉजिकल बुलेटिन, 51(1) 58-79.

_____, 2004, "सिचुवेटिंग ट्राइबल वूमेन", *द ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट*, 57 (1) 61-73.

मर्फी, योलांडा एंड रॉबर्ट एफ मर्फी, 1985, *वूमेन ऑफ द फारेस्ट*, न्यूयार्क, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस।

न्यूबी, एच, 1982, द स्टेट आफ रिसर्च इनटु सोसल स्ट्राटिफिकेशन, लंदन, सोशल साइंस रिसर्च कौंसिल।

सरदामणी, के. एंड जून पी. मेंच, 1983, "मड्डी फीट, डर्टी हैंड्स, राइस प्रोडक्शन एंड फीमेल एग्रीकल्चरल लेबर", *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, वाल्यूम XVII नं. 52, पीपी.ए-149 - ए-167

सूद, रीता, 1988, चेंजिंग स्टेटस ऑफ वूमेन एंड पैटर्न्स ऑफ एडजस्टमेंटः ए सोशियोलाजिकल स्टडी इन दिल्ली मेट्रोपोलिस। पीएच.डी. जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी, न्यू दिल्ली।

शर्मा, के.एल., 1997, *सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन इंडिया*, न्यू दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस, पीपी 133-156.

श्रीनिवास, एम.एन., 1952, *रिलिजन एंड सोसायटी अमंग द कूर्ग्स ऑफ साउथ इंडिया*। ऑक्सफोड, क्लेरेंडन प्रेस।

_____, 1962, *कास्ट एंड मार्डन इंडिया एंड अदर्स एसेज*, लंदन एशिया पब्लिशिंग हाउस।

_____, 1984, *सम रिफलेक्शनंस ऑन डावरी*, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

_____, 1986, *कास्टः इट्स ट्वंथीथ सेंचुरी अवतार*, वाइकिंग पेंगुइन पब्लिशिंग हाउस।

वाल्बी सिल्विया, 1994, "टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ पैट्रिआर्की", *द पॉलिटी रीडर इन जेंड स्टडीज*, पीपी.22-28 .

MAADHYAM IAS

इकाई 28

# जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

**इकाई की रूपरेखा**


28.1 प्रस्तावना

28.2 जाति की परिभाषा

28.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

28.4 युगों से प्रचलित जाति व्यवस्था

28.5 जातिः एक पृथक परिघटना नहीं

28.6 सारांश

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- जाति की परिभाषा दे सकेंगे;
- प्रथा के रूप में जाति के सिद्धांतों को रेखांकित कर सकेंगे; तथा
- युगों से प्रचलित जाति व्यवस्था को स्पष्ट कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 28.1 प्रस्तावना

यह शायद सत्य है कि पारंपरिक हिंदू समाज की सर्वाधिक उल्लिखित विशिष्टता है यहाँ की जाति की संस्था या जैसा कि अक्सर जाता है जाति व्यवस्था।

जाति की उत्पत्ति एक ऐसा विषय है जिसने बहुत सी परिकल्पनाओं को जन्म दिया है। युगो पुरानी भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में कोई एकमतता नहीं है। जाति संरचना इतनी जटिल है कि यद्यपि सामाजिक वैज्ञानिकों ने इस विषय पर ढेर सारा शोध किया है फिर भी इसकी उत्पत्ति का वैध स्पष्टीकरण अभी तक सामने नहीं आया है।

हमारी यह इकाई जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के विविध सिद्धांतों पर देखने का प्रयास करती है; इस इकाई में हमने विविध बुद्धिजीवियों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं एवं ऐसे मुद्दों को स्पष्ट किया है कि किस प्रकार युगों से जाति व्यवस्था स्वतः कायम है और इसके चिर-स्थायित्व के लिए ऐसी कौन सी शक्तियाँ हैं जो समग्र रूप से उत्तरदायी हैं।

## 28.2 जाति की परिभाषा

जाति शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द "कास्टस" से हुई है जिसका अर्थ है "शुद्ध" । पुर्तगाली शब्द 'कास्टा' जिसका अर्थ मूल वंश, वंश परंपरा या शुद्ध स्टाक है। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी तक 'कास्ट' शब्द का प्रयोग इसके लिए भारतीय नजरिए से नहीं किया गया। लेकिन अब भारतीय भाषा में जो इस शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है वह सर्वाधिक प्रचलित है और इसने बाकी के इसके सभी अन्य प्रयोगों को प्रभावित किया है। चूँकि जाति पर भारतीय विचार को स्पष्ट रूप से नहीं समझा गया, इसलिए शब्द को भारत की जाति

के साम्य में यूरोप के श्रेणीबद्ध वर्गों पर निर्बन्ध रूप लागू किया गया जो कि स्वयं को सामाजिक रूप से एक अलग पहचान के रूप में रखते हैं। पुर्तगालियों ने भारतीय आस्था को व्यक्त करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया क्योंकि उनका मानना था कि ऐसी प्रथा रक्त की शुद्धता को कायम रखने पर लक्षित है।

एक तरफ भारत के संबंध में विशेष रूप से सामाजिक स्तरीकरण की समग्र पद्धति को विस्तृत रूप से व्यक्त करने में शिक्षार्थी का ध्यान इस ओर खींचा जाता है जबकि दूसरी ओर इसका प्रयोग समग्र पद्धति के चार कमोबेश विशिष्ट पहलुओं को व्यक्त करने के लिए किया जाता है अर्थात वर्ण, जाति और गोत्र।

अंग्रेजी शब्द "कास्ट" का अविचारित प्रयोग निरंतर संभ्रांति का स्रोत रहा है। मनु स्पष्ट रूप से कहते है कि वर्ण सिर्फ चार अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पाँचवांवर्ण कोई भी नहीं है जबकि वे पचास से अधिक जातियों की बात को मानते हैं। मनु के अनुसार वर्ण ऐसे चार प्रभाग हैं जिनमें जातियों को समूहों में वर्गीकृत किया गया है। लेकिन बाद के बुद्धिजीवी इस ओर इशारा करते हैं कि यहाँ तक कि मनु भी जाति को वर्ण् से जोड़ने की गलती करता है। इस तथ्य के कारण उलझन उत्पन्न होती है कि ब्राह्मण को वर्ण और जाति अर्थात दोनों नामों से पुकारा जा सकता है।

रिस्ले के अनुसार, "जाति को ऐसे परिवारों या परिवारों के समूहों के संग्रहण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनका एक सामान्य नाम होता है, कल्पित पूर्वज से प्राप्त वंश का दावा जो कि मानवीय या लौकिक हो सकता है और उसी के पद चिह्नों का अनुसरण करना और उन्हीं के सम्मान को कायम रखते हुए ऐसा समुदाय सृजित करना जो उन्हीं के मत पर ही कायम रहे। ऐसा नाम आमतौर पर किसी विशिष्ट व्यवसाय से संबद्ध होता है या उसमें उस व्यवसाय की झलक होती है। जाति एक नजरिए से सजातीय होती है कि ऐसे सामान्य नाम से जाने जाने वाले बड़ी संख्याक लोग इस घेरे से बाहर विवाह नहीं कर सकते लेकिन इस घेरे के भीतर आमतौर पर ऐसे बहुत से छोटे घेरे होते हैं जिनमें से भी प्रत्येक सजातीय होता है। केतकर सामाजिक समूह के रूप में जाति को इस तरह परिभाषित करते हैं जिसकी दो विशिष्ट विशेषताएं होती हैं:

1) सदस्यता ऐसे लोगों तक सीमित है जो सदस्यों से जन्मे हैं और जो आगे भी ऐसे ही जन्म लेते रहेंगे।

2) सदस्यों को समूह से बाहर विवाह करने की इजाजत नहीं होती और ऐसे सामाजिक कानून का पालन करना उनके लिए अत्यावश्यक होता है। ऐसे समूहों में से प्रत्येक का विशिष्ट नाम होता है और इसी नाम से समूह को पुकारा जाता है। ऐसे बहुत से छोटे-छोटे समूहों को एक सामान्य नाम के अंतर्गत एक समूह में रखा जाता है जहाँ ऐसे विस्तृत समूह बड़े समूहों के उपसमूह होते हैं जो होते तो विस्तृत हैं और जिनके अपने अलग नाम होते हैं।

**बॉक्स 28.1 : जाति व्यवस्था पर विचार**

गाल्ट का कहना है कि जाति ऐसा सगोत्र समूह या ऐसे समूहों का संग्रहण है जिनका अपना एक सामान्य नाम होता है और जिसकी मूल उत्पत्ति उनके पारंपरिक व्यवसाय से होती है और जिससे एक ऐसा समुदाय बन जाता है जिसमें सभी की एक जैसी पहचान होती है और जिसके मूल बिंदु समाज के किसी अन्य वर्ग की तुलना में आपस में अंतःसंबद्ध होते हैं।

**बतई** की जाति की परिभाषा के अनुसार, सगोत्र एवं वंशागत सदस्यता से प्राप्त नाम पर आधारित व्यक्तियों का समूह जिनकी जीवन शैली विशिष्ट किस्म की होती है और जिसमें उनके पारंपरिक व्यवसाय की झलक होती है और जो कमोबेश सोपानक्रम पद्धति में विशिष्ट आनुष्ठानिक स्थिति से जुड़ी होती है।

**एम.सेनार्ट** ने जाति को ऐसे घनिष्ठ संघ के रूप में परिभाषित किया है जो कि पूर्णतया वंशागत नियमों पर टिका है और जिसकी अपनी मूल परंपरा है जिसमें उनके मुक्त संगठन का अपना मुखिया एव परिषद होती है जो कि कभी-कभार बैठकों में एक दूसरे से मिलते हैं और कई महोत्सवों पर इकट्ठा होते हैं। इन सभी का सामान्य व्यवसाय होता है जो कि विवाह या भोजन या आनुष्ठानिक शुद्धता के कारण सामान्य होता है और जिसमें मुखिया का पूर्ण अधिकार होता है और जो जाति पर कड़ी पाबंदियाँ लगाता है और जिनका उल्लंघन करने पर वह समूह से व्यक्ति को निष्कासित भी कर सकता है।

**नेस्फील्ड** के अनुसार जाति ऐसे समुदाय का वर्ग है जो किसी अन्य वर्ग से किसी तरह का कोई संबंध नहीं रखता और सिवाय अपनी जाति के किसी अन्य जाति से न तो खान-पान जैसे संबंध रखते हैं और न ही उनमें विवाह करते हैं।

मजुमदार एवं मदन के अनुसार जाति की परिभाषा इस प्रकार है: जब कुछ लोग मिलकर भौतिक एकजुटता की बजाय अपने सामान्य हितों और काम करने के सामान्य तरीकों के कारण समूह बनाते हैं जिसके परिणामस्वरूप समाज में उच्च या निम्न समूहों की उत्पत्ति होती है। ऐसे समूहों को प्रतिष्ठा समूह कहते हैं। यदि ऐसे समूह में प्रवेश खुला है और कोई निश्चित शर्तों को पूरा करके जैसे कोई उपाधि की प्राप्ति करके या प्रवेश शुल्क भरके या निश्चित आमदनी अर्जित करके इसका सदस्य बन सकता है तो ऐसे प्रतिष्ठा समूह को वर्ग भी कहा जा सकता है। यदि भर्ती निःशुल्क नहीं है अर्थात यदि प्रतिष्ठा समूह किसी अन्य निकाय के लिए खुला नहीं है बल्कि इसके सदस्य सिर्फ वे हैं जिनके पास कुछ निश्चित योग्यता या गुण हैं जिनकी प्राप्ति किसी अन्य सदस्य द्वारा नहीं की जा सकती तब ऐसे समूह को जाति कहते हैं।

फ्रांसीसी लेखक बुगले की अंतिम राय है कि जाति व्यवस्था समग्र समाज को बहुत से वंशानुगत समूहों में विभाजित करता है जो कि आपस में एक दूसरे से भिन्न हैं और तीन विशेषताओं से एक दूसरे से जुड़े हैं:

1) प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विवाह एवं संपर्क के मामलों में पृथक्करण, (खान-पान) भी अलग;

2) श्रम विभाजन अर्थात प्रत्येक समूह अपनी निजी परंपरा से अपनी एक अलग पहचान बनाता है। उनका ऐसा व्यवसाय होता है जिससे निश्चित सीमा तक ही वे अलग हो सकते हैं; और

3) अंततः सोपानिकी जिससे समूहों को अपेक्षाकृत उच्च या निम्न दर्जा दिया जाता है।

यह परिभाषा व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं को दर्शाती है।

जिस तरह दशकों से विविध बुद्धिजीवियों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं उसी तरह जाति व्यवस्था के उद्भव के भी बहुत से सिद्धांत हैं।

## 28.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

जैसाकि उपर्युक्त विविध परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भारत में जाति एक सामाजिक संस्था है जो कि हिंदू धर्म की संस्वीकृति एवं इसके ताने-बाने से बनी है। जाति की सदस्यता अनिवार्य है और इसमें अपनी मर्जी नहीं चलती। जन्म से यह मनुष्य को मिलती है।

व्यक्ति विशेष के लिए अपनी जाति को बदलना व्यावहारिक रूप से संभव नहीं है। प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति की विशिष्ट परंपरा पर गर्व होता है और प्रत्येक जाति बड़ी दृढ़ता

से इसका संरक्षण करती है। रीति-रिवाजों से कुछ हद तक ये एक जाति से दूसरी जाति में भिन्न होते हैं और कई मामलों में ये अन्य जातियों की तुलना में विपरीत होते हैं। जाति व्यवस्था अपने प्रत्येक व्यक्ति को कुछ नियम भी प्रदान करती है जिन्हें उसे भोजन, विवाह, तलाक, जन्म, दीक्षा एवं मृत्यु के समय उनका पालन करना पड़ता है।

जाति के दंड एवं आलोचना सभी सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक गतिविधियों को अभी भी शासित करते हैं।

**अभ्यास 28.1**

आपकी राय में जाति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू कौन-सा है? नोट बुक में अपना उत्तर लिखने से पहले समग्र इकाई का अध्ययन करें।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण की ऐसी पद्धति समाज को हजारों, लघु, वंशागत एवं सगोत्र समूहों में विभाजित करती है। जहाँ प्रत्येक समूह के अपने विशिष्ट रीति-रिवाज एवं व्यवहार हैं जो मिलकर सोपानिकी को गठित करते हैं। जाति का ऐसा प्रत्येक समूह एक या अधिक पारंपरिक व्यवसाय से संबद्ध है और जो कि सुस्पष्ट श्रम विभाजन के साधनों से दूसरों से जुड़ा हुआ है।

जाति व्यवस्था जिस पर हिंदू समाज की पारंपरिक व्यवस्था आधारित है, माना जाता है कि वह स्मरणातीत रूप से प्राचीन है। वह मानव समझ से भी पहले की बात है। जाति संरचना की जटिल प्रकृति इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि इतिहास में शताब्दियों से घोर एवं मेहनतकश शोध करने के बाद भी हम ऐसी किसी ठोस विवेचना पर नहीं पहुंचे हैं जिसने कि भारत में इस अनूठी पद्धति के गठन एवं विकास में अपना योगदान दिया हो। जैसा कि डी.एन.मजुमदार टीका करते है। कि विषय पर जितने लेखक हैं जाति व्यवस्था के उद्भव के संदर्भ में उतने ही सिद्धांत हैं।

1931 में हुई भारतीय जनगणना ने निम्नलिखित पाँच सिद्धांतों को जाति के उद्भव के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। अतः अपने प्रयास को सरल बनाने के लिये हम भी उन संदर्भों की चर्चा करेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

### क) दैवीय शुरुआत

यह माना जा सकता है कि अधिकांश धार्मिक प्राधिकार शास्त्र एवं पुराणों ने जाति व्यवस्था की दैवीय शुरुआत का समर्थन किया है। इसलिए हिंदुओं में आम भावना है कि ईश्वर के आदेश या उसकी इच्छा से इसकी स्थापना की गई है और इसलिए इसका कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए। ऋगु वेद में "पुरुष सूक्त" के अनुसार लोग चार जातियों (वर्णों) से संबद्ध हैं जोकि पुरुष (रचियता) के चार अंगों से बनी है। ब्राह्मण इस (पुरुष) का मुख है, राजन्या (क्षत्रिय) इसकी भुजाएं हैं, वैश्य इसकी जंघा है और शूद्रों की उत्पत्ति इसके पाद से हुई है।

इस नजरिए को धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों के अधिकांश भागों में भी अभिव्यक्त किया गया है। मनु जिसकी उद्घोषणा को प्राधिकार के रूप में देखा जाता है, उसने भी इस नजरिए पर अपनी हामी भरी है। वह आगे दावा करता है कि विविध जातियों की उत्पत्ति पहले चार वर्णों के आपस में मिलने, बाद में इनके वंशजों के बीच संबंध बनने और इसके साथ-साथ पवित्र रीतियों के कड़ाई से पालन न करने की वजह से इनका अवमूल्यन होने से हुई है। इसके अलावा मनु का ग्रंथ दस विश्व के पहले युग के ऋषियों द्वारा जाति के हवाले की बात भी करता है अर्थात मारीचि, अत्रि, अंगीरा, पुलस्तया, पुलाहा, ऋतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु एवं नारद। महाभारत में भी विविध दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त किया गया है। शांतिपर्व में भृगु का दावा है कि विश्व की रचना ब्रह्मा ने की है और बाद में कार्यों

के फलस्वरूप पूरा विश्व जातियों में विभाजित हो गया। लेकिन महाभारत में यह कहा गया है कि भगवान कृष्ण ने अपने मुख से ब्राह्मणों की रचना की, क्षत्रियों की उत्पत्ति उनकी भुजाओं से हुई और वैश्यों की उनकी जंघा से और शूद्रों की व्युत्पत्ति उनके चरण से हुई है। भागवत गीता में कहा गया है कि जातियों का चार स्तरीय विभाजन ईश्वर द्वारा उनके गुणों एवं कर्त्तव्यों के आधार पर हुआ है।

ख) **कर्म और आत्मा का देहान्तरण**

इसके बाद कर्म और आत्मा का चोला बदल का सिद्धांत है जो कि जाति व्यवस्था की पुष्टि करने का प्रयास करता है। व्यक्ति की विविध स्थितियाँ अर्थात उच्चतम, मध्यम एवं निम्नतम सभी कर्मों से बनती हैं। मनुष्य को जीवन में जो कुछ मिलता है वह उसके पिछले जन्म का फल है। मनुष्य को जो सुख या दुख मिलता है, उसके अपने कर्मों का फल है। बुरे काम का नतीजा भी बुरा होगा चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से किया गया हो या छिपकर। इस जन्म में मनुष्य जो अच्छे बुरे कर्म करता है उसी आधार पर अगले जन्म में वह पक्षी, जंगल जीवन या नीच जाति में जन्म लेता है।

जो अच्छे कर्म करते हैं उन्हें पहले से बेहतर जीवन मिलता है और जो आदर्श जीवन जीते हैं वे जन्म और मृत्यु के चक्र से बाहर निकल जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। ऐसे जीवन की लालसा में अर्थात प्रतिफल और न्याय से न केवल मनुष्य को बुरे जीवन से छुटकारा मिलता है बल्कि इससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पापों से छुटकारा मिलता है और उसके पूर्वजों का भी भला होता है। इस तरह यहाँ तक कि सर्वाधिक नीच व्यक्ति जो कि अति निम्न दर्जे का धंधा करता है वह भी इस विश्वास से संतुष्ट हो जाता है कि उसके मौजूदा जीवन की तकलीफें उसके पिछले जीवन के पापों का फल है और यदि वह चुपचाप इस जीवन में अपने जाति संबंधी कर्त्तव्यों को निभाता रहेगा तो अगले जीवन में उसे उच्च जाति में जन्म मिलेगा।

**बॉक्स 28.2 : जातियों का गठन**

हरबर्ट रिस्ले (1915) द्वारा अपनी पुस्तक "द पीपुल ऑफ इंडिया" में प्रतिपादित उसके जातीय सिद्धांत के अनुसार जातीय अंतर और सगोत्र विवाह से जाति व्यवस्था की मूल उत्पत्ति हुई है। उसके अनुसार, जाति व्यवस्था पर्शिया से इंडोआर्यन के उत्प्रवास के बाद विकसित हुई है जहाँ समाज चार वर्गों — पुरोहित, योद्धा, कृषक एवं शिल्पकारों में विभाजित था और भारत आने के बाद भी उन्होंने इस प्रथा को कायम रखा। गैर-आर्यों से वे संस्कृति एवं जातीय मार्गों का अनुसरण करने में भिन्न थे। इसलिए अपनी उच्च स्थिति को बनाए रखने के लिए उन्होंने अतिविवाह के चलन को अपनाया और "प्रतिलोम" विवाहों पर पाबंदी लगा दी।

रिस्ले (1915) ने ऐसे छह प्रक्रमों का वर्णन किया है शायद जिससे जातियों का गठन हुआ होगा। ये हैं; मूल लोगों की जनजातियों का हिंदु धर्म के दायरे को ध्यान में रखते हुए या तो उनकी निजी जनजातीय पदनाम या नई जाति के रूप में नामांकन और जाति के उद्भव में व्यवसाय मुख्य कारक रहा है और मूल व्यवसाय में तब्दीली से जाति का उप विभाजन जिससे अंततः एक अलग जाति विकसित हो गई और सुस्थापित आनुष्ठानिक व्यवहारों को नजरअंदाज करने से नई जाति का विकास और कुछ विशेष समूहों की अप्रचलित परंपराओं को संरक्षित करने की प्रवृत्ति और संप्रदायों का उदय जिन्होंने धार्मिक संप्रदायों के रूप में जीवन की शुरुआत की।

क्रोबेर (1930) जातीय कारक की हिमायत करते हैं लेकिन साथ ही साथ धार्मिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक कारकों को भी महत्वपूर्ण मानते हैं।

घुर्ये (1932) ने जाति व्यवस्था को ब्राह्मणवादी व्यवस्था के रूप में स्पष्ट किया है और उसका मानना है कि विजयी गैर-आर्यन जाति शूद्र बन गई जिन्हें आर्यों की धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधि से अलग कर दिया गया।

मजूमदार (1957) का मानना है कि जातियों के आपसी संपर्क और संस्कृति के टकराव से सामाजिक समूहीकरण का जन्म हुआ। उसका यह भी मानना है कि उच्च जातियों ने अपने सदस्यों को विशिष्ट व्यवसाय सौंपे और अपनी ऊँची हैसियत को बनाए रखने के लिए अन्य लोगों को ऐसे व्यवसायों से वंचित कर दिया। इससे सोपानिकी आधारित जाति व्यवस्था का जन्म हुआ।

अतः यह नजर आता है कि जातीय कारक को अधिकांश बुद्धिजीवियों ने स्वीकारा है लेकिन फिर भी जाति व्यवस्था के विकास में इसे सिर्फ एकमात्र कारक के रूप में नहीं देखा जा सकता।

जाति की मूल उत्पत्ति के विषय पर यूरोपियाई लेखकों को जातियों, उच्च और निम्न और सजगता और असजगता से जाति के साथ अपने निष्कर्षों को जोड़ने की बात का पता था। विअल लिखते हैं कि भारत का समग्र इतिहास प्राचीनतम समय को गठित करता है और जो कि रंग पूर्वाग्रहों की लंबी दास्तां रहा है और जितनी क्रूरता इसमें रही है शायद बाकी के जगत में इतनी नहीं रही होगी। उसका मानना था कि आर्य जाति जो कि "श्वेत" थी ने जाति की लौह व्यवस्था को शायद इसलिए विकसित किया ताकि प्रभुत्व जाति को "श्याम" निम्न जाति से मिलने से रोका जा सके।

डब्ल्यू.जे. थॉमस आबादी में चिह्नित शारीरिक संकेतों पर ध्यान केंद्रित करते हैं और उच्च और निम्न सांस्कृतियों के बीच के संबंधों को आपस में जोड़ते हैं और उनके अनुसार यही जाति विशिष्टता का आधार है।

डुडले बक्सटन का मानना है कि भारतीय प्रायद्वीप की जटिल प्रजातियों को विभक्त करने में जाति अभी भी सहायक है।

गिल्न का मानना है कि यह संभव है कि विविध आबादियों के बीच प्रजातीय विभेदन के मद्देनजर भारत में जाति की उत्पत्ति हुई।

मैक्लेवर का भी जाति संरचनाओं के मूल वंशीय सिद्धांतों के प्रति झुकाव है। उसका कहना है कि जाति की उत्पत्ति शायद एक सगोत्र समुदाय को दूसरी जाति पर थोपने का परिणाम है और मूल वंश के धर्म और गौरव से शायद ऐसे व्यवहार को थोपा गया होगा।

जाति के गठन में रंग के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। वर्ण व्यवस्था की जड़ों में रंग का प्रश्न वर्ण शब्द से स्पष्ट है जिसका अर्थ रंग है।

वर्ग, जिसने जाति को आपस में मिलाने की बात को नकारते हुए रंग की पूर्ण शुद्धता को कायम रखा, ने सामाजिक पैमाने पर श्रेष्ठता हासिल की। स्थिति सामाजिक समूहों द्वारा कायम पृथक्करण के विस्तार पर भी निर्भर करती है। ब्राह्मण श्वेत वस्त्र पहनते थे, क्षत्रिय लाल और वैश्य पीले और जैसा कि महाभारत में वर्णित है, शूद्र काले वस्त्र पहनते थे। तीन उच्च वर्णों ने महत्वपूर्ण व्यवसायों से स्वयं को जोड़कर उच्च स्थिति बनाए रखी।

कार्वे, हालांकि इस नजरिए को स्वीकार नहीं करते कि वर्ण का मूल अर्थ "रंग" है। उसका तर्क है कि यदि पिछले साहित्य और व्याकरण की गहराई से जाँच की जाए तो वर्ण का अर्थ "वर्ग" से है। कार्वे इस बात पर कायम है कि बाद में वर्ण शब्द का अर्थ "रंग" से लिया गया और प्राचीन समय में चार वर्गों को "रंग" के आधार पर विभाजित किया गया।

जाति संरचना के गठन में सामाजिक कारक जिसे बहुत से बुद्धिजीवियों ने माना है और इसी तरह जाति व्यवस्था के विकास को सिर्फ मूल वंश के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

### ग) व्यावसायिक सिद्धांत

नेस्फील्ड (1885) द्वारा प्रतिपादित व्यावसायिक सिद्धांत इस बात का समर्थन करता है कि इस व्यवस्था के विकास के लिए व्यवसाय सिर्फ एकमात्र कारक है। उसके अनुसार इससे पहले पुरोहितगिरी जैसे व्यवसाय पर सिर्फ ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे जब भजन एवं धार्मिक अनुष्ठान अधिक जटिल बन गए तो कुछ गिने-चुने लोग इस कार्य में निपुण हो गए और ब्राह्मण बन बैठे। त्याग या बलिदान के महत्व के कारण ऐसे लोगों का अधिक आदर होने लगा। बाद में धीरे-धीरे यह व्यवसाय वंशानुगत बन गया। इसके बाद लोगों के अन्य वर्ग भी विशेषाधिकार की प्राप्ति के लिए स्वयं को ऐसे कार्यों में संगठित करने लगे। यह कदम उन्होंने आत्म-रक्षा के लिए उठाया और ऐसे लोगों की नकल करने में जिन्हें वे उच्च सम्मान देते थे।

**बॉक्स 28.3 : रैंकिंग एवं जाति**

विविध व्यवसायों ने विविध जनजातियों के लोगों को एक समूह में बाँधकर जातियाँ बनाई जिसमें तब सगोत्र के सिद्धांतों को अपनाया गया और जिसमें पुरानी जनजातियों के रीति रिवाजों को लागू नहीं किया गया और इस तरह पृथक इकाइयों में ये मजबूती से बंध गए। किसी भी जाति की रैंकिंग उच्च या निम्न के रूप में इस बात पर निर्भर करती है कि जाति किस तरह की संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रही है अर्थात संस्कृति उच्च किस्म की है या पिछड़ी हुई है। इस तरह, भारतीय जातियों का उच्च् या निम्न रूप में गठन इस तरह ही बना है। अतः शिकार करना, मछली पकड़ना, टोकरियाँ बनाना आदि जैसे सर्वाधिक प्राचीन धंधों को करने वाली जातियों को निम्नतम माना गया और धातु का काम करने वाले, कृषकों एवं पाठकों को उच्च माना गया जबकि उच्चतम जाति में पुरोहित एवं अध्यापकों को रखा गया।

स्लेटन ने अपनी पुस्तक 'ड्राविडियन एलिमेंट्स इन इंडियन कल्चर' में इस तथ्य पर जोर दिया कि उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिणी भारत में जाति की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक मजबूत थी और उसका सुझाव है कि आर्यों के हमले से पहले भारत में जाति में उत्पत्ति हुई थी क्योंकि व्यवसाय पुश्तैनी बनते जा रहे थे और समान व्यवसाय वाले वर्ग में विवाह माता-पिता द्वारा तय किए जा रहे थे क्योंकि लैंगिक परिपक्वता जल्द विकसित हो गई और व्यापार संबंधी गुप्त बातों को संरक्षित किया गया। जादुई एवं धामिक समारोहों के परिणामस्वरूप भी पूर्ण व्यावसायिक समूहों का निर्माण किया गया और जहाँ इनके बाहर विवाह तय करने पर रोक थी। आर्यों के हमले ने ऐसी प्रवृत्ति को सुदृढ़ किया जिसमें रंग के अंतर के बीच की दूरी कम होने लगी और जातियों को समाज में उनके महत्व के अनुसार श्रेणीबद्ध किया जाने लगा। वह भारत में पूर्व आर्य समाज में पुरोहित जादूगरों की व्यवस्था की मौजूदगी को भी कायम रखता है।

डेंजिल लिटसन का मानना है कि जाति, जनजातियों, मूल, प्रकार्यात्मक शिल्प संघ एवं विहिकल धर्म के संयोजन से उभ्रा है और यह जनजाति पर विशेष जोर देता है अर्थात जनजाति के जीवन में जबर्दस्त मोड़ जब यह अपने जंगली और रोमांसकारी जीवन का त्यागकर अपने आर्थिक जीवन के लिए मुख्य रूप से किसी विशिष्ट व्यवसाय को अपनाती है। यह जाति इतिहास में शिल्प संघ अवस्था की शुरुआत है और यह विश्व में सभी लोगों की कुछ निश्चित समयावधि में आर्थिक प्रगति को दर्शाती है। व्यावसायिक संघों के शिल्प संघों के गठन से विविध शिल्पकलाओं के महत्व और संबद्ध कौशलों को स्वाभाविक रूप से महत्व मिला। मध्यकालीन युग में शिल्पकारों ने देश के सामाजिक जीवन पर अपना प्रभाव जमाने के लिए एक दूसरे से होड़ की। जो शिल्प पुरोहितों की तरह का कार्य करते थे वे अपनी व्यावसायिक स्थिति को पुश्तैनी किस्म का बनाना चाहते थे और इससे सगोत्र इकाइयों का गठन होने लगा क्योंकि अधिकांश शिल्प अपनी सामाजिक स्थिति को

संरक्षित करना चाहते थे और जो विशेषाधिकार उन्हें मिले थे, उन्हें वे कायम रखना चाहते थे और अपने सदस्यों के लिए इन्हें स्थायी रूप से बनाए रखना चाहते थे। बाद में बहुत से शिल्पों ने इस बात का अनुसरण किया और इस तरह सोपानक्रम संगठन स्वतः ही स्थापित हो गया।

चैपल और कून ने जातियों की मूल उत्पत्ति को आदिवासियों के विलयन के रूप में देखा है और ये नये व्यवसायों के आविर्भाव के संदर्भ में नयी जातियों के गठन को भी स्पष्ट करते हैं।

### घ) जनजातियाँ और धार्मिक सिद्धांत

अत्यधिक प्राचीन समय से जनजातियाँ धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करती आ रही है। यह बदलाव बहुत से तरीकों से नजर आता है और माना जाता है कि आज की सर्वाधिक निम्न जातियाँ पहले जनजातियाँ थी।

रिस्ले ने ऐसे चार प्रक्रमों का उल्लेख किया है जिससे जातियों के रूप में जनजातियों का रूपांतरण प्रभावित होता है। ये प्रक्रम हैं :

1) मूल जनजाति के अग्रणी लोग किसी तरह अपनी दुनिया से बाहर निकल कर स्वतंत्र भूपति बन गए और स्वयं को किसी जानी मानी जाति में नामांकित कराने में सफल हो गए।

2) बहुत से आदिवासियों ने हिंदू धर्म के सिद्धांतों को अपना लिया और वैष्णव बन गए और अपने जनजातीय नाम का त्याग कर दिया।

3) समग्र आदिवासियों या उनके एक भाग ने किसी नई जाति की शैली के अंतर्गत हिंदूवाद की श्रेणियों में स्वयं को नामांकित किया जिससे पुरानी पहचान की तुलना में उनका मौजूदा नाम एवं स्तर बिल्कुल अलग है।

4) आदिवासियों की समग्र जनजाति या भाग धीरे-धीरे अपनी जनजातीय पहचान को छोड़े बिना हिंदू धर्म में परिवर्तित हो गया। रिस्ले, पश्चिम बंगाल की भूमिज एक शुद्ध द्रविड़ जाति के मामले का उल्लेख करता है जिसने अपनी मूल भाषा को खो दिया और अब बांग्ला बोलती है । वे अपने देवी-देवताओं के साथ-साथ हिंदू देवी देवताओं को भी मानते हैं और इनमें से अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध पारिवारिक पुरोहित के रूप में ब्राह्मणों को रोजगार देते थे। ये अभी मुडा और सैंथालों जैसे एक अलग असगोत्र भाग को कायम किए हुए हैं और इन्होंने टोटमों को भूलना शुरू कर दिया है और इनके नाम भी धीरे-धीरे नये पदनामों की गूंज में छिपते नजर आएंगे। इस तरह जनजाति जाति बन गई होगी और अपने मूल रीति-रिवाजों को भूलने लगी होगी।

इन चार प्रक्रमों में मजूमदार ने एक पाँचवाँ प्रक्रम जोड़ा है जिसमें आदिवासी या अर्ध-आदिवासी जनजाति का कोई भी सदस्य किसी विशिष्ट जाति या गोत्र को को अपनाता है और स्वयं को उस विशिष्ट जाति के सदस्य के रूप में नामांकित कराने में सफल हो जाता है और धीरे-धीरे उस जाति के सदस्यों से विवाह जैसे संबंध भी कायम कर लेता है। उसकी संपत्ति और प्रभाव उस जाति के लोगों को आकृष्ट करता है जिसका वह सदस्य बनना चाहता है और इस तरह लंबे समय में वह उस जाति का स्थायी सदस्य बन जाता है। हिंदू जातियों से सांस्कृतिक संपर्कों से जनजातियों ने हिंदू आस्थाओं, आनुष्ठानों एवं रीति-रिवाजों को अपना लिया और इस तरह वे हिंदू त्योहारों में भाग लेने लगे और हिंदू मंदिरों में जाने लगे।

आदिवासियों का धीरे-धीरे उच्च हिंदू वर्ग की ओर रुख करना भारत में सामाजिक उद्गम की मुख्य विशेषता है जिस पर सरकारी कार्यालयों ने गौर किया है और इस पर अपनी टिप्पणी भी की है।

भुइया एक उत्कृष्ट उदाहरण देते है कि किस प्रकार आदिवासियों की स्थिति से जाति या समूह अंतर और विशिष्टताएं धीरे-धीरे आगे उभरी जब लोगों ने पुराने रिश्तों का त्याग करके स्वयं को ईश्वरीय एवं सामाजिक संदर्भ में नया महत्व दिया। इसी तरह मुंडा सामाजिक संगठन और "गोत्र" और "वर्ण" के हिंदू सामाजिक संगठन में भी काफी हद तक समानता है। मुंडा अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा के कुछ विशेष भागों में पाए जाते हैं जहाँ वे तीन नामों अर्थात मुंडा, संथाल और होस जनजाति के अंतर्गत जाने जाते हैं।

संथाल चार प्रमुख गोत्रों में विभाजित हैं जिनमें से एक गोत्र का कुछ पता नहीं है। शायद ऐसा खोया हुआ गोत्र पूरी तरह ब्राह्मणवादी या क्षत्रियवादी बन गया है और इसके वंशज सच्चाई बताना नहीं चाहते।

च) **परिवार और विवाह**

सेनार्ट द्वारा प्रदत्त विवेचना का मानना है कि भारतीय जाति व्यवस्था का मुख्य आधार बहिर्विवाह है। उसकी राय में जाति, प्राचीन आर्य आस्था का सामान्य विकास है जिसने एक ही गोत्र में विवाह की मनाही, निम्न जातियों के स्पर्श पर अशुद्ध होना और दूसरी जातियों से खान-पान निषेध जैसी भारत में मौजूद विशिष्ट दशाओं के कारण एक विशिष्ट रूप धारण कर लिया। उसने इस बात को पहले से मान लिया है कि भारत ईरानी अवधि में वर्ण विभाजन के रूप में जाति व्यवस्था की शुरुआत, ऋगु वैदिक भारत में समाज के चार भागों में बँटे होने के कारण हुई है।

रिस्ले इस बात का उल्लेख करते हैं कि आर्यों ने श्याम प्रजाति से विवाह जैसे संबंध कायम करने पर घोर वैर-भाव दर्शाया है और ऐसे मेल को उन्होंने वर्जित माना है लेकिन फिर भी अंतर जाति विवाहों को रोका नहीं जा सका।

## 28.4 युगों से प्रचलित जाति व्यवस्था

ऋगु वैदिक समाज मुख्यतया जनजातीय प्रकृति का था। कीथ के अनुसार वैदिक भारतीय मूल रूप से पशुचारी थे और ऋगु वेद के प्रारंभिक भागों से पता चलता है कि यह बात आर्यों के लिए फायदेमंद रही। आर्यों ने हड़प्पा समाज की शहरी आबादी पर हमला बोला और युद्ध में उन्हें जीत लिया। आर्यों और हड़प्पा जाति के लोग बचे थे और अन्य लोगों के बीच एक सामाजिक समायोजन हो गया जिससे स्वाभाविक रूप से कुछ पुरोहित या मुख्य लोग जो बच गए थे उन्हें नये आर्य समाज में पहले की तुलना में निम्न दर्जे का काम मिला। प्रारंभिक इतिहास ऐसे आम आर्यों और पिछली जातियों के बचे-खुचे लोगों के बीच आत्मसातकरण पर कोई खास रोशनी नहीं डालता। शायद उन्हें पहले की तुलना में कम महत्व मिला। संक्षेप में, ऋगु वैदिक आर्य समाज और अथर्व वेद में वर्णित समाज ने सदस्यों में गूढ वर्ग विभेजन का अभाव था जो कि आमतौर पर पिछले समाजों में पाया जाता है। शूद्र सामाजिक वर्ग में सिर्फ अथर्व वेद के समय की समाप्ति से ही नजर आते हैं।

आर्य जिनकी चमड़ी सफेद थी, नैन नक्श अच्छे थे और जो अग्नि, इंद्र, वरुण आदि जैसे देवी देवताओं के उपासक थे, दस्यु लोगों से पूरी तरह अलग थे जो कि श्याम रंग के थे और जिनकी चपटी नाक थी और जो अबोधगम्य भाषा बोलते थे और जिनका अपना कोई देवी देवता नहीं था और जो अजीबोगरीब रीति-रिवाजों को मानते थे।

**अभ्यास 28.2**

जाति के विविध सिद्धांतों को रेखांकित कीजिए। आप इनमें से किसके हक में हैं? अपना उत्तर अपनी नोट बुक में लिखिए।

धीरे-धीरे दयनरों को दास के रूप में लिया जाने लगा। दास का अर्थ ऐसे लोगों से लिया जाने लगा जिन्हें अत्यंत निम्न किस्म के काम करने के लिए दिए जाते थे। शायद दस्यु

(गुलाम) और शूद्र भी मूल रूप से सुप्रचलित जनजातियां थी जिन्हें आर्यों ने जीत कर अपने अधीन कर लिया। वैदिक काल (1000 - 600 ई.पू.) के समय में शूद्रों को स्पर्श करना या देखना भी पाप माना जाता था। ऐसी बात सर्वप्रथम सत्पथी ब्राह्मणा में देखने को मिली।

लगभग 600 ई.पू. - 300 ई.पू. के आसपास वैश्य और शूद्रों के बीच का अंतर दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा था। दोनों जातियों के व्यवसाय एक-दूसरे द्वारा अपनाए जा रहे थे। वैदिक काल अब जनजातिवाद से ऊपर उठकर सामंतवाद की ओर अग्रसर होने लगा था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों ने इनके प्रति कई नीतियाँ बनाना शुरू कर दिया। शूद्रों की सामाजिक स्थिति बद से बदतर हो गई। प्रशासनिक कार्यों में शूद्रों के लिए कोई जगह नहीं थी। विधि निर्माताओं ने पुरानी कल्पना पर फिर से जोर देना शुरू कर दिया कि शूद्रों का जन्म ईश्वर के पाद से हुआ था और इसलिए उनके साथ मेल-मिलाप करने, भोजन करने, विवाह जैसे संबंध कायम करने और शिक्षा के क्षेत्र में भी उन पर बहुत सी सामाजिक बंदिशें थोप दी। धर्मसूत्र (500 ई.पू. - 300 ई.पू.) में पहली बार यह बात अभिव्यक्त की गई कि शूद्रों द्वारा छुआ गया भोजन ब्राह्मणों द्वारा स्वीकार्य नहीं होगा। शूद्र किसी तरह के वैदिक संस्कारों आदि में भाग नहीं ले सकते थे। इन्हें इतना तुच्छ माना गया कि यहाँ तक कि कुछ विशिष्ट अनुष्ठानों के मौके पर इनकी मौजूदगी एवं इन्हें देखने को नकारा जाने लगा।

ऐसा कहा गया है कि छुआछूत की उत्पत्ति का संबंध प्रदूषण से है। छुआछूत का मूलबिंदु स्वच्छता एवं धार्मिक अर्थात दोनों पहलुओं में निहित है। अंततः छुआछूत का विचार कुछ निश्चित व्यवसायों की सैद्धांतिक अशुद्धता से पता चलता है।

शर्मा का मानना है कि छुआछूत की उत्पत्ति का एक मुख्य कारण आदिवासी जनजातियों का सांस्कृतिक पिछड़ापन था जो कि ब्राह्मणों की तुलना में मुख्यतया शिकारी एवं खाद्य संग्रहक थे जबकि दूसरी तरफ ब्राह्मण समाज के सदस्य धातुओं और कृषि के जानकार थे और शहरी जीवन को विकसित कर रहे थे। धीरे-धीरे ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने प्राथमिक कार्यों से पीछे हटने लगे और अपनी स्थितियों एवं कार्यों में पुश्तैनी महत्व की ओर प्रवृत्त होने लगे। यजुर्वेद में निशाद, चंडाल और पौल्कस का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया। इनमें से चंडालों और निशादों को उत्तर के वैदिक समाज में अछूत माना गया। धर्मसूत्र और पाली अध्याय सामग्री में चंडालों को स्पष्ट रूप से अछूत माना गया है और वैदिक ज्ञान ने समाज के चार-स्तरों से इस पाँचवीं जाति को बाहर रखा। इस समय के दौरान वर्ण के आधार पर जिस तरह ब्राह्मण समाज को विभाजित किया गया था उसे विधर्मी संप्रदायों की गतिविधियों द्वारा नीचा दिखाया गया और साथ ही साथ कुछ विदेशी तत्व जैसे बैक्टरीयन, यूनानी, साका, पठान और वुसानास भी यहाँ अपना डेरा जमाने लगे। मनु ने भरसक प्रयास किया है कि ब्राह्मण समाज को संरक्षित किया जाए और इसके लिए उसने शूद्रों के प्रति घोर उपाय बनाने का आदेश दिया और साथ ही साथ वर्ण समाज में विदेशी तत्वों के समावेशन के लिए उचित वंशावली की खोज भी की। अनेक आदिवासी जनजातियों और विदेशी तत्वों को आपस में जोड़ने के लिए वर्णासमकर (वर्णों को आपस में जोड़ने) का भरसक प्रयोग किया गया जितना कि उसके पूर्वजों ने भी नहीं कि होगा। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें मिश्रित जातियों को उनके पुश्तैनी कर्त्तव्यों के संदर्भ में शूद्रों के साथ रखा गया जिनमें से कुछ जातियों ने नाम बदल लिया है और कुछ जातियों का अस्तित्व खत्म हो गया है। वह निम्नलिखित श्रेणियों को स्पष्ट करता है:

क) चार मूल वर्ण।

ख) जातियाँ जो कि शुद्ध और अशुद्ध जातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी।

ग) पवित्र रीतियों को नजरअंदाज करने पर जिन जातियों ने अपनी स्थिति खो दी।

घ) ऐसी जातियां जो कि समुदाय से लोगों को बहिष्कृत करने से बनीं।

च) गुलाम और उनके वंशज।

छ) ऐसे व्यक्ति एवं जिनके वंशजों को चार वर्णों के समुदाय में बाहर कर दिया गया था।

मनु ऐसी पुरानी मिश्रित जातियों का उल्लेख करता है जो कि वर्णों के अंतःमिश्रण से उत्पन्न हुई हैं और वह मिश्रित जातियों की लंबी सूची के लिए समान मूल उत्पत्ति की बात कहती है जिससे कि तीन किस्मों की जातियाँ बनी हैं :

क) विविध शुद्ध जातियों से निर्मित जातियाँ।

ख) शुद्ध जातियों के मिश्रण से निर्मित जातियाँ जिनमें कि एक या दूसरी तरफ मिश्रित थीं।

ग) ऐसी जातियाँ जो कि दोनों तरफ से मिश्रित मूल के अभिभावकों से निर्मित हुई हैं।

मनु ने इस बात का समर्थन किया कि उच्च जातियों को चंडाल और स्वापकों से संपर्क बनाने से परहेज करना चाहिए। चंडाल और स्वापकों को ग्रामों से बाहर बसना चाहिए, उनकी एकमात्र संपत्ति में श्वान एवं गधों का समावेश था, उनके द्वारा प्रयुक्त खाद्य बर्तनों को हमेशा के लिए त्याग देना चाहिए। मनु कहता है कि यदि ब्राह्मण चंडाल या अंत्या के संपर्क में जाता है तो वह ब्राह्मणत्व से गिर जाएगा।

विदेशी व्यक्तियों के आगमन से वर्ण पद्धति की जंजीरें ढीली होने लगी। गुप्ता की विविध पुस्तकें शूद्र और अछूतों के बीच के भेदभाव को कायम रखते हैं। इस अवधि के दौरान न केवल अछूतों की संख्या में बढ़ोतरी हुई बल्कि छुआछूत के व्यवहार में भी तेजी आई। फाहेन (399-414 ई.) बताते हैं कि जब चंडाल शहर या बाजार के द्वार पर प्रवेश करते थे तो वे एक लकड़ी के टुकड़े को बजा देते थे जिससे सभी को उसके आगमन की सूचना मिल जाती थी और वे उनसे दूर हट जाते थे।

हर्ष (647 ई.) की मृत्यु के बाद 712 ई. में सिंध, अरब के कब्जे में आ गया तब से मुस्लिम व्यापारी, यात्री और भाड़े (किराए) के सैनिकों के रूप में निरंतर भारत आने लगे। 11वीं शताब्दी के बाद से मुस्लिम हमलों ने जहाँ देश में नृशंस हत्याओं, जबर्दस्ती इस्लाम को कबूलना और देश में तबाही मचाई और हिंदू धर्म के देवी-देवताओं की मूर्तियों एवं हिंदू मंदिरों की अवमानना की जिससे भारतीय में निरंतर असुरक्षा की भावना ने जन्म ले लिया। हिंदुओं को अपना धर्म नयी ताकतों के समाने डोलता नजर आने लगा। 1000 ई. से पैतृकता के सिद्धांत को महत्व मिलने लगा और प्रतिलोम एवं अनुलोम विवाहों को अनदेखा किया जाने लगा। शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ। यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ लेकिन बौद्धिक रूप से वे पिछड़े ही बने रहे क्योंकि उच्च शिक्षा की प्राप्ति का हक ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ही था।

मुस्लिमों के निरंतर हमलों से हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। धर्म को बचाने के लिए छोटी उम्र में विवाह की प्रथा को अधिक मजबूत किया गया। 16वीं शताब्दी की शुरुआत में भारत के कुछ हिस्सों में पुर्तगालियों के आगमन से हिंदू धर्म के लोग रोमन कैथोलिक बनने लगे। मध्यकालीन भारत में शंकराचार्य (788-820 ई.के हिंदू धर्म को पुनः सुदृढ़ करने से जो लोग मुस्लिम एवं ईसाई बने थे, वे पुनः हिंदू धर्म में आ गए। इस संकट की घड़ी में वैष्णवों और साईवादियों ने हिंदू धर्म की कमान संभाली। इस दौरान कई भक्ति आंदोलन चलाए जिनमें आचार्य रामानुज, माधवचार्य, वल्लभचार्य,

कबीर, नानक, चैतन्य, तुलसी दास और ऐसे बहुत से संतों के नाम प्रमुख हैं जिन्होंने भारत में इस्लाम के प्रसार पर रोक लगाई। बहुत से धर्म परिवर्तन करने वालों ने पुनः हिंदू धर्म में शरण ले ली।

जब भारत में अंग्रेजों का शासन शुरू हुआ तो हिंदू सामाजिक व्यवस्था ने बहुत से अवांछनीय विशेषताओं को अपने में समेट लिया। अंग्रेजी शासको की विविध नीतियों ने मुख्य रूप से कानून और व्यवस्था के रखरखाव को अधिक मजबूती दी। अंग्रेजों ने मुख्य रूप से करों को एकत्र करने और अंग्रेजी वस्तुओं के लिए अप्रतिबंधित बाजार कायम करने पर जोर दिया। उनके केंद्रीकृत प्रशासन ने देश की पुरानी अर्थव्यवस्था का पूरी तरह झंझोर दिया। पुरानी ग्रामीण अर्थव्यवस्था जो कि लंबे समय तक राजनीतिक द्वंद्वों से अप्रभावित थी, और जिसने जाति व्यवस्था को काफी सुदृढ़ता दी थी, अंग्रेजी शासन के तहत इसमें खलबली मच गई। भू नीति ने भूस्वामियों के नये वर्ग की सर्जना की जिसमें लाखों काश्तकार और कृषि श्रमिकों की श्रेणियों में बंट गए। जाति के आधार पर हिंदू समाज के बंटवारे ने जिससे इसके विविध जाति समूहों को रोजगार एवं सुरक्षा दी थी, वह भी प्रभावी ढंग से ब्रिटिश नीति को चुनौती नहीं दे सका। पहली बार जाति व्यवस्था को इसके विदेशी शासकों से गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा था।

पश्चिमी शिक्षा और सामाजिक सुधारों से छुआछूत का उन्मूलन हुआ। ऐसे आंदोलन हिंदू सामाजिक व्यवस्था को जाति आधारित संकीर्णता से उबारने का एक प्रयास था ताकि अछूतों के प्रति उच्च जाति के लोगों का रवैया बदले। शहरी की वृद्धि, शहरी क्षेत्रों में उद्योगों का निर्माण, रेलवे की पेशकश जैसी बातों से अनेक गैर-जाति व्यवसायों की उत्पत्ति हुई। आपराधिक न्यायालयों के निर्माण ने जाति व्यवस्था को खत्म कर दिया और इससे जाति पंचायतों की भी समाप्ति हो गई। लेकिन इसके साथ-साथ भारत के लोगों के विविध वर्गों में ब्रिटिश नीति एकता एवं संसक्ति नहीं जुटा पा रही थी। इनकी नीति विभाजन पर आधारित थी या उनके दमन पर आधारित थी। लोग चाहे किसी भी स्तर के हों, चाहे धर्म, क्षेत्र, भाषा या जाति के, उन्हें दबाया जाए या उनमें फूट डाली जाए। अलग निर्वाचन क्षेत्रों या गैर-ब्राह्मण जातियों को दक्षिण में मान्यता देने से न केवल भारत में जहाँ एक समय अखंडता कायम थी वहाँ अशांति फैल गई बल्कि प्रांतों, धर्म मतों के बीच ईर्ष्या पैदा हो गई जिससे जातियों के बीच के अंतर और कड़े हो गए।

अंततः हम देखते हैं कि निरंतर समायोजन और विस्तृत एकीकरण का कार्य सदैव चल रहा है। उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था सदियों से अधिकाधिक कठोर बनती आई है। ऐसे बल जो जाति की मूल उत्पत्ति का कारण हैं, ऐसे बल भी हैं जिससे जाति व्यवस्था को स्थायित्व निरंतर बना हुआ है।

## 28.5 जातिः एक पृथक परिघटना नहीं

सामाजिक प्रथाएं या संस्थाएं जो कि एक या दूसरे नजरिए से जाति से मिलती-जुलती हैं, उन्हें कहीं और नहीं पाया जा सकता। किसी अन्य स्थान की तुलना में भारत में जाति व्यवस्था अपने सही स्वरूप में कायम रही है। लेकिन होकार्ट दर्शाते हैं कि जैसा कि माना गया था भारतीय जाति व्यवस्था एक पृथक परिघटना नहीं है।

इसके तुलनात्मक स्वरूप पोलिनेशिया और मेलनेशिया में अभी भी कायम हैं और इन्हें प्राचीन यूनान, रोम और आधुनिक मिश्र में देखा जा सकता है।

ह्यूटन विश्व के विविध भागों में जाति के एक या अन्य पहलुओं से मिलते-जुलते शब्दों को पाते हैं। ये भाग हैं, सिलोन, फिजी, मिश्र, सोमाली, रवांडा और आधुनिक अफ्रीका में अरुंडी और बर्मा।

घुर्ये भारत से बाहर भी मिस्र, पश्चिमी एशिया, चीन, जापान, अमेरिका, रोम और जनजातीय यूरोप जैसे देशों में भी जाति के तत्वों को पाते हैं।

प्राचीन पर्शिया में पुरोहित, योद्धा, कृषक और कुलीन वर्ग में देश बंटा हुआ था। यहाँ जो अंतर है वह सिर्फ चौथे वर्ग को लेकर है जो कि पर्शिया में शिल्पकारों का था और भारत में शूद्र वर्ग का है। पश्चिमी रोमन साम्राज्य में थियोडिसन कोड द्वारा सृजित समूहो के रूप में व्यावसायिक पुश्तैनी समूह थे। ऐसे समूह तभी बनाए गए होंगे जब समाज में सामाजिक विखाडन के अवयव मौजूद रहे होंगे।

स्वीडन में सत्रहवीं शताब्दी में वर्ग से बाहर विवाह करना एक अपराध माना जाता था। शेख, सैय्यद और पठानों की उच्च जाति के लोग अपनी वंशावली के प्रति काफी सजग थे और अन्सारी और जुलाहों जैसी निम्न जाति के मुस्लिमों से वैवाहिक संबंध कायम करने से कतराते थे। जर्मन विधि के अनुसार किसी भी उच्च दर्जे के पुरुष का ऐसी महिला से विवाह होने पर उस महिला को पुरुष के समान की हैसियत का दर्जा नहीं मिलेगा और उसकी संपत्ति में उसे या उसके बच्चों का कोई हक नहीं होगा।

## 28.6 सारांश

अब हमने महसूस किया है कि जाति की उत्पत्ति का मुख्य सिद्धांत हिंदू पौराणिक कथाओं में निहित है। धार्मिक ग्रंथ भारत में जाति व्यवस्था की कुदरती शुरुआत से सहमत हैं। यहाँ माना जाता है कि उच्च जाति में जन्म का कारण पिछले जन्म में अच्छे कर्म करना है। अधिकांश लोग खासकर उच्च जातियां अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखने के लिए अपनी निजी जाति में ही विवाह करने की चेष्टा करती हैं।

## 28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

श्रीनिवास एम.एन., 1962, *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज,* लंदन, एशिया पब्लिशिंक हाउस।

लर्नर डेनियल 1958, *द पासिंग अवे ऑफ ट्रैडिशनल सोसायटी* । फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनको।

MADHYAM IAS

# खंड 8

# आधुनिकता के मुद्दे

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

# खंड 8 प्रस्तावना

इस खंड में हमने आधुनिकता और आधुनिकीकरण की कुछ हाल ही की घटनाओं का अध्ययन किया है। इन मुद्दों के बारे में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण और सिद्धांत हैं और शिक्षार्थियों को इनसे परिचित होने के लिए सामग्री उपलब्ध कराई गई है। इसके बाद इस खंड में परम्परा और आधुनिकता के प्रश्न पर विचार किया गया है और यह बताया गया है कि ये एक-दूसरे से किस प्रकार संबंधित और परस्पर घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं। अंत में हमने संरचना परवर्ती सिद्धांतों और आधुनिकता परवर्त्ती सिद्धांतों से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्नों पर चर्चा की है। इस प्रकार इस खंड का अध्ययन करने से आपको समकालीन परिचर्चा और आधुनिकता परवर्त्ती सिद्धांतों में शामिल मुद्दों को समझने में सहायता प्राप्त होगी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 29

# आधुनिकीकरण एवं आधुनिकता के सिद्धांत

**इकाई की रूपरेखा**


29.1 प्रस्तावना

29.2 आधुनिकीकरण आधारित उपागम

29.3 आधुनिकीकरण सिद्धांतों के निहितार्थ

29.4 आधुनिकीकरण प्रक्रमों में शामिल चरण

29.5 आधुनिकीकरणः एशियाई संलक्षण

29.6 आधुनिकीकरण प्रक्रिया समग्र रूप में

29.7 आधुनिकता की परिघटना

29.8 आधुनिकता आधारित उपागम

29.9 सारांश

29.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

29.11 संदर्भ ग्रंथावली


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- आधुनिकीकरण को परिभाषित कर सकेंगे;
- आधुनिकीकरण के उपागमों, निहितार्थों एवं चरणों को रेखांकित कर सकेंगे;
- भारत में आधुनिकीकरण की चर्चा कर सकेंगे;
- आधुनिकता की परिघटना को व्यक्त कर सकेंगे; तथा
- आधुनिकता के उपागमों को रेखांकित कर सकेंगे।


MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'


## 29.1 प्रस्तावना

आधुनिकीकरण के सिद्धांत हमें बताते हैं कि किस प्रकार विश्व के विविध भाग औद्योगिक सताओं में विकसित हुए। ऐसे उपागम/सिद्धांत जो स्पष्ट करते हैं और इस बात का विश्लेषण करते है कि ऐसा कैसे और क्यों हुआ, इस इकाई के आरंभिक भाग की विषयवस्तु है। इसके बाद हम आधुनिकता की तरफ रुख करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार इस विषयवस्तु की प्रस्तुति एवं विश्लेषण आधुनिक पश्चिमी समाज को समझने में हमारी सहायता करता है और हमें यह भी समझाता है कि किस प्रकार कुछ एशियाई समाजों में विद्यमान सामाजिक प्रक्रम कैसे थे। अतः आधुनिकीकरण विविध सामाजिक प्रक्रमों का परिणाम है। इस ऐतिहासिक विकास में मुख्य घटना दूसरे विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न हुई और इसमें विश्व में अमेरिका की महाशक्ति के रूप में उत्पत्ति भी शामिल है जो कि कम्युनिज्म के उदय को स्टाइम करने के प्रयास का परिणाम थी। 'अंतर्वेशन' के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप, दक्षिण कोरिया और जापान समेत

विविध देशों के आर्थिक आधार को सुदृढ़ करने के लिए काफी निवेश किया। आधुनिकीकरण चीन, वियतनाम में कम्युनिस्ट आंदोलनों की वृद्धि से भी उत्पन्न हुआ है। सोवियत यूनियन (जो कि फिलहाल कम्युनिस्ट गुट नहीं है) और क्यूबा में भी चल रहे कम्युनिज्म आंदोलनों की वृद्धि से आधुनिकीकरण की उत्पत्ति हुई है। इन प्रक्रमों में से तीसरे में एशिया एवं अफ्रीका के गैर-उपनिवेशीकरण कारकों और यूरोपियाई सत्ताओं द्वारा नियंत्रित उपनिवेशों की समाप्ति का समावेश है।

इस बिंदु पर पिछली उपनिवेशी बस्तियों को वृद्धि के उपयुक्त मॉडल को अपनाने की चुनौती का सामना करना पड़ा। इस मुहिम में अमेरिका ने उनकी सहायता की एवं उन्हें सहयोग प्रदान किया जिसने कि नये राष्ट्र राज्यों की बुनियादी स्थितियों के अध्ययन के लिए सामाजिक विज्ञानियों के बृहद दलों को भेजा गया। अमेरिका के इस कद में उठाने के पीछे विचार था कि किस प्रकार इन राष्ट्रों की आर्थिक वृद्धि में पूंजीवादी विचारधाराओं का प्रयोग किया जा सकता है जिनमें से कि अधिकांश लंबे समय तक उपनिवेशी बंधन में जकड़े रहने के कारण निर्धन थे और जिन्होंने अपने संसाधनों को दूसरों के शिकंजे में जाने के कारण अत्यंत दुर्बल कर दिया था और जिनका गहन शोषण हुआ था। इसमें कच्चे माल का निर्यात भी शामिल था जो कि ऐसे उत्पादों एवं वस्तुओं में निर्मित हो गया था जिन्हें कि अधिक आर्थिक मुनाफा कमाने की दृष्टि से पुनः इन उपनिवेशी बस्तियों में ही भेज दिया गया था। पूंजीवाद और पूँजीवादी विचारधारा को नकारने की यह रणनीति निस्संदेह कम्युनिस्ट विचारधारा को प्रभावित करने का एक प्रयास भी थी और निश्चित समयावधि में इसे बर्बाद करने का प्रयास भी थी। अतः यह राजनीतिक चालबाजी और विचारधारा का बड़ा आयाम थी जो कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शामिल है। अतः सामाजिक विज्ञान के सभी क्षेत्रों के बुद्धिजीवियों ने इन समाजों का अध्ययन किया और उनके परिणाम दूसरे विश्व युद्ध के तुरंत बाद प्रकाशित होने लगे। विश्लेषण के मुख्य साधनों और इसके बाद के प्रकाशित शोध पत्रों में मुख्यतया विकासवादी सिद्धांत और बाद में प्रकार्यात्मक सिद्धांत का समावेश है। आइए, इन उपागमों को स्पष्ट करें ताकि आधुनिकीकरण की समग्र प्रक्रिया स्पष्ट होनी शुरू हो जाए। अतः विकासवादी सिद्धांत और सिद्धांतवादियों ने ऐसे विविध कारकों की तरफ इशारा किया जो कि आदिम से जटिल समाज की तरफ रैखिक श्रेणी बनाने के लिए इन समाजों में सामाजिक बदलाव की बात करते हैं। सभी समाजों में यह देखने को मिला। इसके बाद यह सिद्धांत और इससे संबद्ध सिद्धांतवादियों ने दावा किया कि समाजों की ऐसी रैखिक श्रेणी एक बेहतर विश्व को जन्म देती है और कुल मिलाकर मानवता एवं सभ्यता की प्रस्तुति करती है। इसके आगे सामाजिक बदलाव एक क्रमिक उत्पत्ति के रूप में चमका और क्रांति जैसी घटनाओं के आकस्मिक एवं प्रचंड कड़ियों से अलग था। बदलाव धीमा एवं समुचित था और जैसा कि कम्युनिस्ट विचारधारा का दावा था कि यह आकस्मिक एवं प्रचंड नहीं था। आधुनिक समाजों की स्थिति पर गौर करते हुए इस बदलाव से प्रतीत हुआ कि इसे पूरा होने में दशकों की बजाय शताब्दियों का समय लगेगा। अतः प्रकार्यवादी सिद्धांतवादी जिनमें कि पार्सन अग्रणी था, ने अपने दृष्टिकोण को ऊँचा उठाने के लिए विविध सिद्धांतों का निर्माण किया जिनमें कि प्रमुख थाः समाज की अनुरूपता जिसका अर्थ है कि ऐसा जीव जिसके कि समाजकीय संस्थानों में विविध अंतःसंबद्ध भाग हैं। इस शरीर रचना में विविध संस्थाओं के अपने अलग कार्य हैं जो मिलकर संपूर्ण उद्देश्य को पूरा करते हैं। इस सिद्धांत ने प्रतिपादित किया कि ऐसे चार प्रमुख कार्य थे जो कि संस्थान पूरे कर रहे थे। ये थेः क) पूँजीवादी आर्थिक पद्धति द्वारा निर्मित पर्यावरण के अनुकूल स्वयं को ढालना, ख) इसके बाद लक्ष्य की प्राप्ति करना जो कि एक सरकारी कार्य था अर्थात ऐसा कार्य था जो कि उदारवादी उद्देश्यों के इर्द-गिर्द घूमता था (रोजस 1996, पृ.1)। इसके बाद था विधिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा एकीकरण का कार्य करना विशेष रूप से ईसाई धर्म। अंतिम कार्य हैः परिवार एवं शैक्षिक संस्थाओं द्वारा निष्पादित अव्यक्तता का कार्य।

## 29.2 आधुनिकीकरण आधारित उपागम

अतः आधुनिकीकरण सिद्धांत ने पारंपरिक समाजों और आधुनिक समाजों के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। पारंपरिक समाज वे थे जो कि बड़े पैमाने पर वैयक्तिक एवं स्वाभाविक किस्म के थे और जो कि बाजारी संबंधों की तुलना में निम्न थे। दूसरी तरफ आधुनिक समाज तटस्थ थे और बाजार और पर्यावरण का शोषण करने की क्षमता रखते थे।

समाज की एक प्रमुख संस्था है, परिवार और इसकी प्रकृति जो कि पुनः पारंपरिक एवं आधुनिक समाजों में भिन्न है। पारंपरिक समाजों में परिवार बहुत से कार्यों के लिए उत्तरदायी था। इसके विविध कार्य थे और इसमें धर्म, कल्याण, शिक्षा, प्रजनन एवं संवेगात्मक व्यूह रचना जैसे मुद्दों का समावेश था। दूसरी तरफ आधुनिक समाज में परिवार का कार्य राज्य के क्षेत्र या दायरे से जुड़ा हुआ होना।

इस सिद्धांत में सामाजिक अवरोध उत्पन्न होता है जब समाज के कुछ या एक भाग अपेक्षित अनुमान से निम्न दर्जे का काम शुरू करने लगते हैं। ऐसे अवरोधों में शामिल हैं, शांतिपूर्ण/ हिंसा प्रदर्शन, क्रांति, गुरैला युद्ध एवं अब आतंकवाद। हालांकि ऐसी गतिविधियों का एक कष्टदायक पहलू भी है क्योंकि कोई व्यक्ति विशेष/संस्था जो राज्य को उत्तेजित करती है तो उसे ऐसा करने से कड़ा रुख अपना कर रोका जाता है। ये कार्यों को मानवतावादी आधारित कहा जाता है। मानव अधिकारों का प्रश्न हाल ही की परिघटना है और संगठनों को ध्यान देना होगा कि किसी भी कीमत पर लोकतंत्र का उल्लंघन न हो।

**बॉक्स 29.1 : मैक डोनाल्डीकरण**

यदि हम औपचारिक बुद्धिसंगतता को आधुनिकता के बराबर का महत्व देते हैं तो झटपट खाना पकाने वाले रेस्ताराओं की सफलता और प्रसार और साथ ही साथ जिस डिग्री तक ये आदर्श के रूप में बाकी के समाज की आवश्कताओं की पूर्ति कर रहे हैं, दर्शाता है कि हम निरंतर आधुनिक समाज में रह रहे हैं।

इसके अलावा अर्थव्यवस्था में बहुत से जहाँ अन्य बदलाव भी हुए हैं जो उत्तर औद्योगिक समाज के विस्तार को सहयोग देते हैं वहीं फास्ट फूड रेस्तरां एवं बहुत से अन्य तत्व जो कि इसके बाद आदर्श बने वे ऐसे न होते (रिजर 1996, समाजशास्त्रीय सिद्धांत, पृ. 579)।

समेल्सर का नजरिया हम जिस ओर इशारा कर रहे हैं, उससे भिन्न है। उसने समग्र सामाजिक संरचना पर अर्थव्यवस्था एवं संबद्ध संस्थानों के प्रभाव की तरफ इशारा किया। उसने इस ओर इशारा किया कि आधुनिकीकरण प्रक्रिया में समाज सरल प्रौद्योगिकी से जटिल विचारधार की ओर विकसित हुआ। इसके अलावा जहाँ तक कृषि का सवाल है, यह जीवन-निर्वाह के बदले नकदी फसलों की ओर झुकने वाला मुहिम था। इसके अलावा समेल्सर ने दर्शाया कि मशीनी शक्ति ने मानव (शारीरिक) श्रम को पीछे धकेल दिया। अंततः ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की बजाय शहरीकरण एवं शहरी संरचनाओं पर विशेष जोर दिया जा रहा था। समेल्सर इस बात को समझ रहा था कि ऐसा विकास सरल और रैखिक नहीं था लेकिन ये प्रक्रम साथ-साथ विकसित तो हुए लेकिन समान दर पर नहीं (समेल्सर, 1969)।

इसके अलावा ऐसे बदलाव विभिन्न सामाजिक संरचना एवं समाजों पर विविध गति से उत्पन्न हुए। अन्य शब्दों में सामाजिक बदलाव के प्रति यह एकल प्रक्षेप पथ नहीं था क्योंकि विविध समाजों में परंपराओं में भी असमानता पाई जाती है और इससे विविध किस्म की चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी तरफ संस्था ने आधुनिकीकरण के सिद्धांत को प्रकाशित किया जिसने वैमानिकी की शब्दावली का प्रयोग किया और जिसने विकास के विविध चरणों को प्रस्तावित किया।

यह सिद्धांत आदिम समाज की बात करता है जो उड़ान भरने से पहले और बाद के चरण के लिए पूर्व शर्तों पर ध्यान केंद्रित करता है जिससे आशय है पक्वता की खोज और अंततः जन उपभोग समाज की प्राप्ति। अतः रोस्तो के अनुसार (रोस्तो 1960) विविध चरणों के माध्यम से आर्थिक विकास की बात करता है और यह सभी समाजों में सार्वभौमिक है और यह कि आधुनिकीकरण संजातीयता, यूरोपियाईकरण, विकासवादी एवं बदलाव की प्रक्रिया है। इस सिद्धांत के कुछ प्रश्नसूचक निहितार्थ हैं। अतः इस सिद्धांत को मानने का अर्थ है ऐसे राष्ट्र जो परंपरागत हैं उनका अंतिम आदर्श पश्चिमी समाज है जिन्हें कि हर हालत में उच्च राज्य/आधुनिक राज्य जैसा बनना है। इसका अर्थ है कि पूंजीवाद राज्य एवं विचारधारा ऐसा पथ है जिसका कि विकसित राज्यों के अधीन रहकर अनुकरण किया जाना है। अतः आधुनिकीकरण एवं इसे स्वीकारने वाले सिद्धांत बिना हिचक मानते हैं कि व्यापार एवं विदेश नीति की अमेरिकी नीतियों एवं संबद्ध अंतरराष्ट्रीय संबंधों को हर हाल में स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में इनकी अहम भूमिका है।

## 29.3 आधुनिकीकरण सिद्धांतों के निहितार्थ

जैसा कि आपने गौर किया होगा कि इन सिद्धांतों एवं इनके निहितार्थों में धनी पश्चिमी तरफदारी का समावेश है। आधुनिकीकरण का सिद्धांत खुद भी पश्चिमी उत्पाद है और जो इन समाजों को ऐसे आदर्श के रूप में गठित करता है कि पूँजीवादी विचारधारा समेत कम विकसित देशों को बिना हिचक इसका अनुकरण करना चाहिए। यह 'कारगर' है और इसके परिणाम उत्कृष्ट हैं। हालांकि आश्रयता का सिद्धांत विस्तृत वैश्विक परिप्रेक्ष्य की बात करता है। वह इस ओर इशारा करता है कि विकास के सम्मुख आने वाली समस्याएं वे नहीं हैं जो परंपरागत समाजों में सामाजिक संरचना के कारण हैं लेकिन मुख्य रूप से जो पश्चिमी जगत या उत्तर द्वारा थोपी गई विश्वव्यापी संरचनाओं का परिणाम हैं।

**अभ्यास 29.1**

क्या आपकी राय में उत्तर एवं दक्षिण के देशों के बीच के 'मैट्रोपोलिन-सैटालाइट' संबंध अभी भी मौजूद हैं? अपने उत्तर के कारण दीजिए।

अतः आंद्रे गेडर फ्रैंक ने इस ओर इशारा किया है कि उत्तर और दक्षिण के बीच के संबंधों को ऐसी श्रृंखला के रूप में व्यवस्थित किया गया है जिसे वह 'मैट्रोपोलिस - सैटालाइट 'संबंध कहता है। अतः हम देख सकते है कि विश्व संबंधों में सोपानिकी निहित है (फोस्टर-कोस्टर, 1985)। इस कड़ी के शीर्ष पर मैट्रोपोलिस अर्थात (अमेरिका) है जो कि अन्य क्षेत्रों पर निर्भर नहीं है। इसके बाद हम घोर पराश्रितों की ओर देखते हैं जो कि या तो अमेरिका पर (या अन्य सुविकसित पश्चिमी समाजों पर) किसी न किसी किस्म की सहायता के लिए आश्रित हैं। अधोमुखी श्रृंखला निरंतर कायम है और ऐसे राज्यों (राष्ट्रों) तक पहुंचती हैं जो कि उच्च रूप से या पूरी तरह खाद्य पदार्थों, उर्वरकों, वस्त्रों, ऑटोमोबाइल एवं मशीनों आदि में ऐसे राष्ट्रों पर निर्भर हैं जो सोपानक्रम में उच्च दर्जे पर स्थित हैं।

फ्रैंक के अनुसार ऐसी आश्रयता समस्या बन जाती है जब राज्य स्वयं को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से विकसित करना चाहता है। अतः ऐसी कार्रवाई अक्सर ऐसे महानगरों (उच्च) देशों द्वारा आश्रित राज्यों के विरुद्ध स्वीकृति की मांग करती है जिन पर आश्रित राज्य निर्भर होते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि इस किस्म की आश्रयता निम्न राज्यों की स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है और यह अपने खुद के तरीके से विकसित होती है अर्थात उनके पास जो कुछ भी आर्थिक संपत्ति होती है वह सोपानिकी में उनसे उच्च राष्ट्रों द्वारा उसका उपभोग कर लिया जाता है।

इस सिद्धांत को अंतरराष्ट्रीय संबंधों में साक्षात रूप से देखा गया है और दक्षिण द्वारा तीसरी दुनिया को प्रदत्त सहायता की शर्तें काफी शोषणकारी रही हैं जो सुनिश्चित करती हैं कि उपग्रह राज्य अर्थात अधीनस्थ राज्य कभी भी आर्थिक दृष्टि से अपने दाता राज्यों की पकड़ से मुक्त नहीं हो सकते। फ्रैंक की राय है कि ऐसे संबंधों को यदि हटा दिया जाए तभी तीसरी दुनिया के राष्ट्र अपना विकास कर सकते हैं। अतः आश्रयता का सिद्धांत आधुनिकीकरण के सिद्धांत के विरुद्ध है। लेकिन यह निस्संदेह वैकल्पिक व्याख्या है। इसके अलावा यह व्याख्या विश्व भर में समकालीन समाजों की कुछ ठोस सच्चाइयों को बेनकाब करती है। आधुनिकीकरण का सिद्धांत एक विचारधारा से कुछ अधिक है जबकि आश्रयता का सिद्धांत कुछ ठोस आर्थिक अंतरराष्ट्रीय सच्चाइयों पर प्रकाश डालता है। इन दोनों से जैसी उम्मीद की जाती है वैसा विशिष्ट विकास दोनों में से किसी ने नहीं किया। हम गौर कर सकते हैं कि 17वीं शताब्दी से आधुनिकीकरण ने अपना प्रभाव जमाना शुरू किया जो कि पश्चिमी देशों की शुरुआत का समय है। उदाहरण के लिए आइए संचार के क्षेत्र की ओर गौर करें। अतः आधुनिकीकरण के सिद्धांतों ने इस बात पर प्रकाश डाला कि किस प्रकार मीडिया इन सापेक्षिक हाल ही के सिद्धांतों अर्थात परंपरागत एवं उत्तर आधुनिक समाजों में होने वाले सिद्धांतों से प्रभावित हैं। हम गौर कर सकते हैं कि जिन आधुनिकीकरण के सिद्धांतों की हम चर्चा करते आए हैं, उन्हें सापेक्षिक रूप से तीन विशिष्ट चरणों में विकसित होते देखा जा सकता है। इन सिद्धांतों के पहले चरण की शुरुआत 1950 से 1960 में हुई और इसने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि किस प्रकार पश्चिमी जीवन शैलियाँ धीरे-धीरे विश्व भर में प्रचलित हो गईं। यह चरण प्रौद्योगिकीय नवीकरणों एवं व्यक्तिवाद की विचारधारा के प्रसार का परिणाम भी था।

## 29.4 आधुनिकीकरण प्रक्रमों में शामिल चरण

- ऐसे आर्थिक पहलू जहाँ प्रौद्योगिकीय नवीकरणों का प्रसार करने में जन संचार माध्यमों ने सहायता की है और जो कि आधुनिकीकरण का आधार थे।
- शिक्षा एवं साक्षरता दरों समेत सांस्कृतिक विकास। इसे भी जन संचार ने सहायता प्रदान की जिससे कि आधुनिकता को बढ़ावा दिया जा सकता है।
- विकास की विशेष रूप से तर्कसंगत छवि की पहचान करना जिसे बनाने में मीडिया ने सहयोग दिया और इसमें राष्ट्र निर्माण एवं चुनावी प्रक्रिया का भी समावेश है।

हालांकि इन उपागमों का बुनियादी दोष था कि ये पश्चिमी तरफदारी पर जोर देते थे। अब आधुनिकीकरण का दूसरा चरण ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धांत से संबद्ध है जो कि 1980 में एक अनूठे किस्म का था। ये सिद्धांत दरअसल आधुनिकीकरण के पश्चिमी प्रभाव की समीक्षा था। अतः आश्रयता सिद्धांत के अनुसार विकासशील देशों की पश्चिमी जगत के जन संचार माध्यमों पर निर्भरता कायम थी। अतः हम कह सकते हैं कि परिधीय देश मूल देशों पर निर्भर थे। अब हम आधुनिकीकरण सिद्धांत के विकास के तीसरे चरण पर आते हैं जिसकी शुरुआत 1990 में हुई थी। ये सिद्धांत अपने नजरिए से तटस्थ थे। गिड्डन के आधुनिक समाज और संस्कृति के अनुसार (गिड्डन, ए. 1991) यह समय अंतराल दूरी से चिह्नित है। अतः जहाँ परंपरागत समाज में आपस में मिलने जुलने से एकजुटता या निकटता उत्पन्न होती है वहीं आधुनिक संस्कृतियों एवं समाजों में जन संचार माध्यमों के प्रयोग से अंतःक्रिया होती है। अतः मुद्रा, संकेत, इंटरनेट एवं अंग्रेजी भाषा उत्तर एवं दक्षिण को स्पष्ट छवि प्रदान करते हैं। अब हम आधुनिकीकरण के अन्य क्षेत्र की ओर रुख करते हैं जिसकी प्रस्तुति एवं विश्लेषण भारत में संपन्न कार्यों पर आधारित है।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

## 29.5 आधुनिकीकरणः एशियाई संलक्षण

योगेन्द्र सिंह अपने विश्लेषण की शुरुआत में इस ओर इशारा करते हैं कि आधुनिकीकरण से पहले भारत की परंपराएं सोपानिकी, निरंतरता, साकल्यवाद एवं ज्ञानातीत्व के विविध सिद्धांतों पर आधारित थी। ये कारक कुछ हद तक परंपरागत पश्चिम में भी नजर आए। हालांकि जैसा कि सिंह का मानना है कि भारतीय एवं पश्चिमी परंपरा दरअसल एक दूसरे से भिन्न थी। इसका कारण था कि इनकी विशिष्ट सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत के कारण इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी एक दूसरे से भिन्न थी। सिंह पूछते हैं कि क्या इन अंतरों के बावजूद आधुनिकीकरण के सार्वभौमिक मॉडल की छवि निर्मित हो सकेगी या नहीं। सिंह सामाजिक बदलाव और आधुनिकीकरण के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हैं। हालांकि ऐसे बदलाव का अर्थ आधुनिकीकरण नहीं है। ऐसे बदलाव जो अर्थो-जैनेटिक और हिट्रो-जैनेटिक थे, वे आधुनिक काल से पहले के थे। इस तरह भारत में इस्लामी परंपरा विषमजातीयता का परिणाम थी और इसका निर्माण उनकी जीत के उपरांत हुआ था। अतः हिंदू धर्म में अंतर्जात बदलाव सांस्कृतिकरण तक सीमित था। यह खुद ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया पर आधारित था जिसमें काफी पीढ़ियाँ शामिल थी और सिर्फ संरचनागत नहीं थी बल्कि स्थितिगत थी। भारत में आधुनिकीकरण की शुरुआत हुई जब इसका संपर्क पश्चिम से हुआ जिसने भारतीय सामाजिक संरचना में ढेर सारे बदलाव किए। हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि सभी संपर्कों का परिणाम आधुनिकीकरण था। दरअसल सिंह देखते हैं कि पश्चिम से संपर्क की प्रक्रिया के दौरान कुछ निश्चित परंपरागत प्रथाएं सुदृढ़ हो गईं। अतः सिंह का मानना है कि यह सोचना गलत होगा कि परंपरा और आधुनिकता के बीच स्पष्ट ध्रुवता है और उसे लगता है कि असल की बजाय यह अधिक सैद्धांतिक है।

**बॉक्स 29.2 : परंपरागत भारत में बदलाव**

जो बदलाव हुए वे परंपरागत सामाजिक संरचना एवं मूल्यों के ढाँचे के भीतर होने वाले विशिष्टीकरण तक सीमित थे। इनका दायरा सीमित था और जो बदलाव हुए वे विविध भूमिकाओं के संदर्भ में सीमित थे। इसी तरह धार्मिक संरचना एवं कुछ अंश तक संगठन में होने वाले विकास से कुछ अन्य परंपराओं का उद्भव हुआ लेकिन किसी भी तरीके से इन बदलावों को संरचनागत नहीं कहा जा सकता क्योंकि भूमिकाओं की असमानता खंडयुक्त थी और इसने समग्र रूप में व्यवस्था का बदलाव नहीं किया (योगेन्द्र सिंह, 1986, द माड्रनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रैडिशनः पृ. 193)।

अंग्रेजी शासन के दौरान आधुनिकीकरण चयनात्मक एवं क्रमिक था। यह परिवार, जाति, और ग्राम के समक्रमिक नहीं था। ये अंग्रेजों की रुचि के क्षेत्र नहीं थे और 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजी प्रशासन ने महसूस किया कि ये संरचनाएं गतिशील नहीं थी और ग्राम और जाति व्यवस्था में विशेष रूप से स्वायत्त थी। सैन्य क्षेत्र एवं नौकरशाही में जाति पर विचार किया गया और निर्वाचन क्षेत्रों की पेशकश की गई। सिंह का मानना है कि ये कारक उत्तर औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित थे और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए स्वतंत्रता आंदोलन में अभिव्यक्ति एवं आधार की प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप एवं जन की एकजुटता से एक ऐसी संस्कृति की उत्पत्ति हुई जिसे सिंह आधुनिकीकरण की नई राजनीतिक संस्कृति कहते हैं। हालांकि गांधी जी राष्ट्र को दो हिस्सों में बँटने को रोक नहीं सके क्योंकि इस्लाम और हिंदू धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एक दूसरे से भिन्न थी।

सिंह पूछते हैं कि किस प्रकार आधुनिकीकरण समाकलनात्मक ढाँचे को जन्म दे सकता है क्योंकि चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, है तो यह एक जटिल व्यवस्था। समाज किस प्रकार संरचनात्मक खराबी को रोक सकता है। यहाँ से हम (जैसा कि हमने पहले चर्चा की थी)

उस जाने माने आधार पर हैं जहाँ से सिंह आधुनिकीकरण के प्रमुख सिद्धांतों अर्थात आधुनिकीकरण के संरचनागत और विकासवादी सिद्धांतों की ओर रुख करते हैं। इन उपागमों पर पहले भी पर्याप्त रूप से चर्चा हो गई है, इसलिए अब हम इन्हें दोहराएंगे नहीं। इस बिंदु पर शिक्षार्थी आगे बढ़ने से पहले पुनः इकाई के आरंभ पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

## 29.6 आधुनिकीकरण प्रक्रिया समग्र रूप में

इस विश्लेषण में सिंह अब समग्र रूप में आधुनिकीकरण की चर्चा की ओर अपना रुख करते हैं। वे इस ओर इशारा करते हैं कि आधुनिकीकरण से संस्थागत और संरचनात्मक रोक नहीं लगी। कारण है, भारत में मौजूद समाज की विशेषताएं। इनमें से एक विशेषता थी राजनीतिक संरचना की। इसके अलावा जाति व्यवस्था स्वयं भी राजनीतिक व्यवस्था के नियंत्रण से मुक्त थी। अतः जिन ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे क्षेत्रों की अपनी पंचायत थी जिसके माध्यम से वे ग्राम स्तरीय समस्याओं को सुलझाने का प्रयास कर रहे थे। इस किस्म की अंतर संरचनागत स्वतंत्रता आधुनिकीकरण में विशेष रूप से सहायक थी लेकिन जैसा कि पहले इस ओर इशारा किया गया था, इससे समाजकीय रोक नहीं लग पाई। अतः सिंह देखते हैं कि आधुनिकता प्रमुख पहचान की बजाय उप-संरचना एवं उप-संस्कृति के रूप में विकसित हुई। समय के साथ हालांकि आधुनिकीकरण का ऐसी खंडयुक्त मौजूदगी एक घेरा बन गई और संरचनागत स्वायत्तता अब मुख्य शाक अबसार्बर नहीं रही। पुनः राजनीतिक व्यवस्था के बदलावों ने समाज और स्तरीकरण संस्कृतियों पर अपना फैलाव कर लिया। इस कारण समग्र सांस्कृतिक प्रथा में तनाव है। हालांकि यह स्पष्ट है कि आधुनिकीकरण को मूल्य पद्धतियों में अनुकूल बदलाव की जरूरत पड़ती है जो कि मूल्यों एवं मानदंडों की दृष्टि से गैर-परंपरागत है। सिंह धर्मनिरपेक्षता एवं छुआछूत की प्रक्रिया का उदाहरण देते हैं जो कि मौजूदा भारत में आधुनिकीकरण प्रक्रिया का निश्चित भाग है और जिसे परंपरागत मूल्य पद्धति द्वारा रोका जाता है (सिंह, 1986)।

**अभ्यास 29.2**

किस सीमा तक आधुनिकीकरण से असमानता पर रोक लगाई जाती है? अपने उत्तर के पक्ष में उचित कारण दीजिए।

सिंह पूछते हैं कि क्या भारत में समाज संरचनागत नियंत्रण को अनदेखा करने के योग्य है या नहीं। जिसे वह आधुनिकीकरण का "दूसरा चरण" कहते हैं। इसके अलावा संरचनागत स्वायत्तता की कमी आधुनिकता के मार्ग में परिवर्तन लाने में गंभीर समस्याएं उत्पन्न करती है। अतः सिंह की राय है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में कानून बनाने से समग्र परिदृश्य बदल गया है क्योंकि इनका निर्माण सामाजिक असमानता, शोषण एवं विसंबंधन को दूर करने के लिए किया गया है और इसमें भारत के संविधान में निर्मित लोकतांत्रिक अधिकारों एवं अन्य वचनबद्धताओं को नया मार्ग मिलता है। ऐसे प्रक्रमों ने भारत में समाज को श्रीनिवास के संस्कृतिकरण के सिद्धांत के स्थितिगत बदलावों से दूर धकेल दिया है। इस प्रक्रिया की जगह पर नई पहचानों, जाति संबंधों एवं जनजातियों की सर्जना होती आई है। इस प्रक्रिया को अपने आप में आधुनिकीकरण की महान परंपराओं जैसे शिक्षा, उद्योगीकरण एवं शहरीकरण से तेजी मिली है। इसके अलावा सिंह ध्यान देते हैं कि परंपरागत संरचनाओं को आधुनिक उद्देश्यों एवं रोष आंदोलन के लिए एकत्र किया जा रहा है। विरोधाभास में परंपरा को स्वतः मजबूती मिलती है क्योंकि मीडिया एवं परिवहन प्रक्रम आनुष्ठानिक संरचनाओं का प्रसार करते हैं और विविध धार्मिक समूहों एवं गतिविधियों को आगे संगठित करने में सहायता करते हैं। इसके अलावा धार्मिक संप्रदाय एवं अन्य धार्मिक समूह नौकरशाही उपागम को लागू करते हैं और यह संप्रदायों के एकीकरण के लिए जिम्मेवार है। हालांकि सिंह यह बात उठाने में सजग हैं कि आधुनिकीकरण के उत्तर औपनिवेशिक काल में काफी संरचनागत बदलाव हुए हैं जिससे जाति, परिवार, ग्राम एवं

समुदाय ने अपनी पारंपरिक छवि को बनाए रखा। जाति विशेष रूप से अत्यंत स्थिर और नई स्थितियों के अनुकूल बने रहने की साक्षी रही हैं और जहाँ तक बुनियादी सच्चाई का सवाल है, इसका उस नजरिए से अभी तक उन्मूलन नहीं हुआ है। इसके अलावा प्रजातांत्रिक सहभागिता राजनीति एवं मजदूर संघवाद जैसे बहुत से विविध क्षेत्रों में शामिल होकर भारत में जाति ने आधुनिक युग को अपनाया है और संयुक्त परिवार समूहों के क्षेत्र में इसकी मौजूदगी अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ है।

औपनिवेशिक युग में आधुनिकीकरण कुलीन संरचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक सजातीय था। अतः उद्योग, सैन्य एवं राजनीति से सरोकार रखने वाले कुलीन जाति एवं वर्ग संस्तरों की पृष्ठभूमि के थे। यह स्पष्ट है कि तब ऐसे कुलीनों के लिए आधार की कोई सीमा नहीं थी। स्वतंत्रता के बाद के समय में यह संकीर्ण आधार अपेक्षाकृत बढ़ गया है। इसका परिणाम है कि इससे कुलीनों के स्वयं अपने बीच असमानता आ गई, मुख्य रूप से राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक कुलीन। सिंह इस ओर इशारा करते है कि राजनीतिक कुलीन अपेक्षाकृत कम पश्चिमी थे और परंपरा एवं संबद्ध संकेतों से जाने पहचाने जाते थे। सिंह यह भी देखते हैं कि एक जाति व्यवस्था की संघीय संरचना ने बहुदल प्रथा का रास्ता दिया है और जिससे विचारधाराओं में भी अंतर आ गया है। इसके अलावा विविध एफ वाई पी द्वारा सृजित आय से मुख्यतया ऐसे लोगों को फायदा हुआ है जो गरीब विशेष रूप से ग्रामीण जन होने की तुलना में पहले से ही समृद्ध हैं। अतः इस प्रयास ने धनी एवं निर्धन के बीच के विभाजन को महत्व दिया है। इसके अलावा आबादी में वृद्धि की तीव्र दर ने भी संरचनागत तनावों को जन्म दिया है। इस प्रकार अभी हाल ही तक भारत में उद्योगीकरण की प्रक्रिया "ग्राम कृषक" किस्म की रही है और सिर्फ ऐसी जगहों को छोड़कर जैसी कि भारत के महानगर जो कि भारत में गिने-चुने हैं।

ऐसी संरचनागत असंगतताएं विविध स्रोतों से उत्पन्न होती हैं। जो हैं —

- उपयुक्त नागरिक (सिविक) संस्कृति के बिना लोकतंत्रीकरण;
- सार्वभौमिक मानदंडों के बिना नौकरशाहीकरण;
- जन संचार माध्यमों की वृद्धि;
- बिना वर्धित संसाधनों एवं वितरणकारी न्याय के आकांशा आधारित वृद्धि;
- सिर्फ मौखिक स्तर पर कल्याणकारी विचारधारा पर जोर; और
- सामाजिक स्तरों में पर्याप्त एवं समुचित बदलावों के अति शहरीकरण।

सिंह दर्शाते हैं कि गुन्नर मिरडाल जिसके अनुसार राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र एशिया में असमुचित ढंग से आगे बढ़े हैं। पश्चिमी समाजों में स्वतंत्र राज्य, प्रभावी सरकार और पर्याप्त विधि प्रवर्तन ने राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र को आगे किया। दक्षिण की तुलना में यह वह नहीं था और इसलिए इस असंतुलन ने विकसित देशों में आर्थिक निर्भरता को भी सृजित किया। इसका अर्थ मंद आर्थिक विकास एवं संस्थानों में अत्यंत धीमा बदलाव भी है।

भारत में विशेष रूप से बुद्धिजीवियों एवं मध्यम वर्ग के विस्तृत प्रतिशत के बावजूद जो कि असल लोकतंत्र के लिए महत्वपूर्ण हैं, आधुनिकीकरण को फिर भी काफी अवरोधों का सामना करना पड़ा। जैसा कि मिरडाल पाते हैं "मृदु राज्य" उपागम का अर्थ सामाजिक बदलाव के लिए गंभीर चोट था जो कि "वृत्ताकार" या "संचयी" हो सकती है। मिडाल वृद्धि के विकासवादी चरणों का समर्थन नहीं करते जिसे कि वे मानते हैं कि यह उद्देश्यमूलक और रूढ़िगत विचारधारा है। अतः भारत में आधुनिकीकरण प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण चरण की ओर अग्रसर हो रही है। हालांकि सिंह की राय है कि इन जोरों एवं प्रतिवादों से

संस्थागत नियंत्रण खत्म नहीं होगा। उसे लगता है कि "आधुनिकीकरण का निरंतर समन्वय" भारत में लोकतंत्र आधारित आधुनिकीकरण के लिए पूरी तरह अनिवार्य है। उसका यह भी सोचना है कि आधुनिकीकरण एकल अखंडित प्रक्रिया नहीं है और एक समाज से दूसरे समाज में अलग हो सकती है या होती है।

## 29.7 आधुनिकता की परिघटना

आइए अब आधुनिकता की संबद्ध संकल्पना एवं संबद्ध प्रक्रिया की ओर रुख करें जो कि आधुनिकता की परिघटना है। अतः आधुनिकता शब्द ऐसा है जिसका प्रयोग समाज के चरण की चर्चा करने में प्रयुक्त है और जो कि दूसरे या किसी अन्य समाज की तुलना में अधिक विकसित है और जो समग्र विश्व विकास के मॉडल के रूप में विश्वव्यापी पूंजीवाद का प्रयोग करता है। अतः जब समाज में आधुनिकता की विशेषताएं होती हैं तो इसे आधुनिक समाज कहा जाता है। दूसरी तरफ (जैसा कि हमने देखा) आधुनिक समाज बनने की प्रक्रिया आधुनिकीकरण कहलाती है। ऐसे आधुनिक समाजों को परिभाषित करने वाली विशेषताएं हैं —

- राष्ट्र राज्य का उद्‌भव
- उद्योगीकरण एवं पूंजीवाद
- लोकतंत्र का उदय
- प्रौद्योगिकीय नवीकरणों पर अधिकाधिक निर्भरता
- शहरीकरण
- जन संचार माध्यमों का समग्र विकास

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

पश्चिमी यूरोप में परिभाषित करने योग्य कुछ विशेषताओं में शामिल हैं —

- पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय
- सुधार एवं प्रति सुधार
- फ्रांसीसी क्रांति एवं अमेरिकी क्रांति
- औद्योगिक क्रांति

समाजशास्त्र में आधुनिकता को परिभाषित करने के बहुत से सुधार किए गए हैं। आधुनिकता को परिभाषित करने में प्रयुक्त कुछ कारकों में शामिल हैं —

- सांसारिक मोह का त्याग
- बुद्धिसंगत व्याख्या
- जन समाज
- धर्मनिरपेक्षता
- लोकतंत्रीकरण

इस तरह आधुनिकता को अक्सर आधुनिक समाजों को पूर्व एवं उत्तर आधुनिक समाजों से तुलना करके समझा जाता है। आधुनिकता को परिभाषित करने में इससे खुद की वजह

से भी कुछ समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यह विशेष रूप से कठिन होता है जब हम पूर्व आधुनिक से आधुनिक की ओर बढ़ते हुए त्रि-स्तरीय मॉडल का निर्माण करते हैं और इसके बाद उत्तर आधुनिकता के काल पर प्रकाश डालते हैं। हमने जिन विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित किया है वह ऐसा आंदोलन है जो पृथक समुदायों से चलते हुए अपेक्षाकृत बड़ी एकीकृत समाजों की ओर बढ़ता है। इस नजरिए से आधुनिकीकरण को ऐसी प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है जो कि सिर्फ यूरोप में ही अनूठी नहीं है।

**बॉक्स 29.3 : सांस्कृतिक क्रिस्टलीकरण**

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आदनौर काल में जर्मनी का एक अग्रणी सामाजिक दार्शनिक ग्लेन (1963) ने "सांस्कृतिक क्रिस्टलीकरण" के सिद्धांत को आधुनिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए, प्रस्तावित किया। एक प्रचलित लोकोक्ति में ग्लेन के अनुसार ज्ञानोदय के आधार वाक्य बेजान हैं। इनके सिर्फ परिणाम देखने को मिलते हैं। उसके नजरिए में आधुनिक समाज के संस्थागत काम्प्लैक्सों ने स्वयं को सांस्कृतिक आधुनिकता से अलग कर लिया है जिसे अब नकारा जा सकता है — सांस्कृतिक विचार अब और अधिक कुछ "नया" बनाने के योग्य नहीं हैं जो कि आधुनिकता के संदर्भ में विशेष महत्व रखते हों (गेनार्ड देलेंटी 2000, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता, पृ. 73)।

अतः बृहद एकीकरण से आशय है कि ऐसी सुदृढ़ अर्थव्यवस्था जो कि राष्ट्र राज्य के सभी भागों तक जाती है। यह अपने आप में संभव है जब समाज में गतिशीलता में बढ़ोतरी होती है। इसके अलावा इन विकास कार्यों से आशय ऐसे विशिष्टीकरण से है जो विविध सेक्टरों को आपस में जोड़ता है। हालांकि ये प्रक्रम कभी कभार विरोधाभासी नजर आते हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रभावों के सशक्त प्रभावों को बढ़ा कर अनूठी स्थानीय संस्कृति अपनी पहचान खो बैठती है जैसे लोककथाएं। सुप्रसिद्ध संगीत एवं संस्कृतियों की समान प्रकृति की समरूपता, व्यंजननुस्खे। ये कारण सभी स्थानीय संस्कृतियों में कमोबेश पाए जाते हैं और इन्हें विविधता देने में सहायक होते हैं। यह ज्यादातर ऐसे महानगरों में पाया जाता है जहाँ गतिशीलता उच्च होती है।

MADHYAM IAS

इस प्रकार सरकारी एवं औद्योगिक क्षेत्र के नौकरशाही एवं सोपानक्रम आधारित पहलू ऐसे क्षेत्र हैं जो अभूतपूर्व तरीके से सत्ता में विकसित होते हैं। हालांकि ऐसे समाज में व्यक्ति विशेष की भूमिका तब भी मौजूद रहती है जब निरंतर होड़ एवं व्यक्तिवाद का माहौल साथ-साथ चलता है। यह ऐसे समाजों से तब बिल्कुल भिन्न होता है जहाँ व्यक्ति विशेष की भूमिका कारण बतलाने योग्य वाली होती है। इसका अर्थ है कि आधुनिक समाजों में व्यक्ति विशेष पारिवारिक पृष्ठभूमि एवं परिवार के पुश्तैनी धंधों के अलावा भी कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनसे वे प्रभावित होते हैं।

अब यह बात उठाना अनिवार्य है कि ऐसे सामाजिक बदलाव सामाजिक एकीकरण के विविध स्तरों पर पाए जाते हैं और ये किसी विशिष्ट समय में सिर्फ यूरोपियाई समाज की विशेषताएं नहीं होते। ऐसे बदलाव उत्पन्न होते हैं जब दो समुदायों का आपस में विलय होता है। अतः जब दो व्यक्तियों में संबंध विकसित होते हैं तब भूमिकाएं भी आपस में बंट जाती हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में हम पाते हैं कि पूंजी का अंतरराष्ट्रीय प्रवाह बुनियादी स्थिति को बदल देता है। अतः जहाँ हम कहते हैं कि आधुनिकता में बुनियादी तौर पर कुछ प्रत्यक्ष विवादास्पद तत्व शामिल होते हैं, तब इन्हें सामाजिक बदलाव से संबद्ध बहुत सी सरल संकल्पनाओं तक न्यूनीकृत किया जा सकता है।

तब किस प्रकार आधुनिकता का यह सिद्धांत पुनर्जागरण के समय से पश्चिमी यूरोपियाई एवं अमेरिकी समाजों के विश्वव्यापी प्रभावों को स्पष्ट करता है। शुरुआत में हम कह सकते हैं कि सिर्फ यूरोप में तर्कसंगत सोच ने बौद्धिक गतिविधियों की जगह लेनी शुरू कर दी जो कि अंधविश्वास एवं धर्म की लपेट में थी।

दूसरे, इसके अलावा उपनिवेशीकरण का कारक भी था जिसने इन समाजों के बीच शोषण का ताना-बाना बुना अर्थात ऐसे समाज जिनका शोषण हुआ और दूसरे वे जिन्होंने समाजों का शोषण किया।

हालांकि हम पाते हैं कि ऐसे बहुत से प्राचीन समाज हैं जो आधुनिकता की छत्रछाया में अन्य समाजों के साथ अपना अस्तित्व कायम रखे हुए हैं। इनमें शामिल हैं — संयुक्त परिवार, लघु पैमाने के उद्यम, विस्तृत आय विविधता आदि। हालांकि इस बात पर तर्क है कि बहुत सी विशेषताओं को चुनौती समझने की बजाय आधुनिकता के पहलुओं के रूप में समझा जाना चाहिए।

आधुनिकीकरण बहुत से तरीकों से विशेष रूप से स्वास्थ्य एवं पोषण के क्षेत्र में समाज के लिए काफी मददगार रहा । घातक रोगों पर नियंत्रण कायम किया गया या उन्हें दूर किया गया और समतावाद के सिद्धांतों को सर्वव्यापी बनाया गया।

हालांकि इसमें कुछ दोष भी हैं और छवि इतनी सकारात्मक नही है क्योंकि प्रौद्योगिकीय दृष्टि से सिर्फ आर्थिक संपदा में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि इससे परमाणु बमों को भी विकसित किया गया जिनमें से दो को नागासाकी और हीरोशिमा पर गिराया गया था। नाभिकीय प्रौद्योगिकी की नकारात्मक प्रतिक्रिया भी होती है जब इसका प्रयोग सैन्य उद्देश्यों के लिए किया जाता है। हालांकि जैव विविधता एवं मौसम परिवर्तन में आने वाली कमी अर्थात ये सभी उग्र व्यक्ति विशेष समाज का परिणाम हैं। मनोवैज्ञानिक समस्याएं एवं नैतिकता में ढिलाई से भी आधुनिकता की समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

## 29.8 आधुनिकता आधारित उपागम

अतः जैसा कि टेलर इशारा करते हैं, ऐसे कम से कम दो उपागम हैं जो इस विवेचना से संबंधित है कि आधुनिकता किस प्रकार अस्तित्व में आई। इस बात को समझाने के तरीके हैं कि क्या मौजूदा समाज को उस समय से अलग बनाता है जिसने मनुष्य को आधुनिकता के दायरे में आने से पहले अपनी सीमा में कायम किया हुआ था।

एक विधि समकालीन पश्चिमी समाज एवं संस्कृति और मध्यकालीन यूरोप में व्याप्त अंतरों को उस निगाह से देखती है जो मध्यकालीन यूरोप एवं मध्यकालीन भारत के बीच के अंतरों से मिलते-जुलते थे। अतः हम सभ्यताओं के बीच के अंतर के बारे में सोच सकते हैं और उसका विश्लेषण कर सकते हैं । दूसरी तरफ इस बात को इस नजरिए से सोचा जा सकता है कि जहाँ परंपरागत समाज की समाप्ति होती है और आधुनिक समाज की शुरुआत होती है। यह परिप्रेक्ष्य अधिक प्रभावी है और यह ऐसा विश्लेषण प्रदन करता है जो विविध परिप्रेक्ष्य देता है। पहले उल्लिखित उपागम सांस्कृतिक उपागम (cultural approach) है और दूसरा इसके विपरीत गैर-सांस्कृतिक उपागम (acultural approach) है। सांस्कृतिक उपागम में ऐसी बहुत सी संस्कृतियां हैं जिनमें भाषा एवं सांस्कृतिक व्यवहार शामिल हैं जो हमें स्वयं मनोवैज्ञानिक ढाँचों, धर्म, नैतिकता को समझने में सहायता करते हैं। ये कारक किसी एक संस्कृति में विशिष्ट होते हैं और अक्सर अतुलनीय होते हैं। उपर्युक्त को ध्यान में रखकर आधुनिकता का सांस्कृतिक सिद्धांत पहले और तब नई संस्कृति में होने वाले बदलाव का विश्लेषण करता है। मौजूदा विश्व को आत्म एवं नैतिकता की विशिष्ट विवेचना वाली संस्कृति के रूप में देखा जा सकता है। अतः आधुनिकता के इस मॉडल को सभ्यता के पिछले पहलुओं से तुलना करने के रूप में देखा गया है और इस संदर्भ में इसका वैश्लेषिक प्रयोग भी किया गया है (टेलर, 2004)। दूसरी तरफ गैर-सांस्कृतिक सिद्धांत कुछ सांस्कृतिक तटस्थ विश्लेषण की दृष्टि से समग्र प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। यह दर्शाता है कि समग्र प्रक्रिया उस समय मौजूद संस्कृति की दृष्टि से विश्लेषित नहीं की जाती जो कि बाद में आधुनिकता में बदल गई। बजाय इसके यह ऐसे

उपागम पर आधारित है जिसे कि ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जिसका सामना परंपरागत समाज को करना है। अतः गैर-सांस्कृतिक सिद्धांत तर्क आधारित आधुनिकता पर आधारित है जैसे कि वैज्ञानिक चेतना की वृद्धि, धर्मनिरपेक्ष सोच का विकास, तथ्यों की प्राप्ति एवं विकास।

आधुनिकता सामाजिक-सांस्कृतिक नजरिए एवं बौद्धिक बदलाव के नजरिए से भी स्पष्ट की जा सकती है। अतः देखा गया है कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं व्यक्ति विशेष बदलाव, उद्योगीकरण के रूप में नजर आते हैं। ऐसे मामलों में जैसा कि पहले बताया गया है, आधुनिकता ऐसा बदलाव है जिसका सामना सभी संस्कृतियां करती हैं और जो समय के साथ होता है।

ऐसे बदलावों को व्यक्तिवाद, नैतिकता, अच्छाई और बुराई की दृष्टि से परिभाषित नहीं किया जाता। बजाय इसके ये समग्र रूप में संस्कृति एवं सभ्यता की बात करते हैं।

**बॉक्स 29.4 : आधुनिकता की विवेचना**

... कारण की दृष्टि से आधुनिकता की विवेचना सर्वाधिक प्रचलित नजर आती है। यहाँ तक कि सामाजिक विवेचन कारण को उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त है। गतिशीलता और उद्योगीकरण जैसे सामाजिक बदलाव बौद्धिक एवं आध्यात्मिक परिवर्तन लाने की बात करते हैं क्योंकि इससे लोग पुरानी आदतों, विश्वास-धर्म या परंपरागत नैतिकता के बंधन से मुक्त होते हैं जो कि तब अस्थायी बन जाते हैं क्योंकि इनमें ऐसे स्वतंत्र तार्किक आधार का अभाव होता है जो कि माना जाता है कि व्यक्तिवाद या तर्कसंगतता जैसे आधुनिकता के नियमों में होना चाहिए। (चार्ल्स टेलर, 2004, टू थ्योरीजी ऑफ माड्रनिटी)।

इस तरह किसी भी संस्कृति पर वैज्ञानिक चेतना, धर्म की धर्मनिरपेक्षता एवं निमिक्तिक चिंतन की वृद्धि का प्रभाव पड़ता है। आधुनिकता तब इस उपागम/सिद्धांत में ऐसी तर्कसंगतता से उत्पन्न होती है जो कि सांस्कृतिक तटस्थ है। यह इस तथ्य के बावजूद है कि सिद्धांत का संबंध इस बात से है कि क्या आधुनिकता किसी अन्य की बजाय इसी समाज में उत्पन्न हुई या क्यों इसकी उत्पत्ति कुछ समाजों में पहले हुई और कुछ में बाद में। दरअसल सिद्धांत आधुनिकता को कोई विशिष्ट बिंदु या चरण नहीं देता बल्कि यह तो ऐसी सामान्य बात है जो किसी विशिष्ट संस्कृति को अपना साधन बना सकती है। अतः इस मुहिम/बदलाव को मानव मूल्यों या साझे अर्थों के संबद्ध परिप्रेक्ष्य के रूप में नहीं देखा जा सकता। सामाजिक विवेचना के मामले में उद्योगीकरण जैसे विकासात्मक कार्यों के पीछे एक कारण अवश्य होता है और जिसका मूल्यों पर प्रभाव होता है। तत्पश्चात तर्कसंगतता की दृष्टि से विवेचना पर विचार करते हुए इसे "सामान्य क्षमता" के अभ्यास के रूप में माना जाता है जो कि पक्वता एवं बातों को खोलने के संदर्भ में पूर्ण विकसित था। विशिष्ट दशाओं में लोग वैज्ञानिक चिंतन को समाज में महत्वपूर्ण स्थान के रूप में देखते हैं । वे यह भी देखेंगे कि नैमिक्तिक तर्कसंगतता लाभदायक है। इसके अलावा धार्मिक विश्वास किसी भी लहजे से सार्वभौमिक या निर्विवाद नहीं है और इनके लिए ढेर आस्था की जरूरत होती है। अंततः तथ्यों और मूल्यों को अलग किया जाता है।

अब ये बदलाव निश्चित मूल्यों एवं समझ की मौजूदगी से पनपते हैं और यदि ये प्रभावकारी हैं तो ये अन्य किस्मों के सांस्कृतिक मूल्यों के अवरोधों को भी झेलते हैं। ये बदलाव किसी भी समय में मौजूद समग्र सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ द्वारा परिभाषित होते हैं।

हम देख सकते हैं कि पिछली कई शताब्दियों से आधुनिकता के प्रमुख सिद्धांत गैर-सांस्कृतिक किस्म के रहे हैं। आधुनिकता व्यक्ति-विशेष एवं समुदाय परिप्रेक्ष्य में भी बदलाव आने से जुड़ी हुई है। ऐसा इसलिए है कि जब तक नजरिया नहीं बदलेगा, संबद्ध समाज

पूर्व-आधुनिक से आधुनिक या उत्तर आधुनिक काल की ओर नहीं बढ़ सकता। दूसरी तरफ वेबर विरोधाभास में इस बात पर तर्क करता है कि तर्कसंगतता (आधुनिकता का महत्वपूर्ण पहलू) एक नियमित प्रक्रिया है जो कि संस्कृति विशेष की बजाय सांस्कृतिक रूप से सामान्य क्रिया है। इसी तरह दुर्खाइम द्वारा पूर्व आधुनिक से आधुनिक समाज की प्रक्रिया को मशीनीकरण से सामाजिक एकजुटता के व्यवस्थित स्वरूपों में बदलाव की दृष्टि से वर्णित किया गया। यह "मंथर लोकतंत्र" की ताकुविल संकल्पना का भी एक पहलू है जिसमें समाज के विविध स्तरों में समानता पर जोर दिया गया है। यद्यपि ये सभी अलग हैं फिर भी एक समय में संबद्ध गतिविधियाँ हैं।

## 29.9 सारांश

टेलर का विविध किस्म की प्रदत्त विवेचनाओं में अभी भी मानना है कि कारण पर लक्षित आधुनिकता की विवेचना एवं विश्लेषण सर्वाधिक स्वीकृत है। सामाजिक तत्वों पर लक्षित विवेचना अभी भी ऐसे कारण या बदलावों की बात की ओर प्रवृत्त है जो कि सामाजिक हैं। अतः गतिशीलता एवं आधुनिकीकरण के कारकों को बौद्धिक एवं आध्यात्मिक बदलाव लाने के संदर्भ में सोचा जाता है क्योंकि ये अनुकूलन की नई परतों को बनाने की ओर प्रवृत्त हैं जिससे पुरानी परतें होकर गुजरती हैं। इसका अर्थ है कि ये पुरानी आदतों एवं आस्थाओं को शिथिल बनाते हैं चाहे वह धर्म हो या पुरानी नैतिकता। यह आधुनिकता के नकारात्मक सिद्धांतों का प्रश्न है जिसका कोई आधुनिक विकास के संदर्भ में सकारात्मक नजरिया नहीं है और जो समाज का पतन और फिर आधुनिकता के पक्वन और इसकी शुरुआत को देखता है। जहाँ हम देखते हैं कि आधुनिकता में विविध दिशाओं में काफी सामर्थ्य है वहीं नकारात्मक सिद्धांत इसे खतरनाक विकास मानते हैं। ये अनिवार्यतया गैर-सांस्कृतिक सिद्धांत हैं। अतः आधुनिकता का अर्थ है परिप्रेक्ष्य का हनन, जड़ों का नाश, इतिहास या यहाँ तक कि ईश्वर पर निर्भरता। इस प्रकार आधुनिकता के नकारात्मक सिद्धांत इसे समग्र खुशहाली की पिछली अवस्था का विलोपन मानते हैं।

अतः आधुनिकता एवं इसके विविध आयामों के आगमन को मिश्रित आशीर्वाद के रूप में देखा जाना चाहिए। जिसके एक तरफ सकारात्मक सामाजिक प्रासंगिक क्षेत्र और प्रौद्योगिकीय विकास है और दूसरी तरफ आधुनिकता के आगमन एवं अपनी जगह बनाने से संबद्ध समस्याएं हैं। नकारात्मक उन्मुख विचारक यहाँ इस ओर इशारा करते हैं कि प्रौद्योगिकी की अपनी कुछ समस्याएं हैं जो कि तीव्र विकासशील प्रौद्योगिकी से संपन्न हुई हैं और जिसका लोगों के समग्र जीवन पर प्रभाव है।

इस तरह जहाँ ज्ञानोदय के समय से सोलहवीं शताब्दी में आधुनिकता की शुरुआत हुई तो 20वीं शताब्दी की शुरुआत तक यह विकसित होती चली गई। अन्य शब्दों में, आधुनिकता का अपने से जुड़ा कुछ "असंतोष" भी है। आइए, संक्षेप में उल्लेख करें कि ये क्या है?

पहला हमें अवश्य महसूस करना चाहिए कि आधुनिकता से समस्याएं तो होती हैं। जैसा कि हमने पहले इस ओर इशारा किया था। विकास एवं प्रगति में आस्था, हमेशा आगे की बात सोचना, तर्कसंगतता पर निर्भरता एवं कारण जैसी बातों ने आशावाद को जन्म दिया जिसे कि उत्तर परंपरागत विचारधारा द्वारा उठाई गई शंकाओं ने ध्वस्त कर दिया। हालांकि हमें इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि आधुनिकता ने बहुत से सामाजिक संरचनागत बदलावों की प्राप्ति की।

इस प्रकार प्रौद्योगिकी जैसे-जैसे विकसित होती है उस प्रकार से हमारे रोजाना के व्यवहार में भी बदलाव आता है। कारण है कि प्रौद्योगिकीय नवाचारों एवं आविष्कारों ने ज्ञानोदय के फलस्वरूप विश्व की समग्र बुनावट को ही बदल दिया है जिससे सुविकसित नगर, शहर, महानगर ही नजर आते हैं। यह पूंजीवाद ही है जो की नवीनता एवं आविष्कारों के पीछे की बुनियादी सत्ता रहा है।

वायुयान एवं मोटर कार धीरे-धीरे विश्व भर के दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन गए हैं। समय और अंतराल के बीच की दूरी कम हो रही है और आधुनिक समाज में सही समय सारणी और पर्याप्त अंतराल की कोई जगह नहीं है। मशीनी सुदृढ़ता ने जैविक सुदृढ़ता को रास्ता दिया है। वेबर की तर्कसंगतता की संकल्पना आधुनिक विश्व पर छाई हुई है और इसने सही किस्म की सोच को जन्म दिया है। इसके अलावा शहरीकरण ने भारी प्रवसन को रास्ता दिया । आधुनिक विश्व में अनुशासन, धर्मनिरपेक्षता, अपवर्तन, अनोमिक और नौकरशाही का लौह पिंजरा, नौकरशाही संगठन के जैविक संरचना के ही भाग हैं।

## 29.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देलंती, गेयर्ड, 2000, *माड्रनिटी एंड पोस्ट मॉड्रनिटीः नालेज, पॉवर एंड द सेल्फ,* लंदन, सेज।

लयोन, डेविड, 1999, *पोस्टमार्डनिटी,* बकिंगमः ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, योगेन्द्र 1986, *माड्रनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रैडिशन,* जयपुर, रावत पब्लिकेशंस।

वैगनर, पीटर, 2001, *थ्योराइजिंग माड्रनिटीः इनअस्कैपेब्लिटी एंड अटेनेबिलिटी इन सोशल थ्योरी,* लंदन, सेज।

## 29.11 संदर्भ ग्रंथावली

गिड्डन, ए (1991), *द कौन्सीक्वेन्सिस ऑफ माड्रनिटी,* स्टैनफोर्ड, कैलिफोर्निया।

फोस्टर-कार्टर, अदन, 1985, *द सोशयालिजी ऑफ डेवलपमेंट,* केन्सवे प्रेस, कैलिफोर्निया।

रोस्तो, डब्ल्यू.डब्ल्यू. 1960, *द स्टेजिस ऑफ इकोनोमिक ग्रॉथः ए नॉन कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो,* कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

समैलस्टर, एन, 1969, *'मैक्निज्म ऑफ एंड एडजस्टमेंट टु चेंज'* इन टी बन (एडी.), 'इंडस्ट्रीयल मैन' परगविन 1969.

रोजस, राबिन्सन 2004, *माड्रनाइजेशन थ्योरी एंड द ला ऑफ चेंज रीट्रिण्ड फ्रॉम* http/ /www.Rrojasatabank.org/Capital8.html.

सिंह, योगेंद्र 1986, *द माड्रनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रैडिशन,* जयपुर, रावत।

टेनर, चार्ल्स, 2004, *टू थ्योरिज ऑफ माड्रनिटी रिट्रिण्डः* टेलर X.html.

MAADHYAM IAS

इकाई 30

# परंपरा एवं आधुनिकता

**इकाई की रूपरेखा**


30.1 प्रस्तावना

30.2 परंपरा, समाज एवं संस्कृति

30.3 परंपरा एवं आधुनिकता

30.4 महाशक्ति के रूप में आधुनिकता

30.5 सात्विक असुरक्षा एवं आधुनिकता

30.6 आधुनिकता, तर्कसंगतता एवं प्रतिमानक

30.7 सारांश

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.9 संदर्भ ग्रंथावली


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- परंपरा की संकल्पना को परिभाषित कर सकेंगे;
- आधुनिकता को परिभाषित कर सकेंगे;
- आधुनिकता की "महाशक्ति" रूपी संकल्पना को रेखांकित कर सकेंगे; तथा
- आधुनिकता एवं तर्कसंगतता की चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

## 30.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम परंपरा एवं आधुनिकता के विषयों पर ध्यान केंद्रित करेंगे। शुरुआत में इस ओर इशारा किया जाता है कि परंपरा एवं आधुनिकता परस्पर विरोधी या प्रतिस्पर्धी संकल्पनाएं नहीं हैं। बजाय इसके ये अर्थ के विविध पहलुओं को दर्शाती हैं और दरअसल सांकेतिक रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इस तरह परंपरा या परंपराएं ऐसा आधार हैं जिनसे आधुनिकता की उत्पत्ति हुई है। इसके अलावा हम कह सकते है कि परंपरा में कोई विशेष योग्यता होनी चाहिए जैसे कि यह स्थानीय परंपरा या सर्व-समाज परंपरा हो सकती है। इस तरह परंपरा पर विचार करने की बहुत सी विविध लड़ियाँ हैं और इस तरह कई विविध व्याख्याएं भी हैं। इस तरह परंपरा बहुत सी संस्कृतियों का जीवंत एवं महत्वपूर्ण कारक हैं और ये शायद हैं —

- भोजन एवं खाद्य पदार्थों की परंपरा
- संगीत एवं नृत्य की परंपरा
- धर्मग्रंथ संबंधी परंपरा
- कलात्मक परंपरा,

- मार्शल आर्ट संबंधी परंपरा;
- समाजशास्त्रीय परंपरा; और
- परंपरा एवं वेशभूषा।

इस तरह "परंपरा" एवं "आधुनिकता" को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और दोनों एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। जहाँ इन संकल्पनाओं एवं प्रक्रमों की मौजूदगी है वहीं ये विकल्प के रूप में भी नजर आती हैं। अतः आधुनिकता एक आर्थिक बल है जबकि परंपरा बुनियादी रूप से सांस्कृतिक एवं सामाजिक है।

यहाँ इस संदर्भ में परंपरा की भूमिका क्या है। परंपरा बुनियादी रूप से व्यवहार, भाषा, संगीत, कला, छात्रवृत्ति आदि की श्रृंखला है और जो इस तरह से पिछले कई युगों से विकसित होती आई है। समय के साथ-साथ परंपरा कमोबेश एक नियम बन जाती है। जैसे कि पारंपरिक नियम एवं धर्मग्रंथ जो कि हर नजरिए से परंपरा के पहलू हैं। अब प्रश्न उठता है कि व्यक्ति-विशेष और समाज के लिए इन परंपराओं का महत्व क्यों है? कारण है कि ये सामाजिक प्रक्रिया को निरंतरता देते हैं और संबद्ध समाज के सदस्यों की आने वाली पीढ़ियों को एक परंपरा देते हैं जिसके अपने विशेष गुण होते हैं और इस तरह समाज की निरंतरता भी बनी रहती है। इस तरह परंपरा कुछ जीवंत रचनाओं का भंडार है जिसके बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं। इसके अभाव में यह बिखर जाएगी और टूट जाएगी जिसका परिणाम होगा कि यह अनियमित बन जाएगी। आइए भारत में संगीत परंपरा पर विचार करें। शास्त्रीय संगीत की इस विशिष्ट परंपरा में यहाँ घराने हैं या समूहन हैं और इनमें से प्रत्येक की अपनी वंशावली है जिसमें ऐसे कुछ गायकों का समावेश होता है जिनसे इस घराने की शुरुआत हुई थी या जिनकी ये घराने देन हैं और इस तरह यह विशेषज्ञता पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। अतः हम देखते हैं कि परंपरा से आशय एक जीवन शैली से है अर्थात जीवन जीने के एक ढंग से है। जिस तरह की संगीत, कला, नाट्य कला में प्रशिक्षण काफी कड़ा होता है और जो परंपरा के दायरे के भीतर अन्य प्रशिक्षण कार्यों की भांति अभ्यास, नोट या कुछ चलनों के बारंबार दोहराने पर आधारित होता है। आमतौर पर परंपरागत संगीत एवं नृत्य का शिक्षण कुछ बातों को करने और न करने की अंतहीन श्रृंखला है और इसे ही परंपरा कहते हैं। अतः परंपरा ज्ञान का ऐसा पुंज है जिसकी क्रियाएं एवं विचारधारा संरचनागत होती है और जो कुछ विशेष नियमों पर आधारित होती है। यहाँ हमारा प्रश्न उन बातों पर है कि हम परंपरा के किस क्षेत्र का हवाला दे रहे हैं। जाँच करने पर हम पाते हैं कि परंपरा में कुछ ऐसे निर्धारित गुण होते हैं जिसकी वजह से यह चलती रहती है । इसके अलावा ऐसे विभिन्न पहलू भी हैं जिन्हें हम परंपरा के विविध स्वरूप कहते हैं। तब भारत में संगीत घरानों की बात पर कायम रहते हुए हम पाते हैं कि उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत के बीच कुछ बुनियादी अंतर हैं और इन अंतरों के आगे अनेक उपभाग भी इसी तरह चलते रहते हैं। इसलिए यदि हम परंपरा की संकल्पना को ध्यान में रखकर समाज और संस्कृति के प्रत्येक पहलू पर बात करें तो यह गलत होगा। अतः यदि यह मान लिया जाए कि भारत में संगीत की परंपरा काफी मजबूत है तो यह भी पूछा जा सकता है कि संगीत परंपरा का यह कौन सा स्वरूप है जिसके संदर्भ में बात की जा रही है।

तब यह बात स्पष्ट है कि परंपरा ऐसे निर्देशों को भी दर्शाती है जिसके अंतर्गत सभी लघु परंपराओं को एकत्र किया जा सकता है। अगर बहुत गहराई से देखा जाए तो परंपरा में विविध किस्म की गतिविधियों का समावेश होता है जिस पर संक्षेप में प्रकाश डालने की आवश्यकता है। अतः परंपरा निम्नलिखित बातों के इर्द-गिर्द घूमती है और इसमें निम्नलिखित बातों का समावेश होता है:

- विशिष्ट प्रक्रिया या पैतृक संपत्ति
- उप परंपराएं जिनका अपना योगदान होता है
- ऐतिहासिक पहलू मौखिक या लिखित
- अलौकिक पहलू की निश्चित संकल्पना
- संपोषण की आर्थिक संरचनाएं
- देसी कला के पहलू
- वास्तुकला के तथ्य
- सामाजिक क्षेत्रों में छात्रवृत्ति
- साहित्य लिखित एवं अलिखित
- प्रौद्योगिकीय संरचनाएं
- आत्म सुरक्षा या अपराध से निपटने में सैन्य शक्ति

अतः परंपरा ऐसी संरचना या विचारधारा है जिसका अपना इतिहास है और जिस पर उस क्षेत्र के विकास को आत्मसात करने का उत्तरदायित्व है ताकि परंपरा स्वतः कायम रहे।

## 30.2 परंपरा, समाज एवं संस्कृति

इस तरह परंपरा समय के साथ मजबूत होती जाती है और इसकी सीमाएं धीरे-धीरे सुविकसित होती जाती हैं। इसका अर्थ है कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति के आधार पर परंपरा विकसित या संकुचित होती है। इसके अलावा यह पहले से ही मान लेना गलत होगा कि परंपराएं निरंतर विस्तार की ओर बढ़ती जाती हैं और प्रगति सदैव रैखिक होती है। यह संभव है कि इनकी अवनति भी हो सकती है। तीसरी स्थिति उत्पन्न होती है जब परंपरा उत्क्रमिक (entropic) प्रवृत्ति को विकसित कर लेती है और कुछ समय के लिए रुक जाती है और इसके बाद तेजी पकड़ती है या इसका महत्व कम होने लगता है।

अतः परंपरा की शुरुआत होती है जब कोई विशिष्ट कार्य या गतिविधि समाज के लिए महत्वपूर्ण बन जाती है। जैसा कि हमने पहले बताया था, परंपररा बहु किस्मों की होती है जैस (संगीत, कला, वास्तुकला) और इसके आगे अपने उपभाग होते हैं। हालांकि इनमें से कुछ का अध्ययन करना संभव है लेकिन पूर्ण रूप से इनका अध्ययन करने में बहुत वर्षों के शोध की जरूरत है और साकल्यवादी नजरिया पाने के लिए इसके अपेक्षित आंकड़े अभी भी पर्याप्त नहीं हैं। यहाँ हमारे बताने का आशय है कि किसी भी समाज का ऐसा पूर्ण नजरिया अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है जो कि अनेकवादी हो क्योंकि विविध मूल वंशों एवं जातियों के सदस्यों की परंपराएं अलग-अलग होती हैं। अतः अपने पैतृकों से लोग और समाज जो परंपरा विरासत में प्राप्त करते हैं, वह विविध स्वरूपों में उन्हें उपलब्ध रहती है। विविध पीढ़ियों से जो प्रक्रम चलता आता है वह स्वतः विशिष्ट परंपरा या उप परंपरा बन जाता है।

**बॉक्स 30.1 : परंपरा की अभिवृद्धि**

अतः परंपरा

- दशकों/शताब्दियों के बाद एक ठोस रूप धारण करती है। जैसे भारत की धर्मग्रंथ संबंधी परंपरा अपने आप में अनेकवादी है। अतः मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा

की ओर बढ़ने से ज्ञान को एक औपचारिक रूप मिल जाता है और जब यह परंपरा समाज में जाती है तो वहाँ यह अनेक रूप धारण कर लेती है।

- कला एवं वास्तुकला का क्षेत्र परंपराओं से भरापूरा है जो कि इसी क्षेत्र में उपजी हैं। अतः भारत में कला एवं वास्तुकला के क्षेत्र में (i) शास्त्रीय, (ii) प्राचीन, और (iii) पारंपरिक जैसी बहुत सी परंपराए हैं।

ऐसे प्रत्येक क्षेत्र में कलाकार एवं वास्तुकार शास्त्रीय, प्राचीन एवं परंपरागत कला एवं वास्तुकला के विकास के लिए उत्तरदायी रहे हैं। भारत में ये परंपराएं शताब्दियों के बाद विकसित हुई हैं। इसके बाद आर्थिक संरचनाएं ऐसी हैं जो शताब्दियों पहले शुरू हुई और 1800 में उद्योगीकरण की शुरुआत तक ये पक्का रूप धारण कर चुकी थीं। भारतीय परंपरा में वस्तु एवं सेवाओं का विनिमय सेवाओं के भौतिक विनिमय की दृष्टि से शुरू हुआ। जिसे कि जनसाधारण भूपतियों को दिया करते थे। यह परंपरा पद्धति थी और इसने भूमिहीन श्रमिकों का शोषण किया क्योंकि भू स्वामी उन्हें एक तो काम के बदले अपेक्षा से कम समय देते थे और उनसे लंबे समय तक काम करवाते थे। ऐसा करके इन श्रमिकों को कृषि मौसम की समाप्ति पर मुट्ठी भर अनाज मिल जाता था जिससे उनकी रोजी रोटी चलती रहती थी। ऐसे उदाहरण विश्व भर में देखे जा सकते हैं और सामंतवाद भी इसी तरह एक अन्यायपूर्ण पद्धति थी। यह बताना किसी भी बिंदु पर मुश्किल होता है कि परंपराएं "अच्छी" हैं या "बुरी"। जाँच पर यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारतीय परंपराओं में कुछ पवित्रता है लेकिन सती और दहेज जैसी परंपरा भी इसी का भाग है। अतः परंपरा की कटाई-छटाई करनी जरूरी हो जाती है ताकि यह गलत दिशा में न बढ़ जाए। सदियों के बाद ही कोई परंपरा किसी विशिष्ट आस्था और रीति-रिवाजों का विशिष्ट समूह बन जाती है। ये विश्वास एवं रीति-रिवाज किसी एक परंपरा में विशिष्ट होते हैं और इसमें निहित उप-परंपराओं पर भी समान रूप से लागू होते हैं।

इसके बाद परंपराएं समान सैद्धांतिक विचारधारा को अपने में बाँध लेती हैं और यह बात भौतिक संस्कृति पर भी समान रूप से लागू होती है। तब संस्कृति से क्या आशय है? परंपरा सामाजिक सच्चाई के प्रति एक विशिष्ट उपागम है जो इसे प्रभावित करती है और यह व्यक्ति विशेष और सामाजिक सच्चाई को दिशा प्रदान करती है। अतः कुछ घुमावदार दशाओं का उल्लेख करने की बजाय अनेकवादी परंपराओं की दृष्टि से बात करना बेहतर होगा क्योंकि ऐसी दशाएं एक गलत सोच हैं क्योंकि सच्चाई पूरी तरह से इसके अंतर्गत आशंकित नहीं होती।

परंपरागत प्रौद्योगिकी ऐसा अन्य क्षेत्र है जिसका भरसक प्रयोग किया जाता है और जिसमें विशेष सुधार किए गए हैं। अतः कृषि के क्षेत्र में ट्रैक्टर या कम्बाइन हार्वेस्टर ने द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न कर दी। जहाँ कटाई करने का तरीका बदल गया है वहाँ मनोवृत्ति अभी भी परिवार और कार्यस्थल पर पारंपरिक ही है। इस तरह परंपरा गैर-परंपरा के प्रवाह में विशिष्ट समय पर आधुनिक मशीनों का प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है कि प्रौद्योगिकी और कामगारों एवं उनके लाभार्थियों की मनोवृत्ति के बीच अभी भी वाद-विवाद है। युगों पुरानी परंपराएं एवं रीति-रिवाज अपना काम करना बंद कर देते हैं और कई बार इन दोनों के बीच तालमेल बिठाने के लिए परिवर्तनों या बदलावों को पेश करना पड़ता है। परंपरा तब वह है जो समाज को एक सूत्र में पिरोए रखती है। हालांकि परंपरा में ऐसे कारक होते हैं जो कभी कभार अपने पथ से हट जाते हैं। जैसें भारत के कुछ महानगरों में होली, दिवाली जैस पर्वों को मनाने के लिखित एवं प्रचलित रूपों में परिवर्तन देखने को मिलते हैं जहाँ घरों में प्लास्टिक की रोशनी और दीवाली की परंपरा को निभाने के लिए कुछ गिनी चुनी मोमबत्तियों का प्रयोग किया जाता है।

## 30.3 परंपरा एवं आधुनिकता

ऐसी और अन्य गतिविधियों में परंपरा आधुनिकता की समग्र संकल्पना पर हावी रहती है। यहाँ प्रश्न यह है कि किस तरह आधुनिकता परंपरा से संबद्ध है। क्या आधुनिकता अन्य किस्म की परंपरा है? क्या परंपरा एवं आधुनिकता में कुछ सामान्य है और यह किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़ी हुई है?

परंपरा में उत्क्रमिक (entropic) और खुद अपनी तरफ देखने की प्रवृत्ति होती है। बहुत सी स्थानीय स्तर की परंपराओं एव उप-परंपराओं के संदर्भ में यह बात सही है कि कुछ समय बाद ये स्वतः विलुप्त हो जाती हैं। यहाँ प्रश्न है ये परंपराएं क्यों विलुप्त हो जाती हैं, बदल जाती है या आधुनिकता की छाया में इनका अस्तित्व कायम रहता है। असल में परंपरा की कुछ प्रमुख विशेषताएं होती हैं जो विकसित होती हैं, बदल जाती है या जिनका विकास रुक जाता है। अतः परंपरा की बहुत सी उप-परंपराएं होती हैं और यही है जो विशिष्ट संस्कृति के क्षेत्र में विविध भौगोलिक क्षेत्रों में अनिश्चित रूप से बनी रहती है।

**अभ्यास 30.1**

परंपरा की संकल्पना की चर्चा कीजिए । क्या परंपरा बदलती है या स्थिर बनी रहती है?

किसी निश्चित बिंदु पर परंपरा कम प्रभावकारी होती है और यह सिर्फ स्थानीय परंपराओं से जूझने के योग्य है। कई जगह परंपरा को बनाए रखना पड़ता है और विविध धार्मिक परंपराएं स्वयं को बनाए रखने में मुश्किल का सामना करती हैं। इस तरह, परंपरा जब एंट्रोपिक बन जाती है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि परंपरा अब रुक गई है और ऐसा करने में यह एक कठिन रूप धारण कर लेती है और रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों, समारोहों से कृत्रिम रूप से जुड़ जाती है जबकि अनिवार्य संप्रेषण धुंधला एवं उलझन भरा ही रहता है।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

परंपरा गतिशील है और इसके परिणाम बदलते रहते हैं। हमें यह बात अवश्य मस्तिष्क में रखनी चाहिए कि सामाजिक परिवर्तन समाज की प्रक्रिया के भाग हैं। हालांकि यह बात समान रूप से स्पष्ट है कि एक निश्चित बिंदु के बाद परंपरा नई स्थितियों एवं नई प्रथाओं से निपटने के योग्य नहीं होती। इस बिंदु पर यदि समाज में अराजकता पनपती है तो यह जरूरी होगा कि परंपराओं में सुधार किया जाए और इन्हें बदलने का प्रयास किया जाए। उस समय तक परंपरा अपनी सत्तामीमांसा का ही अनुकरण कर सकती है और आधुनिकता के संदर्भ में स्वयं को अपर्याप्त महसूस कर सकती है। इस तरह आधुनिकता के बल परंपरा को शिथिल करने के प्रति प्रवृत्त होते हैं या इसे अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण बनाते हैं और यहाँ तक कि इसे अहितकर बनाते हैं। हालांकि परंपरा यद्यपि निष्क्रिय बनती है तो भी आधुनिकता के प्रभाव से वंचित नहीं रहती क्योंकि आधुनिकता के प्रभाव पश्चिम के उच्च देशों और पूर्व के महानगरों में ही देखने को मिलते हैं। इस बात को स्पष्ट किया जाता है कि जब उत्तर और दक्षिण की वास्तुकला की तुलना की जाती है। अतः विकासशील देश के महानगर का विलासिता होटल उच्च देश की तुलना में भिन्न होगा। इस तरह परंपरा का सही मायने में त्याग नहीं किया जाता बल्कि इसे वापस धकेला जाता है जब आधुनिकता का बल अपनी जड़े बनाता है।

**बॉक्स 30.2 : आधुनिकता के पहलू**

आधुनिकता के कुछ पहलुओं में शामिल हैं —

- राष्ट्र राज्य एवं राष्ट्रीयता का उद्भव

- उद्योगीकरण एवं पूंजीवाद
- लोकतंत्र
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का बढ़ता प्रभाव
- शहरीकरण की परिघटना
- जन संचार साधनों का विस्तार

आधुनिकता की कुछ अन्य परिभाषित विशेषताए हैं, जिनमें शामिल हैं —

- विश्व के मोह से दूर होना
- धर्मनिरपेक्षता
- तर्कसंगतता
- कमोडिफिकेशन
- जन आधारित समाज

आधुनिकता का हालांकि अर्थ उत्तर और दक्षिण में अलग-अलग है। अतः आधुनिकता ऐसे किस्म के समाज को दर्शाता है, जो कि अन्य समाजों की तुलना में अधिक विकसित है। अतः आधुनिकता आधारित समाज को आधुनिक समाज कहते हैं।

हम आधुनिक समाज की तुलना ऐसे समाजों से कर सकते हैं जो कि पूर्व-आधुनिक हैं या उत्तर आधुनिक हैं। हालांकि इन उपागमों में से कोई भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। आधुनिकता की सामाजिक संरचना ऐसी है कि यह पृथक समुदायों से बड़े पैमाने के समाज की ओर होने वाले बदलाव को परिभाषित करता है। इस तरीके से आधुनिकता सिर्फ पश्चिम में ही नहीं पाई जाती। इसे सिर्फ उच्च राष्ट्रों की बजाय विश्व भर में कारगर होते देखा जा सकता है।

अतः जन समाज से आशय है:

- वस्तुओं, जन का भारी मात्रा में एक जगह से दूसरी जगह पर आना-जाना और विविध क्षेत्रों में सूचना की व्याप्ति।
- समाज के ऐसे बहुत से पहलुओं का मानकीकरण जो कि गतिशीलता के लिए सहायक हैं।
- समाज के विविध भागों में वर्धित विशिष्टता और अंतःनिर्भरता।

अतः आधुनिकता स्पष्ट रूप से विवादास्पद हो सकती है। लेकिन उपर्युक्त सूचीबद्ध विशेषताएं इस प्रक्रिया की समान सत्तामीमांसा के विविध भाग हैं। जब आधुनिकता के तत्व या उत्पाद प्रचलित प्रक्रियाओं द्वारा दूसरी संस्कृति पर हमला बोलते हैं जैसे कि लोक कथाओं और सिनेमा जैसे विविध सांस्कृतिक पहलू तो संस्कृति में विस्तृत रूप से सुधार हो जाता है और इससे समाज में बदलाव के लिए तैयार हो जाता है। इससे संस्कृति में सजातीयता पनपती है और स्थानीय स्तर पर विस्तृत विविधीकरण उत्पन्न होता है। ऐसी कुछ अन्य विशेषताएं हैं जैसे कि लोकतांत्रिक सरकार और इसमें निहित सोपानक्रम आधारित संरचनाएं। इससे निजी क्षेत्र अधिक तेजी से आगे बढ़ता है (जिनार्ड डेलेंती 2000)। इससे कभी कभार मनमुटाव उत्पन्न होता है और आधुनिकता को सर्वसत्तात्मक

के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि आधुनिकता में व्यक्ति विशेष ऐसे उप नियमों से जुड़ जाता है और प्रतियोगिता, उदारता एवं व्यक्तिवाद का भाग बन जाता है। यह ऐसे समाजों में आधुनिकता की तुलना करने में अधिक सत्य है जो परंपरागत हैं।

आधुनिकता अपने साथ लोगों के लिए कई आशीर्वाद भी लाई जैसे बेहतर स्वास्थ्य एवं आर्थिक उन्नति। हालांकि ऐसी कुछ समस्याएं भी हैं जो कि आधुनिक समाज के साथ उभरी हैं जैसे दूसरे विश्व युद्ध के दौरान हिरोशिमा एवं नागासाकी पर बम गिराना और हथियारों में होड़ करना। अन्य समस्याओं में पर्यावरणीय निम्नीकरण जैसे वायु एवं जल प्रदूषण का समावेश है। आधुनिकता से तनाव भी उत्पन्न होता है। मौजूदा परिप्रेक्ष्य में वाद-विवाद इस बात पर आधारित है कि आधुनिकता सामाजिक रूप से सकारात्मक है या नहीं और क्या यह समग्र समाज के हित में है या नहीं।

## 30.4 महाशक्ति के रूप में आधुनिकता

गिड्डन का नजरिया है कि समाज उत्तर आधुनिक विश्व में प्रवेश कर चुका है। इस प्रकार आधुनिकता ने पहले की व्यवस्थाओं की तुलना में अपनी गति, परिवर्तन की गूढ़ता एवं क्षेत्र विस्तार को फैलाया है। इसके अलावा परिवर्तन का पथ रैखिक नहीं है जो कि क्रमबद्ध हो । गिड्डन के लिए आधुनिकता से आशय है:

- पूँजीवाद
- उद्योगवाद
- निगरानी कार्यक्रम एवं गतिविधियां
- सैन्य शक्ति

गिड्डन के संरचनात्मक सिद्धांत और इसके बुनियादी घटक आधुनिकता को पर्याप्त रूप से व्यक्त करते हैं। ये तत्व हैं —

- समय और जगह के बीच का फासला
- विषयवस्तु को अपने संदर्भ से बाहर निकालना
- परावर्तकता (सामाजिक चिंतन)

जहाँ पूर्व-आधुनिक समाजों में समय और दूरी पूरी तरह अंतःसंबद्ध थे। वहीं आधुनिकता के उदय के साथ इन दोनों के बीच का गहरा संबंध खत्म हो गया और यह अंतःसंबंध अत्यंत दुर्बल पड़ गया और अब जहाँ तक कि आधुनिकता का संबंध है यह तथ्य विशेष महत्व रखता है।

संगठनों एवं नौकरशाही के निर्माण में यह दूरी सहायक होती है और राष्ट्र राज्य को संभव बनाती है जो कि अंतरराष्ट्रीय है अर्थात स्थानीय एवं वैश्विक क्षेत्रों को जोड़ना अब संभव हो गया है। इस तरह आधुनिक समाज इतिहास की देन है और यह उस संदर्भ को लेकर वर्तमान को प्रभावी बनाता है । इस तरह समय और जगह के बीच की दूरी आधुनिकता के गिड्डन कारकों के दूसरे सिद्धांत विषयवस्तु को संदर्भ से बाहर निकालने (disembedding) को संभव बनाती है। यह अपने आप में ऐसी प्रक्रिया है जो स्थानीय संदर्भ से कुछ ऊपर की प्रक्रिया है और समय और जगह के बीच की दूरी के साथ यह स्वयं को पुनःगठित कर रही है। गिड्डन के अनुसार डिस्अम्बैडिंग कारकों की दो किस्में हैं —

- सांकेतिक चिह्न जैसे धन। यह समय और स्थान के बीच की दूरी को भरता है और ऐसे लोगों के साथ धन संबंधी लेन/देन को संभव बनाता है जो एक दूसरे से काफी दूरी पर हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- पेशेवर विशेषज्ञता की पद्धतियाँ। ये काफी उपयोगी हैं क्योंकि वातावरण को सृजित करने में ये सहायक होती हैं। ऐसे विशेषज्ञों (पेशेवरों) में चिकित्सक एवं वकीलों का समावेश है। अन्य विशेषज्ञ रोजाना की वस्तुओं एवं यहाँ तक कि संपत्ति को भी प्रभावित करते हैं। ऐसे विषय विशेषज्ञ समय और जगह के बीच की दूरी को भरते हैं। लेकिन भरोसे जैसी चीज सिर्फ आधुनिक समाज के लिए ही अत्यावश्यक नहीं है क्योंकि सांकेतिक चिह्न और विषय विशेषज्ञ आधारित पद्धतियाँ समाज को अपने संदर्भ से बाहर निकाल कर आधुनिक विश्व में ले जाते हैं।

अतः वित्तीय लेन-देन और विधिक पद्धति पर आधारित अर्थव्यवस्था कारगर है क्योंकि सदस्यों को इसमें भरोसा है।

आधुनिकता की अन्य बुनियादी विशेषता है सामाजिक चिंतन की परिघटना। अतः सभी सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं, प्रक्रमों, घटनाओं आदि पर पुनः ध्यान केंद्रित करने की जरूरत है और इन्हें बेहतर तरीके से समझने की जरूरत है और इसे ऐसी गतिविधि मानना है जो परिघटना के भावी विकास को प्रभावित करती है। विषयवस्तु को अपने संदर्भ से बाहर निकालने का अर्थ है:

- भरोसे की जरूरत
- विषय विशेषज्ञता पद्धति की जरूरत

गिड्डन के अनुसार बच्चों में भरोसे को सामाजिक संदर्भ में विकसित किया जाता है और तब व्यवहार द्वारा पुनर्बलित किया जाता है जो कि इस आशा पर आधारित होता है कि दूसरे भी ऐसा व्यवहार करेंगे। हालांकि इसमें कुछ अनिश्चित कारक, जोखिम कारक, चुनौती कारक भी जुड़े होते हैं जिससे लोगों में सुरक्षा का अभाव उत्पन्न होता है। इस तरह परमाणु युद्ध का जोखिम हमेशा बना रहता है जो कि न तो लड़े जाते हैं और न ही जीते जाते हैं। वैश्विक या स्थानीय युद्ध में निहित जोखिम कारक है कि इससे बहुत से खतरनाक बिंदु उत्पन्न हो गए हैं और नाभिकीय शक्ति और सैन्य निरस्त्रीकरण ऐसे अंतरराष्ट्रीय स्तर के मुद्दे हैं जो विषयों के लिए सुरक्षा की भावना को बढ़ाते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

गिड्डन इस ओर इशारा करते हैं कि जोखिम कारक आगे भौतिक वातावरण में विस्तारित हो जाते हैं और इनके निम्नीकरण (जंगल, नदियों, ग्रामीण एवं शहरी आवासों) के बचाव के लिए क्या किया जा सकता है। इसके अलावा संस्थागत ढाँचों में निहित वैश्विक निवेश भी जोखिम भरा है। कार्रवाई करते समय जोखिमों पर भी ध्यान दिया जाता है। आधुनिक विश्व में विविध जोखिम कारकों के प्रति जागरूकता बढ़ रही है और यह आधुनिकता के तथ्यों में से एक है। इसके अलावा विषय एवं "जन" भी इस बात के प्रति जागरूक हैं कि यहाँ तक कि विषयविशेषज्ञ कुछ निश्चित जोखिमों एवं जोखिम भरी स्थितियों से अकेले नहीं निपट सकते।

## 30.5 सात्विक असुरक्षा एवं आधुनिकता

गिड्डन के अनुसार आधुनिकता के अपने भीतर विषयक असुरक्षा सृजित की गई है और इसका सुझाव है कि:

- आधुनिक विश्व के निर्माण में रूपरेखा में खराबी है
- आधुनिक विश्व को चलाने वालों में खराबी है
- अनैच्छिक परिणाम
- आधुनिक समाज का सामाजिक चिंतन

अतः इस प्रकार आधुनिक समाज में गिड्डन के अनुसार "नियंत्रण" एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन जाता है क्योंकि नया ज्ञान निरंतर वर्धमान है और पुराने ज्ञान से बेहतर है और जो इसे साथ-साथ विविध दिशा भी प्रदान करता है। इसके जवाब में गिड्डन *यूटोपियाई यथार्थवाद* का सुझाव देते हैं।

अर्थात यूटोपियाई आदर्शों एवं सामाजिक वास्तविकता को एक या दूसरे के लक्ष्य की बजाय एकल इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। गिड्डन उत्तर आधुनिक सिद्धांतों के आलोचक हैं और उनका मानना है कि उत्तर आधुनिकवाद में ऐसा विश्व शामिल है, जिसमें —

- दुर्लभता परवर्ती पद्धतियां हैं
- बहुस्तरित लोकतंत्र है
- असैन्यीकरण
- प्रौद्योगिकी का मानवीकरण

हालांकि यह स्पष्ट है कि उत्तर आधुनिकता को ऐसे साधारण मानकों में पूर्वानुमानित नहीं किया जा सकता।

गिड्डन का मानना है कि परावर्तकता आधारित आधुनिक समाज स्वयं को "अनुभव आधारित परियोजना" की ओर ढकेलता है। इस तरह वह स्वयं ऐसा क्षेत्र बन जाता है जिस पर सोच की जरूरत है ताकि इसे सुधारा जा सके और इसे अपने रंग में ढाला जा सके। अतः वह इशारा करता है कि विषय अंदरुनी खोज का परिणाम है और इसके साथ काया को भी प्रासंगिक भौतिक जगहों में विशिष्ट रूप से नियंत्रित किया जाना चाहिए और सामाजिक रूप से प्रक्षेपित किया जाना चाहिए। ऐसे सूत्र हैं जो यह परिभाषित करते हैं कि हम अंतःक्रिया किस तरह करते हैं। दरअसल सामाजिक चिंतन ने काय मनोग्रस्ति और सामाजिक न्यूरोसिस को उत्पन्न किया है। आधुनिकता और आधुनिक समाज भी कुछ ऐसा है जो सामान्य दिन और जन के ध्यान से हटा दी जाती है ताकि लोगों को इससे परेशानी न हो। इसे गिड्डन ने अनुभव का पृथ्क्करण (sequestration) कहा है। अतः पागलपन, बीमारी, मृत्यु एवं लैंगिकता जैसी परिघटनाओं को अलग किया जाता है और ऐसे क्षेत्रों के रूप में चित्रित किया जाता है जिन्हें केंद्र बिंदु के दायरे से पीछे रखने की जरूरत है। ऐसी बातों पर ध्यान देने का कारण है कि अमूर्त व्यवस्थाओं ने समाज के बड़े भाग को नियंत्रित कर लिया है। यद्यपि स्वनियोजन अपने साथ पेनाक्लिंग सुरक्षा की भावना को लाता है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु, बीमारी, पागलपन आदि की प्रक्रियाओ जैसी बुनियादी सच्चाई को अनदेखा है।

अतः आधुनिकता अपने साथ सकारात्मक एवं नकारात्मक अर्थात दोनों किस्म के परिणाम लाती हैं। एक नकारात्मक परिणाम है कि इससे निरर्थकता की भावना पैदा होती है या जिसे गिड्डन "वैयक्तिक निरर्थकता" कहते हैं। कारण है कि रोजाना के जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों को पृथक कर इनका दमन कर दिया गया है। सुरंग के अंत का प्रकाश आधुनिक जीवन का सामाजिक चिंतन है जो जैसे बढ़ता है, सुनिश्चित करता है कि ऐसा पृथक्करण नजर नहीं आता और जिन प्रक्रियाओं पर फिलहाल अंधेरा कर दिया गया है, वे एक दिन अवश्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण होंगे। जहाँ गिड्डन आधुनिकता से संबद्ध है वहीं हम पाते हैं कि बैक नव आधुनिकता का इच्छुक है। अतः बैक और गिड्डन दोनों को लगता है कि हम उत्तर आधुनिक की बजाय आधुनिक विश्व में रह रहे हैं। वह कौन सा जोखिम है जो नव आधुनिकता के साथ जुड़ा हुआ है। बैक नव आधुनिकता को निजवाचक आधुनिकता (reflexive modernity) मानते हैं। बैक को लगता है कि ऐसे समाज में संबंध

तेजी से निजवाचक होते जा रहे हैं और जहाँ तक कि संबंधों की बात है लोगों को विस्तृत रेंज के निर्णय लेने के लिए बाधित किया जाता है और इस बात के लिए भी इनकी शुरुआत की जाए और इनका रखरखाव कैसे किया जाए।

बैक के अनुसार आधुनिकता के अपने ही भीतर औद्योगिक समाज से जोखिम समाज की ओर बदलाव नजर आता है जो कि औद्योगिक समाज से भिन्न है लेकिन पूरी तरह नहीं। इस प्रकार क्लासिकी आधुनिकता संपत्ति निर्माण एवं संपत्ति के समान वितरण पर लक्षित थी। जबकि दूसरी तरफ उच्च आधुनिक समाजों में मुख्य मुद्दा है, जोखिम में घटोतरी एवं इसके पनपने न देना। अतः क्लासिकी आधुनिकता में मुख्य ध्यान समानता पर केंद्रित था जबकि उच्च आधुनिकता का मुख्य मुद्दा सुरक्षा पर आधारित था । ये जोखिम उद्योगों से जनित संपत्ति से उत्पन्न हुए। इसमें शामिल हैः परमाणु उद्योग एवं बम जिसके प्रभाव एवं सहप्रभाव काफी भयनाक हो सकते हैं।

**बॉक्स 30.3 : जोखिम कारक**

यहाँ तक कि औद्योगिक प्रदूषक स्वयं भी जोखिम के स्रोत हैं और स्वास्थ्य पर इनके सर्वाधिक खतरनाक प्रभाव पड़ते हैं। परमाणु विध्वंस समेत इस किस्म के जोखिम का प्रभाव सिर्फ स्थानीय स्तर पर नहीं होता बल्कि वैश्विक स्तर पर होता है। इसके अलावा जोखिम एवं वर्ग कुछ हद तक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः औद्योगिक समाज में यह स्पष्ट है कि धनी वर्ग जोखिम को नजरअंदाज कर सकते हैं या इसे कम कर सकते हैं क्योंकि सुरक्षा खरीदने के लिए इनके पास संपत्ति है और इससे वर्ग समाज को सुदृढ़ करने में सहायता भी मिलती है। दूसरी तरफ निर्धनता पूरी तरह जोखिमों से भरी हुई है। बैक अपने विश्लेषण का विस्तार करता है और उसका कहना है कि सामाजिक वर्गों के बारे में जो सत्यता है वह राष्ट्र राज्यों पर भी भलीभांति लागू होती है।

इस प्रकार धनी राष्ट्र जोखिमों को कम करने के योग्य होते हैं और निर्धन या अधिक निर्धन राष्ट्र पाते हैं कि जोखिम तो उनके आसपास मंडरा रहा है। इसके अलावा निर्धन राष्ट्रों पर ध्यान देते हुए धनी राष्ट्र खूब धन एवं संपत्ति कमाते हैं ताकि वे ऐसी प्रौद्योगिकी जनित कर सकें जो निर्धन राष्ट्रों में जोखिम को नियंत्रित कर सके और कुछ हद तक उनका सुधार कर सकें। यह बात उठाई जाती है कि हालांकि कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति विशेष पूरी तरह जोखिमों से मुक्त नहीं है। हालांकि ऐसे राष्ट्र जो निर्धन राष्ट्रों को ध्यान में रखकर जोखिम कारकों से मुनाफा कमाते हैं, उनका मानाना है कि इसका 'बूमरैंग प्रभाव' होता है और जोखिम से संबद्ध कारक सक्रिय बनने के प्रति प्रवृत्त होते हैं और ऐसे क्षेत्रों को नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं जहाँ जोखिम कम करने की प्रौद्योगिकियाँ समृद्ध राष्ट्रों में बनाई जा रही हैं। यद्यपि उच्च आधुनिकता से जोखिम पनपते हैं लेकिन हम पाते हैं कि इन जोखिमों के साथ परावर्तकता जुड़ी हुई है क्योंकि जो खुद इन जोखिमों को पैदा करते हैं वे स्वयं भी ऐसी स्थिति के बारे में सोचने लगते हैं और इसमें परिवर्तन लाने पर ध्यान केंद्रित करते हैं। लेकिन यह बात उन राष्ट्रों के संदर्भ में भी है जो निर्धन हैं और जोखिमों का सामना करते हैं। बैक के अनुसार यह विज्ञान और विज्ञानी हैं जो प्रकृति एवं संस्कृति के वैश्विक "संदूषण" के लिए जिम्मेवार भी हैं और इसके संरक्षक भी हैं और वह विज्ञान और विज्ञानियों पर तर्कहीन होने का दोष लगाता है।

**अभ्यास 30.2**

आधुनिक स. . . में जोखिम उठाने के पहलुओं पर चर्चा कीजिए। क्या कोई ऐसा तरीका है जिससे ऐसे जोखिम को कम या दूर किया जा सकता है?

इसके अलावा क्लासिकी औद्योगिक समाज में हम पाते हैं कि उच्च आधुनिकता के मामले में प्रकृति एवं संस्कृति दो अलग छवियाँ हैं जो घनिष्ठता से एक दूसरे से अंतःसंबद्ध हैं और

एक-दूसरे के साथ-साथ चलती हैं। इस संबंध का अर्थ है कि प्रकृति या संस्कृति में से यदि एक में भी कोई बदलाव होता है तो इसका असर दूसरे पर पड़ता है और बैक इस ओर इशारा करते हैं कि ये एक दूसरे से लगभग सहजीवी के रूप में जुड़ी हुई हैं। इससे इस व्यवस्था की छवि कुछ-कुछ राजनीति पर आधारित होती नजर आती है इसलिए विज्ञानी यहाँ तक कि सामाजिक विज्ञानी अब राजनीति से प्रभावित नजर आते हैं। बैक के अनुसार शोध संस्थानों जैसे उप राजनीतिक निकायों की वजह से सरकारें अब अपना ठोस नियंत्रण खो रही हैं। सरकार की तुलना में लोगों के उपसमूह अधिक प्रतिक्रियाशील हैं। हम कह सकते हैं कि आधुनिकता ने हार्मोन जोखिम पैदा किए हैं, लेकिन साथ ही साथ इससे निपटने के रास्ते भी ढूँढ़े हैं। रिजट अति तर्कसंगतता, मैक्डोनाल्डीकरण एवं अमेरिकीकरण जैसी संकल्पनाओं के प्रयोग से आधुनिक समाज का मूल्यांकन करते हैं। आइए, अति तर्कसंगतता से शुरुआत करें। रिजट इस ओर इशारा करता है कि अति तर्कसंगतता की संकल्पना वेबर द्वारा विकसित तर्कसंगतता की संकल्पना पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित करती है। वेबर के अनुसार हम तेजी से विवेकपूर्ण बनते विश्व में रह रहे हैं। औपचारिक बुद्धिसंगतता — वेबर की अन्य किस्मों की तर्कसंगतताः स्वायत्त, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक की बजाय; व्यवस्था प्रयोग (system usage) के रूप में देखी जाती हैं। अतः हम देखते हैं कि औपचारिक तर्कसंगतता से आशय है; ऐसी संस्थाओं की तेजी से महसूस होती आवश्यकता एवं महत्व जो लोगों को व्यवहार एवं आचार संहिता संबंधी नियमों को मानने के लिए बाधित करती है।

## 30.6 आधुनिकता, तर्कसंगतता एवं प्रतिमानक

दूसरी तरफ स्वायत्त तर्कसंगतता का अर्थ है; विवेकपूर्ण पसंद बनाने में मानदंडों एवं मूल्यों की प्रधानता। अतः सैद्धांतिक तर्कसंगतता बौद्धिक आशंका से निपटती है। दूसरी तरफ व्यावहारिक तर्कसंगतता जहाँ तक रोजाना के नियमों का संबंध है संदर्भ/स्थिति को परिभाषित करती है।

MADHYAM IAS

अब, हम कह सकते हैं कि अति तर्कसंगतता औपचारिक तर्कसंगतता से आगे की बात है। अतः अति विवेकपूर्ण पद्धति वेबर की तर्कसंगतता की विविध किस्मों को जोड़ती है जिसमें शामिल हैं —

- औपचारिक तर्कसंगतता
- स्वायत्तता
- बौद्धिक कारक
- व्यावहारिक पहलू

इस पद्धति को अति तर्कसंगत कहने का कारण है कि यह वेबर की तर्कसंगतता की सभी चारों किस्मों का प्रयोग करती है और इनको आपस में जोड़ती है।

औपचारिक तर्कसंगतता के चार पहलू हैं। जो हैं —

- सक्षमता
- पूर्वानुमान करने की योग्यता
- गुणवत्ता की बजाय परिमात्रा
- मानवीय प्रौद्योगिकियों के लिए गैर-मानवीय कारकों की स्थानापत्ति

**बॉक्स 30.4 : तर्कसंगतता की असंगतता**

अतः इस किस्म की तर्कसंगतता, "तर्कसंगतता की असंगतता" के साथ भी जुड़ी हुई है। इसके अंतर्गत हम पाते हैं कि सक्षमता को सदैव एक अंत के साथ देखा जाता है और हम किस प्रकार लक्ष्य की प्राप्ति में उत्कृष्ट साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। दरअसल फूड रेस्तरां में वितरण पद्धति को इतना सुविधाजनक एवं स्वचालित बनाया जाता है कि खाद्य वितरण एवं उपभोग की प्रक्रिया में तेजी लाने के लिए सुविधाओं का ढेर लगाया जाता है। अब औपचारिक तर्कसंगतता में अगला कारक है कि यहाँ प्रक्रमों एवं घटनाओं का मानकीकरण होता है और लगभग हर देश में फास्ट फूड रेस्तरां की शाखाएं एक जैसे काम को दर्शाती हैं। इन सभी का फूड देने का तरीका एक जैसा है। इसके अलावा ऐसे रेस्तरां गुणवत्ता की बजाए परिमात्रा पर ज्यादा ध्यान देते हैं। ऐसी औपचारिक बुद्धियुक्त पद्धतियों में ऐसी असंगतता का समावेश है जो खाने में अनुभव को अजीब, अरहस्मयी एवं अवमानित बनाती हैं।

रिट्ज दर्शाते हैं कि समग्र आधुनिक जीवन में यही प्रवृत्ति है जहाँ व्यापार के लिए शीघ्र कुल बिक्री पर जोर दिया जाता है। क्रेडिट कार्ड की जाँच पर रिट्ज को लगता है कि मैक्डोनाल्डीकरण के संदर्भ में प्रयुक्त प्रत्येक कारक क्रेडिट कार्ड उद्योग के लिए सही है। ऋणों का संसाधन शीघ्र होता है। इसके अलावा क्रेडिट कार्ड से उपभोग का अनुमान लग जाता है। क्रेडिट कार्ड अलग-अलग क्रेडिट सीमाओं से जुड़े होते हैं इसलिए लेन-देन अपेक्षाकृत अमानवीय होता है। अतः क्रेडिट कार्ड और फास्ट फूड रेस्तरां को आधुनिक जगत के अंदरुनी पहलू के रूप में देखा जा सकता है।

रिट्ज आधुनिक समाज के अमेरिकीकरण के लिए भी तर्क देता है जो कि फास्ट फूड रेस्तरां एवं क्रेडिट कार्ड की हमारी चर्चा में स्पष्ट नजर आता है। अतः अमेरिका को आधुनिक जगत के देश के रूप में माना जाता है और जो कि अमेरिकी तरीके से जीवन-यापन करने के तरीके में जुटा हुआ है। क्रेडिट कार्ड का प्रयोग, अमेरिकीकरण का भाग है। प्रमुख क्रेडिट कार्ड कंपनियाँ अमेरिका आधारित हैं। वीजा, मास्टर कार्ड, अमेरिकन एक्सप्रेस ऐसे प्रमुख कार्ड हैं जो कि ब्रिटेन (बारक्ले कार्ड) और जापान (जेसीबी) की तुलना में ज्यादा प्रचलित हैं। क्रेडिट कार्ड कंपनियाँ क्रेडिट कार्डों को "वैश्लेषिक" बनाने का मिलाजुला प्रयास कर रही हैं। हालांकि देखा गया है कि इन क्रेडिट कार्डों का घरेलू खरीद के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। क्रेडिट कार्ड और फास्ट फूड रेस्तरां दोनों आधुनिक जगत का भाग बन गए हैं और विशिष्ट विश्व युग का सामाजिक चिंतन भी हैं। आइए अब जर्गेन, हैबरमैस के सामाजिक सिद्धांत में निहित कुछ मुख्य विचारों की ओर रुख करें। हैबरमैस का मानना है कि आधुनिकता को अभी बहुत कुछ करना है और ऐसे बहुत से आधुनिक क्षेत्र हैं जिन्हें उत्तर आधुनिक जग पर विचार करने से पहले अभी और विकसित किया जा सकता है। हैबरमैस के अनुसार आधुनिकता के साथ काफी विरोधाभास भी है। अतः तार्किकता जो कि समग्र सामाजिक पद्धति का भाग है, विरोधात्मक है और समग्र रूप जीवन-विश्व की तर्कसंगतता का परस्पर विरोधी भी है। एक तरफ सामाजिक पद्धतियों ने अपनी जटिलता को कई गुणा बढ़ा दिया है और ये यंत्रीय तर्कों का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा जीवन-विश्व ( life-world) ने धर्मनिरपेक्षीकरण एवं परावर्तकता के प्रक्रमों की दृष्टि से विविधता को भी कई गुणा कर लिया है।

अतः हैबरमैस के अनुसार तर्कसंगत समाज है जहाँ जीवन विश्व एवं पद्धति दोनों का सह अस्तित्व है। तर्कसंगत पद्धति को लागू करने से आर्थिक खुशहाली बढ़ती है। आधुनिक जगत की समस्या है कि अब पद्धति विश्व पर इस जीवन को अपने नियंत्रण में ले रही है। जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी जहाँ तर्कसंगत पद्धति इस पृथ्वी पर जीवन को स्वतंत्रता से वंचित कर देगी और जो कि ऐसी स्वतंत्रता है जो पक्वता या भावी वृद्धि के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार हैबरमस के लिए आधुनिकता के संदर्भ में विश्व पर जीवन

संबंधी "औपनिवेशीकरण" इसका बुनियादी निशान है। इसलिए वह आधुनिकता को "अधूरी परियोजना" की संज्ञा देता है। हैबरमैस के लिए पूर्ण तर्कसंगत समाज है जहाँ तर्कसंगत पद्धति और जीवन (विश्व) का सहअस्तित्व हो और जो स्वयं को संतोषजनक ढंग से अभिव्यक्त कर सकती हो। फिलहाल ऐसी स्थिति नहीं है और जीवन विश्व को काफी हद तक अधीन और अशक्त किया गया है। यह ऐसी अड़चन है जिसे अभी दूर करना है। लेकिन इसका अर्थ आर्थिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से पद्धतियों का विनाश करना नहीं है क्योंकि ये इस विश्व में जीवन को विवेकपूर्ण ढंग से अस्तित्व देने में सहायक है। यह कार्य कैसे किया जाना है? इसके लिए हमें पद्धति एवं जीवन विश्व के बीच के संबंध की जाँच करनी होगी।

हैबरमैस के अनुसारः

- जीवन-विश्व की औपनिवेशिकता को कम करने के लिए "नियंत्रणकारी अवरोधों" को कायम करना होगा।
- पद्धति पर जीवन-विश्व के प्रभाव को असरदार बनाने के लिए "सेंसरों" का प्रयोग करना होगा।

इस तरह जीवन-विश्व एवं पद्धति एक-दूसरे के लिए फायदेमंद हो सकते हैं। हैबरमस का मानना है कि जब तक उपर्युक्त कारक अपना काम पूरा न कर लें आधुनिकता की परियोजना को पूरा होने में लंबा समय लगेगा। अतः हैबरमस का नजरिया है कि आधुनिकता को अभी बहुत कुछ और देना है और इसलिए फिलहाल हम उत्तर आधुनिक समाज में नहीं हैं।

## 30.7 सारांश

अंत में हैबरमस विविध आधारों पर उत्तर आधुनिकतावाद की आलोचना करते हैं। चूंकि हमारी अगली इकाई उत्तर संरचनात्मकता/उत्तर आधुनिकवाद पर है इसलिए हमारी यह इकाई इस विषय पर हमारी चर्चा के प्रारंभिक ज्ञान की भूमिका निभाएगी। अतः हैबरमस के लिएः

- उत्तर आधुनिकवादियों को वस्तुगत दृष्टि से मूल्यांकित करना काफी कठिन है क्योंकि हमें यह सुनिश्चित नहीं है कि पढ़ने वाला सामाजिक सिद्धांत का अध्ययन कर रहा है या साहित्य का। सामाजिक सिद्धांत के मामले में उत्तरआधुनिकवादयों के संदर्भ में समस्या उत्पन्न होती है जब आप ऐसी दीवार खड़ी करते हैं जहाँ सिर्फ जटिलताएं हैं। जो कि समाजशास्त्रीय ज्ञान की मुख्यधारा नहीं है। अतः इसलिए हमें यह नहीं पता कि ऐसे सिद्धांत को वर्गीकृत कहाँ करें।
- मानकीय संवेदनाओं को पाठक से छुपाया गया है लेकिन फिर भी वे समकालीन समाज की आदर्शक समीक्षा को पेश करते हैं। जबकि ये सही मायने में मुख्य विषयवस्तु नहीं है और इसलिए प्रभावी नहीं है।
- इस तथ्य के बावजूद की उत्तर आधुनिकतावादी स्वयं इस परिघटना के विरुद्ध है, यह अपने आप में परिपूर्ण है।
- उत्तर आधुनिकतावादी रोजाना के जीवन से जुड़े तथ्यों को अनदेखा करते हैं।

संक्षेप में उत्तर आधुनिकतावादी सामाजिक गतिविधियों से हट जाते हैं और इसलिए इन्हें इनका अनुभव नहीं होता। इसी वजह से आम जिंदगी के कुछ ऐसे विशेष पहलू हैं जिससे वे अलग हो जाते हैं।

अतः इस इकाई में हमने परंपरा एवं आधुनिकता पर विभिन्न सैद्धांतिक स्थितियों की जाँच और उनकी प्रस्तुति की। हमने गिड्डन, बैक, रिट्ज के आधुनिकता आधारित उपागमों पर ध्यान केंद्रित किया। अंततः हमने हैबरमस के विचारों पर ध्यान केंद्रित किया। इन सभी बातों पर हमारी अगली इकाई भी आधारित है। उत्तर संरचनात्मकता एवं उत्तर आधुनिकतावाद पर हमारी इकाइयों को पूरी तरह समझने एवं उनकी सराहना करने के लिए इस इकाई में प्रदत्त पृष्ठभूमि काफी उपयोगी सिद्ध होगी।

## 30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बौमैन, जेड (1989), *मॉडर्निटी एंड द हौलोकॉस्ट*। कैम्ब्रिजः पॉलिटी।

बॉड्रिलार्ड, जे (1994), *द इल्यूजन ऑफ द एंड।* कैम्ब्रिजःपॉलिटी।

कैस्टिल्स, एम (1996), *द इंफार्मेशन ऐज, वाल्यूम-1 - द राइज ऑफ नेटवर्क सोसायटी*। ऑक्सफोर्ड ब्लैकवेल।

## 30.9 संदर्भ ग्रंथावली

रोजाज, 1966, *रोजाज, डाटा बैंक*। ओ आर जी/कैपिटल एल 8 - एचटीएम।

जेरॉल्ड डिलैंटी, 2000, *मॉडर्निटी एंड पोस्ट मॉडर्निटी नालेज, पॉवर एंड द सेल्फ*। लंदनःसेज।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 31

# उत्तर संरचनात्मकता एवं उत्तर आधुनिकतावाद

**इकाई की रूपरेखा**


31.1 प्रस्तावना

31.2 संरचनावाद की समीक्षा

31.3 उत्तर संरचनात्मकता संबंधी सिद्धांत

31.4 प्रोक्ति ज्ञान और अनुभव

31.5 डरिडा एवं विनिर्माण (Deconstruction)

31.6 फोकाल्ट एवं ज्ञान संबंधी पुरातत्व

31.7 जैम्सन एवं उत्तर पूंजीवाद

31.8 बौड्रिलार्ड एवं उत्तर आधुनिकतावाद

31.9 सारांश

31.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें


**अधिगम उद्देश्य**

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- उत्तर संरचनात्मक सिद्धांतों को रेखांकित कर सकेंगे;
- संरचनावाद की समीक्षा कर सकेंगे;
- विनिर्माण (Deconstruction) को स्पष्ट कर सकेंगे;
- 'उत्तर पूंजीवाद' का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- बौड्रिलार्ड एवं उत्तर आधुनिकतावाद की चर्चा कर सकेंगे।


MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"


## 31.1 प्रस्तावना

विचारों एवं विचारधाराओं की सत्तामीमांसा में ऐसी बौद्धिक प्रवृत्ति होती है कि वह निरंतर आगे बढ़ते जाते हैं। पुराने विचार या विचारधाराएँ विचारों के इतिहास में धीर-धीरे महत्व खोने लगते हैं। तब नये सिद्धांत एवं विचार राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य एवं सामाजिक वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण में मुख्य स्थान पा लेते हैं। इस तरह यह चक्र अपने आप चलता रहता है और जो आज लोकप्रिय हैं वह सैद्धांतिक अभिविन्यास की रोशनी में एक दिन धीमा पड़ जाता है।

आगामी आरंभिक प्रयास में हम पहले उत्तर संरचनावाद एवं फिर उत्तर आधुनिक सिद्धांत पर ध्यान केंद्रित करेंगे। हम देखेंगे कि किस प्रकार समाज एवं संस्कृति के अध्ययन में इन दो समकालीन उपागमों की विविध लड़ियों के बीच विविध बातें एक दूसरे पर आधारित हैं। अतः हम समग्र उपागम की लड़ियों पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। इन उपागमों पर कोई एक विचार नहीं है और उत्तर संरचनावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद दोनों व्यापक शब्द

हैं जिन पर विचार करने की जरूरत है। आइए सर्वप्रथम "उत्तर संरचनावाद" शब्द पर ध्यान केंद्रित करें। इस शब्द से हमें क्या पता चलता है? जैसा कि "उत्तर संरचनावाद" शब्द से स्पष्ट है, ये उपागम वे हैं जो "संरचनावाद" के बाद उत्पन्न हुए हैं। यह सिद्धांत एवं उपागम सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रमों की समीक्षा एवं उनकी व्यूहरचना को तोड़कर समाज में झाँकने का प्रयास करते हैं। उत्तर आधुनिकतवाद संरचनावाद से इस तथ्य पर दूर हट जाता है कि संरचनावाद में प्रत्येक बात को द्विआधारी विरोध तक और उनके बीच के अंतःसंबंधों तक सीमित कर दिया। संरचनावादियों का मानना है कि वह किसी भी परिघटना का अपने कार्य पद्धति की सहायता से विश्लेषण कर सकते थे। हमें इस बात पर अवश्य जोर देने की जरूरत है कि उत्तरसंरचनावाद में बहु उपागमों का समावेश है। यह कोई एकल सिद्धांत नहीं है। हालांकि इन उपागमों में "संरचनावाद" की समीक्षा एक सामान्य बिंदु है।

## 31.2 संरचनावाद की समीक्षा

उत्तर संरचनावादी अक्सर अपनी विविध रचनाओं में यह बात उठाते हैं कि इस शब्द का अर्थ विस्तृत एवं विविध है और इसकी कई विभिन्न व्याख्याएं हैं। यहाँ इस शब्द का अर्थ अपने धरातलीय अर्थ से भिन्न है। अतः केंद्रित परिप्रेक्ष्य के आधार पर एक ही शब्द को कई अर्थ दिए जा सकते हैं। अतः अब यह बात स्पष्ट है कि उत्तर संरचनावाद, संरचनावाद की समीक्षा के रूप में आगे बढ़ता है जो कि स्वयं भी अपनी निजी भाषावादी सीमाओं से बद्ध है। संरचनावाद को हालांकि सामाजिक प्रक्रिया एवं परिघटना की व्याख्या के रूप में अपर्याप्त पाया गया। अतः हम पाते हैं कि:

- संरचनावाद में ऐतिहासिक प्रक्रमों पर ध्यान नहीं दिया एवं इसलिए यह गैर-ऐतिहासिक है।
- इसने समाजकीय प्रक्रमों पर भाषावादी नियमों को लागू किया जो कि संदेहास्पद प्रक्रिया है।
- यह माना जाता है कि कार्य के अंदर ही उसका अर्थ छिपा हुआ है और इसकी खोज होने से पहले ही यह ऐसे ही चलते रहते हैं, और
- सामग्री विषय और तर्कसंगतता की संरचना के बीच में सिर्फ एक चैनल है।

इस प्रकार संरचनावादियों का तर्क है कि यह भाषा एवं इसकी संरचना है जो स्वतः वास्तविकता को जन्म देती है और चूंकि यह भाषा है जो कि इसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान और इसकी विविध सोच का निर्धारण करती है। इसके अलावा यह विचार है कि अर्थ व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं आते बल्कि भाषा के नियमों एवं ऐसी समग्र पद्धति द्वारा आते हैं जो व्यक्ति विशेष को नियंत्रित करते हैं। इसलिए व्यक्ति विशेष 'संरचना' के अधीन भी है और इससे ऊपर भी है। यह संरचना है जो अर्थ को बनाती है न कि व्यक्ति विशेष को। यह विशेष रूप से भाषा है जो कि व्यक्ति विशेष पर ऐसा वर्चस्व कायम करने का आधार है।

## 31.3 उत्तर संरचनात्मकता संबंधी सिद्धांत

जैसा कि देखा जा सकता है उत्तर संरचनात्मकता का सिद्धांत 'संरचनावादियों' से बहुत से विश्लेषण एवं समझ के प्रमुख क्षेत्रों पर सहमत नहीं है। अब हम देखेंगे कि ये कैसे एक दूसरे से भिन्न हैं। लेकिन इससे पहले आइए संक्षेप में उत्तरसंरचनावाद की पृष्ठभूमि पर नजर डालें। 1950 से संरचनावाद का प्रभाव आरंभ हो गया था। सौसर (Saussure) (1857-1913) का विचार था कि 'अर्थ' को समग्र भाषा की 'संरचना' में ही देखा जाना चाहिए (गूलर, 1976)। इसे व्यक्ति विशेष के शब्दों में नहीं खोजा जा सकता और इसे समग्र भाषावादी व्यवस्था का दर्जा देना होगा जो कि समग्र रूप से भाषा है। हम पाते हैं

कि 1960 के आसपास संरचनावादी आंदोलन में मार्क्स, फ्रैड एवं सौसर के विचारों को मिलाने का प्रयास किया। संरचनावादी अस्तित्ववादी आंदोलन के विरुद्ध थे जिसने कि व्यक्ति विशेष एवं जीवन अनुभव को केंद्र बिंदु में रखा। ऐसी तुलना के आधार पर संरचनावादियों का मानना था कि हर जगह व्यक्ति विशेष सामाजिक मनोवैज्ञानिक एवं भाषावादी संरचनाओं से बंधे होते हैं जो कि उसे नियंत्रित एवं निर्देशित करते हैं बजाय कि व्यक्ति उन पर हावी हो वे व्यक्ति पर हावी होते हैं। जैसा कि आपने ध्यान दिया होगा यह एक ठोस कदम है और विधि के अनुप्रयोग की सार्वभौमिकता के लिए दावा इस तथ्य की ओर भी ध्यान केंद्रित करता है कि सार्वभौमिकता अनुप्रयोग के ऐसे दावे जरूरी नहीं है कि सही साबित हों। इसके अलावा यह कैसे संभव है कि समान क्षेत्र या परिघटना के कोई दो संरचनागत विश्लेषण एक दूसरे से अलग होंगे।

संरचनावादी उपागम के ऐसे दोष के कारण बुद्धिजीवियों ने उत्तरसंरचनावाद को विकसित किया। उत्तरसंरचनावाद बुनियादी अवधारणाओं पर आधारित है। जिनमें शामिल हैं — सभी परिघटनाओं को एक ही व्याख्या के अंतर्गत रखना, 2) यह अनुभवातीत सच्चाई है जो बाकी अन्य सच्चाइयों को अपने वश में करती है। उत्तरसंरचनावाद (enlightenment) ज्ञानोदय विचारधारा द्वारा निर्मित एवं विकसित मनुष्य की संकल्पना का भी आलोचक है। ज्ञानोदय आधारित संकल्पना का मानना है कि व्यक्ति अलग एवं संपूर्ण है और मस्तिष्क ऐसा क्षेत्र है जहाँ मूल्य उत्पन्न होते हैं जबकि दूसरी तरफ उत्तरसंरचनावादियों को लगता है कि व्यक्ति विशेष सामाजिक अंतःक्रिया में जुटा हुआ है। इन्हें "विषय" शब्द द्वारा समझाया जाता है। तब हम कह सकते हैं कि विषय समाज और संस्कृति में बुने हुए होते हैं और इनमें इनका अपना निश्चित स्थान होता है और जिसका समाजशास्त्रीय आधार होता है। इसके अलावा, विषय रोजाना की हकीकत में नायक होते हैं। दरअसल यह विषय है जो समाज को बनाता है और इसमें निहित गतिविधियों को चलाता है। जैसे कि कार्य एवं मनोरंजन। यहाँ हम कह सकते हैं कि समूहों की पहचानों में विषय अर्थ एवं मूल्य निहित हैं और जिन गतिविधियों के आधार पर ये चलते हैं उनसे ही इनकी पहचान बनती है । अतः ऐसे उपागम जिनकी चर्चा हम कर रहे हैं, उन्हें अक्सर "मानवता के विरुद्ध" माना गया है क्योंकि उत्तर संरचनावाद मानवतावादी सिद्धांतों की तुलना में अलौकिकता या अनुभवातीत परिपूर्णता के विरुद्ध है। अतः मानवतावादी — विरोधी एक मिथ्या नाम है और यह मनुष्य पर असल में ध्यान केंद्रित करने का अन्य तरीका है जो कि अनिवार्यतया व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं है। इसके अलावा हम पाते हैं कि जहाँ संरचनावाद द्विआधारी विरोधों के बीच के संबंधों के रूप में वास्तविकता को प्रस्तुत करता है, वहीं उत्तरसंरचनावाद की सच्चाई का दृष्टिकोण विखंडित है। सामाजिक प्रक्रिया एवं सांस्कृतिक संबंधों को शुद्ध प्रतिरोध के रूप में नहीं देखा जाता जबकि दूसरी तरफ सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को टुकड़ों में विभाजित करके देखा जाता है और सच्चाई की प्रकृति को समग्र प्रक्रिया की कुल समझ के लिए उत्तरदायी के रूप में नहीं देखा जाता। सामाजिक प्रक्रिया के भागों पर ध्यान केंद्रित किया जा सकता है और इनका विश्लेषण किया जा सकता है। उत्तरसंरचनावादी बड़े विवरणों (grand narative) और अधि-सिद्धांत को पूरी तरह विरुद्ध हैं और क्योंकि उनका मानना है कि यह मात्रकल्पना है और इससे वास्तविकता का पता नहीं चलता और इस प्रकार उत्तर संरचनात्मक सिद्धांत स्वयं किसी विशिष्ट बिंदु को खोजते हैं। इसके अलावा भौतिक छवि का समय एवं इतिहास के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है। इस तरह यह प्रोक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यों का ब्यौरा है जिस पर अब ध्यान देने की जरूरत है। इसके अलावा, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सच्चाई के निर्माण में भाषा की भूमिका भी उत्तरसंरचनावादियों के कार्य में स्पष्ट रूप से नजर आती है (गोडलियर, 1973)। अतः समाज और व्यक्ति विशेष "भाषावादी" ढंग से एक दूसरे से बंधे हुए हैं और इन दोनों के बीच का संबंध जटिल है। यह नजरिया सामाजिक विज्ञानियों की पिछली अवधारणा का खंडन करता है कि भाषा को समझना एवं इसका प्रयोग करना आसान था

और भाषा प्रयोग के संदर्भ में कोई भी अनेकार्थकता नहीं है। दरअसल "सच्चाई" स्वयं सामाजिक आधार के भीतर निर्मित है और समय के साथ-साथ नया रूप धारण कर लेती है।

## 31.4 प्रोक्ति ज्ञान और अनुभव

प्रोक्ति और ज्ञान हमारे अनुभव के लिए सीमाएं निर्धारित करता है और विषय (अहम) केवल वही अनुभव या व्यक्त कर सकता है जो उसने अनुभव किया है। इसका यह भी अर्थ है कि ऐसे अनुभव भी हैं जिनके लिए कोई भाषा नहीं है या भाषा को धीरे-धीरे टुकड़ों में जोड़ा जा रहा है और इस दौरान कुछ विशिष्ट शब्दों एवं संकल्पनाओं का ही प्रयोग होता है और जिनसे आधार बनता है। इसमें रूपक, लाक्षणिक शब्दों और व्यंग्योक्ति शामिल होते हैं। इन्हीं से आगे ऐसी विचारधारा बनती है जो शक्ति के संबंधों एवं विषयों के विश्व दृष्टिकोण पर गूढ़ नजर डालती है।

इसके अलावा एक अन्य क्षेत्र जिस पर उत्तरसंरचनात्मकता का सिद्धांत अपने विश्लेषण में ध्यान केंद्रित करते हैं, वे हैं जिसे सांस्कृतिक कोड कहते हैं जो स्वतः हमारे जीवन की समझ पर प्रकाश डालता है और बताता है कि विविध संदर्भों में यह कैसे अपना काम करते हैं। हालांकि, यह बात समझाने की है कि उत्तरसंरचनावादियों द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थ के निर्माण से इंगित है कि सामाजिक प्रक्रिया के कुछ पहलू व्यक्ति विशेष जीवन के कुछ पहलुओं पर जोर देते हैं। जबकि कुछ की महत्ता अपेक्षाकृत कम कर दी जाती है। अन्य शब्दों में, "वस्तुगत दृष्टि" से जैसा कि पिछले समाजशास्त्रीय सिद्धांत के मामले में इसे एक भ्रम के रूप में पाया गया है। यह उत्तरसंरचनावादियों का विश्लेषण है जो इसके व्यक्तिनिष्ठ अभिविन्यास को नकारता नहीं है। लेकिन उत्तरसंरचनावादियों का यह भी मानना है कि समाज में अर्थ को नये विचार एवं अभ्यासों के माध्यम से नया रूप दिया जा सकता है। हालांकि ऐसे अभ्यास से सामान्य संरचनाओं के बजाय विशिष्ट संरचनाओं की समझ विकसित होती है। इस तरह निर्माण का अर्थ और प्रक्रिया इसकी बारीकियों को बता रहा है न कि परिपूर्णता को। विश्व में प्रोक्ति एवं विचारधारा से संपर्क स्थापित किया जाता है जो सभी विषय के अनुभव को रूपरेखा प्रदान करते हैं। उत्तरसंरचनात्मक चिंतन के आधार पर यह वह अध्ययन सामग्री है जो कि अर्थ का रंगपटल है और इसके बाहर इसका कोई और अर्थ नहीं है। अतः अर्थ विषय में ही पूरी तरह निहित होता है । अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्रों में समझ सामाजिक चिह्नो एवं प्रोक्ति में निहित है। इसके अलावा विरोधाभास में प्रत्येक विषय का अस्तित्व अन्य विषयों के संबंध में अपना एक अस्तित्व बनाता है। हालांकि यह बात उठाने की आवश्यकता है कि मनुष्य की सच्चाई को महसूस करने की योग्यता तर्क के लिए जरूरी बात नहीं। फिर भी हमें जो सच्चाई के बारे में पता चलता है वह प्रोक्ति संकेतों एवं भाषा की विविध प्रक्रियाओं के माध्यम से पता चलता है। यह समझना जरूरी है कि प्रोक्ति स्वयं भी विषयवस्तु में एक दूसरे से भिन्न है। यह भी सच्चाई है कि प्रोक्ति कभी कभार अपूर्ण एवं असंबद्ध होती है। यह संयोग से उत्पन्न होती है और अनिर्दिष्ट कारणों के माध्यमों से विलुप्त हो जाती है। अतः फोकाल्ट के अनुसार बड़े सिद्धांतों एवं मेटा विश्लेषणों के माध्यम से इतिहास का पूर्वानुमान लगाने का प्रश्न ही नहीं उठता (फोकाल्ट, 1969)। अतः इतिहास उत्तरसंरचनावादियों द्वारा संयोग से उत्पन्न होने वाला विषय है। इस तरह इतिहास में मोड़, कथावस्तु, उपकथावस्तु, महत्वपूर्ण घटनाएं एवं अन्य घटनाओं को पहले से नहीं लिखा जा सकता क्योंकि ये बातें तो संयोग से उत्पन्न होती हैं।

## 31.5 डरिडा एवं विनिर्माण (Deconstruction)

डरिडा द्वारा शुरू की गई "डिकंस्ट्रक्शन" की प्रक्रिया को समझने के लिए संरचनावाद पर हमारा यह संक्षिप्त टिप्पणी विशेष महत्व रखता है। इस संरचनावाद के बुनियादी बिंदु हैं —

- किसी ऐसे ठोस बिंदु या प्रभाव को मान लेना जिससे सभी सामाजिक प्रक्रियाओं की शुरुआत एवं अंत होता है। यह "मस्तिष्क" , "आत्मन्" या यहाँ तक कि "ईश्वर" भी हो सकता है।

- सभी संरचनाओं के दो पहलू होते हैं जिनमें से एक का दूसरे की तुलना में अधिक महत्व रखता है जैसे - +/- । ये अच्छाई/बुराई, ईश्वर/मनुष्य आदि कुछ भी हो सकता है।

**चिंतन एवं कार्रवाई 31.1**

चर्चा कीजिए कि "डिकंस्ट्रक्शन " क्या है? डरिडा किस प्रकार संरचनावाद को डिकंस्ट्रक्ट करता है?

अतः उत्तर संरचनावाद डरिडा के संरचनावाद की समीक्षा से शुरू होता है। संरचनावादियों का मानना है कि मनुष्य संरचनाओं में जकड़ हुआ है जो उसे नियंत्रित करती है। इसकी तुलना में हालांकि डरिडा का मानना है कि भाषा को लेखन तक सीमित किया जा सकता है जो कि विषयों को नियंत्रित नहीं करती। उसके अनुसार सभी प्रथाएं एवं संरचनाएं कुछ और नहीं बल्कि लेखन हैं और व्यक्ति विशेष को नियंत्रित करने में असक्षम है। संरचनावादियों ने भाषा में क्रमबद्धता एवं स्थिरता को देखा और इसी तरह उत्तर संरचनावादियों ने सभी संरचनाओं में दूसरी तरफ भाषा को अनिवार्यतया निरंतर परिवर्तनशील एवं अस्थिर माना है। इसका अर्थ है कि भाषा संरचना स्वतः परिवर्तनशील होती है इसी वजह से ऐसी संरचनाएं नहीं बना सकती जो जोर डाल सके या लोगों को सजा दे सके क्योंकि भाषा स्वतः क्रमबद्ध नहीं होती और इसलिए भाषा के निहित नियमों को "खोजा " नहीं जा सकता। यह डिकंस्ट्रक्शन की प्रक्रिया है जो कि जैसा कि नाम से पता चलता है यह एक किस्म की संकल्पना का संकल्पनात्मक विच्छेदन है या ऐसी प्रक्रिया है जिसका अध्ययन किया जा रहा है। डरिडा जिसने डिकंस्ट्रक्शन शब्द को प्रतिपादित किया उसने यह महसूस किया कि शब्द केन्द्रवाद (Logo-Centrism) शब्द ने पश्चिमी देशों पर वर्चस्व कायम किया है। इस तरह की सोच का अर्थ है कि इतिहास की बात करने में लेखन को सदैव दबाया गया है। इसका यह भी अर्थ है कि शब्दकेन्द्रिक व्यवस्था में विश्लेषण एवं चिंतन करने की स्वतंत्रता को सदैव नकारा जाता है। डरिडा इस किस्म के नजरिए को हटाना चाहता है क्योंकि यह दबाव से लेखन को मुक्त रखना चाहता है। ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत परंपरागत रंगशाला की कला के रूप में क्या होना चाहिए वह है; वास्तविक जीवन की प्रस्तुति। ऐसी प्रस्तुति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। दरअसल यह एक नियंत्रित सैद्धांतिक रंगशाला है।

**बॉक्स 31.1 : सैद्धांतिक रंगशाला**

डरिडा 'क्रूरता की रंगशाला' और परंपरागत रंगशाला के बीच तुलना करता है जिसने तर्क पर जोर दिया है और सैद्धांतिक विचारधारा के रूप में परंपरागत रंगशाला की प्रस्तुति की है। डरिडा लिखते हैं कि मंच तब तक सैद्धांतिक है जब तक कि इसकी संरचना में निम्नलिखित तत्वों का समावेश न हो: लेखक जो सृजनकर्ता है वह विषयवस्तु को संजोता है, उस पर निगरानी रखता है और प्रस्तुति के अर्थ पर ध्यान केंद्रित करता है। वह प्रस्तुति के माध्यम से खुद को प्रस्तुत करता है और कलाकारों को दिशा दिखाता है जो 'सृजनकर्ता' की सोच को दर्शाते हैं। अंततः सैद्धांतिक मंच दर्शकों को एक सुखद अनुभव प्रदान करते हैं (डरिडा 1978, राइटिंग एंड डिफरेंसः पृष्ठ 235)।

डरिडा की चयनित वैकल्पिक अवस्था वह है जो कि पाठ्य सामग्री एवं लेखकों से नियंत्रित नहीं होती बल्कि इसमें अव्यवस्था/अराजकता की कमी है। अतः डरिडा परंपरागत रंगशाला/जीवन में ऐसा बुनियादी बदलाव चाहता है जो कि लेखक (ईश्वर) के वर्चस्व से

मुक्त हो या समाजकीय प्रक्रिया में जो व्यक्ति विशेष की स्वतंत्रता के निकट हो। डरिडा का मानना है कि परंपरागत रंगशाला को हटाने की जरूरत है। इस किस्म के सुझाव में समाज की अपनी समीक्षा शामिल है जिसे कि पहले शब्द केन्द्रिक (लोगों सेंट्रिक) कहा गया था। डरिडा का मानना है कि रंगशाला में यह लेखक है जो आलेख को क्रमबद्ध करता है और यह प्रभाव इतना प्रबल होता है कि यह तानाशाह किस्म का होता है। इसी तरह सामाजिक प्रक्रमों में बौद्धिक विचार एवं सूत्र बौद्धिक प्राधिकारों द्वारा नियंत्रित होते हैं जो कि प्रोक्ति की उत्पत्ति करते हैं। इसके अलावा हम कह सकते हैं कि उत्तर संरचनावाद की प्रक्रिया में विश्वास करते हैं क्योंकि जब समाज पर कोई विशिष्ट प्राधिकार आधारित दबाव नहीं होता तो यह मुक्त रूप धारण कर लेता है और "भूमिका एवं मतभेद" के लिए उपलब्ध होता है। यह प्रक्रिया निरंतर परावर्तक एवं मुक्त है (डरिडा 1978 - 297)। इस प्रकार वर्तमान ही मौजूद है और यह ऐसी रंगभूमि है जहाँ सामाजिक गतिविधि भाग लेती है। अतः हमें पिछली बातों पर गौर करके समाधान खोजने का प्रयास करना चाहिए। भविष्य का पहले से ठीक-ठीक पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। हालांकि ऐसा कोई विशिष्ट समाधान नहीं है जो डरिडा प्रदान करें सिवाय इसके कि लेखन, अभिनय और कुछ अलग भूमिका निभाकर ऐसा संभव है। हमारी प्रस्तुति के इस बिंदु पर संक्षेप में माइकल फोकाल्ट एक प्रमुख उत्तरसंरचनावादी के संरचनात्मक परवर्ती विचारों या विचारधाराओं पर नजर डालना लाभप्रद होगा। फोकाल्ट एवं संरचनावादियों के बीच का महत्वपूर्ण अंतर है कि जहाँ भाषा का फोकाल्ट के लिए विशेष महत्व है, यह उस तरह विचारों के क्षेत्र में रूप में पूरी तरह नजर नहीं आती जिसे कि उत्तरसंरचनावादी रूपरेखा में ढालना या संशोधित करना पड़े। अर्थात उत्तर संरचनावादी विचारक विविध विचारों एवं प्रभाव का प्रयोग करते हैं और ये द्विआधारी शब्दों के बीच संबंधों की जाँच करने तक सीमित नहीं है। इस किस्म के तर्क संबंधी स्रोत फोकाल्ट को उत्तर संरचनावादियों के समूह में रखते हैं।

## 31.6 फोकाल्ट एवं ज्ञान संबंधी पुरातत्व

फोकाल्ट अपने नजरिए/पद्धति को "ज्ञान संबंधी पुरातत्व" (archaelogy of knowledge) के रूप में प्रकट करता है। इस उपागम के प्रयोग से फोकाल्ट ने ज्ञान एवं प्रोक्ति का अध्ययन किया। फोकाल्ट के अनुसार यह उपागम समाज को बेहतर ढंग से समझने में सहायता करता है और यह इतिहास से भिन्न है जो कि उसका मानना है कि यह रूढिगत रैखिक अनुक्रम में चित्रित है जबकि सच्चाई सीमित एवं "सतत" ही बनी रहती है।

**बॉक्स 31.2 : ज्ञान संबंधी पुरातत्व**

पद्धति पर अपने प्रारंभिक कार्य में, फोकाल्ट (1966) ज्ञान संबंधी पुरातत्व पर काम कर रहा है। उसका अध्ययन मुख्य रूप से ज्ञान, विचार, प्रोक्ति के तरीकों आधारित निकायों पर टिका हुआ है। वह अपने इस कार्य की इतिहास से तुलना करता है और विचारों के इतिहास से जिन दोनों के बारे में उसका मानना है कि ये काफी तर्कसंगत हैं और ज्ञान के इतिहास में काफी निरंतरता को बनाए हुए हैं ... फोकाल्ट के प्रारंभिक कार्य में यह उच्च संरचनागत उपागम को बाद में उत्तर संरचनावादी अभिविन्यास के लिए छोड़ दिया गया क्योंकि यह शक्ति के मुद्दे एवं साथ ही साथ ज्ञान एवं शक्ति के बीच की कड़ी पर मूक था। माइकल फोकाल्ट की 1984 में मृत्यु हो गई उस समय वे 58 वर्ष के थे और जाने माने समाजशास्त्री थे। फोकाल्ट की अंतिम रचनाओं में ट्रिलोजी आफ सैक्सुअल स्टडी का समावेश है। इन कार्यों से पता चलता है कि फोकाल्ट की रुचि लैंगिकता का अध्ययन करने में थी। ये पुस्तकें थीं — द हिस्ट्री ऑफ सैक्सुअलिटी 1976, द केयर ऑफ द सेल्फ 1984, और द यूज ऑफ प्लैयर 1984 । (रिजट, 1996 समाजशास्त्रीय सिद्धांत, पृ. 604-5)।

फोकाल्ट ने हालांकि इस किस्म के संरचनात्मक विश्लेषण से हटकर, बाद में "शक्ति की वंशावली" ( genealogy of power) का अध्ययन शुरू कर दिया। उनका ध्यान मुख्य रूप से ज्ञान निर्माण के माध्यम से अभिशासन के बारे में तथ्यों का पता लगाना था। शक्ति के रूप में ज्ञान की प्रकृति क्रमबद्ध नहीं होनी चाहिए और ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जितना उच्च ज्ञान (जैसे विज्ञान) उतनी ऊँची शक्ति अर्थात विषयों पर उतना अधिक नियंत्रण। अतः फोकाल्ट ने तकनीक एवं विज्ञान में प्रक्रिया का अध्ययन किया क्योंकि यह वही है जो विविध संस्थाओं के माध्यम से लोगों पर नियंत्रण कायम करती है। यहाँ कहने का अर्थ यह नहीं है कि कुलीन वर्ग सत्ता को चालाकी से अपने काबू में कर रहे हैं। इसके आगे फोकाल्ट असभ्यता की अवस्था से मौजूदा सभ्यता तक समाजों में प्रगति की गैर रैखिक संकल्पना का प्रयोग करते हैं। अतः इतिहास को इसलिए वर्चस्व के बदलते प्रतिरूपों के रूप में देखा जाता है। हालांकि ज्ञान/शक्ति ऐसी है जिसका सदैव विरोध किया जाता है। इस प्रकार फोकाल्ट का उत्तर संरचनागत दृष्टिकोण है कि जहाँ ज्ञान/शक्ति सर्वव्यापी है वहीं वे निश्चित रूप में सर्वशक्तिमान नहीं हैं और उनका वर्चस्व अपने आप में पूर्ण नहीं है वहीं उनकी शक्ति/प्राधिकार पर सदैव सवालिया निशान लगाया जाता है और उसका विरोध किया जाता है। उत्तर संरचनावाद (फोकाल्ट, 1979) पर अनुभाग को पूरा करने में फोकाल्ट के विचारों पर संक्षेप में बिंदु हमारे लिए सहायक होंगे। अतः फोकाल्ट के अनुसारः

- इतिहास के संदर्भ में विक्षिप्त को हमेशा गलत समझा गया है और उनके साथ गलत व्यवहार किया गया है और ये नैतिक नियंत्रण के अधीन हैं;
- शक्ति/ज्ञान एक दूसरे में उलझे हुए हैं;
- प्रौद्योगिकियाँ शक्ति को व्यावहारिक रूप देती हैं जैसे पैनापररिकन (जेल) जहाँ कोठरियों के आसपास विस्तृत प्रेक्षण टावर बना हुआ है जहाँ से कैदी क्या कर रहे हैं, इसका पूरा पता चलता है और उन पर निगरानी रखी जा सकती है। ऐसी संस्था कैदियों के पूर्ण समाजकीय नियंत्रण को दर्शाती है क्योंकि यहाँ तक कि ये कैदियों को आत्मसंयम बरतने के लिए बाधित करती है। इस प्रकार यह प्रौद्योगिकी, ज्ञान एवं शक्ति के बीच का सीधा संबंध है। अतः सर्वतोदृश्य बंदीगृह अर्थात पैनॉप्टिकॉन समाजकीय नियंत्रण एवं निगरानी का आदर्श है और भौगोलिक क्षेत्रों पर आसूचना सेवाओं एवं उपग्रह प्रेक्षणों में अग्रदूत है।

उत्तर आधुनिक एकल किस्म का सिद्धांत नहीं है या सिर्फ एक प्रमुख सिद्धांत नहीं है। बजाय इसके यह समग्र उपागम के लिए ऐसा शब्द है जिसमें बहुत सी समान कड़ियों का समावेश है। अतः उत्तर आधुनिकतावाद में कोई एकल स्थिति नही है लेकिन इस उपागम में सभी विचारक ऐसी सामान्य विशेषताओं का आदान-प्रदान करते हैं जो इसे "आधुनिकतावाद" से अलग छवि प्रदान करते हैं। यह एक ऐसी विशेषता भी है जो इसे "आधुनिकतावाद" से अलग रूप देती है और ये सभी उपागम दर्शाते हैं कि वे फिलहाल विचारों की प्रस्तुति करते हैं, उनका विश्लेषण करते हैं और ऐसे विचारों का निर्माण करते हैं जो उत्तर आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिक होंगे। बहुत से समाजशास्त्रीय अभी भी ऐसा मानते हैं कि उत्तर आधुनिकतावाद गुजरने वाली कल्पनाशक्ति है। हालांकि अब यह स्पष्ट है कि उत्तर आधुनिकतावाद को तथ्य और परिघटना दोनों के रूप में नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हालांकि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उत्तर आधुनिकतावाद क्षेत्र के भीतर विविध स्थितियों से घिरा हुआ है।

**अभ्यास 31.2**

उत्तर आधुनिक लेखकों की सामान्य विशेषताओं को रेखांकित कीजिए। ये आधुनिकतावाद से किस प्रकार भिन्न हैं?

इस बिंदु पर ऐसे कुछ सामान्य शब्दों के बीच अंतर स्पष्ट करना उचित होगा जो कि यद्यपि एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी उन्हें एक दूसरे के अर्थ के रूप में लिया जाता है। अतः "उत्तर आधुनिकता" ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग आधुनिक युग के बाद ऐतिहासिक युग के लिए किया जाता है। इसके अलावा "उत्तर आधुनिकतावाद" स्वयं ऐसे सांस्कृतिक उत्पादों को दर्शाता है जो कि आधुनिक सांस्कृतिक उत्पादों (कला, वास्तुकला आदि) से भिन्न/अलग है। इसके अलावा "उत्तर आधुनिक सामाजिक सिद्धांत" से आशय ऐसे विचारों को बनाने की विधि से है जो आधुनिक सामाजिक सिद्धांत से भिन्न है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर हम कह सकते हौ कि उत्तर आधुनिक में शामिल हैं— 1) नया युग, 2) नव सांस्कृतिक उत्पाद, 3) समाज के बारे में नये सिद्धांत। इसके अलावा, इन नयी सच्चाइयों को सुदृढ़ किया जा रहा है और एक विस्तृत अनुभूति है कि आधुनिक युग की समाप्ति हो रही है और इसका स्थान एक नया युग ले रहा है। यह ऐसी इमारतों को तोड़ने से स्पष्ट है जो आधुनिक एवं पूर्ण हैं। हालांकि उत्तर आधुनिक सिद्धांत स्वयं बने बनाए समाधान प्रदान करते हैं। हालांकि इस बात पर प्रश्नचिह्न लगता है कि क्या उत्तर आधुनिक युग का जन्म सही मायने में 1960 में आधुनिकता के बाद से हुआ है।

उत्तर आधुनिकतावाद दर्शाता है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में सांस्कृतिक उत्पाद आधुनिक उत्पादों की जगह लेने की ओर प्रवृत्त हैं। इसके अलावा उत्तर आधुनिक सामाजिक सिद्धांत आधुनिक सामाजिक सिद्धांत एवं इसके मतभेदों से उत्पन्न हुआ है। अतः उत्तर आधुनिक सिद्धांत पिछले सिद्धांतों के आधार की धारणा का खंडन करता है लेकिन स्वयं सापेक्षिक, गैर संबंधात्मक एवं शून्यवादी बनने की ओर प्रवृत्त है।

## 31.7 जैम्सन एवं उत्तर पूंजीवाद

पुनः उत्तर आधुनिक विचारक महावृत्तान्त या अधिवृत्तान्त (ग्रैंड नरेटिव) या (मेटा नरेटिव) की धारणा का खंडन करते हैं। उदाहरणार्थ ल्योटार्ड आधुनिक ज्ञान का विरोध करता है जिसका ग्रैंड संश्लेषण है जैसे पार्सन या मार्क्स का कार्य। ऐसे विवरण आधुनिक विज्ञान से जुड़े हुए हैं। अतः ल्योटार्ड आधुनिक ज्ञान की पहचान मेटानरेटिव से करता है तब निस्संदेह उत्तर आधुनिक उपागम माँग करते हैं कि ऐसे सिद्धांतों को इनकी परिपूर्णता में नकारा जाना चाहिए। ऐसा इसलिए है क्योंकि ल्योटार्ड जैसे उत्तर आधुनिक विचारक ऐसे नजरिए के मतभेदों एवं चुनौतियों का सामना करने से डरते नहीं हैं। इस प्रकार उत्तर आधुनिकवाद ऐसा यंत्र बन जाता है जो एक विस्तृत छाते के तले विविध परिप्रेक्ष्यों का स्वागत करता है। आइए अब उत्तर आधुनिक सिद्धांत के कुछ उदाहरणों की ओर रुख करें। इसका उत्कृष्ट उदाहरण फ्रेडरिक जैम्सन के कार्यों में झलकता है। विचलन का बिंदु है कि आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता एक दूसरे से अलग हैं और इन दोनों के बीच तालमेल बिठाना कठिन है। हालांकि जैम्सन द्वारा बीच की स्थिति ली जाती है जो लिखते हैं कि दोनों युगों के बीच कुछ निरंतरताएं हैं। जैम्सन के अनुसार पूंजीवाद अपनी अंतिम अवस्था में है लेकिन विश्व भर में उत्पादन का मुख्य स्वरूप बना हुआ है। हालांकि पूंजीवाद की यह अंतिम अवस्था, उत्तर आधुनिकतावाद के साथ-साथ चल रही है। इस तरह जहाँ सांस्कृतिक तर्कशक्ति को बदला जाता है वहीं इसमें निहित संरचना ज्यों की त्यों बनी रहती है जैसा कि पूंजीवाद के आरंभिक स्वरूपों में यह बात लागू होती है। यह मार्क्सवादी संरचना का सामाजिक चिंतन है। जैम्सन उत्तर आधुनिक स्थिति को उत्तर आधुनिकतावाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक अर्थात दोनों पहलुओं के रूप में देखते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रगति और दुर्व्यवस्था दोनों साथ ही साथ हैं। इस तरह जैम्सन के अनुसार पूँजीवादी की प्रगति में तीन चरण शामिल हैं। पहला है: बाजार पूंजीवाद जो राष्ट्रीय बाजारों के रूप में नजर आता है। इसके बाद है, साम्राज्यवाद की अवस्था जिसे कि वैश्विक पूंजीवादी नेटवर्क द्वारा बढ़ावा दिया जाता है। इसके बाद तीसरा चरण "उत्तर पूंजीवाद" का है जहाँ शेयर

पूँजी का प्रयोग नये क्षेत्रों को उपयोगी वस्तुएं बनाने के लिए किया जाता है। आर्थिक संरचना में होने वाले बदलावों के परिवर्तन स्वतः उपयुक्त सांस्कृतिक परिवर्तनों को सृजित करते हैं। इस प्रकार जैम्सन दर्शाते हैं कि हम देख सकते हैं —

- यथार्थवादी संस्कृति, बाजार पूंजीवाद से संबद्ध है
- आधुनिकवादी संस्कृति एकल पूंजीवाद से संबद्ध है
- उत्तर आधुनिक संस्कृति एवं बहु राष्ट्रीय पूंजीवाद

**बॉक्स 31.3 : उत्तर पूँजीवाद (Late Capitalism)**

फैशन अब उत्पाद निर्माण में आ गया है और नयी से नयी चीजें बनाई जा रही है (कपड़ों से हवाई जहाज तक) ज्यादा टर्न ओवर और इनमें सौंदर्यपरकता एवं नयी बातों को शामिल किया जा रहा है। ऐसी आर्थिक अनिवार्यताओं को संस्थान एवं फाउंडेशनों का सहयोग भी मिल रहा है (फ्रेड्रिक जैम्सन, 1984 "उत्तर आधुनिकतावाद या द कल्चर लाजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म, न्यू लैफ्ट रिव्यू, पृ. 57)।

जैम्सन का परिप्रेक्ष्य मुख्यतया छोटी से विशाल संरचना वाले मॉडल पर आधारित है। जैम्सन के अनुसार उत्तर आधुनिक समाज की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। पहला इसमें छिछोरापन है अर्थात सांस्कृतिक उत्पादों पर जरूरत से ज्यादा अकारण खर्च किया जाता है इसमें अंदरुनी विषयवस्तु पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता जैसे सूप कैन और मैरलिन मनरो की तस्वीर — दोनों प्रतिकृति हैं क्योंकि दोनों प्रति की प्रति हैं, दोनों कलाकृतियों को तस्वीरों की प्रति को देख कर पेंट किया गया । इस प्रकार तस्वीरें प्रतिकृति हैं जिनमें से कोई मूल कृति को नहीं ढूँढ़ सकता (जैम्सन 1984-86)। ये कलाकृतियाँ मात्र प्रतिकृति हैं और इनमें गहराई वाली कोई बात नहीं और ये सिर्फ सतही अर्थ को इंगित करती हैं। इस तरह संवेदना जैसा तत्व उत्तर आधुनिक समाजों में मुश्किल से पाया जाता है। मष्तिष्क में इतनी चीजें आ गई है कि किसी भी चीज में उनका मन नहीं लगता और इस वजह से उनमें औपचारिकता आ गई है। इस तरह इतिहास को एक तरफ कर दिया जाता है और यह स्पष्ट है कि हम पिछली बातों के लिए जितना भी समझ पाते हैं वह पुस्तक आधारित जानकारी है और ज्यादा से ज्यादा हम एक पुस्तक को दूसरी पुस्तक से तुलना कर सकते हैं। इससे यह पता चलता है कि उत्तर आधुनिकतावादी स्वयं को एकल रैखिक भूतकाल तक ही सीमित नहीं रखते बल्कि उपलब्ध शैलियों में से अपनी जरूरत के मुताबिक बातों को ढाल लेते हैं। इसका अर्थ है कि यहाँ मिश्रितता या खिचड़ीपन (Pastiche) का सुदृढ़ तत्व मौजूद है जिसका अर्थ है पिछले इतिहास से जुड़ी सच्चाई और यह कि हमें सही मायने में नहीं पता कि असल में हुआ क्या था। इतिहासकारों को तब मिश्रितता या खिचड़ीपन (पैसटिश) से ही संतुष्ट होना पड़ता है जो कि सही मायने में पिछली बातों पर सही ढंग से प्रकाश नहीं डालती और इस तरह रैखिक ऐतिहासिक विकास जैसी कोई बात नहीं है। अंततः उत्तर आधुनिकतावाद के पास अब नई प्रौद्योगिकी उपलब्ध है विशेष रूप से कंप्यूटर एवं अन्य इलेक्ट्रॉनिक मशीनें जो कि पहले उपलब्ध नहीं थी। अतः इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्तर आधुनिक समाज में ऐसी उलझनों के संकेत हैं जिससे विशेष किस्म का तनाव हो सकता है। इस तरह आज हम इस किस्म के मनोवैज्ञानिक तनाव को दूर करने में लगे हुए हैं। इस तरह उत्तर पूँजीवाद में गड़बड़ी और तनाव की प्रवृत्ति है । बहुराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से निपटना मुश्किल है और इस तरह उपभोक्तावाद के सांस्कृतिक प्रभावों को भी समझना काफी कठिन है। जैम्सन को लगता है कि उत्तर आधुनिक सच्चाइयों से निपटने के लिए संज्ञानात्मक नक्शों की जरूरत है। इन नक्शों को कलाकारों, उपन्यासकारों एवं कामकाजी लोगों द्वारा मिलकर क्रमबद्ध किया जा सकता है। इस तरह जैम्सन मार्क्सवादी सिद्धांत एवं उत्तर आधुनिकतावाद के

बीच के फासलों को दूर करने का प्रयास करते हैं लेकिन इस तरह अंत मार्क्सवादी एवं उत्तर आधुनिकतावादियों के विरोध से होता है। आशा कुछ ऐसी ही थी क्योंकि जैम्सन के इसे संश्लेषित करने के बावजूद यह स्पष्ट था कि ग्रैंड थ्योरी/मेटानरेटिव पीछे की ओर रुख करने के योग्य नहीं थे और इसलिए जैम्सन मुख्य रूप से इसकी आधार/महासंरचना द्विभाजन का प्रयोग करते हैं। बावजूद इस तथ्य के कि मार्क्सवाद ग्रैंड नरेटिव है फिर भी जैम्सन उत्तर आधुनिकतावाद का मार्क्सवादी सिद्धांत से कुछ बुनियादी कड़ी जोड़ने का प्रयास तो करता है। हालांकि जीन बौड्रिलार्ड के मामले में उत्तर आधुनिकतावाद को समकालीन समय के मैवरिक सामाजिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस तरह बौड्रिलार्ड के विचारों की यात्रा 1960 से शुरू होती है जब उसने उपभोक्ता समाज के मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में काम शुरू किया। वह भाषा विज्ञान एवं लाक्षणिकी अर्थात दोनों से प्रभावित था। हालांकि उसने शीघ्र इस अभिविन्यास को अपने पीछे छोड़ दिया और मार्क्सवाद एवं संरचनावाद दोनों का त्याग कर दिया।

## 31.8 बौड्रिलार्ड एवं उत्तर आधुनिकतावाद

1970 में बौड्रिलार्ड ने दावा किया कि मार्क्सवादी और इसके निंदक दोनों का एक जैसा बुर्जुआ अभिविन्यास था जो कि रूढ़िगत था । उसने महसूस किया कि वैकल्पिक व्याख्या जरूरी थी। अतः बौड्रिलार्ड ने आर्थिक विनिमय के विकल्प के रूप में "सांकेतिक विनिमय" की धारणा को आगे रखा। सांकेतिक विनिमय में उपहार देना और उपहार लेना की सतत प्रक्रिया का समावेश है। यह स्पष्ट है कि सांकेतिक विनिमय उत्तर पूंजीवाद के तर्क से परे था और इसके विरुद्ध था।

ऐसे काल्पनिक विनिमय का अर्थ ऐसे समाज का निर्माण है जो कि इसी पर आधारित हो। लेकिन बौड्रिलार्ड ने गैर-राजनीतिक होना पसंद किया। उसने समकालीन समाज का अध्ययन किया और देखा कि यह उत्पादन नहीं है बल्कि ऐसे इलेक्ट्रॉनिक साधनों की उत्पत्ति है जो इसकी रूपरेखा बनाते हैं जैसे टी वी, कंप्यूटर, उपग्रह। हम उत्पादन के विविध साधनों के अंतर्गत ऐसे समाज से उस समाज की ओर बढ़ रहे हैं जो कि उत्पादन के कोड से अधिक संबद्ध है। शोषण एवं मुनाफा आधारित प्रेरक बिंदुओं ने ऐसे वर्चस्व को रास्ता दिया है जो कि उन्हें बनाता है और जिस संकेत पर व्यवस्था आधारित है। पुनः संकेतों का अर्थ कुछ और है लेकिन उत्तर आधुनिक समाज में ये स्वयं उपयोगी सामग्री का रूप लेते हैं और "अनुरूपरण" और प्रतिकृति द्वारा दर्शाए जाते हैं जो कि उपभोग के किसी भी पहलू के प्रतिनिधि हैं (बौड्रिलार्ड, 1973)।

बौड्रिलार्ड के लिए उत्तर आधुनिक विश्व "अति सच्चाई" (hyper reality) है। इस तरह मीडिया इतना अधिक जीवंत बन जाता है कि सच्चाई से भी अधिक सच्चा नजर आता है और समाचार, विचार एवं घटनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर और यहाँ तक कि सैद्धांतिक तरीके से पेश करता है। इस तरह यह "अति सच्चाई" है। यह ऐसे परिणामों के बिना नहीं है कि सच्चाई को अति सच्चाई के आँचल में छुपा दिया जाए और अंततः उसे वहाँ से हटा दिया जाए।

**बॉक्स 31.4 : आपदा प्रबंधन**

संक्षेप में उत्तर एवं दक्षिण में इतने मतभेद हैं कि जिसमें कि उत्तर को फायदा है... कि एक दिन सब कुछ नष्ट हो जाएगा। अगर हम अपनी गलती नहीं सुधारते तो एक दिन पश्चिम बिखर जाएगा। यदि निर्धन देशों की अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस इन दुर्दशाओं एवं आपदाओं पर ध्यान नहीं देती तो एक दिन उत्तर का हाल भी दक्षिण की तरह ही हो जाएगा (जीन बौड्रिलार्ड द इल्यूजन ऑफ द एंड, पृ. 69)।

बौड्रिलार्ड के लिए संस्कृति ऐसे गूढ़ बदलाव से गुजर रही है जो जन को तेजी से उग्र बनाने की बजाय अधिकाधिक निष्क्रिय बनाती है। इस प्रकार जन इन बदलावों का सामना प्रत्येक नये सांस्कृतिक विचार को अपने में समाकर करते हैं। इस प्रकार बौड्रिलार्ड के लिए जन, संचार साधन (मीडिया) के उत्पाद नहीं हैं। बजाय इसके यह संचार साधन है जिसे इस रूप में देखा जाता है कि यह जन को ऐसी इच्छाएं प्रदान करता है। बौड्रिलार्ड के लिए समाज 'मृत संस्कृति' की वेदना में फँसा हुआ है। इस प्रकार यह मृत उत्सुकता है जो लोगों को उपभोक्तावाद संस्कृति के प्रयोग एवं दुरुपयोग से इस उत्सुकता को पाने और खोने की ओर धकेलती है। बौड्रिलार्ड के सिद्धांत के लिए कोई क्रांतिकारी आशा की किरण नहीं है और समस्या यह भी है कि सांकेतिक विनिमय समाजों को अस्तित्व देता है लेकिन इनका विकास कैसे हो, इस बारे में बौड्रिलार्ड के पास कोई जवाब नहीं है। कुल मिलाकर बौड्रिलार्ड के उत्कृष्ट एवं असामान्य विचार इन बातों को आधुनिकता से अलग रूप में दर्शाते हैं। समकालीन समाज के विखंडन में बौड्रिलार्ड दर्शाते हैं कि किस प्रकार समाजशास्त्रीय सिद्धांत आगे बढ़े हैं और किस प्रकार ये क्लासिकी चिंतन से अलग हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्तर आधुनिकतावाद कुछ विशिष्ट विशेषताओं को दर्शाते हैं और अब हम आगे देखेंगे कि ये क्या हैं।

इनमें से पहली विशेषता है कि उत्तर आधुनिकतावाद में तरह-तरह के दृष्टिकोणों का समावेश है। दूसरे उत्तर आधुनिकवादी अनेकार्थी एवं वैकल्पिक अर्थों की तलाश कर रहे हैं । तीसरे, जैसा कि क्लासिकी समाजशास्त्रीय सिद्धांत में पाया गया है, मेटानरेटिव एवं ग्रैंड नरेटव के बीच अविश्वास है। इसका यह भी दावा है कि चूंकि यहाँ परिप्रेक्ष्यों की बहुलता है इसलिए यहाँ सच्चाइयाँ भी काफी किस्म की होगी। अतः उत्तर आधुनिकतावादी संकल्पना विचारों को ऐसी विषय सामग्री कहते हैं जो कि व्याख्या के लिए खुली हुई है। वे विषय सामग्री में दोहरे विरोध को भी देखते हैं। इसके अलावा, इन दोहरे विरोधों को गलत दर्शाया जाता है। अंततः उत्तर आधुनिकतावादी ऐसी विषय सामग्री, समूहों की पहचान करते हैं जो मौजूद नहीं हैं या जिन्हें छोड़ दिया गया है। यह किसी भी 'डिकन्स्ट्रक्शन' के लिए महत्वपूर्ण बात है।

MADHYAM IAS

अब उत्तर आधुनिकतावाद फिल्म, टी वी, साहित्य आदि सहित जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में नजर आती है जो कि उत्तर आधुनिक नजरियों से गूढ़ रूप से प्रभावित है। आइए अब अन्य क्षेत्रों में कुछ दर्शनी उत्तर आधुनिक पहलुओं की ओर रुख करें। इस प्रकार भाषा में शब्दों एवं स्वरूपों का प्रयोग किया जाता है और "नाटक" की संकल्पना इसमें मुख्य आधार बिंदु है। इस प्रकार "नाटक" का अर्थ है फ्रेम को बदलना जो विचारों को जोड़ता है। इस प्रकार 'विषय सामग्री' का अर्थ है जिसे कि लेखक की बजाय पाठक द्वारा समझा जाता है या उसकी व्याख्या की जाती है। यह "नाटक" या अभ्यास ऐसा तरीका है जिससे कि पाठक की चेतना में लेखक को महत्व मिलता है। भाषा के बारे में इस उत्तर आधुनिक नजरिए के साथ की समस्या को समझना बेहद कठिन है और यह ऐसे संप्रेषण के आधार के विरुद्ध है जहाँ लेखक यथासंभव स्पष्ट रूप से पाठक के साथ बातचीत करता है।

साहित्य में पाया गया है कि उत्तर आधुनिक कार्य आधुनिक साहित्य के काफी विरुद्ध नहीं है। बजाय इसके यह इसे अधिक खूबसूरत ढंग से बढ़ाता है। कुछ उत्तर आधुनिक साहित्य में डेविड फोस्टर वालेस एवं थॉमस सिंकान का समावेश है जो कि दोनों ही प्रबोध आधुनिकता की विस्तृत पद्धति के आलोचक हैं। आपने गौर किया होगा कि उत्तर संरचनावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। सही मायने में कुछ लेख जैसे फ्रेनकोज ल्योटार्ड दोनों क्षेत्रों में अपनी जगह बनाते हैं। इसके अलावा संरचनावाद ऐसे पैटर्नों को बनाते हैं जो कि स्थिर हैं जो कि उत्तर आधुनिकता के लिए भी अभिशाप है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद ने संरचनावाद के सांस्कृतिक आयाम को कायम रखा हुआ है। लेकिन इसकी वैज्ञानिकता के दावे को नकार दिया है। इसके

अलावा उत्तर संरचनावाद दर्शनशास्त्र में एक स्थिति है। यह किसी युग का नाम नही है जबकि उत्तर आधुनिकतावाद उत्तर आधुनिक युग से संबद्ध है।

## 31.9 सारांश

तब उत्तर आधुनिकतावाद ने क्या प्राप्त किया? इसका उत्तर है कि उत्तर आधुनिकतावाद ने ज्ञान शास्त्र एवं सैद्धांतिक ताने-बाने का विश्लेषण किया है और इसके रहस्यों को खोल दिया है। इसके अलावा मानवजाति वर्णन पर गहरी नजर डालने से मानवजाति के खुद की पुनः जाँच एवं इसमें छिपे प्रश्नों के हल मिले हैं। उत्तर आधुनिकतावाद एवं इसके समर्थक इस ओर इशारा करते हैं कि समाजशास्त्रियों को संस्कृति के अध्ययन में अपनी निजी संस्कृति की भूमिका का विश्लेषण करना चाहिए और इसलिए विषय की संवेदनशीलता को बढ़ाना चाहिए। उत्तर आधुनिक उपागमों की विविध आधारों पर आलोचना की गई है। सर्वप्रथम ये सिद्धांत के विरुद्ध है। यह विरोधाभास है क्योंकि यह स्वयं ऐसी सैद्धांतिक स्थिति ह जिसे उत्तर आधुनिकतावादियों ने अपनाया है। इसके अलावा ये संस्कृति के गैर तर्कसंगत पहलुओं पर जोर देते हैं। इसके अलावा उत्तर आधुनिकतावाद ऐसे सीमांती बिंदु पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो स्वयं मूल्यांकनपरक है। इसके अलावा अंतर शाब्दिकता पर जोर दिया जाता है लेकिन ये सदैव अपनी खुद की राय का अनुसरण नहीं करते और अक्सर विषय सामग्री को एकमात्र साधन के रूप में मानते हैं। उत्तर आधुनिकतावाद सिद्धांत के मूल्यांकन पर जोर नहीं देते लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ मूल्यांकन का कोई साधन नहीं है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकवादियों के अनुसार आधुनिकतावाद असंगत है लेकिन जब ये चाहते हैं तब वे इसे लागू करना जानते हैं। अंततः उत्तर आधुनिकतावादी स्वतोविरोधी हैं जब ये अपनी खुद की रचनाओं में हकीकत के दावों की मनाही करते हैं। अंततः उत्तर आधुनिकतावाद को वैज्ञानिक विधि में विश्वास नहीं है। लेकिन यदि समाजशास्त्र ऐसी स्थिति का अनुसरण करते तो है तब यह ऐसे कारणों की बजाय ऐसे अर्थों के अध्ययन की ओर रुख करता है जो इस बात पर जोर देता है कि समाज में व्यक्ति का क्या अर्थ है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

## 31.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बौड्रिलार्ड, जीन, 1976, *सिम्बोलिक एक्सचेंज एंड डेथ* । लंदनः सेज।

डेरिडा, जैकस, 1978, *राइटिंग एंड डेफरेंस* । शकागो, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागा प्रेस।

फोकाल्ट, मिखाइल, 1969, *द एंथ्रोपोलॉजी ऑफ नॉलेज एंड द डिस्कोर्स ऑन लॉग्वेज*, न्यूयार्कः हार्पर कोलोफोन

जेम्सन, फ्रेडरिक, 1991, *पोस्टमाडर्निज्म ऑर द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म*, डुसम, एन सीः डयूक यूनिवर्सिटी प्रेस।